॥ सद्गुरवे नमः ॥
सद्गुरु कबीर साहेब का सटीक
साखी-ग्रन्थ
मूल्य : २८)

❋ नमः सद्‌गुरुचरणकमलाभ्याम् ❋

सद्‌गुरु कबीर साहिब का सटीक-

साखी-ग्रंथ

सुख देवैं दुख को हरैं, करैं दूर अपराध।
कहहिं कबीर वह कब मिलैं, परम सनेही साध ॥
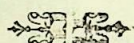
टीकाकार:-

'बीजक', 'पंचग्रन्थी', 'कबीर परिचय', 'वचनामृत',
आदि के व्याख्याता—

पं०—महाराज राघवदासजी

'संस्कृत-विशारद'
लहरतारा धाम, वाराणसी कैण्ट।

——:०:——

* प्रकाशक—फर्म *

बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर,

राजादरवाजा, वाराणसी २२१००१

—० * ०—

पंचम संस्करण] [सन् १९८३

दो शब्द

सद्गुरु कबीर साहिब आदि सन्त कहे जाते हैं। उनके उपदेश के साखी शब्दादियों का संग्रह भी सन्त मतका आदि ग्रन्थ है। वह केवल कबीर पंथियों ही के स्वाध्याय और विचार के योग्य नहीं है, किन्तु कल्याणेच्छु मनुष्यमात्र के लिये अत्यावश्यक और उपयोगी है। सद्गुरु कबीर अपने युगके प्रथम सन्त हैं। जिस उदारता और सच्चाई के साथ आपने अपनी साखियों से सन्त मतका निष्कर्ष दिखलाया है, आपसे पहले कोई भी नहीं कहा था। आपके पश्चात् जितने उपदेशक सन्त महात्मा हुए हैं उनके उपदेश ग्रन्थों में अधिकतर आपही के उपदेशों को दोहराया हुआ पाया जाता है, जो आप सुना गये हैं। "हाथी फिरै गाम गाम, जिसका हाथी उसीका नाम" यदि यह कहावत सत्य है तो ये सब आपके 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' ऋणी हैं। चाहे उन्हें कोई किसीका स्वामी अथवा साहेब भले बना दे परन्तु वे न तो खुद बने न बनही सकते हैं।

'सद्गुरु कबीर की साखी' एक हृदय का दयामय न्यायपूर्ण पवित्र दर्शनीय चित्र है। अज्ञान मय जीवन की कठोर संसृति का मूक गोहार है। स्वरूप ज्ञान यज्ञकी पूर्ति में संसार विसर्जन और त्याग की पूर्ण आहुति है। दार्शनिक व पंथायी समाजकी प्रचलित दुराग्रही कुप्रथा स्वार्थपरायणता संकीर्णता और आत्मिक दुर्बलता का पूर्ण परिचायक आदर्श है। व्यावहारिक व पारमार्थिक विचारोंको यथावत सुचारु बनाने का यह एक महान् उत्कृष्ट वाङ्मय कला भवन है। इसमें निज पाराङ्गत होने का मेरा दावा नहीं, परन्तु इतना आत्म विश्वास अवश्य है कि सत्य न्यायी सद्गुरु कबीरका परोपकारार्थ जीवन कार्य के अनुयायी व अनुकरणी वीर पुरुषों के लिये यह साखी ग्रन्थ साक्षी पुरुषका कार्य दर्शक प्रदीप्त अखण्ड दीपक है। यदि वे पक्षपातके चश्मे उतार देंगे तो इसके प्रकाश में वे अपने मनुष्य जीवनका कार्य करने में बड़ी सरलता और पूर्ण सफलता पायँगे।

—टीकाकार

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

यह ग्रन्थ साखियों का संग्रह है। इसलिये इसे 'साखी-ग्रन्थ' कहते हैं। इस स्थूलकाय साखी-ग्रन्थके अंग चौरासी हैं। अतः इसे चौरासी अङ्गकी साखी भी कहते हैं। कबीर गुरु ने बड़ी सफाई के साथ अपने सत्य विचारों का इजहार उन जनताओं के सामने दिया है जो आचार्य उपदेशकों के परस्पर मतवाद पंकमें फँसके दुखी हो रही थीं और हैं। उनके उद्धार के लिये दया से द्रवीभूत हो गदगद हृदय से बयान किया है। यथा :—

जीव दया चित राखि के, साखी कहैं कबीर।
भवसागर के जीव को, आनि लगावैं तीर॥
अन्तर याहि विचारिया, साखी कही कबीर।
भवसागर में जीव है, सुनिके लागैं तीर॥

शुद्ध संस्कृत शब्द साक्षी है। उसीको प्राकृत भाषा में साखी कहते हैं। स्पष्ट अर्थ गवाह है। गवाह कौन होता है? सुनिये, तकरार के कारण को जानते हुए भी जो तकरारके पक्षपात से उदासीन और उसके समीप रहते हैं उन्हें गवाह या साक्षी कहते हैं। स्वयं साक्षी का लक्षण कबीर गुरु कहते हैं। यथाः—

स्वास सुरति के मध्य ही, न्यारा कभी न होय॥
ऐसा साक्षी रूप है, सुरति निरति सो जोय॥

इसका सारांश यह है कि संसार द्वन्द्वका स्थान है, दो बिना तकरार कदापि नहीं होती। दो अनादि वस्तु है। जड़ और चैतन्य। या प्रकृति पुरुष कह लीजिये। तिनके विषयमें आचार्य उपदेशकों का ऐसा मतभेद है कि कोई तो वेद वादी माया ही को प्रकृति और पुरुषको महेश्वर बतलाते हैं। यथाः—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि। कोई सांख्यमतानुसारी सत्वादि गुणोंकी साम्य अवस्था को प्रकृति दर्शाते हैं। कोई आचार्य परमेश्वरकी शक्ति हीको प्रकृति मानते हैं। एवं पुरुषको सच्चिदानन्द ब्रह्म कहते हैं।

कोई ब्रह्म को यावद्विकार मात्रका अभिन्न निमित्त उपादान कारण तथा कतिपय लोग ब्रह्मको देश, काल, वस्तु परिच्छेदसे रहित विभुप्रतिपादन करते हैं। ऐसे जीवात्मा के विषयमें भी अनेकों द्वन्द्वग्रस्त वाद विवाद हैं। कोई ब्रह्म के आभास होको जीव मानते हैं दूसरे कोई प्रतिबिम्बको जीव स्वरूप कहते हैं। कोई मतवादी तो कूटस्थ लिंग शरीर तथा ब्रह्म के प्रतिबिम्ब इन सबके समुदायोंको जीव बतलाते हैं। एवं कितने लोग प्राण धारण करने से ब्रह्मकी जीव संज्ञा कहते हैं 'जीवों वैं प्राण धारणात्' इत्यादि परस्पर विरुद्ध कथनसे शास्त्र सम्बन्धी तथा अन्य मत सम्प्रदाय आदियोंको पक्षपात युत भिन्न भिन्न कथन होनेसे न तो किसी को चैतन्य साक्षी स्वरूपकी स्थिति बोध होती है न इस मत द्वन्द्व बखेड़ा का निपटारा ही होता है। ऐसी विकट अवस्था में पड़े हुए मुमुक्षुओं का शुद्ध बुद्ध मुक्त द्वन्द्व-उदासीन साक्षीस्वरूप की स्थिति से वञ्चित अवलोकन कर सत्य न्यायी सद्गुरु कबीर साहिबने समय २ पर साखी से इस प्रकार साक्षी देकर यह सत्य न्याय किया है कि,

साखी आँखी ज्ञान की, समझ देख मन माहिं।
बिन साखी संसार के, झगड़ा छूटत नाहिं॥

ठीकही है जो सत्पुरुष होते हैं वे ही सत्य न्याय करते हैं। वे स्वाभाविक सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं। वर्ण, जाति, धन, पद आदिमें कितना ही ऊंचा क्यों न माने जाते हों वे अपने को उच्चताका अभिमान तनिक भी नहीं रखते हैं। वे मिथ्या वर्णाश्रमादि के पक्षपात से अपने आपको कलङ्कित कदापि नहीं करते, देखिये कबीर गुरु अपने लिये क्या फरमाते हैं कि,

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पाँच तत्त्व का पूतला, गैबी खेलै माँहि॥
हिन्दू तुरक के बीच में, शब्द कहूँ निरबान।
बन्धन काटूँ जगत का, मैं रहिता रहिमान॥

अहो! क्या गजब! सबसे रहित होते हुए भी दया की सीमा नहीं

ऐसे सत्पुरुषों को शतशः धन्यवाद है। यद्यपि यथायोग्य न्याय युक्त व्यवहार करते हैं। तथापि मनमें सदा सर्वत्र समता, ममता बनाये रखते हैं। क्योंकि गुरु का कामही गौरव का है सुनिये—

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहिर वाहै चोट॥

दूसरेके दुःख, दुर्गुणको मिटाने तथा सुखी, सद्गुणी बनाने में सदा सचेष्ट रहते हैं। उसे अपने समान समझकर व्यवहारिक सहानुभूति रखते हैं। कबीर गुरुकी प्रतिज्ञा है कि,

सबै हमारे एक ह्वै, जो सुमिरै हरि नाम।
वस्तु लहि पहिचान के, बासन सो क्या काम॥

बस! यही कारण है कि सत्पुरुष किसी भी जीवसे घृणा नहीं करते। सबकी सेवा करना चाहते हैं अपमान किसीका नहीं करते। स्वयं सहिष्णु और स्वार्थ त्यागी होते हैं। स्वयं मर्यादा से बाहर होते हुए भी दूसरे की मर्यादा भंग कभी नहीं करते, ऐसे पुरुषकी प्रशंसा कबीर गुरु इस प्रकार करते हैं कि,

हद बेहद दोऊ तजी, अबरन किया मिलान।
कहैं कबीर ता दास पर, वारों सकल जहान॥
हद छाड़ि बेहद गया, अबरन किया मिलान।
दास कबीरा मिलि रहा, सो कहिये रहिमान॥
दीन गरीबी बन्दगी, सबसों आदर भाव।
कहैं कबीर सोई बड़ा, जामें बड़ा सुभाव॥

अधिक क्या, ऐसे सत्पुरुषों के आचरण, उपदेश और सत्संगसे अधमसे अधम जीव भी थोड़े समयमें यश और श्रेय सुखको अनुभव करने लगता है। आश्चर्य मत कीजिये कबीर गुरुकी अपील सुनिये, यथा :—

कुछ करनी कुछ कर्म गति, कुछ पूरबले लेख।
देखो भाग कबीर का, लख से भया अलेख॥

भाव यह है कि पूर्वके पुण्य कर्मके प्रभावसे तथा साधन अभ्याससे जब यह पुरुष इच्छा रहित हो जाता है तब फिर इसे दुःखकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे सुषुप्ति अवस्थामें पुरुष सब कामनाओंके नाश होनेसे निष्काम भावको प्राप्त होता है। इसी प्रकार पूर्व पुण्य कर्मसे उत्पन्न हुए तीव्र वैराग्यसे जब इस पुरुषकी सब कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, तब यह पुरुष निष्काम भावको प्राप्त होकर सबसे श्रेष्ठ पदको पाता है। यथा :—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहन पति साह ॥

और चाहना वाले सकाम पुरूष अनेक जन्मोंमें भी जिन सुख सम्पत्तिको प्राप्त नहीं कर सकते उन सम्पूर्ण पदार्थोंको निष्काम पुरुष एक ही कालमें प्राप्त कर लेता है। इसलिये सन्तोषी पुरुष निष्काम होता है। क्योंकि नर जीवोंकी इच्छा अप्राप्त वस्तुमें ही होती है प्राप्त में हर्गिज नहीं। और जब मायिक पदार्थ विषयक "मैं, मेरी" मिथ्या अहन्ता, ममता मुमुक्षुओंके हृदयसे निकल जाती है तबही उनके हृदयमें निर्विकार वस्तुकी स्थिति भी होती है। कबीर गुरु कहते हैं कि,

मैं मेरी सब जायगी, तब आवैगी और।
जब यह निश्चल होयगा, तब पावैगा ठौर ॥

अतएव—

मैं मेरी तू जनि करै, मेरी मूल विनाशि।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँसि ॥

इस लोकमें सकामी पुरुष जिन स्त्री पुत्रादि पदार्थोंको प्राप्त करते हैं वे सब परिणामी हैं। अतः वे पदार्थ इनकी तृष्णाको निवृत्त नहीं कर सकते किन्तु जैसे घृतादिसे अग्निकी वृद्धि होती है इसी प्रकार उन पदार्थों की प्राप्तिसे अज्ञानी लोगोंकी तृष्णा रूपी अग्नि दिन दूनी बढ़ती जाती है। और ये उनकी अहन्ता, ममता रूपी बेड़ी में सब तरफ से जकड़ जाते हैं। यथा :—

मोर तोर की जेवरी, गल बन्धा संसार ।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार ॥
ना कछु किया न कर सका, न कछु करने जोग ।
मैं मेरी जो ठानि के, दूजी थापै लोग ॥

ठीक यही कारण है कि अज्ञानी लोग नित्य तृप्त चित्स्वरूप रमैया रामका "गाँठि रतन मर्म नहीं जानै" के समान यथार्थ ज्ञान व स्थिति बिना दरिद्र हो रहे हैं। इससे कबीर गुरु 'राम' धन-हीनों को दरिद्र बतलाते हैं कि,

जग सारा दरिद्र भया, धनवन्ता नहिं कोय ।
धनवन्ता सोइ जानिये, राम पदारथ होय ॥

इस संसार में सकामी पुरुषों को मायिक पदार्थों की इच्छा से अत्यन्त दुःख उठाने पड़ते हैं और सन्तोषी पुरुषोंको परम सुख की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि धनादिकी कामना वाले कामी पुरुषको धन प्राप्तिके लिये राजा, महाराजाओं की सेवा करनी पड़ती है। तिसमें धन, सुखकी प्राप्ति तो किञ्चित मात्र और चिन्ता अनेकों प्रकारकी सदा घेरे रहती है। तो भी उसका पीछा नहीं छोड़ता, इसमें हेतु यह है कि,

कामि करम की केंचुली, पहिरि हुआ नर नाग ।
शिर फोड़े सूझे नहीं, कोइ पूरब का भाग ॥

गुरु सत्संग विमुख मनुष्य अपनी आत्मशक्तिको भूलकर जो रजोगुण रूप आशक्तिसे उत्पन्न कामनाको जब मनमें स्थान दे देता है, तो यह कामही क्रोध बन जाता है और यही कभी न तृप्त होने वाला महा पापी और उसी का बैरी बन जाता है। जो अन्दर बैठा हुआ पाप के लिये तीव्र प्रेरणा किया करता है। यथाः—

पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत ।
जब जैसी गति चाहै, तब तैसी मति देत ॥

और कामही इन्द्रिय-मन, बुद्धि सबमें अपना प्रभाव विस्तार करके सबको अपना निवासस्थान बना लेता तथा ज्ञानपर पर्दा डालकर जीवको

मोहमें फँसाय रखता है। इसीसे सारे पाप होते हैं । अतएव इस काम, क्रोध वैरीको पौरी परआतेही मारडालनेकी आज्ञा कबीरगुरु कहते हैं यथा:-

जगत माहिं धोखा घना, अहं क्रोध अरु काल।
पौरी पहुंचा मारिये, ऐसा जम का जाल ।।

परन्तु यह कार्य कुसंगी और कामनाओं के दाससे होना मुश्किल ही नहीं किन्तु असम्भव है। इस सिद्धिको तो वही प्राप्त कर सकता है जो सन्तोंसे कुछ रहस्य प्राप्त कर अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाया और मन, इन्द्रियों पर विजय पाया है। आत्म विमुख, कामी पुरुषों को तो—

कबीर कामी पुरुष का, संसै कबहुँ न जाय।
साहिब सो अलगा रहै, वाके हृदये लाय।
काम कहर असवार है, सबको मारै धाय ।।
कोई एक हरिजन ऊबरा, जाके राम सहाय ।।

और इसके विरुद्ध कामना रहित यथालाभ में सन्तुष्ट ऐसे सन्तोषी पुरुष अकिञ्चन होने पर भी परम सात्विक सुखको प्राप्त होता है। यथा:—

तृष्णा क्षय जिहि होत हृदय मह, अरु सन्तोष प्रचार।
तिहि उर दुःख दारिद्र नष्ट होय, भरत अटल भंडार ।।

सद्गुरु कबीर वचनामृत।

अतएव सर्व कामनाओ का अभाव रूप सन्तोषही सुखका कारण है। इसके सिवा तृष्णा युक्त धनी पुरुषोंको चोर, अग्नि, राजा आदिकों से सर्वदा भय रहता है। और निष्काम सन्तोषीको उनसे कुछ भी भय नहीं होता। इसी वजह से सन्तोषी परम सुखी होता है। सन्तोष थोड़े उद्योगसे सुख का कारण बन जाता है। इसी सबसे ज्ञानी पुरुषको सन्तोषमें सुखकी कारणता का निश्चय है। और इच्छा रूप काम महान उद्यम करने में भी सुख को कारणताका सशय है, क्योंकि,

चिन्ता ऐसी डाकिनी, काटि करेजा खाय।
वैद्य विचारा क्या करे, कहाँ तक दवा लगाय ।।

यद्यपि अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होने पर क्षण भर वृत्ति स्थिर होती है तो तिसमें सुखका अनुभव होता है परन्तु उसमें दूसरी कामना जो घुसी रहती है वह तृष्णाको आगे बढ़ाके वृत्तिको चञ्चल कर देती है। मनुष्य सन्तोष नहीं करता। उस तृष्णा की पूर्ति के प्रयत्न में लगकर दुखी होता है जैसे चर्मका जूता यद्यपि पथिक को मार्गमें चलनेके लिये सुख का कारण है तथापि वह ऐसा संकल्प करे कि मैं सारी पृथ्वी को कंटकोंसे रहित और कोमल कर दूँ तो मेरे पैरोंमें कांटे नही लगेंगे तो ऐसा संकल्प करनेवाला मूढ़ मनुष्य पृथ्वीको कण्टक रहित करनेके उद्यमसे परम दुखको प्राप्त होता है। क्योंकि सारी पृथ्वी कण्टक रहित और कोमल होनी असंभव है। ऐसे संकल्प पर कहा है कि,

मूरख जन समझे नहीं, हित अनहितको काज।
चूहा बिल घूसे नहीं, पूंछ में बाँधे छाज॥

इत्यादि। इसी प्रकार इच्छाके विषय रूप सम्पूर्ण पदार्थों को मैं प्राप्त हो जाऊँ इस संकल्पसे जो पुरुष पदार्थों की प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है, वह मूर्ख परम दुःखको प्राप्त होता है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं किन्तु अशक्य है। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि,

हद छोड़ा बेहद गया, लिया ठीकरा हाथ।
भया भिखारी रामका, दर्शन पाय सनाथ॥
बेहद विचारु हद तजो, हद तजि मेलो आस।
सबै अलिंगन मेटि के, करो निरन्तर वास॥
काँसे ऊपर बिजुरी, पड़ै अचानक आय।
ताते निर्भय ठीकरा, सद्गुरु दिया बताय॥

मायिक पदार्थ विषयक सब कामनाओंके त्याग से जो सुख निष्काम पुरुषको है। वह सुख चक्रवर्ती राजाको, स्वर्गमें देवराज इन्द्रको, ब्रह्म-लोक में ब्रह्माको भी नहीं है। क्योंकि इनके सुख कर्म, उपासनासे जन्य होनेके कारण लौकिक सुखवत् नाशमान है। लिखा है कि,

'यथेह कर्म चितो लोकःक्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'

अर्थः—जैसे मनुष्य लोकमें शरीरके व्यापार रूपी कर्म से रचे हुए गृहादि पदार्थ काल पाकर क्षय हो जाते हैं। इसी प्रकार पुण्य पाप रूप कर्म रचित स्वर्गादि लोक भी काल पाकर क्षय हो जाते हैं। ऐसी श्रुति के प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणसे स्वर्गादिकी अनित्यता सिद्धि होती है। इसी हेतुसे कबीर गुरुने उपदेश दिया है कि,

कबीर गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि अवास।
काल परौं भुंइ लेटना, ऊपर जमसी घास।
कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।
दिन दशके व्यवहार में, झूठे रंग न भूल॥

और स्वर्गादिका नश्वरता विषय भी सद्गुरु कबीरने बीजक ग्रन्थ में इस प्रकार दिखलाया है—

विनशे नाग गरुड़ गलि जाई।
विनशे कपटी औ शत भाई॥
विनशे पाप पुण्य जिन कीन्हा।
विनशे गुण निर्गुण जिन चीन्हा॥
विनशे अग्नि पवन औ पानी।
विनशे सृष्टि कहाँ लौं गानी॥
विष्णुलोक विनशे छिन माहीं।
हौं देखा परलय को छाँहीं॥ र० ४६,

जो पदार्थ घट, पट आदिके समान उत्पन्न होता है वह अवश्य नाश होता है। नाशवान पदार्थके वियोग कालमें अहन्ता ममताके कारण अवश्य दुख होता है। देखिये और विचार कीजिये जैसे 'मकान मेरा है' चूनेके एक एक कणमें मेरा पन भरा हुआ है, उसे बेच दिया, हुण्डी हाथमें आ गई, इसके बाद मकानमें आग लगी। मैं कहने लगा, बड़ा अच्छा हुआ रुपये मिल गये। मेरा पन छूटते ही मकान जलनेका दुःख मिट गया। अब हुण्डी के कागजमें मेरा पन है, बड़े भारी मकानसे

सारा मेरा पन निकलकर जरासे कागजके टुकड़ेमें आ गया। बस! अब हुण्डी की तरफ कोई ताक नहीं सकता। हुण्डी बेच दी गई, रुपयों की थैली हाथ में आ गई। इसके बाद हुण्डीका कागज भलेही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैली में आ गई। अब तो उसीकी सँभालमें वृत्ति लग गई। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहै वे रुपये उसके यहाँ से चोरी क्यों न चले जायँ, कोई परवाह नहीं। उसके खाते में अपने रुपये जमा होने चाहिये। अब उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये, यदि चिन्ता है तो इसी बातकी है कि वह फर्म कहीं दिवालिया न हो जाय। इसी प्रकार जिसमें अहन्ता ममता होती है उसीकी चिन्ता रहती है। यह अहन्ता ममता ही दुखों की जड़ है। वास्तवमें, 'मेरा' कोई पदार्थ नहीं है। यदि मेरा होता तो साथमें जाता। पर शरीर भी साथ नहीं जाता। झूठे ही 'मेरा'मान दुःखोंका बोझलादा जाता है। इस वास्ते राजा से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त विषय जन्य सुख परिणाममें दुःखका हेतु होने से दुःखरूप है और उसका कारण साफही बतला दिया गया है कि मोह ममता ही दुःख का कारण है। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि,

सुर नर ऋषि मुनि सब फँसे, मृग तृष्णा जग मोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह॥
माया तरुवर त्रिविध का, सोक दुःख सन्ताप।
शीतलता सुपने नहीं, फल फीका तन ताप॥
नाशमान जो वस्तु है, सो तो ठहरे नाहिं।
तासो मोह न कीजिये, यह निश्चय मन माहिं॥

मायिक पदार्थकी कामना ही मनुष्योंका चित्स्वरूप साक्षात्कार में सबसे भारी प्रति बन्धक है। जिस पुरुष की कामना निवृत्त हो जाती है वही गुरूपदिष्ट विशेषज्ञानसे मैं शुद्ध बुद्ध चित्स्वरूपक हूँ, इस प्रकारके अखण्ड बोधको प्राप्त कर दृढ़ स्थिर होता है क्योंकि,

पारख अचल अखण्ड है, ताहि परे नहिं और।

तिहि बिनु जग नर भटकि रहै, जहाँ नहीं थिति ठौर ॥
मोह फंद सब फंदिया, कोय कै न सकै निवार ।
कोई साधु जन पारखी, विरला तत्त्व विचार ॥

कामना रहित पूर्ण पारख स्वरूप के स्थिति होने हीसे पुरुष के पुण्य, पापरूप संचित कर्मों का नाशहो जाता है। पुण्य, पापरूप कर्मही वासना की उत्पत्ति द्वारा शरीरान्तरकी प्राप्ति कराने वाले हैं, उनके नाश होने से मुमुक्षु को किसी लोक भोगकी कामना नहीं होती, अतएव उसका लिंग (सूक्ष्म) शरीर भी लोकान्तर में नहीं जाता । यथाः—

अनजाने को स्वर्ग नर्क है, हरि जाने को नाहिं ।
जेहि डरसे सब लोग डरत हैं । सो डर हमरे नाहिं ॥
पाप पुण्य की शंका नाहीं । स्वर्ग नर्क नहिं जाहीं ।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो। जहाँका पद तहाँ समाहीं ॥

बस ! जैसे गृहमें स्थित दीपकका प्रकाश तेलकी समाप्ति पश्चात् गृह में ही लय हो जाता है तैसेही प्रारब्ध कर्म (भोग) समाप्त होनेपर मन इन्द्रिय सहित मुमुक्षु के प्राण भी शरीरके साथही अपने २ कारण स्वरूप में लय हो जाते हैं यथाः—

जब दिल मिला दयाल सों, तब कछु अन्तर नाहिं ।
पाला गलि पानी भया, यों हरिजन हरि माहिं ॥
लौन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहैं गून ।
हरिजन हरिसों मिलि रहा, काल रहा सिर धून ॥

इस विषयमें श्रुतिभगवती इस प्रकार साक्षी देती है किः—"नतस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" "अत्रैव समवलीयन्ते" "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादि। भाव यह है कि जैसे मरणके अनन्तरअज्ञानी लोगोंके प्राण वासनानुसार लोकान्तर में जाते हैं, उस प्रकार वासना रहित मुमुक्षुके प्राण लोकान्तर में नहीं जाते किन्तु शरीर के समं (भीतर) ही लय हो जाते हैं। यदि यहाँ पर मुमुक्षुके शरीरान्त पश्चात् चैतन्य भागकी स्थिति पर कोई शंका

करें तो उसका समाधान यह है कि:—चित्स्वरूप साक्षात्कारके पूर्व भी मुमुक्षु अज्ञान से आवृत्त चैतन्य स्वरूप ही रहता है और स्वरूप साक्षात्कार के पश्चात् भी अज्ञान रूप आवरणसे रहित शुद्ध चिति स्वरूप हो अपनी महिमाहीमें रहता है, अतः उसके कहीं आना, जाना नहीं होता है। सम्पूर्ण व्यवहार में रहित हो जाता है। क्योंकि त्रिविध ईषणा जब निवृत्त हो जाती है तब यह पुरुष द्वित्त्व एकत्त्व मायाके संख्या गुणसे भी रहित, मात्र चिति स्वरूपही को प्राप्त हो विमुक्त हो जाता है। यथा:—

पृथिवी आपहु तेज नहिं, नहीं वायु आकास।
अलल पच्छि तहाँ ह्वै रहै, सत्य शब्द परकास॥
गुरू नहीं चेला नहीं, मुरीद हूँ नहिं पीर।
एक नहीं दूजा नहीं, बिलमै दास कबीर॥

सर्व कामनाओंका कारण देहादिकों में अहं, अभिमान रूप अध्यास और देह सम्बन्धी पुत्र धनादिमें मम अभिमान रूप अध्यासही है। यद्यपि अहं, मम इत्यादि अभिमानको मरणके अनन्तर सभी जीव त्याग देते हैं। तथापि जो पुरुष जीते जी उसका त्याग करता है वह शरीरमें स्थिति हुआ ही मुक्त है। क्योंकि हृदय में इच्छा रूप कमलके निवासको ही विवेकी पुरुष संसार बन्धन कहते हैं। और हृदयमें इच्छाके अभावको मोक्ष कहते हैं। इच्छा रूप कामका नाश दृशि स्वरूपका यथार्थ बोध बिना नहीं होता है। चिति ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति द्वारा इच्छा रूप कामका नाश होता है। जिस पुरुषको जीवित अवस्थामें चैतन्य स्वरूपका ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह शरीरमें स्थित भी मोक्षको प्राप्त हो जाता है, इसी वास्ते कबीर गुरुने बीजकमें कहा है कि:—

"जियत न तरेहु मुयेका तरिहो? जियतहि जो न तरे" इत्यादि और ऐसा भी उपदेश दिये हैं कि:—

साधो भाइ! जीवत ही करु आशा।
मूये मुक्ति कहैं गुरु स्वारथि, झूठा दे विश्वासा॥
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत होय न नासा।
जीवत मुक्त जो भये मिले तेहि, मूयेहु मुक्ति निवासा॥

ऊपर कहे हुए मोक्षका कारण चित्त शुद्धि पूर्वक ज्ञान है। परन्तु सद्गुरुकी अनुकम्पा बिना वह ज्ञान मिलना बड़ी टेढ़ी खीर है। अतएव किसी भी लोक भोगकी आकांक्षा न करके केवल स्वरूप ज्ञान निष्ठाकी ही चेष्टा करनी चाहिये और सद्गुरुके शरणागत हो अपने अधिकार के अनुसार अर्थात् शक्ति अनुसार मनुष्य जितना साधन कर सकता हो उसके लिये उतना ही करना उसका कर्तव्य है, करना चाहिये। जैसे एक योजन नहीं चलने वाले मनुष्यके लिये एक ही कोश चलने की व्यवस्था की जाती है। उसमें भी विघ्न हो तो कबीर गुरु उसका कोई अपराध भी नहीं बतलाते। यथा :—

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस।
कहँहिं कबीर बैठा रहै, ता सिर करड़ै कोस॥

इसी कारणसे दयालु सन्त महात्मा आप्त वक्ताओंने सद्ग्रन्थोंमें भिन्न२ अधिकारीको ही उद्देश्य करके भिन्न २ साधन युक्त अनेक प्रकरणोंकी व्यवस्था की है। इसी हेतु से प्रस्तुत ग्रन्थ में भी गुरुदेवसे लेकर विनती तक चौरासी अङ्ग (प्रकरण) का समावेश किया गया है। परमार्थ तत्त्वको जाननेवाले सद्गुरु, विचार पूर्वक जिज्ञासुओं को अधिकारानुसार सद्ग्रन्थोक्त साधनों में लगाते है। मुमुक्षु को उचित है कि सद्गुरु उपदिष्ट साधनमें श्रद्धा, विश्वास पूर्वक लगा रहे, उससे विमुख कदापि न होय। यथा :—

ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास।
गुरु सेवा ते पाइये, सतगुरु चरण निवास॥
गुरु शरणागत छाड़ि के, करै भरोसा और।
सुख सम्पत्ति की कहं चली, नहीं नरक में ठौर॥

अतएव सद्गुरुके आदेशानुसार ही साधक अपने जीवनका कर्तव्य स्थिर करे। अपनी बुद्धि से कर्त्तव्य निर्णय करने जाकर अनुभव हीन साधक प्रायः ठगा जाता है और उसको परिणाम फलसे दुःखी होना पड़ता है, यथा :—

कंचन मेरु अरपही, अरपै कनक भण्डार।
कहंहि कबीर गुरु बेमुखी, कबहुंन पावै पार॥
शुकदेव सरिखा फेरिया, तो को ? पावै पार।
गुरु बिन निगुरा जो रहै, पड़े चौरासी धार॥

इसका सारांश यह है किअपने अधिकारका निर्णय अपने द्वारा होना बहुत मुश्किल है। किन्तु अविद्या देवीका कुछ ऐसा प्रभाव है कि प्रायः सभी लोग सब विषयों में अपनेको ज्ञानी समझने लगते हैं। इस ज्ञानपने के मिथ्या अभिमान को त्याग कर श्रद्धा सहित सत्संग और सद्गुरु की शरण होने ही से मनुष्यका जीवन कर्त्तव्य निःसन्देह स्थिर होता है और कर्त्तव्य के पालन से ही जीवन की सफलता होती है। संत या सद्गुरुकी प्राप्ति के लिये निष्काम कर्मसे स्वयं सबका मालिक प्रत्यक्ष दर्शन देके जिज्ञासुओंको कृतार्थ कर देते हैं। यथा :—

जगत जनायो सकल जिहिं, सो गुरु प्रगटे आय।
जिन गुरु आँखिन देखिया, सो गुरु दिया लखाय॥
जाके सिर गुरु ज्ञान है, सोइ तरत भव माहिं।
गुरु बिन जानो जन्तु को, कबहुं मुक्ति सुख नाहिं॥
सतगुरु कहि जो शिष्य करै, सब कारज सिध होय।
अमर अभय पद पाइये, काल न झांकै कोय।

यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्धहो गया कि सद्गुरु की आज्ञासे मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार कर्त्तव्य करै तो उसे दुःख किसी हालतमें नहीं हो सकता और मोक्षमें भी कोई प्रकारकी बाधा नहीं पड़ सकती है। अतएव यहाँपर मैं एक दृष्टान्त गुरु भक्ति परायण शिष्यका लिख देना उचित समझता हूँ। जिससे कि गुरु भक्ति मुक्तिका हेतु है। इस सिद्धान्त की पुष्टि और गुरु-भक्तों को गुरु-भक्ति में पूर्ण श्रद्धा, विश्वास हो जाय।

गुरु-भक्ति परायणता

किसी समय ऋषि बोधायन एक श्याम कमल हाथमें लिये हुएअपने गुरु व्यास मुनि के पास जा रहे थे। देवर्षि नारदजी ने आकाश मार्ग से

जाते हुए उस पुष्पको देख लिया। झट पृथ्वीपर उतर पड़े और बोधायन जी से बोले मैं इस पुष्पको ले जाकर श्रीमन्नारायण के चरण कमलों में अर्पण करना चाहता हूँ यह बड़ा ही सुन्दर है, इसी योग्य है, 'इसे कृपा पूर्वक मुझे दे दीजिये'।

इस विनीतबचनको सुनकर बोधायनजी शिर झुकाकर कुछदेर तक चुप रहे। नारदजी ने कहा जो कुछ कहना हो कहिये 'संकोच मत कीजिये'। तब मधुर स्वरसे बोधायनजी ने कहा भगवन्! यह दास तो इस फूल को भगवत्पाद व्यास जी को अर्पण करने जारहा था। अब जैसी आज्ञा हो।

कुछ सोच समझकर देवर्षि ने फिर कहा 'आप इस पुष्प को अपने गुरुही को भेंट कीजिये। क्योंकि,:—

गुरु नारायण रूप है, गुरु ज्ञान को घाट।
सद्गुरु बचन प्रताप सो, मनके मिटे उचाट॥
गुरु गोविन्द दोउ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटे हरि भजे, तब पावै दीदार॥
देवी बड़ी न देवता, सूरज बड़ा न चन्द।
आदि अन्त दोनों बड़े, कै गुरु कै गोविन्द॥

मोक्ष का मूल आत्मज्ञान को देने वाले सद्गुरु साक्षात् नारायण रूप ही हैं, अतएव चलिये मैं भी साथे साथ चलता हूँ।

दोनों महानुभाव व्यासजी के पास बदरिकाश्रम में गये। उस समय बादरायण ऋषि ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए थे। महर्षि की आँखें खुलीं। देवर्षिके दर्शनसे कृतार्थ हुए। शिष्यके हाथसे फूल लेकर, उसकी सुन्दरता औरकोमलता देखकर नारदजी से बोले,—आप तो श्रीराम निवासके दर्शनार्थ जायंगे, यह पुष्प लेते जाइये, भगवान को अर्पण कर दीजियेगा।

यह सुनकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुये और अपनी उत्कट इच्छा, बोधायन जी का संकल्पएवं आगमनका हेतु सबकह सुनाये। व्यासजी ने मुस्कराकर कहा,—'जब बौधायन से आपने इसकी याँचना की थी, तब उन्होंने आपको उत्तर देनेके लिये मेरा ध्यान किया था। मैं वहाँ उसी

समय पहुँच गया और आप लोगोंकी बातें सुनकर चला गया। ठीक ही है सद्गुरु कबीर कहते हैं कि, :—

गुरु जो बसे बनारसी, सीष समुन्दर तीर।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुन होय सरीर॥
लच्छ कोस जो गुरु बसे, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार है, छिन आवै छिन जाय॥

निःसन्देह आपने जो बौधायनको उपदेश दिया है, वह सर्वथा आपके स्वरूप के अनुरूप ही है।

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजे, गुरु बिन मिलै न मोष।
गुरु बिन लखे न सत्य को, गुरु बिन मिटै न दोष॥
गुरु सेवा जन बन्दगी, हरि सुमिरन वैराग।
ये चारों तबही मिलैं, पूरन होवे भाग॥

बस! गुरु पद से ही कैवल्य पद प्रतिष्ठित है। अन्यथा सब व्यर्थ का बकवाद है।

देवर्षिने कहा जिस शिष्यकी दृढ़ता में गुरु पदके लिये ही स्थान है, जो उसे क्षणार्धके लिये भी नहीं भुलाता, अपने स्वरूप में स्थिर रहकर गुरु को चौखट एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ता, कि न जाने कब कृपा दृष्टि मेरी ओर फिरे और मुझे उसकी खबर भी न हो, उसी शिष्य को परम पदकी प्राप्ति होती है। अतएव सद्गुरु कबीर उपदेश देते है किः—

हरि सेवा युग चार है, गुरु सेवा पल एक।
ताके पट तर ना तुलै, सन्तन कियो विवेक॥
द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय।
कबहुक धनी निवाजिहै, जो दर छाड़ि न जाय॥
सन्त सरबस दे मिलै, गुरु कसौटी खाय।
राम दोहाई सत कहूं, फेरि न उदर समाय॥

अहा ! क्या आश्चर्य है कि जैसे प्रवाहमें बहे जाते मनुष्यों को अपनी सुध बुध नहीं रहती, अपनी स्वतन्त्रता नहीं होती वैसे ही जीव अपने स्वरूपमें बोध अनुभव स्वरूप ही है तो भी अबोध वाले के समान संसार सिन्धुमें बह रहा है, यह बहना ही संसार चक्र है। मायाकी लीला विचित्र है, अनहोनी कार्यको सच्चा समझा देती है और जो वास्तविक समझनेकी वस्तु है उसकी तरफ विचार करने भी नहीं देती। हे अविद्ये ! तेरी करतूत ने हद कर डाली है। सच्चे को झूठा करके अपना ही अनुभव कराती है। हाय ! पामर मनुष्योंके ऊपर तू महान शत्रु होकर खड़ी है। क्योंकि, :—"कारे मूड़को एकहु न छाँड़ी। अजहू आदि कुमारी" इत्यादि पामरों की अबुद्धि से ही तू बलिष्ट होकर उनके शिरपर चढ़ बैठी है। गुरु सत्संग विमुख लोग कैसे मूर्ख हैं। आज तक भी इस रहस्य को नहीं समझते। धन्य धन्य गुरुदेवकी कृपा। कि आज गुरु सत्संगी मुमुक्षुओंके आगे उसका छल बल कुछ नहीं चलता। और जो अपरोक्ष चित्स्वरूप है उसका अपरोक्ष ही भान हो रहा है। बस ! गुरुदेव ! तेरी मौज़की बलिहारी है।

मुझमें इतनी शक्ति क्या, गावूं गला पसार।
बन्दे को इतनी घनी, पड़ा रहै दरबार ॥

विनीत :—

पं० महाराज राघवदासजी,
लहरतारा धाम

* सद्गुरवे नमः *

अथ गुरुदेव को अंग ॥ १ ॥

गुरु को कीजै दण्डवत, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जानै भृङ्गको, गुरु करिले आप समान ॥ १ ॥

अर्थ:—

श्री सद्गुरो! तेरी शरण में सुज्ञ जन अब आयके।
साधन शमादि युक्त ह्वै लहि ज्ञान चित्सुरज्ञाय के ॥ १ ॥
होते है निर्भय निज निरन्तर अनाद्यनन्त स्वरूप में।
तद्रूपहि त्रय देह साक्षी हूँ ये साक्ष्य बहुरूप में ॥ २ ॥
ज्ञान ध्यान कर्त्तव्यता जो कुछ है मेरी भावना।
अखण्ड पारख स्वरूप तेरा है सबन परखावना ॥ ३ ॥
शुभ आप भी कर्त्तव्य अपना समझते यदि हैं यहाँ।
सहाय द्विगुण क्यों न होते ? प्रवृत्त अकेला हूँ जहाँ ॥ ४ ॥
स्वागत गुरो! स्वागत गुरो! स्वागत गुरो! है आइये।
विचले हुए पद अर्थ से जनता को फिर अपनाइये ॥ ५ ॥
है विनय 'राघव' की यहि विलम्ब नहिं अब कीजिये।
परमार्थ जिज्ञासु जनों हित भाव अर्थ कर दीजिये ॥ ६ ॥

कीड़ा भृङ्गी को नहीं जानता, भृङ्गी (एक प्रकार की मक्खी) कीड़े को पकड़ के अपना शब्द सुनाती और अपने सी बना लेती हैं। ऐसे ही सद्गुरु अपने सदुपदेश से शिष्य को अपने सदृश बना लेते हैं। इसलिये सद्गुरुके चरणों में दण्डे की तरह पड़ के कोटिन कोटि आठों अंग सहित प्रणाम करना चाहिये। क्योंकि प्रतिउपकारार्थ संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि सद्गुरु को भेंट किया जाय इसलिये, सम्मानपूर्वक निरभिमान दण्डवत प्रणाम ही योग्य है ॥ १ ॥

दंडवत गोविंद गुरु, वन्दौं अब जन सोय।
पहिले भये प्रनाम तिन, नमो जु आगे होय ॥ २ ॥

दण्डवत प्रणाम वेही गुरु के चरणों में है जो अज्ञान अन्धकार दूर करने में सर्व ईशरूप हैं। और जो वर्त्तमान में सद्गुरु सत्संगीजन हैं उन्हें भी वन्दना है एवं भूतपूर्व आचार्य गुरु को प्रणाम तथा जो भविष्य में रहनेवाले हैं उन्हें नमस्कार है ॥ २ ॥

गुरु गोविंद करि जानिये, रहिये शब्द समाय।
मिलै तो दंडवत बंदगी, नहिं पल २ ध्यान लगाय ॥ ३ ॥

गुरु को सर्व ईशरूप समझना चाहिये, उन्हीं के सदुपदेश रूप शब्दमें वृत्ति को प्रवृत्त करना चाहिये। सामने मिले तो साष्टांग प्रणाम करे, नहीं तो अनुपस्थितिमें सदा उनके उपदेश लक्ष्य को ध्यान में रक्खे ॥३॥

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, किसके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दिया बताय ॥ ४ ॥

गुरुऔरगोविन्द दोनों की उपस्थितिमें प्रथम प्रणाम किसको करना चाहिए? ऐसी अवस्थामें, गोविन्द क्या वस्तु है? उसको दिखलानेवाले निज सद्गुरुके चरणों में ही सर्वस्व निछावर करना चाहिये ॥ ४ ॥

गुरु गोविन्द दोऊ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटै हरि भजै, तब पावै दीदार ॥ ५ ॥

सूर्य और प्रकाश की नाई, गुरु और गोविन्द में नाम मात्र का भेद है, दूसरा सब माया का रूप है जब माया का अहंकार मेट-कर अविद्या प्रयुक्त असूर भांव को हरने वाले हरि रूप सद्गुरु के शरणागत होवे तब स्वरूप का दर्शन-फल पावे ॥ ५ ॥

गुरु हैं बड़े गोबिन्द ते, मन में देखु विचार।
हरि सिरजे ते वार हैं, गुरु सिरजे ते पार ॥ ६ ॥

विचार दृष्टि से देखो तो गोविन्द से गुरु इस प्रकार बड़े हैं जैसे शक्तिसे शक्तिमान् हरिके किये हुए नरजीव वार-संसार ही चक्रमें रहते और गुरुसे संस्कृत नर पार (मुक्त) हो जाते हैं ॥ ६ ॥

गुरु तो गरुआ मिला, ज्यों आँटे में लौन।
जाति पाँति कुल मिटि गया, नाम धरेगा कौन ॥ ७ ॥

गुरु से उपदिष्ट सत्स्वरूप में सो वे ही गरुआ-अर्थात् साधनयुक्त गम्भीर शिष्य ऐसे मिलते हैं जैसे आँटे में लवण। फिर उनके पृथक किसी के नाम धरने के लिये जाति आदि कुछ नहीं रह जाता ॥ ७ ॥

गुरू सों ज्ञानजु लीजिये, सीस दीजिये दान।

बहु तक भौंदू बहि गये, राखि जीव अभिमान ॥ ८ ॥

सद्गुरु से ज्ञान-दीक्षा अवश्य लीजिये परन्तु उनको भेंट के लिये धड़से शिर (अभिमान) उतार कर उनके चरणों में चढ़ा दीजिये, यदि ऐसा न होगा तो ध्यान रखिये बहुतसे मन में मिथ्या अभिमान रखने वाले अज्ञानी संसार धारा में बह गये ॥ ८ ॥

गुरु की आज्ञा आवई, गुरु की आज्ञा जाय।

कहै कबीर सो संत है, आवागमन नसाय ॥ ९ ॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वे ही सन्त हैं और वे ही जन्म-मरण से मुक्त होते हैं जो गुरु के आज्ञानुसार चलते हैं ॥ ९ ॥

गुरु पारस गुरु पुरुष है, (गुरु) चंदन बास सुबास।

सतगुरु पारस जीव को, दीन्हा मुक्ति निवास ॥ १० ॥

लोह रूप संसारी जीव को स्वर्ण रूप करने वाले गुरु पारसमणि हैं एवं शिष्यका पुरुषार्थ रूप पुरुष गुरु ही हैं। तथा ढाक पलास निम्बवृक्ष-वत् शिष्यों को शुभ गुण से सुगन्धित करनेवाले सुगन्धयुक्त चन्दन वृक्ष या मलयगिरि के समान सद्गुरु ही हैं। जो अपने ज्ञानस्पर्शसे निरजीवों को मुक्त किये व करते हैं ॥ १० ॥

गुरु पारस को अन्तरो, जानत हैं सब सन्त।

वह लोहा कंचन करै, ये करि लेय महन्त ॥ ११ ॥

सद्गुरु और पारसमणिके तारतम्य को विवेकी सन्त सब जानते हैं। वह लोहा को केवल सोना बनाता है पारस नहीं एवं मलयगिरि भी, परन्तु सद्गुरु तो सम्पूर्ण महत्व देकर अपना स्वरूप बना लेते हैं ॥ ११ ॥

कुमति कीच चेला भरा, गुरू ज्ञान जल होय।

जनम जनम का मोरचा, पल में डारे धोय ॥ १२ ॥

कुमति रूपी कीचड़ शिष्य में चाहे जितना भरा हो परन्तु सद्गुरु शरणागत हो निर्मल ज्ञान-जल प्राप्त करने पर क्षणमात्र में जन्म जन्मान्तरों का दाग साफ हो जाता है ॥ १२ ॥

गुरु धोबी सिष कापड़ा; साबुन सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसै जोति अपार ॥ १३ ॥

शिष्य को उचित है कि, अन्तःकरण रूपी पट शुद्धि के लिये साबुन बनाने वाले सद्गुरु धोबी की शरण में जावे और उनका बताया हुआ लक्ष्य रूपी शिला पर धोइये अर्थात् वृत्ति ठहराने से अपार प्रकाश प्रगट होता है ॥ १३ ॥

गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहिर वाहै चोट ॥ १४ ॥

शिष्य रूपी पात्र को बनाने वाले गुरु-कुंभकार हैं, विवेकादि साधन सम्पादन में आलस्य करने पर शिष्य को अन्दरसे दया का सहारा देकर ऊपर से ज्ञान की चोट मार मार के कसर निकाल देते और ज्ञान-जल ग्रहण योग्य शुद्ध पात्र प्रत्येक अङ्ग सुडौल बना लेते हैं ॥ १४ ॥

गुरु समान दाता नहीं, याचक सीष समान।
तीन लोक की संपदा, सो गुरु दीन्हीं दान ॥ १५ ॥

न तो गुरुके समान संसारमें अभय दान देने वाला कोई दानी है न शिष्य के समान कोई माँगनहार है। शरणागत शिष्य को एक बार ही मैं आपका हूँ ऐसी याचना में तीनों लोक की सम्पत्ति गुरु दे दिये और दे देते हैं। यथाः—

"सकृदेव प्रपन्नाय तस्वामीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्य हद्व्रतं मम" ॥ रामायण ॥ १५ ॥

पहिले दाता सिष भया, तन मन अरपा सीस।
पाछे दाता गुरु भये, नाम दिया बखसीस ॥ १६ ॥

सद्गुरु के चरणमें तन, मन सहित शिर को समर्पण कर प्रथम शिष्य ही दाता हुआ, पीछे परमार्थ स्वरूप का प्रदान कर गुरु दाता भये ॥ १६ ॥

गुरु जो बसै बनारसी, सीष समुन्दर तीर ।
एक पलक बिसरै नहीं, जो गुण होय शरीर ॥ १७ ॥

यद्यपि किसी कारण वश गुरु वरणा के तीरे यानी काशी निवास करते हों और शिष्य सागरके किनारे,तो भी सच्चे गुरु का सद्गुण सच्चे शिष्य से किसी हालत में क्षणमात्र भी नहीं भूलता ॥ १७ ॥

लच्छ कोस जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय ।
शब्द तुरी असवार ह्वै, छिन आवै छिन जाय ॥ १८ ॥

चाहे गुरु कोशों दूर भले बसे, परन्तु सच्चा शिष्य उनके लक्ष्य स्वरूप की सुरति वाणसे बेधे बिना नहीं रहता,सदुपदेश रूपी शब्द तुरंग' पर उमंग युत असवार हो पल-पल में आता जाता रहता है ॥ १८ ॥

गुरु को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा मांहि ।
कहैं कबीर ता दास को, तीन लोक भय नाहिं ॥ १९ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि, गुरु के आज्ञा वाहक अर्थात् गुरुकी आज्ञानुसार चलनेवाले शिष्यको तीन लोक क्या ? कहीं भी भय नहीं है ॥१९॥

गुरु को मानुष जो गिनै, चरणामृत को पान ।
ते नर नरके जायेंगे, जनम जनम ह्वै स्वान ॥ २० ॥

जो निर्मल ज्ञान उपदेशक गुरु को सर्व साधारण मनुष्य कोटि में गणना करते हैं और सर्व तृष्णाहारी चरणोदक को सामान्य जल जानते हैं वे अवश्य अनेकों जन्म श्वान योनि को प्राप्त हो नरक फल का भागी हुए व होंगे ॥ २० ॥

गुरु को मानुष जानते, ते नर कहिये अंध ।
होय दुखी संसार में, आगे जम का फंद ॥ २१ ॥

गुरुको सामान्य मनुष्य करके माननेवाला मनुष्य विवेक दृष्टि रहित अन्धा है, वह जन्म भर में दुखी होता और अन्त में मृत्यु के बन्धन में पड़ता है । यथाः—

"ये तु सामान्य भावेन मन्यन्ते मनुजं गुरुं ।
ते वै पाखण्डिनो ज्ञेया नरकार्हा नराधमाः" ॥ गु० गीता २१ ॥

गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलै न भेव।
गुरु बिन संशय ना मिटै, जय जय जय गुरुदेव ॥ २२ ॥

न तो गुरु बिना स्वरूप ज्ञान ही उत्पन्न होता है न ज्ञान का रहस्य ही मिलता है एवं आत्मा और अनात्मा विषयक संशय भी गुरु बिना नहीं मिटता अतः संशयहारक सद्गुरु देव का उच्चस्वर से जयजयकार मनाना चाहिये ॥ २२ ॥

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजै, गुरु बिन मिलै न मोष।
गुरु बिन लखै न सत्य को, गुरु बिन मिटै न दोष ॥२३॥

जबकि गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है तो गुरु बिना मुक्ति कैसे मिलैगी एवं गुरु बिना सत्य स्वरूप को कोई नहीं लखता, न गुरु बिना अन्तःकरण का त्रिविधि दोष ही मिटता है। २३ ॥

गुरु नारायन रूप है, गुरू ज्ञान को घाट।
सतगुरु वचन प्रताप सों, मन के मिटे उचाट ॥ २४ ॥

दृष्ट अदृष्ट दोनों फल को देनेवाले प्रत्यक्ष परमेश्वर रूप सद्गुरु हैं और ज्ञानका तीर्थ रूपी गुरु ही हैं उनके ज्ञान उपदेश के प्रताप से मन की सारी भ्रमणा मिट जाती है ॥ २४ ॥

गुरु महिमा गावत सदा, मन अति राखे मोद।
सो भव फिरि आवै नहीं, बैठे प्रभु की गोद ॥ २५ ॥

इसीलिये गुरु की महिमा गाते हुए जो नर मनमें सदा अतिप्रसन्नता रखते हैं, वे गुरु कृपा से पुनः संसारमें नहीं आते, आत्यन्तिक निवृत्त को प्राप्त हो अचल अखण्ड स्थान में स्थिर हो जाते हैं ॥ २५ ॥

गुरु सेवा जन बन्दगी, हरि सुमिरन वैराग।
ये चारों तबहीं मिले, पूरन होवै भाग ॥ २६ ॥

तन, मन धनसे सन्त गुरुकी सेवा सत्कार एवं आत्म चिन्तन रूप हरि-सुमिरन और विषय भोगोंसे उपराम रूप वैराग ये मोक्षके चतुष्टय साधन पूर्ण भाग्यवान् पुरुष को ही मिलता है। यथाः—

"धर्मे रागः श्रुतेश्चिन्ता दाने व्यसन मुत्तमम्।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं सम्प्राप्तं जन्मनः फलम्" ॥ नीति ॥ २६ ॥

गुरु मुक्तावै जीव को, चौरासी वद छोर।
मुक्त प्रवाना देहि गुरु, जम सों तिनुका तोर ॥ २७ ॥

शरणागत जीवको सद्गुरु यमसे सम्बन्ध छुड़ा देते और मुक्ति का बीड़ा देकर चौरासी लक्ष योनियों के बन्धन से भी मुक्त कर देते हैं। साखी में जो "मुक्त प्रवाना देहिं गुरु" पद है इसका अर्थ मुक्ति का बीड़ा है, भाव यह है कि जिस प्रकार युद्ध में सम्मिलित होने के लिये वीर पुरुष बीड़ा उठाते हैं, इसी प्रकार गुरु दीक्षा ग्रहण के समय शरणागत जीवको मुक्ति का प्रवाना इसी भाव से देते हैं कि—मोक्ष के बाधक काम क्रोधादि शत्रुओं से युद्ध करने के लिये सद्गुरु का बानारूप चपरास पहनकर तैयार हो जाओ। प्रवाना का दूसरा अर्थ रुक्का या पास भी होता है, जो राज दरबार में प्रवेश के लिये दिया जाता है, सारांश यह है कि 'पास' प्राप्त पुरुषको कोई बीचमें अटका नहीं सकता न उसे किसी का भय ही रहता है क्योंकि "वीरा नाम दयालका मेटत यमका त्रास" इत्यादि वचनानुसार मुक्ति का प्रवाना (बीड़ा) पाये हुए मुमुक्षु वीरको यमराज रोक नहीं सकता इसलिये वह बेखटके मुक्ति धाम को चला जाता है। और 'यम से तेनुका तोर' का मतलब तिनका तोड़ना है, यह साम्प्रदायिक पंच संस्कार में से तिनका तुड़ाना प्रथम संस्कार विधि है जो गुरु पूजन विधिमें से शरणागत शिष्यको इस अभिप्राय से तिनुका अर्पण कराया जाता है कि अब तुम्हारा यमराज से कोई सम्बन्ध नहीं रहा ॥ २७ ॥

गुरु सों प्रीति निबाहिये, जिहि तत निबहै संत।
प्रेम बिना ढिग दूर है, प्रेम निकट गुरु कन्त ॥ २८ ॥

जैसे बने तैसे सद्गुरु से आदि से अन्ततक सच्चा प्रेम निबाहना चाहिये, प्रेमसे प्राप्त होने योग्य सद्गुरु स्वामी अत्यन्त समीप होते हुए भी प्रेम बिना दूर पड़ जाते हैं ॥ २८ ॥

गुरु मारै गुरु झट करै, गुरु बोरै गुरु तार।
गुरु सों प्रीति निबाहिये, गुरु हैं फव कँडिहार ॥ २९ ॥

संसार सागरके जहाज का खेवनहार सद्गुरु ही कर्णधार (केवट) हैं, अतः चाहे वे मारैं या धुधकारैं, तारैं या बोरैं, सब हालत में सदैव सद्गुरु से प्रेम प्रीति का निर्वाह करना चाहिये ॥ २९ ॥

गुरुकी महिमा को कहै, शिव बिरंचि नहिं जान ।

गुरु सतगुरु को चीन्हिके, पावे पद निरबान ॥ ३० ॥

जबकि गुरुकी महिमा को शिव,ब्रह्मादि नहीं जानते फिर और कौन ऐसा है जो कह सकता है ? जगत्के अनेक गुरुओंमें जो सद्गुरुको पहिचानता है वही मुक्तिपद को पाता है ॥ ३० ॥

गुरु मुख बानी ऊचरे, शीष साँच कर मान ।

या विधि फंदा छूटहीं, और युक्ति नहिं आन ॥ ३१ ॥

"सद्गुरु वैद्य बचन विश्वासा ० संयम यह न विषयकी आशा" इत्यादि वचनानुसार विवेकादि साधनयुत शिष्यका यही परम कर्त्तव्य है कि गुरुमुख वाणी में पूर्ण विश्वास रक्खे, इसके अतिरिक्त निर्बन्ध होनेके लिये और कोई उपाय नहीं है ॥ ३१ ॥

गुरु मूरति गति चंद्रमा, सेवक नैन चकोर ।

आठ पहर निरखत रहे, गुरु मूरति की ओर ॥ ३२ ॥

सेवकको उचित है कि चकोरकी तरह नेत्र इन्द्रियको संयम में रक्खे, गुरु मूर्तिरूप चन्द्रके सिवाय अन्य गति (विषय) न होने देवे, आठों पहर गुरुमूर्तिमें वृतिको लीन कर दे ॥ ३२ ॥

गुरु समाना शीष में, शीष लिया करि नेह ।

बिलगाये बिलगै नहीं, एक प्रान दुइ देह ॥ ३३ ॥

इस प्रकार शिष्यका गुरु विषयक अखण्ड स्नेह होनेसे गुरु भी अपने स्वरूपको ऐसे प्रवेश कर देते हैं कि किसी तरह पृथक करने पर भी पृथक नहीं होता देखने के लिये केवल शरीर दो हैं प्राण तो एकही हो जाता है ॥ ३३ ॥

गुरु शरणागत छाँड़िके, करै भरोसा और ।

सुख संपत की कह चली, नहीं नरक में ठौर ॥ ३४ ॥

एक सुख का स्थान दयालु सद्गुरुकी शरण को छोड़कर जो कोई अन्यकी आशा करता है, उसकी सुखसम्पत्तिकी क्या वार्ता चलाते हो ? अहो ! उसके लिये तो नरकमें भी ठौर नहीं है ॥ ३४ ॥

गुरु मूरति आगे खड़ी, दुतिय भेद कछु नाँहि ।
उन्हीं कूँ परनाम करि, सकल तिमिर मिटि जाहि ॥३५॥

सत्गुरुकी वाङ्मय मूर्तिको संमुख रखलो, दूसरे भेद भावकी झंझट में मत पड़ो, उन्हींके चरणों में सर्वाङ्ग शिर झुकाने से सम्पूर्ण अविद्या अन्धकार मिट जायगा ॥ ३५ ॥

ज्ञान प्रकासी गुरु मिला, सो जनि बिसरौ जाय ।
जब गोबिंद क्रिपा करी, तब गुरु मिलिया आय ॥ ३६ ॥

घटमें ज्ञान दीपक चेतानेवाले जो सद्गुरु मिले हैं। उन्हें कभी मत भुलाओ, प्रभु ने बड़ी कृपा की है, ऐसे ज्ञानप्रकाशी गुरुआ मिले हैं ॥३६॥

ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति बिश्वास ।
गुरु सेवा ते पाइये, सद्गुरु चरण निवास ॥ ३७ ॥

ज्ञानी संत गुरुके सत्संगमें परस्पर प्रेमका प्रत्यक्ष सुख मिलता है, कीड़ीसे कुंजर पर्यन्त प्राणीपर दया रखनी परम भक्ति और सत्चित आत्मस्वरूप में अटल विश्वास श्रेष्ठ धर्म है। और कामनारहित केवल सद्गुरुकी सेवा में सद्गुरु के चरणोंकी शरण मिलती है ॥ ३७ ॥

कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और ।
हरि के रूठे ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥ ३८ ॥

ऐ गुरु भक्तो ! वह मनुष्य अन्धा है जो कल्याणकारक गुरुविषयक भावना और तरहकी लाता है। ध्यान रक्खो ! हरिके रुष्ट होने पर रक्षाहित गुरुकी शरण है परन्तु गुरुके अप्रसन्न होने पर कहीं भी ठिकाना नहीं ॥ ३८ ॥

कबीर हरि के रूठते, गुरु के शरणै जाय ।
कहैं कबीर गुरु रूठते, हरि नहिं होत सहाय ॥ ३९ ॥

सुनो। हरिके रुष्ट होने पर बेखटके सद्गुरुको शरणमें आजावो। होश करो कबीर गुरु समझा रहे हैं, गुरुकी अप्रसन्नतामें हरि सहायता नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

हरि रूठे गति एक है, गुरु शरणागत जाय।
गुरु रूठे एकौ नहीं, हरि नहिं करै सहाय ॥ ४० ॥

क्योंकि हरिकी अप्रसन्नतामें तो सद्गुरु की शरणमें जानेके लिये एक गति (उपाय) है परन्तु गुरु की विमुखता में हरि कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ४० ॥

कबीर गुरु के गम कहा, भेद दिया अरथाय।
सुरति कंवल के अंतरे, निराधार पद पाय ॥ ४१ ॥

सद्गुरु कबीरने सत्य मिथ्या को पृथक २ समझाके उस परमार्थ स्वरूपका ज्ञान बतलाया है जो निराधार पद है उस निरालम्ब लक्ष्यपद को केवल अभ्यासी पुरुष ही अन्तर्मुख शुद्ध वृत्ति से हृदयकमल के बीच में प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं ॥ ४१ ॥

बलिहारी गुरु आपकी, घरी घरी सौ बार।
मानुष ते देवता किया, करत न लागी बार ॥ ४२ ॥

सद्गुरो ! आप धन्य हैं, बारम्बार कोटिशः आपको धन्यवाद है, जराभी देरी न लगी शरणमें आतेही मनुष्यसे पूज्यदेवबना दिया है॥४२॥

शिष खाँड़ा गुरु मसकला चढ़ै, शब्द खरसान।
शब्द सहै सनमुख रहै निपजै शीष सुजान ॥ ४३ ॥

शिष्यरूप तलवारको शब्दरूप सैकल देकर शुद्ध करनेवाले सद्गुरु सिकलीगर हैं, जो कोई उनके शब्द-सानपर चढ़के सन्मुख शब्द खरसान की रगड़ सहन करता है वही शिष्य श्रेष्ठ ज्ञानी बनता है ॥ ४३ ॥

भली भई जो गुरु मिले, नातर होती हानि।
दीपक जोति पतंग ज्यों, पड़ता आय निदान ॥ ४४ ॥

अहो ! धन्य भाग ! जो सद्गुरु मिल गये नहीं तो बड़ी हानि होती !

जैसे पतंग दीपककी ज्योतिमें जल मरता है जैसे ही गुरु बिना कामाग्निमें जल मरता ॥ ४४ ॥

भली भई जो गुरु मिले, जाते पाया ज्ञान ।
घट ही माहिं चबूतरा, घट ही माहिं दिवान ॥ ४५ ॥

बड़ी अच्छी बात हुई कि सद्‌गुरु मिले जिनसे सत्यज्ञान प्राप्त हुआ । और घटहीके तख्त पर कचहरी लगी तथा घटमें परस्पर ऊधम मचानेवाले का फैसला करनेवाला मुन्सिफ भी घटही में मिल गये ॥ ४५ ॥

रामनाम के पटतरै, देवै को कछु नाहिं ।
कहले गुरु सन्तोषिये, हवस रही मन माहिं ॥ ४६ ॥

गुरुका दिया हुआ बखशीश राम नामके बदले कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि दिया जाय । फिर आप्तकाम गुरुको क्या लेकर सन्तुष्ट किया जाय ऐसी अभिलाषा शिष्यके हृदयमें बनी ही रही ॥ ४६ ॥

निज मनमाना नाम सों, नजरि न आवै दास ।
कहैं कबीर सो क्यों करै, राम मिलन की आस ॥ ४७ ॥

जिसकी मनोवृत्ति रामनाम ऐसा अनूठा पदार्थ पाकर हृदयमें शान्त हो गई है ऐसा जिज्ञासु दृष्टिमें नहीं आता । कबीर गुरु कहते हैं कि यदि हृदयगत आरामप्रद राम नाममें प्रेम करनेवाला हो तो वह अन्य राम मिलनेकी आशा ही क्यों करेगा ॥ ४७ ॥

निज मन सों नीचा किया, चरण कमल की ठौर ।
कहैं कबीर गुरुदेव बिन, नजरि न आवै और ॥ ४८ ॥

जिन जिज्ञासुओंने अपने मन भ्रमरको सद्‌गुरुके चरण-कमलके रसमें स्थिर कर दिया है, कबीर गुरु कहते हैं उसको गुरुदेव के अतिरिक्त और कहीं ठौर नजर नहीं आती । फिर जाय तो कहाँ ? ॥ ४८ ॥

तन मन दिया (तो) भल किया, सिरका जासी भार ।
जो कबहुँ कहै मैं दिया, बहुत सहै सिर मार ॥ ४९ ॥

तन सहित मनको गुरु चरणोंमें अर्पण कर दिया तो बहुत अच्छा किया, शिरका भार उतर गया अर्थात् कर्त्तव्य समाप्त हो गया परन्तु

जो कदाचित् कहे कि मैं दिया तो ध्यान रक्खो वह बहुत चौरासी भोग का दण्ड सहेगा ॥ ४९ ॥

तन मन ताको दीजिये, जाको विषया नाहिं ।
आशा सब ही डारि के, राखै साहिब माहिं ॥ ५० ॥

होशियारी के साथ तन मन उसी गुरुको अर्पण करो जो विषयसे विरक्त और मायिक पदार्थों के अभिमानसे रहित आत्मनिष्ठ है ॥५०॥

ऐसा कोई ना मिला, राम नाम को मीत ।
तन मन सौंपे मिरग ज्यों, सुनै बधिक को गीत ॥ ५१ ॥

केवल एक निरन्तर रामनामसे प्रीति करनेवाला प्रेमी बहुत कम होता है, जैसा कि तन मन की सुधि भुलाकर मृग व्याधा को गीत श्रवण करता है ॥ ५१ ॥

जल परमानै माछली, कुल परमानै सुद्धि ।
जाको जैसा गुरु मिला, ताको तैसी बुद्धि ॥ ५२ ॥

जल परिमाण के अनुसार ही सरोवर, सागरादिमें छोटी बड़ी मछलियाँ रहती हैं और ऊँच नीच खानदानके अनुसार ही मनुष्यके आचरणमें स्वाभाविक शुद्धता होती है। ऐसे ही जिसको जैसा उपदेशक गुरु मिले वैसी ही उसकी बुद्धि हुई और होती है ॥ ५२ ॥

जैसी प्रीति कुटुंब की, तैसी गुरु सों होय ।
कहैं कबीर ता दास का, पला न पकड़ै कोय ॥ ५३ ॥

मनुष्योंको जैसी प्रेमासक्ति परिवार में है वैसी यदि ज्ञानप्रद गुरुमें होय तो गुरु कबीर कहते हैं ऐसे मोक्ष धाम के मुसाफिर को कोई विघ्न बाधा नहीं डाल सकता ॥ ५३ ॥

सब धरती कागद करूँ, लिखनी सब बनराय ।
सात समुँद्रकी मसि करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय ॥ ५४ ॥

"कहि न जात उपकार अनेकन, श्रुति गावत गुणहारी ।
हरि विरंचि शंकर मुख वर्णन, गुरु पदकी अधिकारी ॥"

इत्यादि गुरुका गुण लिखने के लिये यदि सम्पूर्ण पृथ्वीको कागज किया जाय और सब जंगलकी कलम बनाई जाय एवं सप्त सागर ही को मसिपात्र बनाके जन्म पर्यन्त लिखें तोभी नहीं पार लग सकता ॥५४

बूड़ा था पर ऊबरा, गुरु की लहरी चमक्क।
बेड़ा देखा झाँझरा, उतरो भया फरक्क ॥ ५५ ॥

"लोक वेदकी कर्मधारमें, बह जात अभिमानी ।
त्रिबिध दुसह दुख देखि दयानिधि, प्रेयों परख निसानी ॥"

इत्यादि गुरुकी ऐसी लहर चमकी अर्थात् कृपा हुई कि संसार में डूब रहा था परन्तु बच गया, क्योंकि, गुरु-दृष्टि से शतशः छिद्र वाला संसाररूप जीर्ण जहाज देखने में आ गया इसलिये शीघ्र उतरकर अलग हो गया ॥ ५५ ॥

अहं अगनि निश दिन जरै, गुरुसों चाहै मान ।
ताको जम न्योता दिया, हो [उ] हमार मिहमान ॥ ५६ ॥

जिसके हृदयमें आठों पहर मिथ्या वर्णादिकी अहंकार रूप अग्नि धधक रही है और गुरु से जो प्रतिष्ठा चाहता है तिसको मानो मृत्युने अपने अतिथि सत्कार के लिये निमंत्रण दिया है। अर्थात् वह स्वयं कालका पहुना हो चुका ॥ ५६ ॥

जम गरज बल बाघ के, कहैं कबीर पुकार ।
गुरु किरपा ना होत जो, तो जम खाता फार ॥ ५७ ॥

गुरु कबीर पुकार कर कहते हैं—ऐ मिथ्या अहंकारियों ! बलिष्ठ सिंह के सदृश यमराज गर्जना कर रहा है यदि गुरु-कृपा न होती तो अवश्य मार खाता ॥ ५७ ॥

अबरन बरन अमूर्त जो, कहो ताहि किन पेखा ।
गुरू दया तो पावई, सुरति निरति करि देखा ॥ ५८ ॥

जिसका न कोई रक्तादि वर्ण है न स्थूलादि आकार, ऐसे साक्षी स्वरूप आतमतत्वको गुरु विना कोई कैसे दर्शन कर सकता है ? उसको तो केवल गुरु-कृपा से शुद्ध और एकाग्रवृत्ति ही करके देखा जाता है ॥५८॥

पंडित पढि गुनि पचि मुये, गुरु बिन मिले न ज्ञान।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है, सत्त सब्द परमान॥ ५६॥

सद्गुरु बिना केवल शास्त्रका श्रवण, मनन करनेवाले पंडितों को जिसके ज्ञान से सर्वका ज्ञान हो जाता है उसका ज्ञान नहीं होता न उस ज्ञान बिना मुक्ति होती, इसमें आप्त वक्ताका[1] सत्य वचन प्रमाण भी है। "तद्विज्ञानार्थ गुरुमेवाभिगच्छेत्" अर्थात् परमार्थ तत्व को जानने के लिये अधिकारी को गुरु की शरणमें ही जाना चाहिये "को ? कबीर गुरु इव करुणालय, वेद वदत इति जानी। तद्विज्ञान हेतु शरणागत, गच्छ सकल भ्रम भानी" इत्यादि॥ ५९॥

---

१ "वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।
"आत्मैक बोधेन बिना विमुक्तिर्न सिध्यति व्रह्म शतान्तरेऽपि॥"

विवेक चूड़ामणि॥

अर्थ—भलेही कोई शास्त्रोंकी व्याख्या करे, देवताओंको यजन करें। नाना शुभ कर्म करें। अथवा देवताओंको भजे, तथापि जबतक गुरुमुखसे ऐक्य आत्मरूपका बोध नहीं होता तब तक सौ कल्प में मुक्तिनहीं हो सकती।

"अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान् संन्यस्त बाह्यार्थ सुखस्पृहः सन्।
संत महान्तं समुपेत्य दशिकं तेनोपदिष्टार्थ समाहितात्मा॥"

विवेक चूड़ामणि॥

अर्थ—शंकराचार्य कहते हैं—इसलिये विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य भोगोंकी इच्छा त्यागकर संतशिरोमणि गुरुदेव की शरण जाकर उनके उपदेश किये हुए विषयमें समाहित होकर मुक्ति के लिये प्रयत्न करें। और भी है—

"गुरु बिन ज्ञान नहि गुरु विन ध्यान नहिं, गुरु बिन आत्मविचार न लहतु है।
गुरु विन प्रेम नहि गुरु विन नेम नहिं, गुरु विन शीलहु संतोष न गहतु है॥
गुरु विन प्यास नहि बुद्धिको प्रकाश नहिं, भ्रमहु को नाश नहि संशय रहतु है।
गुरु विन वाट नहि कौड़ी विन हाट नहिं, सुन्दर प्रगट लोक वेद यों कहतु है॥"

सुन्दर विलास।

ईश्वर गुरुमें अधिक,धारे भक्ति सुजान। बिन गुरुभक्ति प्रवीनहु लहै न आत्मज्ञान॥

विचार सागर।

मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पुजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु बचन है, मूल सत्य सत भाव ॥ ६० ॥

प्रत्येक उपासकोंके लिये गुरु-स्वरूपका ध्यानही परमाभिष्ट सिद्धिका मूल है और गुरुचरणोंकी पूजा करना ही देव दर्शनार्थी पुजारी का मुख्य कर्तव्य है। त्रिविध तापोंसे सन्तप्त तृषातुरोंको गुरु वचनामृत पान करने के अतिरिक्त और कोई तृप्तिका मुख्य हेतु नहीं है, एवं अपनी भावनाको सत्यरूप में पलट देना इससे बढ़कर सत्यकी जिज्ञासा और कोई नहीं किमधिकम् एक सद्गुरु ही सबका सत्य ध्येय, सेव्य, पेय स्वरूप हैं ॥६०॥

कहैं कबीर तजि भरम को, नन्हा ह्वै करि पीव।
तजि अहं गुरु चरण गहु जम सों बाचै जीव ॥ ६१ ॥

कबीरगुरु कहते हैं, ऐ नरजीवो! यदि अपनेको मृत्युसे बचाना चाहते हो तो मिथ्या बड़प्पन वर्णादिका भ्रम छोड़कर गुरु चरणोंमें स्तन पायी नन्हा बच्चा बन जावो और गुरु-वाक्य सुधाको पानकर अमरहो जाओ॥६१

तीन लोक नव खंड में, गुरु ते बड़ा न कोय।
करता करै न करि सकै, गुरु करै सो होय ॥ ६२ ॥

सम्पूर्ण खण्ड, ब्रह्माण्डमें ढूंढ़ देखो, कर्मकी रेखा पर मेख मारनेवाले गुरुसे बढ़कर और कोई नहीं। किसीका किया कुछ नहीं होता, अविद्या अन्धकार दूर करनेवाला कोई नहीं, गुरु करें सोई सत्य है ॥६२॥

कोटिन चंदा ऊगहीं, सूरज कोटि हजार।
तीमिर तो नाशै नहीं, बिन गुरु घोर अंधार ॥ ६३ ॥

चाहे करोड़ों चन्द्र, सूर्य क्यों न उदय होवें, परन्तु सद्गुरु-ज्ञानदीपक बिना अज्ञान तम दूर नहीं होता ॥ ६३ ॥

पहिले बुरा कमाइ के, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम पल में कटै, (जब) आया गुरु की ओट ॥ ६४ ॥

जन्म जन्मान्तरोंके दुष्कर्मोंके भारसे भले पीड़ित हो या विषयवासना रूप विष पानकर बेभान हो किन्तु श्रद्धायुत, निष्कपट भावसे सत्गुरुकी शरण आनेपर कर्म नष्ट हो उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूपको प्राप्त हो जाताहै॥६४

जगत जनायो सकल जिहि, सो गुरु प्रगटे आय ।
जिन गुरु आँखिन देखिया, सो गुरु दिया लखाय ॥ ६५ ॥

जिस ज्ञान दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत् दृश्य रूप से जानने में आ जाता है। वही ज्ञानरूप गुरु जब अन्तर में प्रकट होते हैं, तब गुरु प्रताप से उस अदृश्य स्वरूपका भी दर्शन हो जाता है ॥ ६५ ॥

हरि किरपा तब जानिये, दे मानव अवतार ।
गुरु किरपा तब जानिये, छुड़ावे संसार ॥ ६६ ॥

मनुष्यका अवतार मिला यही मालिककी बड़ी मिहरबानी समझो। किन्तु गुरुकी कृपा तो तवही समझना जब संसारकी संस्सृति चक्र छूटै। अर्थात् गुरुकृपा बिना संसार सागरके पार कोई नहीं जा सकता ॥६६॥

जाके शिर गुरु ज्ञान है, सोइ तरत भव माँहि ।
गुरु बिन जानो जन्तु को, कबहुँ मुक्ति सुख नाहिं ॥ ६७ ॥

जिसके माथे गुरु और हृदयमें ज्ञान है, वही भवसिन्धुके उस पार है। गुरु बिना प्राणीको मोक्ष सुख कदापि नहीं मिलता ॥ ६७ ॥

देवी बड़ा न देवता, सूरज बड़ा न चन्द ।
आदि अन्त दोनों बड़े, कै गुरु कै गोविन्द ॥ ६८ ॥

देवी, देव, सूरज, चन्द ये गोविन्दसे बड़े कोई नहीं केवल प्राणीको नर जन्म देनेके हेतु आदिमें गोविन्द बड़े कहे जाते हैं और संसारसे मुक्त करनेके कारण अन्तमें तो गुरुही सबसे बड़े होते हैं ॥ ६८ ॥

सब कुछ गुरु के पास है, पाइये अपने भाग ।
सेवक मन सौंपे रहै निशिदिन चरणों लागि ॥ ६९ ॥

"गुरु सम दाता कोई नहीं" इत्यादि अपने भाग्यके अनुसार गुरुसे सबही कुछ प्राप्त कर सकते हैं। सेवकको उचित है कि मनोवृत्ति को आठों पहर गुरुके चरणोंमें लगाये रहे ॥ ६९ ॥

बहुत गुरू भै जगत में, कोई न लागे तीर ।
सबै गुरू बहि जायँगे, जाग्रत गुरू कबीर ॥ ७० ॥

यों तो अनादि संसारमें गुरु नाम धरानेवाले बहुत हुये और हैं किन्तु भवसिन्धु में गोता खाने खिलानेवाले हैं तीर लगने लगानेवाले कोई नहीं। मुर्दा और स्वप्न रूप संसार में जो गुरु जीवित और जाग्रत है वही स्वयं लगता व लगाता है ॥ ७० ॥

वेद पुराना साधु गुरु, सबन कही निज बात।
गुरु तें अधिक न दूसरा, का हरिका पितु मात ॥ ७१ ॥

वेद, पुरान, साधु और गुरु सबही कोई अपनी २ वाणी से इस बातको प्रगट कर दिया है कि संसारके क्या माता, पिता, क्या गुरु, गोसइयां ? सत्य ज्ञानदाता सद्गुरुसे बड़ा कोई नहीं है ॥ ७१ ॥

ताते शब्द विवेक करि, कीजै ऐसो साज।
जिहि बिधि गुरु सों प्रीति रह, कीजै सोई काज ॥ ७२ ॥

इसलिये सार शब्दका विचार करके ऐसा प्रयत्न करो, कि जिससे सद्गुरु के ज्ञान उपदेशमें सदा प्रीति बनी रहे और मोक्षरूप कार्य भी सिद्ध होय ॥ ७२ ॥

सो (इ) सो (इ) नाच नचाइये, जिहि निबहै गुरु प्रेम।
कहैं कबीर गुरु प्रेम बिन, कितहुँ कुशल नहिं छेम ॥ ७३ ॥

मनोवृत्तिरूपी नर्तकीको उसी २ नाचमें नचाओ जिससे प्रेमका निर्वाह हो और गुरु प्रसन्न होवै, कबीर गुरु कहते हैं, सच्चे प्रेम बिना कहीं कुशल नहीं है ॥ ७३ ॥

तन मन शीष निछावरै, दीजै सरबस प्रान।
कहैं कबीर दुख सुख सहै, सदा रहै गलतान ॥ ७४ ॥

गुरु चरणोंमें तन मनके सहित शीश तो अर्पण कर ही दो, किन्तु गुरुदेवके संमुख प्राणको भी बलिदान कर दो, दुख सुख समान करके गुरु ज्ञान में सदा गलतान (लीन) रहो ॥ ७४ ॥

तब ही गुरु प्रिय बैन कहि, शीष बढ़ी चित प्रीत।
तो रहिये गुरु सनमुखाँ, कबहुँ न दीजै पीठ ॥ ७५ ॥

जब शिष्यकी बढ़ी चढ़ी अन्तर-प्रीति देखते हैं, तबही गुरु मोक्ष उपदेश रूप प्रेम बचन बोलते हैं। इसलिए मुमुक्षु सदा गुरुके सम्मुख रहे, विमुख किसी हालत में न होय ॥ ७५ ॥

स्नेह प्रेम गुरु चरण सों, जिहि प्रकार से होय।

क्या नियरै क्या दूर सब, प्रेम भक्त सुख सोय ॥ ७६ ॥

जैसे बने तैसे सदगुरु-चरणोंमें सच्चा प्रेम बनाये रक्खे। चाहे शरीर की स्थिति दूर हो या नजदीक, प्रेमी भक्त सदा सुखी रहता है ॥ ७६ ॥

जिहि विधि शिष को मन बसै, गुरु पद परम सनेह।

कहैं कबीर क्या फरक ढिग, क्या परबत वन गेह ॥ ७७ ॥

चाहे जिस तरह शिष्यका मन भँवरा गुरु चरण कमल के परम प्रेमी बने उसी प्रकार बनावे। प्रेम के सुआमिलेमें दूर नजदीक या घर, बन, पहाड़का कोई विचार नहीं रहता ॥ ७७ ॥

जो गुरु पूरा होय तो, शीषहि लेय निबाह।

शीष भाव सुत जानिये, सुत (ते) श्रेष्ठ शिष आह ॥ ७८ ॥

सद्ग्रन्थ-ज्ञान-पूर्ण, पारखनिष्ठ गुरू जो हों तो शिष्य को भी भव-सिन्धु से पार कर सकते हैं। यद्यपि शिष्य भाव पुत्र भाव के समान ही है, यथापि लोक परलोक विचार से पुत्रसे शिष्य भाव श्रेष्ठ है ॥ ७८ ॥

अबुध सुबुध सुत मातु पितु, सबहि करै प्रतिपाल।

अपनी ओर निबाहिये, सिख सुत गहि निज चाल ॥ ७९ ॥

ज्ञानी अज्ञानी, काना कुबड़ा आदि कैसी ही सन्तान हो माता पिता उन सबही को जिस तरह पोषण करते हैं। उसी तरह गुरु अपनी गुरुत्व गति को ग्रहण कर पुत्रकी नाईं शिष्यको अपनी ओरसे निर्वाह करते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते ॥ ७९ ॥

सुनिये संतो साधु मिलि, कहहिं कबीर बुझाय।

जिहि विधि गुरु सों प्रीति है, कीजै सोइ उपाय ॥ ८० ॥

कबीर गुरु समझाके कहते हैं कि साधु, सन्तसे मिलकर हितकी बात सुनिये और वही उपाय कीजिए, जिस उपायसे गुरुमें अटल प्रीति हो ।८०।

करै दूरि अज्ञानता, अंजन ज्ञान सुदेय।
बलिहारी वे गुरुन की, हंस उबारि जु लेय ॥ ८१ ॥

सद्गुरु अपने प्रेमीको ज्ञान-अंजन लगाके उसके भीतरका अविद्या अन्धकार एकदम दूर कर देते हैं, इसलिए ऐसे गुरुके चरणोंमें सर्वस्व निछावर है जो हंस जीवोंका उद्धार करते हैं ॥ ८१ ॥

हरि सेवा युग चार है, गुरु सेवा पल एक।
ताके पटतर ना तुलै, संतन कियो विवेक ॥ ८२ ॥

श्रद्धा से की हुई सद्गुरुके एक लव की सेवा का मुकाबला हरि के चारों युगकी आराधना नहीं कर सकती ऐसा सन्तोंने विचार कर प्रचार किया है ॥ ८२ ॥

ते मंन निर्मल सत खरा, (जो) गुरु सों लागै हेत।
अंकुर सोई ऊगसी, (गुरु) शब्दै बोया खेत ॥ ८३ ॥

वही अन्त;करण वास्तविक सत्य और शुद्ध है, जिसमें गुरु विषयक लगन लगी है। उसी चित्‌रूप खेतमें गुरुका बोया हुआ उपदेश रूप बीज अंकुरित हो उत्पन्न होगा और मनोवांछित फल देगा ॥ ८३ ॥

भौसागर की त्रास ते, गुरु की पकड़ो बाँहि।
गुरु बिन कौन उबारसी, भौजल धारा माँहि ॥ ८४ ॥

भवसिन्धु के भयसे उद्धार हित केवल सद्गुरु के चरण-जहाजकी शरण लो। संसार प्रवाह में बहते हुए को गुरु बिना कौन पार करेगा। कोई भी नहीं ॥ ८४ ॥

लौलागी विष भागिया, कालक (ख) डारीधोय।
कहैं कबीर गुरु साबुन सों, कोइइक ऊजल होय ॥ ८५ ॥

गुरुमें प्रेम होने पर विषय वासना से वृत्ति स्वयं निवृत्त हो जाती है और दुष्कर्मजन्य अन्तःकरण की कालिमा भी नहीं रह जाती। कबीर गुरु कहते हैं कोई एक गुरु-प्रेमही गुरु के ज्ञान साबुन से निर्मल होता है ॥ ८५ ॥

साबुन बिचारा क्या करै, गाँठै राखै मोय।
जल सों अरसा परस नहिं, क्यों कर ऊजल होय ॥ ८६ ॥

एक तो साबुन गाँठ में बाँधा हुआ है दूसरे जल से स्पर्श नहीं, फिर वह कपड़े को उज्ज्वल कैसे करे? ऐसे ही सन्त गुरु में दृढ़ श्रद्धा-भक्ति सहित सत्संग ज्ञान बिना किसी के अन्तःकरण का मल, विक्षेपादि दूर न हो तो इसमें गुरु सत्संग ज्ञान का क्या दोष है? कुछ नहीं। ८६ ॥

नारद सरिखा शीष ह्वै, गुरु है मच्छो मार।
ता गुरु की निन्दा करै, पड़ै चौरासी धार ॥ ८७ ॥

"नारद मुख गुरु निन्दा सुनि हरि कोप कियो अति भारी।
गुरु करुणानिधान इक पल में चौरासी भय हारी ॥"

इत्यादि नारद ऐसे शिष्य को भी विष्णुजी ने धीमर गुरु की निन्दा करने पर चौरासी भोग का दण्ड दिया था परन्तु फिर उसका उसी गुरु से उद्धार हुआ। इस वास्ते शिष्य को चाहिये कि गुरु के ज्ञान से अपना अन्तःकरण सदा पवित्र रखै, वर्ण आदि के झगड़े में पड़कर मन को कलुषित न करै ॥ ८७ ॥

राजा की चोरी करै, रहै रंक की ओट।
कहैं कबीर क्यों ऊबरै, काल कठिन की चोट ॥ ८८ ॥

मालिक का माल चुरा कर दरिद्र का आश्रय लेने पर वह कालदण्ड से कैसे बचेगा? कभी नहीं। कबीर गुरु का उपदेश सुनो, जो कुछ जन्म भर अज्ञानता में बुरा कमाया है उसकी क्षमा के लिए केवल सद्गुरु की शरण लो ॥ ८८ ॥

॥ इति श्री गुरुदेवको अंग ॥ १ ॥

अथ सतगुरुको अंग ॥ २ ॥

कबीर ! रामानन्द को, सतगुरु भये सहाय ।
जगमें युक्ति अनूप है, सो सब दई बताय ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! जब रामानन्दजी को सद्गुरु सहायक हुए तब मानसिक पूजा विधिमें विस्मृत अनुष्ठान विधिकी उपमा रहित युक्ति सब बतला दिये ॥ १ ॥

सतगुरु के परताप तें, मिटी गयो सब दुंद ।
कहैं कबीर दुविधा मिटी, (गुरु) मिलिया रामानन्द ॥ २ ॥

फिर तो सद्गुरुकी कृपासे उनकी एक, दो नहीं किन्तु संशयजन्य सबही उपाधियाँ मिट गई ॥ २ ॥

सतगुरु सम को है सगा, साधू सम को दात ।
हरि समान को है हितु, हरिजन समको जात ॥ ३ ॥

जगत में सद्गुरु के सदृश्य न तो कोई परमार्थ-सहायक सम्वन्धी है, न परोपकारी साधु के समान कोई दानी है एवं न हरि तुल्य कोई हितकर है, न हरि-जन सम कोई जाति बन्धु है ॥ ३ ॥

सतगुरु सम कोई नहीं, सात द्वीप नव खंड ।
तीन लोक ना पाइये, अरु इकइस ब्रह्मण्ड ॥ ४ ॥

जम्बु दीप आदिक सात दीपोंमें तथा भरतखण्ड आदिक नव खण्डों में एवं स्वर्गादिक तीनों लोक और इकइस ब्रह्माण्डों में भी खोज देखो सद्गुरु के समान ठेठ उपकारी कोई नहीं ॥ ४ ॥

सतगुरु महिमा अनन्त है, अनन्त किया उपकार ।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावन हार ॥ ५ ॥

सद्गुरुकी महिमा अगम है, उन्होंने अपार उपकार किया है, अखण्ड आत्मदेवके दर्शन करनेवाली अनन्त दृष्टि उन्होंने ही उघाड़ दी है ॥५॥

दिल ही में दीदार है, बादि झखै संसार ।
सतगुरु शब्दहि मसकला, मुझे दिखावनहार ॥ ६ ॥

अब दूर जाने की जरूरत न रही, दिलही में दर्शन होता है, व्यर्थ संसार की चिन्ता कौन करे ? अर्थात् संसारी व्यर्थ की चिन्ता करता है, उससे मुझे क्या, जब कि सद्‌गुरु शब्द-सान पर चढ़ा के दिल दर्पण स्वच्छ कर स्वस्वरूप दिखाने वाले मिल गये हैं ॥ ६ ॥

सतगुरु साँचा शूरमा, नख शिख मारा पूर ।
बाहिर घाव न दीसई, अन्तर चकना चूर ॥ ७ ॥

सच्चे शूर-वीर सद्‌गुरु का शब्दबाण नखाग्र से शिखा पर्यन्त भरपूर बिंध गया वह घाव बाहर दूसरे को नहीं दीखता जिसको लगा वही जानता है क्योंकि बाण बाहर नहीं निकला वह तो अन्दर ही टूटकर चूरमचूर हो गया ॥ ७ ॥

सतगुरु साँचा शूरमा, शब्द जु बाह्या एक ।
लागत ही भय मिटि गया, पड़ा कलेजे छेक ॥ ८ ॥

सदुपदेशक सद्‌गुरु का सार शब्द उपदेश रूप बाण अधिकारी प्रति चलाया हुआ एकही बड़ा काम करता है। उसके लगते ही भ्रांति भय मिट जाता है और प्रारब्धभोग क्षय पर्यन्त दिलका छोड़ नहीं पुराता ॥८॥

सतगुरु मेरा सूरमा, बेधा सकल शरीर ।
शब्द बाण से मरि रहा, (क्यों) जीये दास कबीर ॥ ९ ॥

जब सद्‌गुरु का शब्द बाण सम्पूर्ण शरीर में प्रवेश कर जाता है तब शब्दबाणसे मरा हुआ जिज्ञासु संसार भोग के लिए पुनः जीवित नहीं होता ॥ ९ ॥

सतगुरु मेरा शूरमा, तकि तकि मारै तीर ।
लागे पन भागे नहीं, ऐसा दास कबीर ॥ १० ॥

पारख स्वरूप उपदेशकसद्‌गुरु सूरमातो निशान ताकके तीर लगाते हैं, मुमुक्षुको ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि शब्द कसनीसे डिगे नहीं ॥१०॥

सतगुरु मारा बाण भरि, निरखि निरखि निज ठौर ।
नाम अकेला रहि गया, चित्त न आवै और ॥ ११ ॥

सद्गुरुका उपदेश 'भृंगी कीट न्याय' होता है, शिष्यकी मनोवासना की स्थिति देख २ उससे निवृतिका ऐसे उपदेश देते हैं। जिसमें शिष्यकी वृत्ति केवल ज्ञान विषयक हो जाती और भावना नहीं आने पाती ॥११॥

सतगुरु मारा बाण भरि, धरि करि धीरी मूठ ।
अंग उघाड़े लागिया, गया दुवाँ सों फूट ॥ १२ ॥

सद्गुरु ने ज्ञान-धनुषपर शब्द-बाण चढ़ाके मूठ को ऐसे धीरे से खैंचकर मारा कि उन्मुख शिष्यके प्रत्यङ्ग में बिंध गया और आरपार निकल गया, ठीक ही है, "मुझही ऐसा होय रहो" ऐसा उपदेशक गुरु शरणागत सच्चे शिष्य को किसी की आशा नहीं रह जाती ॥ १२॥

सतगुरु मारा बाण भरि, टूटि गई सब जेब ।
कहुँ आपा कहुँ आपदा, तसबी कहूँ कितेब ॥ १३ ॥

सद्गुरु के बाण लगते ही शरीर-सजीव विषयक मोहासक्ति सब दूर हो गई। स्वरूप में ऐसा निष्ठ हो गया कि मिथ्या अहंकार और दुख एवं जपमाला तथा वेद- कुरान-पाठका भी होश न रहा ॥ १३ ॥

सतगुरु मारा बाण भरि, डोला नाहिं शरीर ।
कहुँ चुंबक क्या करि सकै, सुख लागै वहि तीर ॥ १४ ॥

जब सद्गुरु के बाण लगने पर शिष्य का तन मन स्थिर हो गया, तब कहो ! उसे चुम्बक (भोग) की क्या जरूरत ? जब कि शब्दबाण (योग) उसको सुखदाई प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

सतगुरु मारा बाण भरि, रहा कलेजे भाल ।
राठी काठी तल रहै, आज मरै की काल ॥ १५ ॥

जिसे सद्गुरु का निराश उपदेश रूप भाला हृदय में चुभ रहा है, उसे राठी यानी नाम ख्याति से क्या प्रयोजन है। जबकि अन्तर्हृदय से मिथ्या मोहाशक्ति को निकालकर मरण शैया पर पड़ा है और आज काल मृत्यु घड़ीको गिन रहा है ॥ १५ ॥

गोसा ज्ञान कमान का, खैंचा किनहु न जाय।
सतगुरु मारा बाण भरि, रोमहि रहा समाय॥ १६॥

शिष्यका हृदयमें लगा हुआ ज्ञान धनुष का गोसा अर्थात् शब्द बाण वह किसी से भी नहीं निकलता। क्योंकि सद्गुरु ने ऐसा मारा कि वह रोम २ में प्रवेश कर लिया है॥ १६॥

सतगुरु मारा तान करि, शब्द सुरंगो बाण।
मेरा मारा फिर जिये, (तो) हाथ न गहौं कमान॥ १७॥

सद्गुरुने प्रण करके सदुपदेश रूपी सीधा बाण ज्ञान कमान पर चढ़ाके ऐसा माराकि मेरा मारा हुआ पुनः संसार के लिये जीवित होगा तो ज्ञान कमान फिर नहीं ग्रहण करूँगा॥ १७॥

सतगुरु मारी प्रेम की, रही कटारी टूट।
वैसी अनी न सालई, जैसो सालै मूठ॥ १८॥

सद्गुरु ने ऐसी प्रेम कटारी शिष्य को मारी कि मूठ सहित टूट गई। नोक इतनी दुखदाई नहीं होती जितनी कि मूठ सहित, भाव यह है कि पूर्ण आत्मा प्रेमी ही संसार भोग से उपराम होता है॥ १८॥

सतगुरु शब्द कमान करि, बाहन लागे तीर।
एकहि बाहा प्रेम सों, भीतर बिधा शरीर॥ १९॥

सद्गुरूका शब्द कमानका प्रेम बाण तो एक ही काफी है। और जहाँ अनेकों लगे फिर शरीर क्यों न बिधेगा?॥ १९॥

सतगुरु सतका शब्द है, (जिन) सत्त दिया बतलाय।
जो सत को पकड़े रहैं, सत्तहि माँहि समाय॥ २०॥

सद्गुरुने जिसको सदुपदेशसे सतस्वरूपको लखा दिया और वह सत्य पर स्थिर हो गया तो अन्तमें उसकी वृत्ति सत्य ही में प्रवेश करती है।२०

सतगुरु शब्द सब घट बसै, कोइ कोइ पावै भेद।
समूँद बूँद एकै भया, काहे करहु निषेद॥ २१॥

यद्यपि सद्गुरुका सदुपदेश सब घट में है तथापि इसका मर्म बिरला

ही सत्संगी पाता है, और जो भेद पाता है उसको समूँद बूँद यानी द्वैत अद्वैत का खेद भी मिट जाता है फिर वह विधि निषेध के झंझट में नहीं पड़ता ॥ २१ ॥

सतगुरु दाता जीव के, जीव ब्रह्म करि लेह ।

स्रवन शब्द सुनायके, और रंग करि देह ॥ २२ ॥

सद्गुरु जीव के जीवनदाता हैं, कान में अपना शब्द ऐसे सुनाते हैं कि जीव ब्रह्मादिका आग्रह मिटाकर और ही रंग कर देते, भावार्थ—चिन्निष्ठ पुरुष किसीका पक्षपाती नहीं होता ॥ २२ ॥

सतगुरु से सूधा भया, शब्द जु लागा अंग ।

ऊठी लहरि समुद्र की, भींजि गया सब अंग ॥ २३ ॥

सद्गुरु के सार शब्द ग्राहीजन दुराग्रह को छोड़कर सीधी राह चलते हैं, उन्हें और कोई चिन्ता न होने से वे सदा शान्ति सागरकी मौज लिया करते हैं ॥ २३ ॥

शब्दै मारा खैंचि करि, तब हम पाया ज्ञान ।

लगी चोट जो शब्द की, रही कलेजे छान ॥ २४ ॥

सद्गुरुने ऐसा मर्मभेदी शब्दबाण मारा कि हमें जन्मभर के लिए होश हो गया । हृदयमें चोट अच्छी तरह बिध गई नहीं भूलती ॥ २४ ॥

सतगुरु बड़े सराफ हैं, परखे खरा रु खोट ।

भौसागर ते काढ़ि के, राखे अपनी ओट ॥ २५ ॥

सत् मिथ्या परखनेवाले सद्गुरु उत्तम पारखी हैं भवसिन्धु में डूबते हुएको निज शरणकी सहारा देकर रक्षा कर लेते हैं ॥ २५ ॥

सतगुरु बड़े जहाज हैं, जो कोइ बैठे आय ।

पार उतारै और को, अपनो पारस लाय ॥ २६ ॥

सद्गुरु शरण-जहाज पर जो कोई आकर बैठता है उसको अपनी ओरसे पारस (पारसमणि, ज्ञानरूप पैसा) लगाके भवसिन्धु पार कर देते हैं ॥ २६ ॥

सतगुरु बड़े सुनार हैं, परखे वस्तु भँडार ।
सुरतिहि निरति मिलायके, मेटि डारे खुटकार ॥ २७ ॥

निज ज्ञान कसौटी पर परखने वाले सद्गुरु श्रेष्ठ सोनार हैं। अपनी लक्ष्य निष्ठामें जीवोंकी सुरति वृत्ति लगाके सर्वचिन्ता मिटाते हैं ।।२७।।

सतगुरु के सदके किया, दिल अपने को साँच ।
कलियुग हमसों लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बाँच ॥ २८ ॥

दीक्षार्थ हमने अपने आपको सच्चे दिलसे सद्गुरुके चरणोंमें अर्पण कर दिया। जब कलहप्रिय कलियुगी संयोगी गुरु सब हमसे लड़ने लगे तब हमने अपना मुहकम यानी गुरु-आज्ञा पत्रिका रुक्का उनके सामने पेश कर दिया, ले, बाँच ॥ २८ ॥

सतगुरु मिलि निर्भय भया, रही न दूजी आश ।
जाय समाना शब्द में, रामनाम विश्वास ॥ २९ ॥

सद्गुरु के सच्चे उपदेश में चित्त लगाने से निर्भय हो गया, अबतो दूसरी आशाही न रही। रामनाम शब्दको विश्वास कर वृत्ति भी छक गई ॥ २९ ॥

सतगुरु मोहि निवाजिया, दीन्हा अमर बोल ।
शीतल छाया सुगम फल, हंसा करै किलोल ॥ ३० ॥

सद्गुरु ने बड़ी दया की, कि अमर स्वरूप की बोलो कान में सुना दी। अब तो हंसा अमरफल खाके सद्गुरु-शरणरूपी शीतल छाया ही में आनन्द आनन्द हो गया ॥ ३० ॥

सतगुरु पारस के शिला, देखो सोचि विचार ।
आइ परोसिन ले चली, दीयो दिया सम्हार ॥ ३१ ॥

अच्छी तरह सोच समझकर देख लो, सद्गुरु वह पारसमणि या जीता जागता जोत है जिससे स्पर्शसे जीवरूप लोहा सोनाही नहीं बनता किन्तु पारसरूप बन जाता है एवं प्रेमी पड़ोसीभी अपना दीपक संभाल के घर प्रकाश कर लेता है। भावार्थ—अनादि ज्ञान सदगुरु का शिष्य प्रशिष्य से प्रसारित होता है ॥ ३१ ॥

सतगुरु शरण न आवहीं, फिरि फिरि होय अकाज ।
जीव खोय सब जायँगे, काल तिहूँ पुर राज ॥ ३२ ॥

ऐसे सद्गुरु की शरणजो मोहवश नहीं आते उन्हें बारम्बार कल्याण में विघ्न होता है यानी नरजन्म व्यर्थ में जाता है। क्योंकि तीनों लोक में काल का अधिकार है, सद्गुरु बिना उससे कोई नहीं बचता न बचेगा ३२

सतगुरु तो सतभाव है, जो अस भेद बताय ।
धन्य सीष धन भाग तिहिं, जो ऐसी सुधि पाय ॥ ३३ ॥

सत्यरूपकी भावनाका रहस्य बतलानेवाला सद्गुरु है। और जिसको ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है, वह शिष्य तथा उसका भाग्य भी धन्य है। क्योंकि उसके कल्याण में कोई रुकावट नहीं रहती ॥ ३३ ॥

सतगुरु हमसों रीझि कै, कह्यो एक परसंग ।
बरषै बादल प्रेमको, भींजि गया सब अंग ॥ ३४ ॥

हमारेसे प्रसन्न होकर सद्गुरुने एक सत्स्वरूप का ही उपदेश दिया। फिर तो प्रेम की घटा ऐसी झड़ी लगाई की हम तरबतर हो गये ॥३४॥

सतगुरु बादल प्रेम के, हम पर बरष्यो आय ।
अन्तर भींजी आतमा, हरी भई बनराय ॥ ३५ ॥

सद्गुरु ने प्रेमका बादल हमारे ऊपर ऐसा बरसाया कि त्रिविध तापों से सन्तप्त आतमा शीतल हो गई, सूखा जंगल हरा हो गया यानी सब तरफ आनन्द का दृश्य दीखने लगा ॥ ३५ ॥

हरी भई सब आतमा, शब्द उठे गहराय ।
डोरी लागी शब्द की, ले निज घर कूँ जाय ॥ ३६ ॥

गूढ़ रहस्य युत सद्गुरु के सार शब्द सुनते ही मुमुक्षु हंसकी आतमा प्रसन्न हो गई और मोह नींदसे जाग उठी, सद्गुरु की शब्द डोरीके सहारे क्षणभंगुर संसारको छोड़कर अपने अमरधामको चल दी ॥ ३६ ॥

हरी भई सब आतमा, सतगुरु सेव्या मूल ।
चहुँदिश फूटी बासना, भया कली सों फूल ॥ ३७ ॥

जैसे वृक्ष के जड़में पानी डालनेसे प्रफुल्लित हो सब तरफ सुवासित करता है। तैसेही सब सेवाओंका मूल कारण सद्गुरुकी सेवासे जिज्ञासु की आत्मा प्रसन्न होकर अपने मुक्तपद को पा जाती है ॥ ३७ ॥

सतगुरु हमसों भल कही, ऐसी करै न कोय।
तीन लोक जम फंद में, पला न पकड़े कोय ॥ ३८ ॥

सद्गुरु हमसे बड़ी भली बात कही, ऐसी भलाई करनेवाले जगतमें कोई नहीं। यद्यपि तीनों लोक में यम का फन्दा है। तथापि सद्गुरु के प्रताप से मेरा पल्ला (धोतीका अञ्चल) कोई भी नहीं पकड़ सकता ॥३८॥

सतगुरु मिले जु सब मिले, ना तो मिला न कोय।
मातु पिता सुत बंधुवा, ये तो घर घर होय ॥ ३९ ॥

सदुपदेशक सद्गुरु मिले तो जानो सब मिल गये नहीं तो कोई न मिला। क्योंकि माता पिता आदि तो सबही के घर घर में हैं ॥ ३९ ॥

सतगुरु मिला जु जानिये, ज्ञान उँजाला होय।
भ्रम का भाँड़ा तोड़ि करि, रहै निराला होय ॥ ४० ॥

सद्गुरुका मिलना भी तबही समझो, जब घटके ज्ञानदीपक प्रकाशित हो जायँ। भ्रमकुण्डा को तोड़कर स्वयं प्रकाशित हीरा स्वरूप को प्राप्त करले और निराधार हो रहे ॥ ४० ॥

सतगुरु आतम दृष्टि है, इन्द्री टिकै न कोय।
सतगुरु बिन सूझै नहीं, खरा दुहेला होय ॥ ४१ ॥

आतमस्वरूप स्वसंवेद्य है, वहाँ तक बाह्य अभ्यन्तर इन्द्रियोंकी गति नहीं, उस दुर्गम गढ़का रास्ता सद्गुरु-दृष्टि बिना नहीं दीखता ॥४१॥

सतगुरु किरपा फेरिया, मन का औरहि रूप।
कबीर पाँचौ पलटिया, भेले किया अनूप ॥ ४२ ॥

सद्गुरुकी कृपा से मनकी गति और की ओर हो जाती है, मनही नहीं किन्तु पाँचों इन्द्रियाँ भी सहायक हो जाती और अनूप अलख लखने में आ जाता है ॥ ४२ ॥

सतगुरु की मानै नहीं, अपनी कहै बनाय ।
कहैं कबीर क्या कीजिये, और मता मन माँय ॥ ४३ ॥

"शब्द न माने कथै विज्ञाना । ताते यम दियो है थाना" इस उपदेशके अनुसार कबीर गुरु कहते हैं कि जो सद्गुरुकी कही नहीं मानकर अपनी उलटी सीधी करता है उसको कोई क्या करेगा जब कि उसके मन में और ही मत समाया हुआ है ॥ ४३ ॥

सतगुरु अमृत बोइया, शिष खारा ह्वै जाय ।
राम रसायन छाँड़ि कर, आक धतूरा खाय ॥ ४४ ॥

सद्गुरुने तो सदुपदेश रूप अमर फलका बीज शिष्यके हृदय-खेतमें बो दिया है यदि कोई सत् शिष्य होय और उसे श्रद्धा-जल से सींचे तो फल प्राप्त कर सकता है । अन्यथा राम सजीवन रस को छोड़कर आक धतूरा वत् भोगासक्त और श्रद्धाहीन कुछ नहीं पा सकता है ॥ ४४ ॥

सतगुरु महल बनाइया, प्रेम गिलावा दीन्ह ।
साहिब दरशन कारनै, शब्द झरोखा कीन्ह ॥४५॥

चैतन्यातम देव दर्शनके वास्ते सद्गुरुने प्रेमगारासे देवालय तैयारकर दिया है, यदि कोई श्रद्धावान् चाहेतो शब्द खिड़कीसे देख सकता है ।४५।

सतगुरु तो ऐसा मिला, ताते लोह लुहार ।
कसनी दे कंचन किया, ताय लिया ततसार ॥ ४६ ॥

तपे हुए टुकड़े २ लोहेको घनसे पीटकर जोड़नेवाले लोहार के समान स्वरूप विमुख नरजीवोंको जब सद्गुरु मिलते हैं तब साधन कसौटी पर कसके शुद्ध कञ्चन बना देते और तत्त्व स्वरूपसे पुनः मिला देते हैं ॥४६

सतगुरु के उपदेश का, सुनिया एक विचार ।
जो सतगुरु मिलता नहीं, जाता जम के द्वार ॥ ४७ ॥

"लोक मध्ये लोकाचार । सद्गुरु मध्ये एक विचार" इस मसलाके अनुसार जो एक सत्यातम तत्त्व विचारी सद्गुरु नहीं मिलते तो अवश्य यम द्वारे का अतिथि होना पड़ता ॥ ४७ ॥

जम द्वारे में दूत सब, करते ऐंचातान ।
उनते कबहुँ न छूटता, फिरता चारौ खान ॥ ४८ ॥

वहाँ यमदूतोंके ऐसे झकझोरमें पड़ता कि उनसे कभी न छुटकारा पाता और उत्तम मध्यमादि चारों खानिमें चक्कर खाया करता ॥४८॥

चारि खानि में भरमता, कबहु न लगता पार ।
सो फेरा सब मिटि गया, सतगुरु के उपकार ॥ ४९ ॥

रहट घड़ियां की तरह चक्कर खाने पर भी कभी पार नहीं लगता । अहो ! धन्य भाग और सद्‌गुरुका उपकार कि वह सबही फेरा एकही बेरा मिट गया ॥ ४९ ॥

पाछे लागा जाय था, लोक वेद के साथ ।
पैंड़े में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ ॥ ५० ॥

लोक, वेद विहित क्रिया कर्मके पीछे अन्धेकी तरह धुन बाँधे दौड़ा जा रहा था कि रास्ते में सद्‌गुरु मिल गये और ज्ञानदीपक हाथमें थमा दिये । बस ! निज घरकी राह मिल गई ॥ ५० ॥

दीपक दीन्हा तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा कियां बिसाहना, बहुरि न आवै हट्ट ॥ ५१ ॥

अखण्ड बत्तीवाले दीपक तेल भरके दे दिये जिसके प्रकाश में ऐसा पूर्णपदरूप सौदा कर लियाकि पुनः संसार बाजारमें आनाही न पड़े ।५१

पूरा सतगुरु सेवताँ, अंतर प्रगटे आप ।
मनसा वाचा कर्मना, मिटे जनम के ताप ॥ ५२ ॥

मन, वच, कर्मसे पूरे सद्‌गुरुकी सेवा करनेपर अन्तरमें स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता फिर त्रिविधि तापोंकी भी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है ॥५२॥

पूरा सतगुरु सेव तूँ, धोखा सब दे डार ।
साहिब भक्ति कहँ पाइये, अब मानुष अवतार ॥ ५३ ॥

ऐ मनुष्यों ! इस नरदेहसे पूरे सद्‌गुरुकी सेवा करलो और धोखा रूप वर्णाश्रमका मिथ्या अभिमान सब डाल दो, पूर्णपद भक्ति ही से प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

पूरा सतगुरु सेवताँ, शरणे पाया नाम।
मनसा वाचा कर्मना, सेवक सारा काम ॥ ५४ ॥

श्रद्धा सहित मन, वच, कर्मसे सद्गुरुकी सेवा करनेवाले शरणागत सेवकको सम्पूर्ण अर्थकी सिद्धि हो जाती है ॥ ५४ ॥

मनहि दिया निज सब दिया, मन के संग शरीर।
अब देवे को क्या रहा, यौं कथि कहैं कबीर ॥ ५५ ॥

कबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं कि जिसने गुरु चरणोंमें मनको अर्पण कर दिया उसने सब कुछ दे दिया क्योंकि शरीर और शरीर सम्बन्धी सारे पदार्थ मनके साथ हैं ॥ ५५ ॥

तन मन दिया जु क्या हुआ, निज मन दिया न जाय।
कहैं कबीर ता दास सों, कैसे मन पतियाय ॥ ५६ ॥

तन मन देने पर भी जिसने अन्तर मन गुरुको नहीं सौंपता उसको गुरुका मन भी सेवक रूपमें विश्वास नहीं करता ॥ ५६ ॥

तन मन दिया जु आपना, निज मन ताके संग।
कहैं कबीर सदके किया, सुनि सतगुरु परसंग ॥ ५७ ॥

अन्दरूनी मन अपने अन्दर रखके ऊपरसे तन मन अर्पण कर जो सद्गुरुका कहलाता है, कबीर गुरु कहते हैं कि सद्गुरूका ज्ञान सुनकर भी उसने सत्प्रतिज्ञा क्या किया ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ५७ ॥

पारस लोहा परसते, पलटि गयो सब अंग।
संशय सबही मिटि गया, सतगुरु के परसंग ॥ ५८ ॥

पारसमणिके स्पर्शसे जैसे लोहा सर्वांग सोना बन जाता है तैसे ही सद्गुरुके ज्ञान-स्पर्शसे शरणागतका सर्व संशय निवृत्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

सब जग भरमा यौं फिरैं, जों रामा का रोज।
सतगुरु सों सुधि जब भई, पाया हरि का खोज ॥ ५९ ॥

हरिकी खोजमें जंगली गायकी तरह संसार-जंगलमें भटक रहा था लेकिन सद्गुरुसे जब ज्ञान मिला तब अपने आपमें हरिको पा गया ।५९।

थापन पाई थिर भया, सतगुरु दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बनिजिया, मान सरोवर तीर॥ ६० ॥

सद्गुरुने हृदय में हरिको स्थापन कर मनको धीरज दे स्थिर कर दिया इसीलिए स्वात्मरूप हीरा हृदय ही में खरीद लिया ॥ ६० ॥

कबीर हीरा बनिजिया, हिरदै प्रगटी खान।
पारब्रह्म किरपा करी, सतगुरु मिले सुजान॥ ६१ ॥

"परम प्रभु अपने ही उर पायो। युगन २ की मिटी कल्पना सद्गुरु भेद बतायो॥" इत्यादि वचनके अनुसार प्रभुने बड़ी कृपा की, कि ज्ञाननिष्ठ सद्गुरु मिल गये। हृदयमें खान प्रगट हो गयी और मैंने वहीं हीरा खरीद लिया॥ ६१ ॥

निश्चय निधि मिलाय तत, सतगुरु साहस धीर।
निपजी में साझी घना, बाँटनहार कबीर॥ ६२ ॥

सद्गुरुकी धीरज और दृढ़तासे निश्चयपूर्वक परमतत्त्वका खजाना मिल गया। अब प्रगट खानेके भागीदार भाग लेनेवाले अनेकों जिज्ञासु हैं। अच्छा तो अखट खजानामें हर्जही क्या है ? कोई नहीं॥ ६२ ॥

तिथि पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाय।
अनन्य कथा जिव संचरी, हिरदै रही समाय॥ ६३ ॥

सद्गुरुकी सहायता से स्वरूप स्थिति होनेपर मनभी स्थिर हो गया। अब जीव अपना वह स्थान पा गया जिसकी दूसरी कथा नहीं है॥६३॥

कर कमान सर साधि के, खैंचि जुमारा माँहि।
भीतर बींधै सो मरै, जिय पै जीवै नाँहि॥ ६४ ॥

सद्गुरु जिज्ञासुके हृदयमें ज्ञान कमान पर शब्दबाण चढ़ाके ऐसे तानकर मारे कि जिनके भीतर बिंधा वे मर ही गये, केवल संसारियों की दृष्टिमें देखने मात्रके जीवित रहे॥ ६४ ॥

चेतन चौकी बैठि के, सतगुरु दीन्ही धीर।
निर्भय होय निःशंक भजु, केवल कहैं कबीर॥ ६५ ॥

सद्गुरुने चित्स्वरूप तखत पर स्थिर हो सबको ऐसा साहस दिया और देते हैं कि शंकारहित कैवल्यस्वरूपको ही निर्भय चिन्तन करो ॥ ६५ ॥

जबही मारा खैंचि के, तब मैं मूआ जानि ।
लागी चोट जु शब्द की, गई कलेजे छानि ॥ ६६ ॥

सद्गुरुका शब्दबाण ऐसा घाव किया कि हृदय छिद गया और मैं उसी वक्त विदेह हो गया ॥ ६६ ॥

हँसै न बोलै उनमुनी, चंचल मेल्या मार ।
कहैं कबीर अंतर बिंध्या, सतगुरु का हथियार ॥ ६७ ॥

गुरु कबीर कहते हैं कि जिसके हृदयमें सद्गुरुका ज्ञान हथियार बिंधता है । हँसना, बोलना और चंचलता सबही दूर होकर उसकी काष्ठवत् उनमुनी अवस्था हो जाती है । यथा—"शङ्ख दुन्दुभि नादं च न शृणोति कदाच न । काष्ठ वज्जायते देह उन्मुन्यवस्थया ध्रुवम् ॥" हठयोग प्रदीपिका ॥ ६७ ॥

गूँगा हुआ बावरा, बहरा हुआ कान ।
पाँवन ते पँगुला भया, सतगुरु मारा बान ॥ ६८ ॥

ज्योंही सद्गुरु का बाण लगा त्योंही सब तरफ से गूँगा, बावरा, बहरा और पंगुल हो गया । संसार के किसी काम का नहीं रहा ॥६८॥

ज्ञान कमान रु लौ गुना, तन तरकस मन तीर ।
भलक बहै तत सार का, मारा हदफ कबीर ॥ ६९ ॥

सद्गुरु ज्ञान के कमान और ध्यानकी डोरी तथा तनका भाथा और मन के तीर बनाके अच्छी तरह जिज्ञासु के प्रति आत्मतत्त्व का निशान लगाने लगे ॥ ६९ ॥

जो दीसै सो विनसि है, नाम धरा सो जाय ।
कबीर सोई तत गह्यो, सतगुरु दीन्ह बताय ॥ ७० ॥

ऐ जिज्ञासुओं ! परिणामी नाम रूप को छोड़ो, अपरिणामी उस आत्मतत्त्व को पकड़ लो जिसको सद्गुरुने निर्देश किया है ॥ ७० ॥

कुदरत पाई खबर सों, सतगुरु दिया बताय।
भँवर विलंबा कमल रस, अब उड़ि अन्त न जाय॥ ७१ ॥

सद्गुरुने माया का सच्चा स्वरूप दिखला दिया, इसलिये प्राप्त ज्ञान जिज्ञासु का मन भ्रमर, भ्रमण छोड़कर सद्गुरु चरण कमल-रस को ही पान करने लगा ॥ ७१ ॥

राम नाम छाँड़ौ नहीं, सतगुरु सीख दई।
अविनाशी सों परसि के, आतम अमर भई ॥ ७२ ॥

सद्गुरु के बतलाया हुआ राममें मन रमने लगा अब उसको नहीं छोड़ सकता, क्योंकि अविनाशी स्वरूप का स्पर्श कर आतमा अमर हो गई ॥ ७२ ॥

चित चोखा मन निरमला, बुद्धि उत्तम मति धीर।
सो धोखा नहिं बिरहहीं, सतगुरु मिले कबीर ॥ ७३ ॥

जिन जिज्ञासुओंको सद्गुरु मिल गये, चित मन बुद्धिबिशुद्धहो गई और मति कर्तव्याकर्तव्य आगामी फलको विचार कर रही है वे धोखामें कभी नहीं पड़ सकते ॥ ७३ ॥

बिन सतगुरु बाचै नहीं, फिर बूड़ै भव माँहि।
भौवसागर की त्रास से, सतगुरु पकड़े बाँहि ॥ ७४ ॥

सद्गुरु बिना भवसागर भय से पार कभी कोई नहीं हो सकता, जिसकी बाँह सद्गुरु पकड़ते हैं, वही निर्भय होता है ॥ ७४ ॥

जीव अधम अति कुटिल हैं, काहु नहीं पतियाय।
ताका औगुन मेटि कर, सतगुरु होत सहाय ॥ ७५ ॥

कुसंगी नरजीव अधर्मी और कपटी होता है, जिसका कोई नहीं विश्वासकरता। तिसका भी दोषदूरकर सद्गुरु सहायकहोजाते हैं ॥७५॥

जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुर नर मुनि अरु देव।
कहैं कबीर सुन साधवा, करु सतगुरु की सेव ॥ ७६ ॥

सद्गुरु बिना जिसकी खोजमें ब्रह्मादि देव सब थक गये। हे सन्तों! उस तत्व को पाने के लिये केवल सद्गुरु की सेवा करो ॥ ७६ ॥

काल के माथे पाँव दे, सतगुरु के उपदेश।
साहिब अंक पसारिया, ले चल अपने देश॥ ७७॥
सन्देह मत करो, सद्गुरुके ज्ञानबलसे कालके शिरपर पैर धर दो। सद्-गुरु तो शरणागत शिष्यको निजलोक ले जानेके लिये भुजा फैलाये हैं॥७७॥

जाय मिल्यौ परिवार में, सुख सागर के तीर।
वरन पलटि हंसा किया, सतगुरु सत्त कबीर॥ ७८॥
"सत्यलोक सुखसागर सोई। प्रभु शरणागत पारखी जोई॥"
इत्यादि वचनानुसार सुखसागरके किनारे अपने परिवारसे जाकर मिलो, सद्गुरु सत् जिज्ञासुको काकसे हंस कर देते हैं॥७८॥

जग मूआ विषधर धरै, कहैं कबीर पुकार।
जो सतगुरु को पाइया, सो जन उतरै पार॥ ७९॥
"बेड़ा बाँधिन सर्पका, भवसागरके माँहि" इत्यादि संसारी जीव सब काम क्रोधादि रूप विषधर सर्पको पकड़के मरे व मर रहे हैं। कबीर गुरु पुकार कर कह रहे हैं, जो सद्गुरुको पायगा वही भवसिन्धुके पार गया व जायगा॥७९॥

अंधा ऊवट जात है, दोनों लोचन नाहिं।
उपकारी सतगुरु मिले, (लै) डारै बस्ती माँहि॥ ८०॥
अन्तर बाहर दृष्टिहीन कामातुर कुमार्गको जाता है। परम उपकारी सद्गुरु मिल जाते हैं तो उसको भी सुमार्ग लैके निज नगरमें रख छोड़ते हैं॥ ८०॥

दौड़ आय सो दौड़सी, पहुँचेगा उन देश।
जाय मिले वा पुरुष कूँ, सतगुरु के उपदेश॥ ८१॥
जो सद्गुरु के उपदेशसे संसारसे भगेगा वही सुमार्गसे चलकर उनके देशको पहुँचेगा, और उस पुरुष से मिलेगा जहाँ से पुनः आना नहीं होता॥ ८१॥

जग में युक्ति अनूप है, साध संग गुरु ज्ञान।
तामें निपट अनूप है, सतगुरु लागा कान॥ ८२॥

संसारमें जो उपमारहित युक्ति है, उसकी प्राप्ति केवल सन्त गुरुके सत्संग ज्ञानसे होती है। यद्यपि उस युक्ति से बिलकुल अज्ञान हो तो भी सद्‌गुरुका ज्ञान कान धरनेसे कल्याण हो जाता है॥ ८२॥

शीष हरन गुरु पारधी, रामनाम के बाण।
लागा तबही भय मिटा, तबही निकसे प्राण॥ ८३॥

शिष्यरूपी मृगको सद्‌गुरु-पारधीका रामबाण लगते ही प्राण निकल गया और वह निर्भय हो गया। भावार्थ—सदगुरुके ज्ञानसे कल्याण हो जाता है॥ ८३॥

सब जग तो भरमत फिरै, ज्यों जंगल का रोज।
सतगुरु सों सुधि भई, जब देखा कुछ मौज॥ ८४॥

नीलगाय की तरह संसार जंगलमें भटकर रहा था लेकिन सद्‌गुरुसे ज्ञान प्राप्त होनें पर कुछ आनन्द मिल गया॥ ८४॥

तीन लोक हैं देह में, रोम रोम में धाम।
सतगुरु बिन नहिं पाइये, सत्त सार निज नाम॥ ८५॥

ब्रह्माण्डके सारे पदार्थ शरीरमें प्राप्त हैं, किन्तु निज सत्स्वरूपका नाम-ज्ञान सदगुरु बिना नहीं मिलता॥ ८५॥

सकल जगत जानै नहीं, सो गुरु प्रगटे आय।
जिन आँखों देखा नहीं, सो गुरु दीन्ह लखाय॥ ८६॥

विवेक-दृष्टिहीन संसारी जीव सब जिस वस्तुको कभी न देखे न सुने हैं उस अलख वस्तुको सद्‌गुरु प्रत्यक्ष लखा दिये व देते हैं॥ ८६॥

चलते चलते युग गया, को (इ) न बतावै धाम।
पैड़ें में सतगुरु मिले, पाव कोश पर गाम॥ ८७॥

चलते चलते युगों चले गये लेकिन मायारूप पावकोशके परे स्वरूप-धामको न तो किसीने बतलाया न पहुँचाया। रास्तेमें सद्‌गुरु मिले और झट पहुँच गये॥ ८७॥

सीप जु तबलग उतरती, जब लग खाली पेट।
उलटि सीप पैड़े गई, (जब) भई स्वाँति सों भेंट॥ ८८॥

जब खाली पेटे रहती है तब ही सीपी जल पर तैरती है, स्वाती बूंदसे मिलाप होते ही अपने घरकी राह ली। भावार्थ—इसी प्रकार गुरु-ज्ञान प्राप्त जिज्ञासु मुक्तिधामको पहुँचते हैं ॥ ८८ ॥

सीप समुन्दर में बसै, रटत पियास पियास।
सकल समुँद्र तिनखा गिनै, (एक) स्वाँति बूँदकी आस॥ ८९ ॥

सीपी समुद्र ही में रहती है परन्तु उस जलको तुच्छ समझ कर ग्रहण नहीं करती केवल एक बूंद स्वाती जलकी आशा में ऊपर तैरा करती है ॥ ८९ ॥

कबीर समुझा कहत है, पानी थाह बताय।
ताकूँ सतगुरु कह करै, (जो) औघट डूबै जाय ॥ ९० ॥

सद्गुरु भवसिन्धु पार जानेवाले जिज्ञासुओंको तो सागरकी थाह (हद) बतलाकर अपनी समझ कह रहे हैं। लेकिन कहनेपर भी कुघाट (कुमार्ग) में बूड़नेवालोंको वे क्या करें ॥ ९० ॥

डूबा औघट ना तरै, मोहिं अंदेसा होय।
लोभ नदी की धार में, कहा पड़ौ नर सोय ॥ ९१ ॥

ऐ नरजीवो! लोभरूपी सागर प्रवाहमें पड़कर अचिन्त निद्रा कैसे लेते हो? मुझे तो चिन्ता है, औघटमें डूबनेवाले पार नहीं लगते ॥९१॥

सचुपाया सुख ऊपजा, दिल दरिया भरपूर।
सकल पाप सहजे गया, सतगुरु मिले हज़ूर ॥ ९२ ॥

हाजिर हज़ूर सद्गुरु भरपूर जिसे मिले उसे लपालप हृदय सागर में स्थिति मिली और अनायासही सम्पूर्ण पाप दूरहोकर सुख मिल गया।९२

बिन सतगुरु उपदेश, सुर नर मुनि नहिं निस्तरे।
ब्रह्मा विष्णु महेश, और सकल जिव को गिनै ॥ ९३ ॥

और जीवोंकी क्या कथा? जब कि सद्गुरु बिना ब्रह्मादि देवको भी निस्तार नहीं हुआ ॥ ९३ ॥

केते पढ़ि गुनि पचि मुआ, योग यज्ञ तप लाय।
बिन सतगुरु पावै नहीं, कोटिन करै उपाय ॥ ९४ ॥

पढ़ गुन कर यज्ञ योगादि करते हुए कितने मर मिटे। चाहे करोड़ों उपाय करें, सद्गुरु बिना पार नहीं पा सकते ॥ ६४ ॥

करहु छोड़ कुल लाज, जो सतगुरु उपदेश है।
होय तब जीव काज, निश्चय करि परतीति करु॥ ६५ ॥

कुल-कानि छोड़कर सद्गुरुके उपदेशको निश्चय कर अनुष्ठान करने वाले अवश्य कृतार्थ होंगे ॥ ६५ ॥

अच्छर आदि जगत में, जाका सब विस्तार।
सतगुरु दाया पाइये, रामनाम निज सार॥ ६६ ॥

संसारमें शास्त्र पुराण आदि रूप अक्षरों का फैलाव जिसका है, उस सार तत्त्व स्वरूप की प्राप्ति सद्गुरू कृपा से होती है ॥ ६६ ॥

सतगुरु खोजो संत, जीव काज जो चाहहु।
मेटो भव को अंक, आवा गवन निवारहु॥ ६७ ॥

हे सन्तों ! यदि अपना परम प्रयोजन मोक्ष चाहते हो तो सद्गुरुकी खोज करो और संसृति रेख पर मेख मारके आवागमनसे निवृत्त हो जाओ ॥ ६७ ॥

राम नाम निज सोय, जो सतगुरु दाया करै।
और झूठ सब होय, काहे को भरमत फिरै॥ ६८ ॥

राम नाम सत्य है और सब असत्य है, यदि सद्गुरु दया करै तो उसीको ग्रहण करो ! क्यों झूठमूठ के भ्रममें पड़े हो ॥ ६८ ॥

ततदरशी जो होय, सो ततसार विचारई।
पावै तत्त विलोय, सतगुरु के चेला सई॥ ६९ ॥

जो कुशाग्र बुद्धि तत्त्वदर्शी होगा वह सार तत्त्वका अवश्य विचार करेगा और वही सद्गुरुका सच्चा शिष्य है, जो तत्त्वोंको छानबीन कर आत्मतत्व को प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥

जग भौसागर माँहि, कहु कैसे बूड़त तरै।
गहु सतगुरु की बाँहि, जो जल थल रक्षा करै॥१००॥

यदि संसार सागर में बूड़ते हुएको पार होनेकी शंका है तो सर्वत्र रक्षा करने वाले सद्गुरुकी शरण ग्रहण करो ॥ १०० ॥

यह सतगुरु उपदेश है, जो मानै परतीत।
करम भरम सब त्यागि के, चलै सो भवजल जीत ॥१०१॥

यही सद्गुरुका मुख्य उपदेश है जो विश्वास करके मानेगा वह मिथ्या भ्रम कर्मको परित्याग कर अवश्य संसार-बाजीको जीतेगा ॥ १०१ ॥

इति श्री सतगुरुको अंग ॥ २ ॥

अथ गुरु पारख को अंग ॥ ३ ॥

गुरु लोभी शिष लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर की नाव ॥ १ ॥

जहाँ गुरु लोभी और शिष्य लालची दोनों अपने २ दावकी ताक लगा रहे हैं वहाँ दोनोंकी दशा पत्थरकी नाव पर चढ़ने वालों की सी होती है। इसी आशयसे शिवजीने गुरु गीतामें कहा है :—

"गुरवो बहवः सन्ति शिष्य वित्तापहारकः।
दुर्लभस्सद्गुरुर्देवि शिष्य संतापहारकः ॥"

और गुरु विमुख शिष्यके प्रति ऐसा कथन है—

"गुरोरवज्ञया मृत्युर्मन्त्रत्यागाद्दरिद्रता ।
गुरुमंत्रपरित्यागी सिद्धोऽपिनरक व्रजेत् ॥
ऋतस्यदातारमनुत्तमस्य निधिर्निधीनामपि लब्ध विद्याः ।
येनाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकाँस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥"

इत्यादि ॥ १ ॥

गुरु मिला नहिं शिष मिला, लालच खेला दाव ।
दोनों बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव ॥ २ ॥

गुरु शिष्यका मेल नहीं हुआ, केवल दावका खेल हुआ। लोभ, लालचरूपी पत्थरकी नौकापर चढ़के दोनों संसारधार में डूब मरे ॥२॥

जाका गुरु है आंधरा, चेला खरा निरंध ।
अंधे को अंधा मिला, पड़ा काल के फंद ॥ ३ ॥

गुरु अन्धा और चेला चौपट, बस ! दोनों मिलमिलाके कालके गाल में गड़गप्प हो गये ॥ ३ ॥

जानीता बूझा नहीं, बूझि किया नहिं गौन ।
अंधे को अंधा मिला, पंथ बतावै कौन ॥ ४ ॥

"पन्थी पन्थ बूझि नहि लीन्हा । मूढ़ही मूढ़ गंवारा हो"॥ इत्यादि। पारखी गुरु से ज्ञान समझकर चलनेका आरम्भ नहीं किया, कहो ! अन्धे अन्धेके मिलाप में रस्ता कौन दिखायगा ? ॥ ४ ॥

जानीता जब बूझिया, पैंड़ा दिया बताय ।
चलता चलता तहँ गया, जहँ न निरंजन राय ॥ ५ ॥

जानकार गुरुसे पूछा तो रास्ता बतला दिये, और चलते २ उस मुकाम पर पहुँच गया जहाँ पर मन मायाकी हुक्म रानी नहीं ॥ ५ ॥

सो गुरु निसदिन बन्दिये, जासों पाया राम ।
नाम बिना घट अंध है, ज्यों दीपक बिन धाम ॥ ६ ॥

आरामप्रद राम जिससे मिला उसी गुरुकी सदा सेवा बन्दगी करो जिसके बिना, बिना दीपकके घरकी तरह हृदयागार अन्धकूप था ॥६॥

आगे अंधा कूप में, दूजा लिया बुलाय ।
दोनों डूबे बापुरे, निकसे कौन उपाय ॥ ७ ॥

प्रथम स्वयं अन्धा कूपमें पड़ा है और दूसरेका गुहार किया वह भी अन्धा, कहो ! उसे निकलनेका क्या उपाय है, दोनों बेचारे डूब मरे ॥७

रात अंधेरी रैन में, अंधे अंधा साथ ।
वो बहिरा वो गूंगिया, क्यों करि पूछै बात ॥ ८ ॥

मोहरूपी निशामें अज्ञान अन्धेरी छाई है, अन्धे अन्धा का साथ है, तिसपर भी एक बहिरा और दूसरा गूंगा है, कहो उनकी आपत्ति कौन कहै और कौन सुनै ॥ ८ ॥

अगम पंथ को चालताँ, (सब) अंधा मिलिया आय ।
औघट घाट सूझै नहीं, कौन पंथ ह्वै जाय ॥ ९ ॥

अजान मार्गके मुसाफिर को मिला भी सो अन्धा । कुघाट में पड़ा है, किस रस्ते जाना चाहिये कुछ भी सूझता नहीं ॥ ९ ॥

जाका गुरु है लालची, दया नहीं शिष माँहिं ।
उन दोनों कूँ भेजिये, ऊजड़ कूआँ माँहिं ॥ १० ॥

जो लोभी गुरु और शिष्य निर्दयी हैं उन दोनों निरुपयोगियोंको अन्धकूपमें भेज दो ॥ १८ ॥

जिसका गुरु है लालची, पीपल देखि भुलाय ।
शिष पीछे लागा फिरै, (ज्यौं) बछुआ पीछे गाय ॥ ११ ॥

जिसका गुरु पैसे २ के लोभी और पीतलकी मूर्ति में भूला हुआ है, वह लोभके मारे शिष्यके पीछे ऐसे फिरा करता है जैसे बछड़े के पीछे गाय ॥ ११ ॥

जाके हिय साहिब नहीं, सिष साखों की भूख ।
ते जन ऊभा सूखसी, (ज्यौं) दाहै दाझा रूख ॥ १२ ॥

स्वतः जिसके हृदयमें स्वरूप पारखका ज्ञान नहीं और शिष्य प्रशिष्य करनेकी भारी तृष्णा है । वह स्वयं तृष्णा अग्निमें जलकर औरोंको भी ऐसे जलायगा जैसे सूखा वृक्ष जंगल को ॥ १२ ॥

माई मूड़ू (उस) गुरू की, जाते भरम न जाय।
आपन बूड़ा धार में, चेला दिया बहाय ॥ १३ ॥

जिससे हृदयकी भ्रान्ति निवृत्त न हो ऐसे गुरुकी ऐसी तैसी। स्वयं तो लोभ प्रवाहमें डूबा ही लेकिन चेलोंको भी बहा दिया ॥ १३ ॥

गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।
सोइ गुरू नित बंदिये, शब्द बतावै दाव ॥ १४ ॥

कलियुगी गुरुओंमें बड़ाही भेदभाव है, इस वास्ते शिष्यको उचित है कि "गुरु कीजिये जान" और "कर बन्दगी विवेककी" इत्यादि उपदेशानुसार उसी गुरुकी सदा बन्दना करनी चाहिये जो स्वरूपबोधक शब्दका रहस्य बतलावे ॥ १४ ॥

पूरे सतगुरु के बिना, पूरा शीष न होय।
गुरु लोभी शिष लालची, दूनी दाझन सोय ॥ १५ ॥

शान्तिप्रद ज्ञाननिष्ठ पूरे सद्गुरु बिना शिष्यको कदापि पूरा न पड़ेगा लोभ व लालचकी दशामें दोनों पतंगवत् कामाग्नि में जल मरेंगे ॥ १५ ॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी शीख।
स्वाँग यती का पहिरिके, घर घर माँगी भीख ॥ १६ ॥

बस! पूर्ण सद्गुरुके अभावमें अधूरी शिक्षा मिली। इसलिए निवृत्ति का भेष बनाया तो भी घरोंघर भिक्षा में प्रवृत्ति हुई ॥ १६ ॥

पूरा सतगुरु न मिला, सुनो अधूरी शीख।
निकसा था हरि मिलनको, बीचहि खाया बीख ॥ १७ ॥

यद्यपि घरसे तो हरि मिलनेकी खोज में निकला था लेकिन अपूर्ण गुरु की अधूरी शिक्षा से बीचही मार्ग में विषयरूप विष पान कर मर मिटा ॥ १७ ॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
मूँड़ मुड़ावे मुक्ति कूँ, चालि न सकई बीख ॥ १८ ॥

यद्यपि मुक्तिके लिए शिष्य बनते हैं किन्तु विवेकादि साधन सम्पन्न सद्गुरुके पूर्ण ज्ञान बिना विषयसे निवृत्ति होती नहीं इसलिये विषय प्रवृत्ति मन कुमार्ग में गिरा देता है ॥ १८ ॥

कबीर गुरु हैं घाट के, हाटूँ बैठा चेल ।
मूँड़ मुँड़ाया साँझ कूँ, गुरू सबेरे ठेल ॥ १९ ॥

गुरु निवृत्ति मार्गका और शिष्य प्रवृत्ति मार्गका हो तो भी नहीं हो सकता मेल । साँझे मूड़ मुड़ाये और सबेरे हुए अकेल ॥ १९ ॥

पूरा सहजे गुन करै, गुन नाँहि आवै छेह ।
सायर पोषै सर भरै, दान न माँगे मेह ॥ २० ॥

पूरा सदा गुणकारी होता है, क्योंकि उसके गुणके अन्त नहीं । जैसे मेघ, नद, नदीको पूर्ण करके भी याँचता कुछ नहीं ॥ २० ॥

गुरू किया है देह का, सतगुरु चीन्हा नाँहि ।
भौसागर की जाल में, फिरफिर गोता खाँहि ॥ २१ ॥

जो केवल देह (उच्च वर्ण, भेषादि) का गुरु बनाया है वह सद्गुरु को नहीं पहचाना । अतः संसार सागरमें बारम्बार डूबेगा ॥ २१ ॥

जा गुरु ते भ्रम ना मिटैं, भ्रान्ति न जिव की जाय ।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लाय ॥ २२ ॥

जिस गुरुसे भ्रम न मिटे और हृदयकी भ्रान्तिकी निवृत्ति न हो, उस मिथ्यावादी को त्यागने में देरी नहीं करनी चाहिये ॥ २२ ॥

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार ।
द्वार न पावैं शब्द का, भटके बारंबार ॥ २३ ॥

झूठे गुरु के पक्ष को शीघ्र त्याग कर सत्गुरु की शरण लेनी चाहिये क्योंकि द्वारी भूत सार शब्दका रहस्य न मिलने से चौरासी का फेरा नहीं मिटता ॥ २३ ॥

साँचे गुरु के पक्ष में, मन को दे ठहराय ।
चंचल ते निश्चय भया, नहिं आवै नहिं जाय ॥ २४ ॥

सदुपदेशक सद्गुरुके ज्ञानमें मनको स्थिर कर देने से चंचल मन निश्चल हो जाता और आवागमन मिट जाता है ॥ २४ ॥

कनफूका गुरु हद्द का, बेहद का गुरु और
बेहद का गुरु जब मिलै, लहै ठिकाना ठौर ॥ २५ ॥

केवल कान फूंकनेवाला संयोगी गुरु संसारका होता है। पार करने वाले सद्गुरु हैं। उनही के मिलने पर पूर्ण स्थिति होती है ॥ २५ ॥

जा गुरु को तो गम नहीं, पाहन दिया बताय।
शिष सोधै बिन सेइया, पार न पहुँचा जाय ॥ २६ ॥

स्वयं स्वरूप ज्ञानहीन धातु पाषाण पूजनेवाला गुरु के मार्ग को बिना विचारे अवलम्बन करनेवाला शिष्य भवसिंधु पार नहीं जा सकता ॥ २६ ॥

सतगुरु ने तो गम कही, भेद दिया अरथाय।
सुरति कमल के अंतरे, निराधार पद पाय ॥ २७ ॥

सद्गुरुने जब रहस्ययुत पारख स्वरूपका ज्ञान करा दिया तब निरालम्ब पूर्ण पद हृदयके अन्दर ही पा गया ॥२७॥

सतगुरु का सारा नहीं, शब्द न लागा अंग।
कोरा रहिगा सीदरा, सदा तेल के संग ॥ २८ ॥

जिसने सद्गुरु ज्ञान की आधीनता स्वीकार नहीं करी वह शब्द विमुख सदा ऐसे कोरा अनाड़ी रहा जैसे तेलके साथ कुप्पा ॥ २८ ॥

सतगुरु मिले तो क्या भया, जो मन परिगा भोल।
कपास बिनाया कापड़ा, (क्या) करै विचारी चोल ॥ २९ ॥

सद्गुरुके मिलने पर भी मलिन अन्तःकरण शिष्य कुछ फल प्राप्त नहीं कर सकता। कहो! बिना शुद्ध किये कपासका बुनाया कपड़ा का अंगरखा, अँगिया साफ सुन्दर कैसे बनेगी ? ॥ २९ ॥

सतगुरु ऐसा कीजिये, ज्यों भृंगी मत होय।
पल पल दाव बतावही, हंस न जाय विगोय ॥ ३० ॥

सद्गुरु-सत् शिष्यका परस्पर कर्तव्य भृङ्गी कीट सिद्धान्तवत् होना चाहिये। ऐसे होने से हंसकी वृत्ति नहीं विचलती ॥ ३० ॥

सतगुरु ऐसा कीजिये, लोभ मोह भ्रम नाँहिं।
दरिया सों न्यारा रहै, दीसै दरिया माँहिं ॥ ३१ ॥

लोभ, मोह और भ्रान्ति रहित सद्गुरुकी शरण में जाना चाहिये। उनका प्रारब्ध व्यवहार 'जल कमल'न्यायवत् परमार्थ रूपही होता है।३१

सतगुरु ऐसा कीजिये, जाका पूरन मन्न।
अनतोले ही देत है, नाम सरीखा धन्न ॥ ३२ ॥

पूर्ण ज्ञानी और सन्तोषी सद्गुरु की शरण लेनी चाहिये वे ही अतोल, अनूप ज्ञान-धन देते हैं ॥ ३२ ॥

गुरु तो ऐसा कीजिये, (सब) वस्तू लायक होय।
यहाँ दिखावै शब्द में, वहँ पहुँचावै लोय ॥ ३३ ॥

कल्याणार्थ, वस्तुपलब्ध सद्गुरु का शिष्य बनो। जो व्यवहार में शब्दका यथार्थ बोध करके परमार्थ स्वरूप तक पहुँचा दे ॥ ३३ ॥

गुरु तो ऐसा कीजिये, तत्त्व दिखावै सार।
पार उतारे पलक में, दरपन दे दातार ॥ ३४ ॥

जैसे हस्तगत दर्पणमें प्रत्यक्षप्रतिविम्ब दीखता है तैसेही सारतत्त्वको दिखलानेवाले सद्गुरुकी शरण लो, वेही शीघ्र पार उतारेंगे ॥ ३४ ॥

गुरु की सूनी आतमा, चेला चहै निज नाम।
कहैं कबीर कैसे बसे, धनी बिहूँना गाम ॥ ३५ ॥

जो नाम बड़ाई इच्छुक चेला आत्मज्ञान शून्य गुरुकी शरण लेता है, कबीर गुरु कहते हैं, वह मालिक बिना गाम कैसे बसेगा ? ॥ ३५ ॥

काचे गुरु के मिलन से, अगली भी बिगड़ी।
चाले थे हरि मिलन को, दूनी विपति पड़ी ॥ ३६ ॥

गुरुपदके अयोग्य गुरुके मिलनेसे हरि मिलनेके प्रथमकी शुभ जिज्ञासा भी बिगड़ जाती और जिज्ञासुको द्विगुण विपत्ति आ पड़ती है ॥ ३६ ॥

कबीर बेड़ा सार का, ऊपर लादा सार।
पापी का पापी गुरू, यों बूड़ा संसार॥ ३७॥

जैसे पत्थरकी नौका पत्थरके भारको पार नहीं कर सकती तैसे पापी गुरु पापी-शिष्यको पारके बदले भवधारमें बुड़ा मारता है॥ ३७॥

ऐसा गुरु ना कीजिये, जैसी लटपटी राब।
माखी जामें फँसि रहै, वा गुरु खैसें खाब॥ ३८॥

लटपटी राबकी माफिक शान्ति ज्ञानशून्य खटपटी गुरु मत करो। उससे लाभके बदले हानि होगी। चासनी चाखनेवाली मक्खीकी तरह फंसकर मर जाओगे॥ ३८॥

गुरु नाम है गम्य का, शीष सीख ले सोय।
बिनु पद बिन मरजाद नर, गुरू शीष नहिं कोय॥ ३९॥

गुरुका अर्थ है ज्ञान और शिक्षा लेनेवालेको शिष्य कहते हैं। ऐ नर-जीवो! इस पद-मर्यादके बिना गुरु-शिष्य कोई नहीं कहला सकता॥३९॥

गु अँधियारी जानिये, रु कहिये परकास।
मिटे अज्ञान तम ज्ञान ते, गुरू नाम है तास॥ ४०॥

गु शब्द अन्धकार-अविद्या वाचक है और रु शब्द प्रकाश ज्ञान वाचक है। जिससे अज्ञान अन्धेरा मिटे उसीको ज्ञान-गुरु कहते हैं। यथा :—

गुकारोह्यन्धकारः स्यादुरुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञान नाशको बस्तु स गुरुः संप्रकीर्तितः"॥ ४०॥

भेरैं चढ़िया झाँझरैं, भौसागर के माँहि।
जो छाँड़ै तो बाचिहै, नातर बूड़ै माँहि॥ ४१॥

संसार सागर तितीर्षु यदि किसी कारणवश छिद्रवाला नौकावत् अयोग्य गुरुके पाले पड़ गया हो तो यदि वह भला चाहे तो उसे शीघ्र छोड़ दे, नहीं तो वह अन्दर ले बूड़ेगा॥ ४१॥

जाका गुरु है गीरही, गिरही चेला होय।
कीच कीच के धोवते, दाग न छूटै कोय॥ ४२॥

जैसे कीचड़का दाग कीचड़से नहीं छूटता तैसे मोहासक्त संयोगी गुरुसे चेला निर्बन्ध नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

गुरुवा तो सस्ता भया, पैसा केर पचास ।
राम नाम धन बेचिके, करै शीष को आश ॥ ४३ ॥

धनके लोभी गुरु पैसों के पचासों मारे मारे फिरते हैं। राम नाम धन बेचके शिष्य कुछ देगा, इस आशा में पड़े हैं ॥ ४३ ॥

गुरुवा तो घर घर फिरे, दीक्षा हमरी लेहु ।
कै बूड़ौ कै ऊबरौ, टका पर्दनी देहु ॥ ४४ ॥

शिष्य संसार सागर में बूड़े या तरे, मुझे तो पैसे धोतीसे काम, ऐसी अन्तर इच्छा वाले गुरु बहुतेरे घरोंघर दीक्षा देते फिरते हैं। मनुष्य समझ कर गुरु करें ॥ ४४ ॥

घर में घर दिखलाय दे, सो गुरु चतुर सुजान ।
पाँच शब्द धुनकार धुन, बाजै शब्द निशान ॥ ४५ ॥

जो देह देवालयमें अन्तर अविनाशी देवसे दर्शन कराता है वही परम ज्ञानी गुरु है। और जो पाँच या दश प्रकारका ब्रह्माण्डमें अनाहत् शब्द होता है उसे भी लखा देता है ॥ ४५ ॥

छीपा रँगै सुरंग रंग, नीरस रस करि लेय ।
ऐसा गुरु पै जो मिलै, शीष मोक्ष पुनि देय ॥ ४६ ॥

जैसे सुन्दर रंगसे रँगनेवाला रँगरेज कुरूप वस्त्रको भी सुरूप बना देता है। तैसे, जो कहीं पूरे सद्गुरु मिले तो ही शिष्यको मुक्त कर सकते हैं ॥ ४६ ॥

मैं उपकारी ठेठ का, सतगरु दिया सुहाग ।
दिल दरपन दिखलाइके, दूर किया सब दाग ॥ ४७ ॥

ऐसे ज्ञानप्रद सद्गुरुका मैं जीवन पर्यन्त का ऋणी हूँ। क्योंकि उन्होंने दिलदर्पणके सब दोषोंको दूर कर परमदेवका दर्शन करा दिया है ॥ ४७ ॥

ऐसा कोई ना मिला, जासों रहिये लाग ।
सब जग जलता देखिया, अपनी अपनी आग ॥ ४८ ॥

संसारमें ऐसा कोई नहीं मिला कि शान्ति अर्थ जिसकी शरण लूँ। सबही अपनी २ कामाग्निमें जलते हुए दीख पड़े ॥ ४८ ॥

ऐसे तो सतगुरु मिले, जिनसों रहिये लाग।
सबही जग शीतल भया, (जब) मिटी आपनी आग॥ ४६ ॥

ऐसे तो केवल सद्गुरु हैं, जिनकी शरग लेनेसे सर्व तृष्णा मिटकर पूर्ण शान्ति मिल जाती और सारा संसार शीतल हो जाता है ॥ ४९ ॥

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥ ५० ॥

यही शरीर विषलता है और सद्गुरु अमृतका आगार है। शिर सौंपे यदि ऐसे गुरु मिल जायें तो भी सस्ता समझो ॥ ५० ॥

नादी बिंदी बहु मिले, करत कलेजे छेद।
(कोइ) तख्त तले का ना मिला, जासों पूछूँ भेद ॥ ५१ ॥

केवल अनाहत शब्द उपासी और बकवादी वेदपाठी बहुतेरे मिले व मिलते हैं, जो हृदय बेधा वाक्य बाण चलाते हैं। किन्तु परम तत्त्व का रहस्य बतलाने वाला कोई नहीं मिला जिससे शान्ति का मर्म पूछा जाय ॥ ५१ ॥

तख्त तले की सो कहै, (जो) तख्त तले का होय।
माँझ महल की को कहै, पड़दा गाढ़ा सोय ॥ ५२ ॥

आत्मदेवका दर्शन वही करा सकता है जो आत्मदेवका पुजारी है। किन्तु अविनाशीके महलमें दूसरों का घसना बड़ी टेढ़ी खीर है, क्योंकि वह बड़े पर्देनशीन और चौतरफ गाढ़ी चौकीवाला है ॥ ५२ ॥

माँझ महल की गुरु कहै, देखा निज घरबार।
कुञ्जी दीन्ही हाथ कर, पड़दा दिया उघार ॥ ५३ ॥

अविनाशी देवके मन्दिरकी राह केवल सदगुरु बतला सकते हैं क्योंकि उन्होंने पग २ जोहा है। जो उनकी शरग लेगा, उसे गुरुगम कुञ्जी देकर परदा उघाड़ दिये व देंगे ॥ ५३ ॥

भेदी लीया साथ करि, दीन्हा वस्तु लखाय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥ ५४ ॥

क्योंकि भेदीके संग करने से वह गुप्त वस्तुको भी दिखला देता है। और जो मार्ग करोड़ों जन्ममें भी पार आने को नहीं था उसे क्षणमात्र में तयकर मुकामपर जा पहुँचता है ॥ ५४ ॥

घटका पड़दा खोलि करि, सनमुख ले दीदार।
बाल सनेही साँइया, आदि अंत का यार ॥ ५५ ॥

सद्गुरु ज्ञानसे अन्तरका पड़दा खोलके निज स्वामीका संमुख दर्शन कर लो। जो बाल स्नेही और आदि अन्तका हितकारी है ॥ ५५ ॥

गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हरष शोक व्यापै नहीं, तब गुरु आपै आप ॥ ५६ ॥

जब शरीरजन्य त्रिविध ताप और मनोजन्य हर्ष, शोक, मोहादि कभी पीड़ित न करै, तवही आपरूप सद्गुरुका मिलना समझो ॥ ५६ ॥

शिष साखा बहुते किया, सतगुरु किया न मीत।
चाले थे सतलोक को, बीचहि अटका चीत ॥ ५७ ॥

सद्गुरुसे मित्रता छोड़कर शिष्य शाखाओं से स्नेह जोड़ते चले। परिणाम यह हुआ कि सतलोकका रास्ता छूट गया, बीच ही में वृत्ति फंस गई ॥ ५७ ॥

बंधे को बंधा मिला, छूटै कौन उपाय।
कर सेवा निरबंध की, पल में लेत छुड़ाय ॥ ५८ ॥

स्वयं बन्धनमें पड़ा हुआ दूसरे का बन्धन नहीं खोल सकता, यदि उपाय पूछते हो तो बन्धनसे मुक्त गुरुकी सेवा करो वे मुक्त कर देंगे ।५८

गुरु बेचारा क्या करै, (जो) हिरदा भया कठोर।
नौ ने[1] जा पानी चढ़ा, पत्थर न भीजी कोर ॥ ५९ ॥

१—नेजा एक प्रकारका हथियार [अस्त्र विशेष] जिसमें ६ हाथका डंडा लगा रहता है, भाला, बरछा।

पाषाण तुल्य हृदयमें विचारवान् गुरुका ज्ञान बाण क्या करेगा ? जबकि चौवन हाथ पानी चढ़नेपर भी पत्थरकी नोक तक नहीं भींजती ॥५६॥

गुरु बेचारा क्या करै, शब्द न लागा अंग।
कहैं कबीर मैली गजी, कैसे लागै रंग ॥ ६० ॥

पात्र बिना वस्तुकी स्थिति नहीं होती। कहो ! मैली खादीपर सुरंग रंग कैसे चढ़ेगा ? कदापि नहीं ॥ ६० ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, देता हूँ हेला।
गुरु की करनी गुरु जानै, चेला की चेला ॥ ६१ ॥

हाँक मार २ के सबसे कर्तव्याकर्तव्य का न्याय सुनाते जा रहा हूँ। जो जैसा करेगा वही वैसा भरेगा 'यः कर्त्ता स एव भोक्ता' ॥६१॥

इति श्री गुरुपारखको अङ्ग ॥ ३ ॥

अथ गुरु-शिष्य हेरा को अंग ॥ ४ ॥

ऐसा कोई ना मिला, हम को दे उपदेश ।
भौसागर में डूबते, कर गहि काढ़े केश ॥ १ ॥

शिष्य—ऐसा कोई सद्गुरु हमें नहीं मिला जो सदुपदेश देकर डूबते हुए को चोटी पकड़के भवसिंधुसे पार कर दे ॥ १ ॥

ऐसा कोई ना मिला, घर दे अपन जराय ।
पाँचौं लड़के पटकि के, रहै नाम लौ लाय ॥ २ ॥

गुरु—ऐसा कोई सत् पात्र शिष्य नहीं मिला जो अविद्या जन्य संसार घरमें अग्नि जलाकर काम क्रोधादि या अविद्यादि पंचक्लेश रूप पाँचों लड़काओंको हवन कर दे और ज्ञानमें लीन हो जाय ॥ २ ॥

ऐसा कोई ना मिला, जासों कहुँ दुख रोय ।
जासों कहिये भेद को, सो फिर बैरी होय ॥ ३ ॥

शिष्य—ऐसा कोई स्नेही नहीं मिला जिससे दुखकी बात कहूँ ।
गुरु—जिसे सदुपदेश देता हूँ, वही शत्रु बन जाता है ॥ ३ ॥

ऐसा कोई ना मिला, सब विधि देय बताय ।
सुन्न मंडल में पुरुष है, ताहि रहूँ लौ लाय ॥ ४ ॥

शिष्य—गगनमहलके निवासी पुरुषकी प्राप्तिका पूर्ण रहस्य बतलाने वाला कोई नहीं मिला । जिसमें वृत्तिको लीनकर निवृत्त हो जाऊं ॥४॥

ऐसा कोई ना मिला, समझै सुनै सुजान ।
ढोल दमामा ना सुनै, सुरति बिहूना कान ॥ ५ ॥

गुरु—ऐसा कोई सुयोग्य शिष्य नहीं मिला जो चित्स्वरूप का इशारा समझे और अन्तर्मुखवृत्ति करले कि बजता हुआ संसार का नक्कारा को भी न सुनै ॥ ५ ॥

ऐसा कोई ना मिला, समझै सैन सुजान।
अपना करि किरपाकरे, लौ उतारि मैदान॥ ६॥

शिष्य—सेवककी अन्तर्भावना समझनेवाले ऐसे कोई सुज्ञ गुरु नहीं मिले। जो अपनी ओरसे दया करके संसार बनसे बाहर कर दें॥ ६॥

ऐसा कोई ना मिला, जासो कहूं निसंक।
जासों हिरदा की कहूं, सो फिरि माँडे कंक॥ ७॥

गुरु—जिसे निर्भय ज्ञान कहूँ ऐसा कोई श्रद्धावान् श्रोता नहीं मिला। प्रत्युत जिसको अन्तरका भेद कहता हूँ वह उलटे तकरार ठानता है॥७

ऐसा कोई ना मिला, जलती जोति बुझाय।
कथा सुनावै नाम की, तन मन रहे समाय॥ ८॥

शिष्य—कोई ऐसा नहीं मिला जो त्रिविध ईषना अग्निको शान्त कर ज्ञानकी कथा सुनावे, जिससे तन मन एकाग्र हो जाय॥ ८॥

ऐसा कोई ना मिला, टारै मन का रोस।
जा पेंड़े साधू चले, (तूं) चलि न सकै इककोस॥ ९॥

गुरु—ऐसा कोई नहीं मिला जो मनकी तरंगको शान्त करे। ऐ नरजीव! जिस विवेकादि साधन मार्गसे सन्त चलते हैं तिस मार्ग पर तू कोश भर भी नहीं चल सकता॥ ९॥

ऐसा कोई ना मिला, शब्द देउँ बतलाय।
अच्छर और निहअच्छरा, तामें रहै समाय॥ १०॥

गुरु—ऐसा जिज्ञासु कोई नहीं मिलता जिसे अक्षर, निरक्षर दोनों शब्दके साक्षीका स्वरूप बतला दिया जाय फिर तिसी में वृत्ति को निवृत्त करे॥ १०॥

हम घर जारा आपना, लूका लीन्हा हाथ।
वाहू का घर फूंका दूँ, (जो) चलै हमारे साथ॥ ११॥

गुरु—हमने अपने अहन्ता ममतारूपी घरको जला दिया अब लुआठ लिये फिरता हूँ यदि कोई हमारे साथ चलेगा उसका घर भी जला दूंगा॥ ११॥

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाँहि।
ऐसा कोई ना मिला, पकड़ि छुड़ावैं बाँहि ॥ १२ ॥

शिष्य—हमारी दृष्टिमें संसार और संसार की दृष्टि में हम, बेकार ठेलमठेलमें चले जा रहे हैं। ऐसा कोई नहीं मिला जो इस दुनियाँ की झंझटसे बाँह पकड़कर छुड़ा ले ॥ १२ ॥

सरपहि दूध पियाइये, सोई विष ह्वै जाय।
ऐसा कोई ना मिला, आपै ही विष खाय ॥ १३ ॥

गुरु—सर्प के दुग्धपान भी विषवर्धक होता है ऐसेही अनधिकारीके प्रति सदुपदेश भी हानिकारक होता है। क्योंकि, अपने दुर्गुणको स्वयं समझ कर दूर करने वाले बहुत कम हैं ॥ १३ ॥

तीन सनेही बहु मिले, चौथा मिला न कोय।
सबहि पियारे रामके, बैठे परबस होय ॥ १४ ॥

गुरु—"सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि की मति इन कृत न मलीनी ॥" तु०। सुत वित लोक भोगके प्रेमी बहुत मिलते परन्तु चौथा सद्गुरुका स्नेही कोई नहीं मिलता। रामके प्यारे तो सबही हैं किन्तु सुतवित नारीके वशीभूत रामसे प्रेम करनेवाला कोई भी नहीं ॥ १४ ॥

जैसा ढूँढत मैं फिरूँ, तैसा मिला न कोय।
ततवेता तिरगुन रहित, निरगुन सों रत होय ॥ १५ ॥

गुरु, शिष्य—आत्मवेत्ता सद्गुरु और निर्गुणका प्रेमी उत्तम अधिकारी इन दोनोंके मिले बिना किसीका मनोरथ पूरा नहीं होता भावार्थ यह है कि, सद्गुरु सम, दम आदि साधन सम्पन्न श्रेष्ठ शिष्य को ढूँढ़ते हैं और ऐसा शिष्य पूर्ण तत्त्ववेत्ता सद्गुरु को ढूँढ़ता है, अभीष्ट पात्रके मिले बिना किसीके कार्यकी सिद्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

सारा शूरा बहु मिले, घायल मिला न कोय।
घायल को घायल मिले, राम भक्ति दृढ़ होय ॥ १६ ॥

गुरु—बिना घावके शूरवीरके समान भक्ति की हाँक लगाने वाले

भक्त बहुतेरे मिले परन्तु स्वरूप वियोगरूप घावसे घायल कोई नहीं मिला, घावको घायल मिलने परही राम-भक्ति दृढ़ होती है ॥ १६ ॥

माया डोलै मोहती, बोलै कड़वा बैन।

कोई घायल ना मिले, सांई हिरदा सैन ॥ १७ ॥

शिष्य—कड़ुवा वचन बोलती हुई माया सब जग मोहती फिरती मिलती है। किन्तु हृदयके स्वामीका सैन बतलानेवाला घायल कोई भी नहीं मिलता ॥ १७ ॥

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरूँ, प्रेमी मिले न कोय।

प्रेमी सों प्रेमी मिले, विष से अमृत होय ॥ १८ ॥

गुरु—मैं जिस प्रमीकी खोज में हूँ वह मिलता नहीं। यदि कहीं वह मिल जाय फिर यह विष-रूप संसार अमृत बन जाय ॥ १८ ॥

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहिरै पानी पैठ।

मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ ॥ १९ ॥

शिष्य—जिसने गहरा गोता लगाके ढूंढ़ा उसने रत्न पाया। मैं बेचारा डूबनेके भयसे किनारे बैठ रहा गुरु रतन कहाँसे मिले ॥ १९ ॥

सतगुरु हमसों रीझि के, एक दिया उपदेश।

भौ सागर में बूड़ता, कर गहि काढ़े केश ॥ २० ॥

शिष्य—संसार समुद्र में डूबते हुए हलपर ऐसे सद्‌गुरु प्रसन्न हुयेकि हमें आतमप्रेमका एकही उपदेशसे केश पकड़कर बाहर कर दिये ॥ २० ॥

आदि अंत अब को नहीं, निज बाने का दास।

सब संतन मिलि यों रमै, ज्यों पुहुपन में बास ॥ २१ ॥

आदि अन्त और मध्यके भेदभावसे रहित सद्‌गुरु अपने सेवकों में ऐसे मिले जुले रमते हैं जैसे पुष्पमें सुगन्धि ॥ २१ ॥

पुहुपन केरो बास ज्यौं, व्यापि रहा सब ठाँहि।

बाहर कबहु न पाइये, पावै संतों माँहि ॥ २२ ॥

जैसे पुष्पकी सुगन्धि पुष्पको ही व्याप्तकर रहती है। तैसे ही साहिब की प्राप्ति सन्तोंसे बाहर नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

बिरछा पूछै बीज सों, कौन तुम्हारी जात ।

बीज कहे ता वृक्ष सों, कैसे भै फल पात ।। २३ ।।

(बीज वृक्षके सम्बाद द्वारा ब्रह्म जीवका विचार)

वृक्ष बीज से पूछता हैं, कहो तुम्हारी कौन स्थिति है ? बीज कहता है, जहाँसे तुम पत्र फलादि सहित हुए हो ।। २३ ।।

बिरछा पूछै बीज को, बीज वृक्ष के माँहि ।

जीव सो ढूँढ़ै ब्रह्म को, ब्रह्म जीव के पाँहि ।। २४ ।।

वृक्ष बीजका स्वरूप पूछता है, वह कहता है मैं तेरा ही स्वरूप हूँ । ऐसेही जीव और ब्रह्मका एक स्वरूप है ।। २४ ।।

डाल जो ढूँढ़ै मूल को, मूल डाल के पाहिं ।

आप आपको सब चलै, (कोय) मिले मूलसों नाहिं ।। २५ ।।

शाखा यदि मूल (जड़) की तलाश करें तो वह व्यर्थ प्रयास है क्योंकि वह उससे जुदा नहीं है । आप आपके मार्ग सब चल रहे हैं मूलसे कोई नहीं मिलते ।। २५ ।।

डाल भई है मूल तें, मूल डाल के माँहि ।

सबहि पड़े जब भरम में, मूल डाल कछु नाँहि ।। २६ ।।

"आदि अन्त नहिं होत बिरहुली । नहिं जर पल्लव डार बिरहुली" इति वत् । भ्रमवश परिणामी वस्तुकी खोज में सब पड़े हैं । इसीलिये अपरिणामी स्वतः स्वरूप से सदा विमुख रहते हैं ।। २६ ।।

मूल कबीरा गहि चढ़ै, फल खाये भरि पेट ।

चौरासी की भय नहीं, ज्यौं चाहे त्यौं लेट ।। २७ ।।

जिसने मूल स्वरूपको पकड़ लिया उसने फल खा लिया अब उसे कहीं भी भय नहीं, चाहे जिस तरह जहाँ लेटे ।। २७ ।।

आदि हती सब आप में, सकल हती ता माँहि ।

ज्यों तरुवर के बीज में, डार पात फल छाँहि ।। २८ ।।

कार्य कारणवाला पदार्थ वृक्षके बीजमें जिस प्रकार शाखा पल्ल-

वादि रहता है इसी प्रकार आदि कारण रूपमें सकल कार्य सामग्री छिपी हुई थी ॥ २८ ॥

हेरत हेरत हेरिया, रहा कबीर हिराय।
बूँद समानी समुँद्र में, सो कित हेरी जाय ॥ २९ ॥

सेवक अपने स्वामीको पृथक समझ कर प्रथम उसे मिलने की तलाश में था लेकिन जब वे मिले तो आपही गुम हो गया। जैसे तरंग समुद्रमें, फिर उसे कोई कहाँ खोजे ? यथा—

"गई बूंद सेने समुन्दरकी थाह।
यकायक लिया मौजने उस्से खाह॥
हुई आपही गुम तो पाये किसे।
बताये वो क्या और जताये किसे" ॥ २९ ॥

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराय।
समुँद्र समाना बूँद में, सो कित हेरा जाय ॥ ३० ॥

वृत्ति द्वारा व्यवहार होता है, वृत्ति अन्तःकरणका परिणाम है, उसे अन्तःकरणमें लय होने पर स्वामी सेवकादि भाव सब मिट जाते हैं। यही इस साखीका भाव है यथा :—

"चली पूतली लवण की, थाह सिन्धु की लैन।
अनाथ आप आपे भयी, पलटि कहै को बैन" ॥ ३० ॥

कबीर वैद बुलाइया, जो भावै सो लेह।
जिहि जिहि औषध गुरु मिले, सो सो औषध देह ॥ ३१ ॥

स्वरूप ज्ञान के जिज्ञासु उपदेशकों को बुलाते या उनकी शरण जाते हैं और जिस जिस उपदेश से पारख स्वरूप की प्राप्ति हो उसके लिये तन, मन, धन सबही समर्पण कर देते हैं ॥ ३१ ॥

परगट कहूँ तो मारिया, परदा लखै न कोय।
सहना छिपा पयाल में, को कहि बैरी होय ॥ ३२ ॥

किसी की अज्ञानता कहने पर शत्रुता करता है और इशारा समझता नहीं। आत्मस्वरूप शिकार मायारूपी पयार में छिपा है, उसे प्रत्यक्ष कहके कौन बैर करे ? ॥ ३२ ॥

जैसे सती पिय सँग जरे, आशा सबकी त्याग।
सुघर कूर सोचै नहीं, सिख पतिवर्त सुहाग ॥ ३३ ॥

शरणागत शिष्य को उचित है कि गुरु विषयक विचार पतिव्रता स्त्रीवत् करै। ऊंचनीच वर्ण व्यवस्थादिका संकोच मनमें न रक्खे ॥ ३३ ॥

सरबस सीस चढ़ाइये, तन कृत सेवा सार।
भूख प्यास सहे ताड़ना, गुरु के सुरति निहार ॥ ३४ ॥

निजमुख्य कर्तव्य समझकर गुरु जो आज्ञा करें उसे माथे चढ़ाके शरीर से भलीभाँति सेवा करे। और चकोर चन्द्रवत् गुरु के सम्मुख क्षुधादि सबही कष्टको झेलता हुआ देखा करे ॥ १४ ॥

गुरु को दोष रती नहीं, शीष न शोधे आप।
शीष न छाड़ै मनमता, गुरुहि दोष का पाप ॥ ३५ ॥

गुरु सदा निर्दोष हैं, ऐसा अपने मन में विचार करै उनकी सत् शिक्षाको ग्रहण करे। गुरु में दोष दर्शन और उनकी शिक्षा से विमुख होना ही महापाप है ॥ ३५ ॥

जैसी सेवा शिष करै, तस फल प्रापत होय।
जो बोवै सो लोवही, कहैं कबीर बिलोय ॥ ३६ ॥

इस बात को कबीर गुरु समझ, समझा कर कह रहे हैं। सेवा के अनुसार फल प्राप्त होता है, जैसा बोवेगा वैसा लोवेगा ॥ ३६ ॥

हिरदे ज्ञान न ऊपजे, मन परतीत न होय।
ताको सतगुरु कहाकरै, घनघसि कुल्हरा न होय ॥ ३७ ॥

जिसके हृदय में न तो स्वयं ज्ञान है, न मनमें विश्वास है। "दीन्हों दर्पण हस्त में चश्मा बिना क्या देख" ऐसे को सद्गुरु भी मिलकर क्या कर सकते। हथौड़ा को घिसने से कुल्हाड़ी नहीं बनती ॥ ३७ ॥

बनघसिया जोई मिले, घन घसि काढ़े धार।
मूरख तें पंडित किया, करत न लागी बार ॥ ३८ ॥

सिकलीगर को चाहे कैसा भी हथियार मिले उसे सिकली पर चढ़ाके

धार बना देता है। इसी प्रकार गुरु बचन में विश्वास करने वाला कोई मूर्ख ही क्यों न हो उसे ज्ञानी बनाते देरी नहीं लगती ॥ ३८ ॥

शिष पूजै गुरु आपना, गुरु पूजे सब साध।
कहैं कबीर गुरु शीष को, मत है अगम अगाध ॥ ३९ ॥

शिष्य अपने गुरु की और गुरु सब सन्तों की पूजा करते हैं इस प्रकार गुरु शिष्य का विचार और सिद्धांत अगम्य और अथाह है ॥३९॥

गुरू सोंज ले शीष का, साधु संत को देत।
कहैं कबीरा सौंज से, लागा हरि सों सेत ॥ ४० ॥

सद्गुरु शिष्य से द्रव्य लेकर साधु सन्त्तोंमें वर्ता देते हैं, ऐसे करनेसे सेवकों को आत्मस्वरूप के ज्ञान हित सन्त गुरु में प्रेम होता है ॥ ४० ॥

शिष किरपिन गुरु स्वारथी, मिले योग यह आय।
कीच कीच के दाग को, कैसे सकै छुड़ाय ॥ ४१ ॥

स्वार्थी गुरु और कृपण शिष्य इन दोनों का जहाँ संयोग गठता है वहाँ किसी का भी कार्य नहीं सिद्ध होता ॥ ४१ ॥

देश दिशान्तर मैं फिरूँ, मानुस बड़ा सुकाल।
जा देखै सुख ऊपजैं, बाका पड़ा दुकाल ॥ ४२ ॥

देश विदेश में मैं फिरता हूँ मनुष्यों की कमी कहीं नहीं है किन्तु जिसके मिलने से सुख-प्रेम बढ़े उसका बड़ा दुष्काल है ॥ ४२ ॥

सत को ढूँढ़त मैं फिरूँ, सतिया मिलै न कोय।
जब सत कू सतिया मिले, विष तजि अमृत होय ॥ ४३ ॥

सत व सत् रहनी गहनीवाले को मैं ढूँढ़ता फिरता हूँ, वह कोई नहीं मिलता। जब सत खोजी को सतवादी मिलता है तब विष अमृत फल देता है ॥ ४३ ॥

स्वामी सेवक होय के, मनही में मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रहिये मन के माँय ॥ ४४ ॥

स्वामी औ सेवक के परस्पर एक दिल होना चाहिये उसी में आनन्द है, वहाँ चतुराई से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥ ४४ ॥

धन धन शिष की सुरति कूँ सतगुरु लियो समाय।
अन्तर चितवन करत है, (गुरु) तुरतहि ले पहुँचाय ॥ ४५ ॥

धन्य वह शिष्य की वृत्ति है जो सद्गुरुको लक्ष्य बताकर अन्तरही दर्शन करती है, ऐसी वृत्तिवाले को सद्गुरु शीघ्रही मुकाम पर ले पहुंचाते हैं ॥ ४५ ॥

गुरु बिचारा क्या करैं, बाँस न इंधन होय।
अमृत सींचै बहुत रे, बूँद रही नहिं कोय ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार अन्तः सारहीन बाँस चन्दन लकड़ी नहीं बनती। इसी तरह सद्गुरु भी क्या कर सकते हैं। जब कि उनका सदुपदेश रूपी अमृत का छींटा तक भी शून्य हृदय में नहीं पड़ता ॥ ४६ ॥

गुरु भया नहिं शिष भया, हिरदे कपट न जाव।
आलो पालो दुख सहै, चढ़ि पाथर की नाव ॥ ४७ ॥

जब तक हृदय का छल प्रपंच नहीं गया है तब तक न तो उसे गुरू-पद की योग्यता है न शिष्य ही की। ऐसी दशा में वह जहाँ तहाँ, आगे पीछे दुःखही दुख पायगा, सुखी कदापि न होगा ॥ ४७ ॥

चच्छु होय तो देखिये, जुक्ति जानै सोय।
दो अन्धे को नाचनो, कहो काहि पर मोय ॥ ४८ ॥

यदि शिष्य पदकी विवेक दृष्टि होय तो आत्मस्वरूप का रहस्य दीखे और यदि गुरुपद की योग्यता हो तो मुक्ति की युक्ति जाने। जब कि गुरु शिष्य दोनों पदकी दृष्टिसे रहित हैं तब तो दो अन्धोंके नाच तुल्य है वहाँ नृत्यकला निरर्थकजाती है। किसीसे किसी को लाभ नहीं होता ॥ ४८ ॥

गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि।
बिना बिचारै गुरु करै, पड़ै चौरासी खानि ॥ ४९ ॥

अतः शिष्य को उचित है कि विचार कर रहस्ययुत ज्ञान निष्ठ गुरु करे और पानी छान कर पीये अर्थात् सार वाणी को ग्रहण करे। इसके विपरीत होने से मुक्ति के वदले अधोगति होती है ॥ ४९ ॥

गुरु तो ऐसा चाहिये, शिष सों कछू न लेय ।
शिष तो ऐसा चाहिये, गुरुको सब कुछ देय ॥ ५० ॥

गुरु को निर्लोभी और सन्तोषी होना चाहिये शिष्य से कुछ प्राप्ति की आशा कभी न करे और शिष्य को ऐसा होना चाहिये कि गुरु की चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दे ॥ ५० ॥

इति श्री गुरु-शिष्य हेरा को अंग ॥ ४ ॥

अथ निगुरा को अंग ॥ ५ ॥

जो निगुरा सुमिरन करै, दिन में सौ सौ बार ।
नगर नायका सत करै, जरै कौन की लार ॥ १ ॥

गुरु विमुख नरजीव को कोई एक निश्चय इष्टदेव नहीं होने से प्रति दिन का सैकड़ों सुमिरन ऐसे निष्फल जाता है जैसे वेश्याके पति निश्चय बिना सती धर्म ॥ १ ॥

गुरु बिनु अहिनिश नाम ले, नहीं संत का भाव ।
कहैं कबीर ता दास का, पड़ै न पूरा दाव ॥ २ ॥

सन्त गुरु में प्रेम बिना निगुरा चाहै दिन रात नाम जपे। सद्गुरु कबीर कहते हैं, उसका मनोरथ पूरा कभी नहीं हो सकता ॥ २ ॥

गुरु बिन माला फेरते, गुरु बिन देते दान।
गुरु बिन सब निष्फल गया, पूछौ वेद पुरान ॥ ३ ॥

शास्त्र पुरान का कथन है कि गुरु विमुख के सुमिरन भजन दान पुण्य सबही व्यर्थ जाते हैं ॥ ३ ॥

गरभ योगेसर गुरु बिना, लागै हरि की सेव।
कहैं कबीर बैकुण्ठ ते, फेर दिया सुकदेव ॥ ४ ॥

न विश्वास हो तो साक्षी लो, देखो शुकदेवजी को गुरु बिना सबही सेवा निष्फल गई क्योंकि गुरु विमुखता के कारण भगवान ने बैकुण्ठ से लौटा दिया ॥ ४ ॥

जनक विदेही गुरु किया, लागा हरि की सेव।
कहैं कबीर बैकुण्ठ में, उलटि मिला सुकदेव ॥ ५ ॥

पुनः जनक विदेहको गुरु मानकर जो उसने सेवा की वह प्रभुको कबूल हुआ फिर वह संसार से निवृत्त हो स्वर्गधामको पहुँच गया ॥५॥

चौसठ दीवा जोय के, चौदह चन्दा माँहि।
तिहि घर किसका चाँदना, जिहि घर सतगुरु नाँहि ॥ ६ ॥

चाहे कोई चौंसठ कला और चौदहों विद्यामें निपुण क्यों न हो किन्तु जब तक सद्गुरु ज्ञान दीपकका प्रकाश नहीं है तहाँ तक हृदय का अविद्या अन्धकार दूर नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

निशि अँधियारी कारनै, चौरासी लख चन्द।
गुरु बिन येते उदय ह्वै, तहु सुदृष्टि हि मन्द ॥ ७ ॥

हृदयमें अज्ञान तिमिर होनेके कारण, सांसारिक सर्व विद्या और कलाओंमें कुशल होने पर भी स्वरूपज्ञानकी दृष्टि गुरु बिना मन्द ही रहती है ॥ ७ ॥

दारुक में पावक बसै, घुन का घर किय जाय।
(यौं) हरिसंग विमुख निगुरु को, काल ग्रासही खाय ॥ ८ ॥

यद्यपि सामान्य अग्नि काष्टमें मौजूद है तथापि घुन घर कर के

उसे नष्ट कर देता है, विशेष अग्नि बिना वह घुनको नष्ट नहीं कर सकता। इसी तरह हृदय में हरिको होते हुए भी गुरु बिना कालसे निगुरा अपनेकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

पूरे को पूरा मिले, पूरा पड़सी दाव।
निगुरू तो कूबट चलै, जब तब करै कुदाव ॥ ९ ॥

उत्तम अधिकारी को पूरे सद्गुरुके मिलने से मोक्ष प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। लेकिन कुमार्ग गामी निगुराको तो अपने कियेका दण्ड अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

जो कामिनि पड़दै रहै, सुनै न गुरुमुख बात।
सो तो होगी कूकरी, फिरै उघारै गात ॥ १० ॥

पड़दे नशीन औरतोंको भी कल्याणरहित सद्गुरुका ज्ञानोपदेश श्रवण करना चाहिये। नहीं तो लोकलाजमें पड़के गुरुज्ञान विमुख होने पर कुत्ती, शूकरी आदि नीच योनिमें जाकर उघाड़े अंग फिरेगी ॥ १० ॥

कबीर गुरु की भक्ति बिनु, नारि कूकरी होय।
गली गली भूँकत फिरै, टूक न डारै कोय ॥ ११ ॥

गुरु भक्ति बिना नारी कुत्ती शरीरको प्राप्त हो गली २ भूंकती फिरेगी, कोई ग्रास भी नहीं डालेगा ॥ ११ ॥

कबीर गुरु की भक्ति बिनु, राजा रासभ होय।
माटी लदै कुम्हार की, घास न डारै कोय ॥ १२ ॥

राज्य सम्पत्ति के अभिमानो गुरु विमुख राजा गदहा योनिको प्राप्त हो कुंभारकी मिट्टी का द्विगुण भार उठायगा और पेटभर घास भी नहीं पायगा। । १२ ॥

गगन मंडल के बीच में, तहवाँ झलकै नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुँचेगा गुरु पूर ॥ १३ ॥

यद्यपि अविनाशी देवका प्रकाश सबके हृदयमन्दिरमें झलक रहा है तथापि उसके प्रकाशका दर्शन वही कर पाता है, जो पूरे सद्गुरु की शरण लेता है ॥ १३ ॥

कबीर हृदय कठोर के, शब्द न लागै सार।
सुधि बुधि हिरदै बिधे, उपजे ज्ञान विचार ॥ १४ ॥

"पाहन में क्या मारिये, चोखा तीर नशाय।" इस उपदेश के अनुसार जड़बुद्धि नरके प्रति सार शब्दोपदेश व्यर्थ जाता है प्रेम और जिज्ञासा वाले ही के हृदय में उपदेश प्रवेशकर आत्म का ज्ञान व विचार को प्रकट करता है ॥ १४ ॥

झिरमिर झिरमिर बरसिया, पाहन ऊपर मेह।
माटी गलि पानि भई, पाहन वाही नेह ॥ १५ ॥

पत्थर पर वर्षा की लगातार झड़ी पड़ने पर भी कुछ नहीं जम सकता क्योंकि पानी के साथ ही मिट्टी बह जाती और पत्थर फिर सूखे का सूखा रह जाता है ॥ १५ ॥

हरिया जानै रूखड़ा, उस पानी का नेह।
सूखा काठ न जानि है, कितहूं बूड़ा मेह ॥ १६ ॥

पानी का स्नेह हरा वृक्ष ही जानता है, अंतः सारहीन सूखी लकड़ी को असर नहीं करता चाहे वह वृष्टि-जलसे बूड़ी ही क्यों न रहे ॥१६॥

कबीर हरि रस बरसिया, गिरि परवत सिखराय।
नीर निवानू ठाहरै, ना वह छापर डाय ॥ १७ ॥

सर्वसामान्य के प्रति सद्गुरु का आत्म उपदेश होता है। किन्तु वह जिज्ञासु के हृदय में ही स्थिर व फलीभूत होता है। जैसे वृष्टि पर्वत की चोटी नथा पृथ्वी के ऊंचा और समथल भाग में भी होती है, लेकिन पानी गहरी जगह ताल तलैया में ही ठहरता है ॥ १७ ॥

पशुवा सों पालौ पर्यो, रहु रहु हिया न खीज।
ऊपर बीज न ऊगसी, बोवै दूना बीज ॥ १८ ॥

बारम्बार मूर्खों के पाले पड़ने पर भी ज्ञानियों का हृदय कभी क्षुभित नहीं होता है क्योंकि चाहे ऊपर में दूना बीज क्यों न डालो वह कभी उगने का नहीं ॥ १८ ॥

ऊँचै कुल के कारन, बाँस बध्यो हंकार।
राम भजन हिरदै नहीं, जार्यो सब परिवार ॥ १९ ॥

ऊँचा लम्बा होने के कारण बाँसको अहंकार बहुत बढ़ गया इसी-लिये अन्तःसार हीन (पोल) और बीच २ में गाँठें पड़ गई। ऐसे श्रेष्ठ खानदान और परिवार को जला दो जिसके कारण सन्त समागम और राम भजन मन में नहीं आता ॥ १९ ॥

कबीर चंदन के भिरै, नीम भी चंदन होय।
बूड्यौ बाँस बड़ाइयाँ, यों जनि बूड़ौ कोय ॥ २० ॥

चन्दन के समीप नीम्ब भी चन्दन हो जाता है किन्तु ऊंची मान बड़ाई रूपी पोला के कारण बाँस युगों में भी नहीं। ऐ मनुष्यों ! ऐसे मिथ्या अहंकारी कोई मत बनो ॥ २० ॥

कबीर लहरि समुद्र की, मोती बिखरे आय।
बगुला परख न जानई, हंसा-चुँगि चुँगि खाय ॥ २१ ॥

समुद्र की लहर के साथ मोती किनारे आकर बिखर गई। लेकिन बगुला पारख बिना उससे लाभ नहीं ले सका, हंस उसे चुंग २ कर तृप्त हो गया। ठीक है 'जो जाको मर्म न जाने, ताको काह कराय' इत्यादि बीजक ॥ २१ ॥

सारा लश्कर ढूँढ़िया, सारदूल नहिं पाय।
गीदड़ को सर बाहिके, नामै काम गँवाय ॥ २२ ॥

लश्कर सब सिंहको ढूंढ़ा उसे न पाकर सिंहके बदले यद्यपि सार मार कर अपना काम निकाला लेकिन नाम गमा बैठा। भावार्थ—बिना स्वरूप ज्ञान कल्याण सकाम कर्मादिसे नहीं होता ॥ २२ ॥

शुकदेव सरिखा फेरिया, तो को पावै पार।
गुरु बिन निगुरा जो रहै, पड़ै चौरासी धार ॥ २३ ॥

जब कि गर्भ योगेश्वर ऐसे ज्ञानि चौरासी में ढकेले गये तो और कौन गुरु बिना पार पा सकता है ? अतः निगुरोंको चौरासी धार में अवश्य पड़ना पड़ेगा ॥ २३ ॥

सत्त ज्ञान है मोतिया, सचराचर रहो छाय।
सुगुरे थे सो चुनि लिये, चूक पड़ी निगुराय ॥ २४ ॥

सत्यात्म स्वरूपका ज्ञान रूप मोति सद्गुरुने सब जगह बिखेर दिया है। गुरुमुखी उसे प्राप्तकर तृप्त होता है, कर्म का चूका निगुरा पछता रहा है ॥ २४ ॥

कंचन मेरू अरपहीं, अरपै कनक भंडार।
कहैं कबीर गुरु बेमुखो, कबहुँ न पावै पार ॥ २५ ॥

यद्यपि सुमेरु पर्वत सोनाका भण्डार ही है भाग्यवान् उसे चाहेजितना लेले, लेकिन भाग्यहीन वहाँसे भी एक कणिका नहीं पा सकता। ऐसेही गुरु बेमुखी नर समाज रूप जहाज पाकर भी पार नहीं जाता ॥ २५ ॥

दारू के पावक करै, घुनक जरी (क्यों) न जाय।
कहैं कबीर गुरु बेमुखी, काल पास रहि जाय ॥ २६ ॥

जिस प्रकार काष्ठकी सामान्य अग्नि घुनका बाधक नहीं होती इसी प्रकार गुरु विमुखको मैं हूं, ऐसा सामान्य ज्ञान होते हुए भी असंगतादि गुरु मुख विशेष ज्ञान बिना अविद्याजन्य जन्म मृत्यु रूप काल पास नहीं मिट सकता ॥ २६ ॥

साकट का मुख बिंब है, निकसत बचन भुवंग।
ताकी औषधि मौन है, विष नहिं व्यापै अंग ॥ २७ ॥

साकटका मुख सर्पका बिलरूप है, उसमेंसे दुःखदायी वचनरूपी सर्प निकलता है। सज्जनों को उचित है कि उसकी मौनरूपी औषधि सदा पास रक्खे जिससे उसका विष अंगमें नहीं व्यापे ॥ २७ ॥

साकट कहा न कहि चले, सुनहा कहा न खाय।
जो कौवा मठ हगि भरै, (तो) मठ को कहा नशाय ॥ २८ ॥

साकट क्या नहीं बकता ? और निजी वमन खानेवाला कुत्ता क्या नहीं खाता परन्तु इससे सज्जनको क्या ? कुछ नहीं काकके विट करनेसे मन्दिर नहीं बिगड़ता ॥ २८ ॥

साकट शूकर कूकरा, तीनों की गति एक।
कोटि जतन परमोधिये, तऊ न छाड़ै टेक॥ २९॥

निगुरा नर और शूकर, कूकर पशु ये तीनोंकी एकसी चाल है। चाहे करोड़ों युक्ति से इन्हें बोध किया जाय परन्तु ये अपनी टेक नहीं छोड़ते हैं॥ २९॥

टेक न कीजै बावरे, टेक माहि है हानि।
टेक छाड़ि मानिक मिलै, सतगुरु वचन प्रमानि॥ ३०॥

ऐ दिवाने! हठीला मत बनो, हठ वश बड़ा दुःख उठाना पड़ता है गालव ऋषिके दुःखको यादकर हठ छोड़ दो और सद्गुरुका प्रामाणिक वचनमें विश्वास करो उनकी कृपासे अनमोल मणि मिल जायगी॥३०॥

टेक करै सो बावरा, टेकै होवै हानि।
जो टेकै साहिब मिले, सोइ टेक परमान॥ ३१॥

बस! सब टेकों को छोड़कर वही प्रामाणिक एक टेक पकड़ लो जिससे अविनाशी स्वामी मिलें॥ ३१॥

साकट संग न बैठिये, अपनो अंग लगाय।
तत्व शरीरा झड़ि पड़ै, पाप रहै लपटाय॥ ३२॥

कुसंगियोंके साथ बैठना ही बुरा है क्योंकि उनके संग अंग मिलानेसे हृदय के सत्य विवेकादि नष्ट होकर अवश्य पाप छा जाता है॥ ३२॥

साकट संग न बैठिये, करन कुबेर समान।
ताके संग न चालिये, पड़ि हैं नरक निदान॥ ३३॥

साकट चाहे कर्ण, कुबेर के समान क्यों न हों यदि कल्याण चाहो तो उनके साथ का बैठना उठना कत्तई बन्द करो, नहीं तो अन्त में नरक अवश्य होगा इसमें सन्देह मत करो॥ ३३॥

साकट ब्राह्मण मति मिलो, वैस्नव मिलु चंडाल।
अंग भरै भरि भेटिये, मानो मिले दयाल॥ ३४॥

साकट ब्राह्मणका संग छोड़कर सत्संगी चण्डाल क्यों न हो उसको हृदयमें ऐसे लगाओ मानो परम सुहृद सन्त दयालु गुरु मिले॥ ३४॥

साकट सन का जेवरा, भीजै सो करराय।
दो अच्छर गुरु बाहिरा, बाँधा जमपुर जाय ॥ ३५ ॥

साकट सनकी रस्सी की तरह भींजने पर अधिक से अधिक कठोर हो जाता है, गुरु या प्रेम इन दो अक्षरों से बहिरा होने के कारण वह बाँधे मृत्यु द्वारे जाता है ॥ ३५ ॥

साकट से शूकर भला, सूचौ राखै गाँव।
बूड़ौ साकट बापुरा, बाइस भरमी नाँव ॥ ३६ ॥

साकट से तो वह शूकर अच्छा जो गाँव को साफ रखता है। जहाज के भरमीला कौवावत् वह साकट भले मरे,उसे कहीभी शान्ति नहीं ॥३६

साकट ब्राह्मण सेवरा, चौथा जोगी जान।
इनको संग न कीजिये, होय भक्ति में हान ॥ ३७ ॥

जैनी, योगी, साकट और ब्राह्मण इन चारों की संगत मत करो क्योंकि सद्‌गुरु भक्ति में विघ्न होगा ॥ ३७ ॥

साकट ते संत होत हैं, जो गुरु मिले सुजान।
राम नाम निज मंत्र दे, छुड़वैं चारों खान ॥ ३८ ॥

साकट भी सन्त बन सकता है जो कहीं पूरे सद्‌गुरु मिल जायं। क्योंकि सदगुरु ऐसे हैं कि निज राम नाम मंत्र से चारों खानि में भ्रमण रूपी कर्म रेख पर मेख मार सकते हैं ॥ ३८ ॥

कबीर साकट की सभा, तू मति बैठे जाय।
एक गुवाड़ कदि बड़ै, रोज गदहरा गाय ॥ ३९ ॥

ऐ जिज्ञासुओं ! तू साकटों की सभा में जाकर मत बैठ, उसका फल बुरा है, क्योंकि एक गुवाड़ा (गोशाला) में नीलगाय, गद्धा और गौको रहने से कभी न कभी परस्पर लड़ाई अवश्य होगी, और न्याय कुछ न होगा। अतः मूर्खों की सभा दुखदाई है ॥ ३९ ॥

मैं तोही सों कब कह्यो, (तू) साकट के घर जाव।
बहती नदिया डूबि मरूँ, साकट संग न खाव ॥ ४० ॥

मैंने तुझसे मूर्खोंका संग करनेको कब कहा था ? हर्गिज नहीं। निगुरों के संग निर्वाह करनेसे तो दरिया में डूब मरना अच्छा है ॥ ४० ॥

संगति सोई बिगुर्चई, जो है साकट साथ।
कंचन कटोरा छाड़िकै, सनहक लीन्हीं हाथ ॥ ४१ ॥

जो निगुरोंका संग करता है वह उनकी उलझनोंसे अवश्य दुख पाता है। इसीसे तो विरक्त संत कनक कटोरा छोड़के मिट्टीके पात्र में निर्वाह करते हैं ॥ ४१ ॥

सूता साधु जगाइये, करै ब्रह्म को जाप।
ये तीनों न जगाइये, साकट सिंहरु साँप ॥ ४२ ॥

सन्तोंको अवश्य जगावो वे आत्मज्ञानका विचार करें, करायंगे। लेकिन सिंह, सर्प और मूर्खों को हर्गिज न जगावो। ये दूसरों को दुःख देंगे ॥ ४२ ॥

आँखौं देखा घी भला, ना मुख मेला तेल।
साधू सों झगड़ा भला. ना साकुट सों मेल ॥ ४३ ॥

मुंख में डाला हुआ तेल से घृतका दर्शनमात्र अच्छा है। मूर्खों की मुहब्बत से सन्तों से झगड़ा अच्छा, उसमें कुछ भी निर्णय होगा ॥४३॥

घर में साकट इस्तरी, आप कहावै दास।
वो तो होयगी शूकरी, वह रखवाला पास ॥ ४४ ॥
खसम कहावैं वैस्नव, घरमें साकट जोय।
एक घरा में दो मता, भक्ति कहाँ ते होय ॥ ४५ ॥

घरमें यदि स्त्री साकटी हैं, और अपने भक्त है,तो उसके संग प्रभाव से इसका ज्ञान नष्ट हो जायेगा। जब वह अपने कुकृत्यसे शूकरी होगी तो वह शूकर बनके उसकी रक्षा करेगा क्योंकि एक घरों में दो मत होने से भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ऊजड़ घर में बैठि के, किसका लीजै नाम।
साकुट के संग बैठि के, क्यूँ कर पावै राम ॥ ४६ ॥

शून्य घरमें बैठनेसे सत्संग विचार कैसे, किसके संग होगा ? और गुरु विमुख नर,नारीके संगमें बैठकर भी रामरत्नक्यों कर पावेगा ? ४६

हरिजन की लाताँ भलीं, बुरि साकुट की बात ।
लातों में सुख ऊपजे, बातें इज्जत जात ॥ ४७ ॥

निगुरों की मीठी बातों से हरिजन की लातों मार भली है क्योंकि उनकी लातोंमें आनन्द है और उसके साथ बातोंसे इज्जत जाती है ॥४७॥

हरिजन आवत देखि के, मोहड़ो सूख गयो ।
भाव भक्ति समुझयो नहीं, मूरख चूकि गयो ॥ ४८ ॥

हरिजनों को आते देखकर हरि विमुखों का चेहरा उदास हो जाता है क्योंकि वह प्रेम भक्ति का रहस्य नहीं जानता मूर्खतावश नरजन्म के कर्तव्य से चूका हुआ है ॥ ४८ ॥

निगुरा ब्राह्मण नहिं भला, गुरु मुख भला चमार ।
देवतन से कुत्ता भला, नित उठि भूँके द्वार ॥ ४९ ॥

गुरु सत्संग विमुख ब्राह्मण से सत्संगी चमार अच्छा है। और उन जड़ देवोंसे तो कुत्ता अच्छा है जो नित उठि द्वारे भूँकता तो है ॥४९॥

इति श्रीनिगुराको अंग ॥ ५ ॥
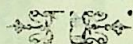
अथ साधुको अँग ॥ ६ ॥

कबीर दरशन साधु के, साहिब आवै याद ।
लेखे में सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद ॥ १ ॥

सन्तों के दर्शन से सद्गुरु साहिब का चिन्तन होता है। अतः वही समय सार्थक और सब निरर्थक हैं ॥ १ ॥

कबीर दर्शन साधु का, करत न कीजै कानि ।
ज्यौं उद्यम से लक्ष्मी, आलस मन से हानि ॥ २ ॥

सन्तोंका दर्शन अभिमान रहित उत्साहपूर्वक करना चाहिये क्योंकि उद्योगी पुरुषको लक्ष्मी मिलती है। आलसी को हर्गिज नहीं ॥ २ ॥

कबीर सोई दिन भला, जा दिन साधु मिलाय ।
अङ्क भरै भरि भेटिये, पाप शरीरों जाय ॥ ३ ॥

जिस दिन सन्त मिलें वही दिन अच्छा है। सन्तों के चरणोंमें लोट जावो, खूब प्रेम से मिलो, शरीर का पाप निवृत्त हो जायगा ॥ ३ ॥

कबीर दरशन साधु के, बड़े भाग दरशाय ।
जो होवै सूली सजा, काँटे ई टरि जाय ॥ ४ ॥

बड़े भाग्यसे सन्तों का दर्शन होता है। उनके दर्शन से सूलीकी सजा काँटे लग के भुगत जाती है ॥ ४ ॥

दरशन कीजै साधु का, दिन में कइ कइ बार ।
आसोजा का मेह ज्यों, बहुत करै उपकार ॥ ५ ॥

दिन में जितनी बार सन्तों के दर्शन का मौका मिले उतनी बार करना चाहिये, जैसे आश्विनकी वृष्टि खेती को बहुत लाभ पहुंचाती है उसी प्रकार सन्तों का दर्शन लाभ पहुंचाता है ॥ ५ ॥

कई बार नहिं करि सकै, दोय वखत करि लेय ।
कबीर साधू दरस ते, काल दगा नहिं देय ॥ ६ ॥

ज्यादे नहीं तो दिन में दो बार अवश्य सन्तों का दर्शन करना चाहिये, जिससे काल दगा नहीं देवे ॥ ६ ॥

दोय वखत नहिं कर सकै, दिन में करु इक बार ।
कबीर साधू दरस ते, उतरे भौजल पार ॥ ७ ॥

यदि दिन में दो बार नहीं तो एक ही बार सही । सन्तों का दर्शन भव सिन्धु को पार करता है ॥ ७ ॥

एक दिना नहिं करि सकै, दूजे दिन करि लेह ।
कबीर साधू दरस ते, पावै उत्तम देह ॥ ८ ॥

प्रतिदिन नहीं तो दूसरे दिन सही । सन्तों के दर्शन से उत्तम शरीर प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

दूजै दिन नहिं कर सकै, तीजै दिन करु जाय ।
कबीर साधू दरस ते, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥ ९ ॥

दूसरे दिन नहीं तो तीसरे दिन सही । ध्यान रहे सन्तोंके दर्शन से मोक्ष फल मिलता है ॥ ९ ॥

तीजे चौथे नहिं करै, बार बार करु जाय ।
यामें विलम्ब न कीजिये, कहैं कबीर समुझाय ॥ १० ॥

तीजे, चौथे नहीं तो हफ्तेवार सही, इसमें विलम्ब न होना चाहिये ॥ १० ॥

बार बार नहिं करि सकै, पाख पाख करि लेय ।
कहैं कबीर सो भक्तजन, जनम सुफल करिलेय ॥ ११ ॥

हफ्तेवार नहीं तो पन्द्रहवें दिन तो अवश्य नर जन्म सफल करने के लिये सन्तों का दर्शन भक्तों को करना चाहिये ॥११॥

पाख पाख नहिं करि सकै, मास मास करु जाय ।
यामें देर न लाइये, कहैं कबीर समुझाय ॥ १२ ॥

कबीर गुरु समझा रहे हैं, पक्ष में नहीं तो महीने में सही, परन्तु इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

मास मास नहिं करि सकै, छठे मास अलबत्त।
यामें ढील न कीजिये, कहैं कबीर अविगत्त ॥ १३ ॥

न महीने २ तो छै महीने में सही। इसमें आलस मत करो अविगत पुरुष की बात मानो ॥ १३ ॥

छठे मास नहिं करि सकै, बरस दिना करि लेय।
कहैं कबीर सो भक्तजन, जमहिं चुनौती देय ॥ १४ ॥

वर्ष दिनमें भी सन्तोंका दर्शन करनेवाला भक्त मृत्युको फारखती दे सकता है ॥ १४ ॥

बरस बरस नहिं करि सकै, ताको लागै दोष।
कहैं कबीरा जीव सो, कबहुँ न पावै मोष ॥ १५ ॥

जो भक्त वर्षमें एक बार भी सन्त गुरुका दर्शन, सत्संग नहीं करता वह पाप का भागी और मुक्तिसे विमुख होता है ॥ १५ ॥

मात पिता सुत इस्तरी, आलस बन्धू कानि।
साधु दरस को जब चलै, ये अटकावै खानि ॥ १६ ॥

सन्तोंके दर्शनमें मान मर्यादा, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, सगा-सम्बन्धी और आलस्य ये भारी प्रतिबन्धक हैं ॥ १६ ॥

इन अटकाया ना रहै, साधु दरस को जाय।
कबीर सोई संत जन, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥ १७ ॥

इनसे निर्बन्ध हो जो सन्तोंका दर्शन करते हैं जिज्ञासु अवश्य मुक्ति फल पाते हैं ॥ १७ ॥

साधु चलत रो दीजिये, कीजै अति सनमान।
कहैं कबीर कछु भेंट धरु, अपने बित अनुमान ॥ १८ ॥

सन्तोंके चरणोंमें अपनी शक्ति अनुसार भेंट धरके सम्मान पूर्वक गद्गद् वाणीसे पुनः दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हुये उन्हें बिदा करना चाहिये ॥ १८ ॥

खाली साधु न बिदा करु, सुनि लीजो सबकोय ।
कहैं कबीर कछु भेंट धरु, जो तेरे घर होय ॥ १९ ॥
कबीर दरसन साधु के, खाली हाथ न जाय ।
यही सीख बुधि लीजिये, कहैं कबीर समुझाय ॥ २० ॥

'न रिक्तः पाणिः पश्येत्तु राजानं देवतं गुरुम्' इत्यादि नीतिके अनुसार यथाशक्ति सन्तोंके चरणोंमें कुछ रखके दर्शन और विदा करना चाहिये ॥ १९ ॥ २० ॥

सुनिये पार जु पाइया, छाजन भोजन आनि ।
कहैं कबीरा साधु को, देत न कीजै कानि ॥ २१ ॥

कबीर गुरु कहते हैं यदि संसारसे पार जाना चाहते हो तो सन्तों को अन्न, वस्त्र देनेमें जरा भी आगा पीछा मत करो ॥ २१ ॥

कबीर लौंग इलायची, दातुन माटी पानि ।
कहैं कबीरा साधु को, देत न कीजै कानि ॥ २२ ॥

लवंग, इलायची, दातुवन, पानी जो कुछ श्रद्धा भक्तिसे बनि आवे सन्तोंको देनेमें सोच बिचार मत करो ॥ २२ ॥

टूका माहीं टूक दे, चीर मांहि सों चीर ।
साधू देत न सकुचिये, यौं कहैं संत कबीर ॥ २३ ॥
कंचन दीया करन ने, द्रौपदी दीया चीर ।
जो दीया सो पाइया, ऐसे कहैं कबीर ॥ २४ ॥

गुरु कबीर तो ऐसा कहते हैं कि, रोटी के टुकड़े में से टुकड़ा और वस्त्र के चिथड़े में से चिथड़ा भी सन्तों को देने में संकोच मत करो । देखो ! कर्ण ने सोना और द्रौपदी ने चिथड़ा दिया । जो जैसा दिया वह वैसा पाया ॥ २३ ॥ २४ ॥

निराकार निज रूप है, प्रेम प्रीति सों सेव ।
जो चाहै आकार को, साधू परतछ देव ॥ २५ ॥

साधू आवत देखि के, चरणौं लागो धाय।
क्या जानौ इस भेष में, हरि आपै मिल जाय ॥ २६ ॥

त्रिगुण आकारका साक्षी अपना स्वरूप है। उसे प्रेम प्रीतिकी वृत्तिसे सेवन करो और यदि आकार चाहिये तो प्रत्यक्ष सन्त गुरुदेव का दर्शन करलो। सन्तों को आते देखकर चरणोंमें लोट जावो। किसको मालूम? इसी वेषमें साक्षात् प्रभु मिल जाते हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥

साधू आवत देखि करि, हँसी हमारी देह।
माथा का ग्रह उतरा, नैनन बढ़ा सनेह ॥ २७ ॥

सन्तोंको आते देखकर, हमारा शरीर प्रसन्न हो गया। और माथेका कुलक्षण टलकर नयनमें स्नेह बढ़ने लगा ॥ २७ ॥

साधू आवत देखि के, मन में करै मरोर।
सो तो होसी चूहरा, बसै गाँव की ओर ॥ २८ ॥

सन्तोंके दर्शनसे जो मनमें मरोड़ अर्थात् हृदयको संकुचित करता है, वह जरूर चाण्डाल शरीरको प्राप्त हो गाँवके किनारे बसेगा ॥ २८ ॥

साधु आया पाहुना, माँगै चार रतन।
धुनी पानी साथरा, सरधा सेती अन ॥ २९ ॥

सन्त मिहमान आते हैं तो भक्तों से चार रतन माँगते हैं। धूप-दीप, जल, विस्तरा और श्रद्धा भक्तिसे अन्न ॥ २९ ॥

साधु दया साहिब मिले, उपजा परमानन्द।
कोटि बिघन पल में टलै, मिटै सकल दुख दन्द ॥ ३० ॥

पूर्वके सुकृत और सद्गुरुकी दयासे सन्तोंका दर्शन मिलता है। जिससे परम आनन्द लाभ और क्षणमें करोड़ों विघ्न टलके जन्मादि द्वन्द सकल उपाधियाँ मिट जाती हैं ॥ ३० ॥

साधू शब्द समुद्र है, जामें रतन भराय।
मन्द भाग मुट्ठी भरे, कंकर हाथ लगाय ॥ ३१ ॥

सन्त के शब्द सागर हैं जिसमें अनन्त ज्ञान-रत्न भरे पड़े हैं। लेकिन भाग्यहतको वहाँभी मूठी भर कंकड़के सिवा कुछ नहीं हाथ लगता ॥ ३१ ॥

साधू मिलै यह सब टलै, काल जाल जम चोट।
शीश नवावत ढहि पड़ै, अघ पापन के पोट ॥ ३२ ॥

सन्तोंके मिलनेसे काल जाल जम चोट तो टलती ही है, किंतु उनके चरणोंमें शीश झुकानेसे तो जन्मोंके पाप-गट्ठर भी ढह पड़ते हैं ॥३२॥

साधु सेव जा घर नहीं, सतगुरु पूजा नाँहि।
सो घर मरघट जानिये, भूत बसैं तेहि माँहि ॥ ३३ ॥

जिस घरमें सन्त गुरुकी सेवा, पूजा नहीं है, वह घर, घर नहीं वह तो प्रेतका निवास स्थान श्मशान है ॥ ३३ ॥

साधु सीप साहिब समुँद्र, निपजात मोती माँहि।
वस्तु ठिकानै पाइये, नाल खाल में नाँहि ॥ ३४ ॥

सद्गुरु रूप दरियाके निवासी सन्तरूपी सीपीमें मोती पकती है। जो चाहै सो वहाँसे प्राप्त कर सकता है, और ताल तलैयासे नहीं ॥३४॥

साधु विरछ सतज्ञान फल, शीतल शब्द विचार।
जग में होते साधु नहिं, जरि मरता संसार ॥ ३५ ॥

सन्तरूपी वृक्षमें सत्य ज्ञान रूप फल लगे हैं और शब्दों का विचार रूपी शीतल छाया है। यदि संसारमें सन्त नहीं होते तो संसारी त्रिविधि तापोंसे जल मरता ॥ ३५ ॥

साधु हमारी आतमा, हम साधुन की देह।
साधुन में हम यौं रहैं, ज्यौं बादल में मेह ॥ ३६ ॥

सन्त हमारी जान हैं और हम सन्तन के शरीर हैं। घटामें वृष्टिकी तरह हम सन्तों में रहते हैं ॥ ३६ ॥

साधु हमारी आतमा, हम साधुन को सांस।
साधुन में हम यौं रहैं, ज्यौं फूलन में बास ॥ ३७ ॥

सन्त हमारी आत्मा और हम उनके स्वाँस हैं। पुष्पमें खुशबूकी भाँति हम उनमें रमे हुए हैं ॥ ३७ ॥

साधु हमारी आतमा, हम साधुन के जीव।
साधुन में हम यौं रहैं, ज्यौं पय मध्ये घीव ॥ ३८ ॥

सन्त हमारी आत्मा और हम सन्तोंके जीव हैं। दूध में घी के समान हम उनमें रम रहे हैं॥ ३८॥

ज्यौं पय मध्ये घीव है, (त्यों) रमि रहा सब ठौर।

वक्ता श्रोता बहु मिले, मथि काढ़े ते और॥ ३९॥

दूध में घी के सदृश सर्वत्र रमे हुए हैं। उसके वक्ता और श्रोता बहुत मिलते, लेकिन विलोयकर घृत के समान आत्मतत्त्व को निकालने वाले और ही हैं॥ ३९॥

साधु नदी जल प्रेम रस, तहाँ प्रछालो अंग।

कहैं कबीर निरमल भया, हरि भक्तन के संग॥ ४०॥

सन्त निर्मल जलका प्रवाह रूप हैं। प्रेम भक्तिसे जाकर उसमें हर एक अंगके कल्मषको धो डालो, क्योंकि हरि भक्तोंके संगसे सब कुछ निर्मल होता है॥ ४०॥

साधु मिले साहिब मिले, अन्तर रही न रेख।

मनसा वाचा करमना, साधू साहिब एक॥ ४१॥

सन्तोंका मिलना ही साहिबका मिलना है अन्दर की दुबिधा दूर कर मन, वचन, कर्मसे सन्त साहिब एकही स्वरूप समझो॥ ४१॥

साधुन के मैं संग हूं, अन्त कहूं नहिं जाँव।

जु मोहिं अरपै प्रीति सों, साधुन मुख ह्वै खाँव॥ ४२॥

मेरा निवास और कहीं भी नहीं है सदा साधुके संगमें रहता हूँ। भक्तों का चढ़ावा उन्हीं के द्वारा प्रेम से ग्रहण कर लेता हूँ॥ ४२॥

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाँहि।

धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाँहि॥ ४३॥

सन्त प्रेमके भूखे हैं, धनके नहीं। जो धनके भूखे हैं वे साधू नहीं हैं॥ ४३॥

साधु बड़े परमारथी, घन ज्यौं बरसै आय।

तपन बुझावै और को, अपनो पारस लाय॥ ४४॥

साधु बड़े परमार्थी, शीतल जिनके अंग।
तपन बुझावैं और की, दे दे अपनो रंग ॥ ४५ ॥

परमार्थी सन्त बादलकी वृष्टिके सदृश हैं। अपनी ज्ञान वृष्टिसे औरोंके तापको शान्त करते हैं। क्योंकि उनका प्रत्यंग शीतल होता है इसलिये अपने ज्ञान रंगके छींटा देकर दूसरोंकी जलन भी बुझा देते हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

आवत साधु न हरखिया, जात न दीया रोय।
कहैं कबीर वा दास की, मुक्ति कहाँ ते होय ॥ ४६ ॥
छाजन भोजन प्रीति सों, दीजै साधु बुलाय।
जीवत जस है जगत में, अन्त परम पद पाय ॥ ४७ ॥

ऐसे सन्तों के आगमनसे जो भक्त प्रसन्न नहीं होता और उनके जाने से रोता नहीं, कबीर गुरु कहते हैं, उसकी मुक्ति कहाँसे होगी ? भक्तोंको तो चाहिये कि सन्तोंको बुलाकर प्रेमसे भोजन वस्त्र इत्यादि देवे, ताकि संसारमें जीतेजी यश तथा अन्तमें पूर्ण पद को प्राप्त करै ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

सरवर तरुवर संतजन, चौथा बरसै मेह।
परमारथ के कारने, चारौं धारी देह ॥ ४८ ॥
बिरछा कबहु न फल भखै, नदी न अँचवै नीर।
परमारथ के कारने, साधू धरा शरीर ॥ ४९ ॥

सन्त, सरोवर, वृक्ष और मेह इन चारोंकी देह केवल परमार्थ के लिये हैं। क्योंकि वृक्ष न तो स्वयं फल खाता है न नदी जल पीती है, ऐसे ही सन्तोंने भी अपने भोग विलास के लिये नहीं, किन्तु परोपकारार्थ शरीर धारण किया है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

अलख पुरुष की आरसी, साधु ही का देह।
लखा जु चाहै अलख को, इनही में लखि लेह ॥ ५० ॥
सुख देवै दुख को हरै, दूर करै अपराध।
कहैं कबीर वह कब मिलै, परम सनेही साध ॥ ५१ ॥

सन्तों का शरीर अलक्ष्य पुरुषके दर्शनका दर्पण है, यदि उसे कोई देखना चाहे तो इन्हींमें देख ले। जो सन्त दुख दरिद्र आदि दुर्गुणों को दूर कर सुख देते हैं, कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसे परम स्नेही सन्त कब मिलेंगे ? ॥ ५० ॥ ५१ ॥

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥ ५२ ॥
हरि दरबारी साधु हैं, इन ते सब कुछ होय।
बेगि मिलावें राम को, इन्हें मिले जु कोय ॥ ५३ ॥

सांसारिक झंझटों से जो सन्त अलग हैं उनसे केवल ज्ञानकी चर्चा करनी चाहिये, जातिसे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि कीमत तलवार की होती है, म्यान की नहीं। सन्त तो हरिके सभासद हैं। यदि इनसे जो कोई मिले तो अन्य चीजों को तो बात ही क्या, शीघ्र राम ही से मिला देते हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

कह अकाश को फेर है, कह (हा) धरती का तोल।
कहा साधु का जाति है, वह (हा) पारसका मोल ॥ ५४ ॥

कहो ! आकाश की गोलाई का नाप क्या है ? एवं पृथ्वीका तोल और पारस मणिका मोल कोई कर सकता है ? हर्गिज नहीं; इसी प्रकार सन्तों की भी जाति नहीं होती ॥ ५४ ॥

हरि सों तू मति हेतकरु, कर हरिजन सों हेत।
माल मुल्कहरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत ॥ ५५ ॥
साधू खोजा राम के, धसैं जु महलन मांहि।
औरन को परदा लगे, इनको परदा नांहि ॥ ५६ ॥

हरिकी सेवासे हरिजनकी सेवा श्रेष्ठ है, क्योंकि हरिकी प्रसन्नतामें संसारिक वस्तुका लाभ होता है और हरिजन तो साक्षात् हरिही को दे देता है। अन्तःपुर प्रवेशके निमित्त सन्त और खोजा (हिजड़ा) के लिये परदा नहीं होता। दोनों में अन्तर इतना ही है कि, वह राजाके रनवास का पहरादार होता है और सन्त साक्षात् परमेश्वरके ॥५५॥५६॥

साधुन की झुपड़ी भली, ना साकुट को गाँव।
चन्दन की कुटकी भली, ना बाबुल वनराव ॥ ५७ ॥
पुर पट्टन सूबस बसै, आनन्द ठाँवै ठांव।
राम सनेही बाहिरा, ऊजड़ मेरे भाव ॥ ५८ ॥

कुसंगियों के ग्रामसे सत्संगी सन्तोंकी मड़ई अच्छी है। जैसे काँटेदार बबूलके जंगलसे खुशबूदार चन्दनकी कुटकी (चूर्ण) भली होती है। भले नगर अच्छे बसे हों और जगह व जगह नृत्य, गानादि आनन्द भी होते हों, परन्तु वे लोग राम कहानीसे यदि बधिर हैं तो मैं उसे उजाड़ समझता हूँ। अथवा रामस्नेही सन्त उस आनन्दसे बाहर हो ऊजड़ झोपड़ी में ही प्रेम करते हैं ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

हयवर गयबर सघन घन, छत्रपति की नारि।
तासु पटतर ना तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥ ५९ ॥
क्यों नृपनारी निन्दिये, पनिहारी को मान।
(वह) माँग सँवारै पीव कूँ, नित वह सुमिरै राम ॥ ६० ॥

अनेक आभूषणोंसे सजी हुई छत्रधारी की रानी हरिजनकी पनिहारी की बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि रानी केवल निज पति प्रसन्नताके लिये माँग संवारती है और वह प्रतिदिन प्रभुका स्मरण करती है।५९।६०

साधुन को कुतिया भली, बुरी साकट की माय।
वह बैठी हरिजस सुनै, (वह) निंदा करनै जाय ॥ ६१ ॥

निन्दकी निगुरेकी माता से तो हरिजनकी कुतिया अच्छी है जो बैठ कर हमेशा हरि-कथा सुनती है ॥ ६१ ॥

तीरथ न्हाये एक फल, साधु मिले फल चार।
सतगुरु मिलै अनेक फल, कहैं कबीर विचार ॥ ६२ ॥

तीर्थमें स्नानसे केवल शुद्धता रूपी एक फल और सन्तोंके समागममें अर्थादि चार फलकी प्राप्ति होती है। परन्तु सदगुरुके मिलनेसे अनेकों फलकी प्राप्ति हो जाती है ऐसा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं ॥६२॥

साधु सिद्ध बहु अन्तरा, साधु मता परचण्ड।
सिद्ध जु तारे आपको, साधु तारि नौ खण्ड ॥ ६३ ॥
यही बड़ाई सन्त की, करनी देखो आय।
रज हूँ ते झीना रहै, लौलिन ह्वै गुन गाय ॥ ६४ ॥

सिद्ध और सन्तोंमें बहुत अन्तर है, क्योंकि सिद्ध अपने हितके लिये हैं, और विवेकी सन्त तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके मुमुक्षुका हितकारी है। यथा—"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।" बस! कर्त्तव्य ही देख लो, यही उसकी श्रेष्ठता है। सन्तोंमें उदारता, नम्रता और प्रेम भावमें कुछ कमी नहीं ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

परमेश्वर ते संत बड़, ताका कह (हा) उनमान।
हरि माया आगे धरै, सन्त रहै निरबान ॥ ६५ ॥
नीलकण्ठ कीड़ा भखै, मुख वाके हैं राम।
औगुन वाकै नहिं लगै, दरशन ही से काम ॥ ६६ ॥

हरिसे सन्त बड़े हैं। इनकी परस्पर बराबरी नहीं हो सकती, क्योंकि माया हरिके आगे रहती है और सन्त उससे रहित हैं। गुणग्राही बनो, दुर्गुण देखनेमें कुछ लाभ नहीं। नीलकण्ठ शंकर और पक्षी विशेषको भी कहते हैं जिसके दर्शनसे यात्रा सफल मानते हैं ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

आप साधु करि देखिये, देख असाधु न कोय।
जाके हिरदै हरि नहीं, हानि उसी की होय ॥ ६७ ॥
जा सुख को मुनिवर रटै, सुर नर करै विलाप।
सो सुख सहजै पाइया, सन्तों संगति आप ॥ ६८ ॥

स्वयं सदा सबके प्रति साधु दृष्टि रखनी चाहिये। जिसके हृदयमें हरि दृष्टि नहीं हैं, उससे उसीको हानि है। जिस सुखके लिये ऋषि मुनि अहोरात्र रटन, रुदन करते हैं। वह सुख सन्तोंके संगसे सहजहीमें मिल जाता है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

मेरा मन पंछी भया, उड़ि के चढ़ा अकास।
बैकुण्ठहि खाली पड़ा, साहिब सन्तों पास ॥ ६९ ॥

परबत परबत मैं फिरा, कारन अपने राम ।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारै सब काम ॥ ७० ॥

यद्यपि मेरा मनरूपी पक्षी उड़कर आकाश में पहुँचा, लेकिन वहाँ शून्य ही शून्य पाया, क्योंकि साहिब तो सन्तोंके पास हैं । अतः उनके वास्ते चाहे जङ्गल पहाड़ आदि में ढूँढ़ फिरो परन्तु जब तक उनकेस्नेही सत्संगी नहीं मिलेंगे तब तक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ॥६९॥७०॥

कबीर शीतल जल नहीं, हीम न शीतल होय ।
कबीर शीतल संत जन, राम सनेही सोय ॥ ७१ ॥
भली भई हरिजन मिले, कहने आयो राम ।
सुरति दसौं दिश जाय थी, अपने अपने काम ॥ ७२ ॥

शान्ति देनेवाला शीतल न तो ऐसा जल है न बर्फ, जैसा कि राम स्नेही सन्त हैं । अहो भाग्य कि ऐसे सन्त मिलें, जिनके सत्संग प्रभाव से दिशाओंमें फैली हुई अपने अपने विषय प्रवृत्त वृत्तियाँ भी वहाँसे उपराम हो रामहीमें आराम करने लगीं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

संत मिले जनि बीछुरौ, बिछुरौ यह मम प्रान ।
शब्द सनेही ना मिले, प्राण देह में आन ॥ ७३ ॥
कोटि कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि करु धाम ।
जब लग साधु न सेवई, तब लग काचा काम ॥ ७४ ॥

मेरा प्राण जाय तो भले ही जाय,पर ऐसे आनन्दप्रद सन्तोंका वियोग न हो, क्योंकि फिर ये कहाँ मिलेंगे ? प्राणका संयोगतो दूसरे शरीरमें भी होगा । चाहे तीर्थ, धाम करोड़ों बार क्यों न फिर आवो, परन्तु जबतक सन्तोंकी सेवा नहीं किया तबतक सब काम नाकाम है ॥७३॥७४॥

आशा वासा सन्त का, ब्रह्मा लखै न वेद ।
षट दरशन खटपट करैं, बिरला पावै भेद ॥ ७५ ॥
वेद थके ब्रह्मा थके, थाके सेस महेस ।
गीता हूँ की गम नहीं, संत किया परवेस ॥ ७६ ॥

सन्तकी रहनी, गहनीको ब्रह्माकृत वेद अध्ययनसे कोई नहीं जान सकता। उसके ज्ञान अर्थ योगी आदि षड् दर्शन बहुतेरे खटपटमें लगे, परन्तु मर्म कोई नहीं पाया, या पाता भी है तो विरला सत्संगी। क्योंकि सन्तकी वृत्तिकी गति जिस रूपमें होती है वहाँ तक 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादि वेदादिकी गति ही नहीं है ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

धन सो माता सुन्दरी, जाया साधू पूत।
नाम सुमिरि निर्भय भया, अरु सब गया अबूत ॥ ७७ ॥

वही सौभाग्यवती जननी धन्य है, जिसने सन्त सन्तानको जनी। जो रामको स्मरण कर निर्भय हुआ और शेष मातायें सन्तान हीन हुइं और हैं ॥ ७७ ॥

साधू ऐसा चाहिये, दुखै दुखावै नाहिं।
पान फूल छेड़ै नहीं, बसै बगीचा माँहि ॥ ७८ ॥
साधू जन सब में रमें, दुःख न काहू देहि।
अपने मत गाढ़ा रहै, साधुन का मत येहि ॥ ७९ ॥

सन्त संसार बागका माली या भ्रमर हैं। जो ससारमें रहते हुये किसीको दुखरूप में नहीं छेड़ते। सबमें रमते हुए भी किसीको दुःखरूप न होकर अपने सिद्धान्त पर दृढ़ स्थिर रहना यही सन्तोंका मत है ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

साधु हजारी कापड़ा, तामें मल न समाय।
साकट काली कामली, भावै तहाँ बिछाय ॥ ८० ॥
साधू भौंरा जग कली, निश दिन फिरै उदास।
टुकिटुकि तहाँ बिलंबिया, (जहाँ) शीतल शब्द निवास ॥८१॥

सन्त सुफेद वस्त्र हैं जिसमें मैलका स्थान नहीं। और कुसंगी काली कम्बल है चाहे जहाँ डाल दो॥ संसारके भोगरूपी कलीसे सन्त भ्रमर सन्तत उदासीन विचरते हैं। यत्किञ्चित ठहरे भी तो वहाँ ही, जहाँ शान्तिप्रद सार शब्दका विचार है ॥ ८० ॥ ८१ ॥

साधु कहावन कठिन है, आगे की सुधि नाँहि ।
शूली ऊपर खेलना, गिरु तो ठौरहि काहि ॥ ८२ ॥
साधु कहावन कठिन है, ज्यों खाँड़े की धार ।
डगमगाय तो गिरि पड़ै, निहचल उतरै पार ॥ ८३ ॥

जिन्हें आगेका ज्ञान है उन्हें सन्त नाम धराना मुश्किल है। "ज्ञानके काण्ड कृपाण की धारा" इत्यादिवत् सन्त कहाना मानो भालेकी नोक पर दौड़ना है, जरासा इधर उधर हुआ कि गया, जो बड़ी सावधानीके साथ स्थिर होगा वही पार उतरेगा ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

साधु कहावन कठिन है, लम्बी पेड़ खजूर ।
चढ़ै तो चाखै प्रेम रस, गिरै तो चकनाचूर ॥ ८४ ॥
साधू चाल जु चालई, साधु कहावै सोय ।
बिन साधन तो सुधि नहीं, साधु कहाँ ते होय ॥ ८५ ॥

संत बनना मानो चीकने लम्बे खजूर-वृक्ष पर चढ़ना है। जो चढ़ेगा तो अवश्य प्रेमरस चाखेगा, किन्तु गिरने पर कहीं ठौर नहीं। श्रवणादि साधनही जब ज्ञानके नहीं हैं तो संत कोई कैसे हो सकता है ॥८४॥८५॥

साधू सोई जानिये, चलै साधु की चाल ।
परमारथ राता रहै, बोलै बचन रसाल ॥ ८६ ॥
साधु सती औ शूरमा, ढुई न मोड़ै मूँह ।
ये तीनों भागा बुरा, साहिब जाकी सूँह ॥ ८७ ॥

उन्हींको साधु जानना जो साधुकी मर्यादा पालन करें और परमार्थ में सदा प्रेम रक्खें। जिनके सद्गुरु का शपथ है ऐसे सन्त, सती शूर इन तीनोंको दैव अपने पदसे कभी विमुख न करे ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

साधु सती औ शूरमा, राखा रहै न ओट ।
माथा बाँधि पताक सों, नेजा घालैं चोट ॥ ८८ ॥
साधु सती औ सिंह को, ज्यौं लंघन त्यौं शोभ ।
सिंह न मारै मेंढका, साधु न बाँधै लोभ ॥ ८९ ॥

साधु, सती, शूर ये किसीके रक्खे परदेमें नहीं रहते। भले ही कोई भालाकी चोट लगावें, इनकी ध्वजा शिरके साथ रहती है। साधु, सती और सिहका जितना उपवास, उतनाही गौरव है। सिंह मेंढक मारकर अपना व्रत भंग नहीं करता। ऐसेहीसन्त अधिक जीनेकी लालसामें अपने कर्तव्य पालनसे विमुख किसी हालतमें भी नहीं होते॥ ८८॥ ८९॥

साधु सिंह का इकमता, जीवत ही को खाय।
भाव हीन मिरतक दसा, ताके निकट न जाय॥ ९०॥

साधु साध सब एक हैं, जस अफीम का खेत।
कोई बिबेकी लाल हैं, और सेत का सेत॥ ९१॥

सिंह, सन्तका एकही सिद्धान्त है। जैसे सिंह जीवित प्राणीको खाता है, वैसेही सन्त भी भावयुत भक्तके ही पास जाते हैं। यों तो सन्त सन्त सब एकही हैं जैसे अफीमका खेत वैसेही और का खेत, परन्तु विवेकी सन्त रत्न कोई एक हैं, और सब श्वेत वेष हैं॥ ९०॥ ९१॥

साधू तो हीरा भया, ना फूटे घन खाय।
ना वह बिनसै कुंभ ज्यों, ना वह आवै जाय॥ ९२॥

साधु साधु सबही बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर॥ ९३॥

सन्त हीराकी तरह संसारिक कुभावरूपी घन पड़ने पर भी अपने स्वभावसे कुंभके सदृश नहीं विचलते। सदा निश्चल रहते हैं। इस वास्ते पारखनिष्ठ सार शब्द विवेकी सन्त सब सन्तोंके मुकुटमणि कहे जाते हैं॥ ९२॥ ९३॥

साधू ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलते सों मिलैं, अन्तर सबसों एक॥ ९४॥

सदा कृपालु दुख परिहरन, बैर भाव नहिं दोय।
छिमा ज्ञान सत भाखही, हिंसा रहित जु होय॥ ९५॥

ऐसे ज्ञान विवेक युत सन्त होना चाहिये बाहर मिलनेवाले जिज्ञासु

के भावनानुसार मिलें, परन्तु भीतरसे अपना स्वरूप समझकर एकही दया दृष्टि रक्खें। दूसरों के दुःख दूर करने में वैरभावकी द्वैत दृष्टि त्यागकर सदा दया, क्षमा सत्य वचन और अहिंसा धर्महीको पालन करें ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

दुख सुख एक समान है, हरष शोक नहिं व्याप।
उपकारी निहकामता, उपजै छोह न ताप ॥ ९६ ॥
सदा रहै सन्तोष में, धरम आप दृढ़ धार।
आश एक गुरुदेव की, और न चित्त विचार ॥ ९७ ॥

हर्ष, शोक मनका धर्म विवेकी सन्तोंको नहीं व्यापता, क्योंकि वे दोनों को समान समझकर कामना रहित सदा परोपकारमें रहते हैं। अतः उन्हें दैहिकादिक तापोंसे चित्त में विक्षेप भी नहीं होता। सदा सन्तोष वृत्ति, निज धर्मपर निश्चल हो, केवल सद्गुरुदेवकी आशाके अतिरिक्त किसी वस्तुका चिन्तन चित्तसे नहीं करते ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित गात।
निर्विकार गंभीर मत, धीरज दया बसात ॥ ९८ ॥
निर्वैरी निहकामता, स्वामी सेती नेह।
बिषया सों न्यारा रहै, साधुन का मत येह ॥ ९९ ॥

विवेकी सन्तोंके चित्तमें सावचेतता, स्वभाव में शीलता, शरीर में प्रसन्नता और मनमें निर्विकारता, गम्भीरता, दयालुतादि सद्गुण सदा बसते हैं। सर्व विषयों से निवृत्त हो चित्स्वरूप स्वामीमें स्नेह रखना, बस ! यही सन्तोंका मत है ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

मान अमान न चित धरै, औरन को सनमान।
जो कोई आशा करै, उपदेशै तेहि ज्ञान ॥१००॥
शीलवंत दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥ १०१॥

सन्त निज प्रति किया हुआ दूसरोंसे मान अपमानको चित्तमें न

ला के सदा दूसरोंको सम्मान करते हैं। मोहासक्तोंको ज्ञान उपदेश करते हैं। हृदय शुद्धिके लिये शील, उदरादि शुभ गुण सदा धारण किये रहते हैं॥ १०० ॥ १०१ ॥

इन्द्रिय मन निग्रह करन, हिरदा कोमल होय।
सदा शुद्ध आचार में, रह बिचार में सोय॥१०२॥
और देव नहिं चित बसै, मन गुरु चरण बसाय।
स्वल्पाहार भोजन करु, तृष्णा दूर पराय॥१०३॥

ज्ञानबाधक विषयादियोंसे इन्द्रिय, मनको निग्रह करके सदा मृदु, शुद्ध और आचार विचार परायण बनाना। सद्गुरु चरणोंके अतिरिक्त मनका दूसरा कोई देवादि विषय न होना। सर्व तृष्णाओंको दूरकर भोजन, वस्त्रादिका यथा लाभमें सन्तोष करना आदि विवेकी सन्तोंका लक्षण है॥ १०२ ॥ १०३ ॥

षड् विकार यह देह के, तिनको चित्त न लाय।
शोक मोह प्यासहि छुधा, जरा मृत्यु नशि जाय॥१०४॥
कपट कुटिलता छाँड़िके, सबसों मित्रहिं भाव।
कृपावान सम ज्ञानवत, वैर भाव नहिं काव॥१०५॥

क्षुधा पिपासा, हर्ष, शोक, जन्म मृत्यु ये षड्विकार शरीर के हैं। इन्हें चित्त में हर्गिज न आने दें॥ छल प्रपंच वैरभावको छोड़के मैत्री, करुणा मुदिता आदि भाव सबसे रक्खे। यही ज्ञानी सन्त का लक्षण है॥ १०४ ॥ १०५ ॥

कपट कुटिलता दुरबचन, त्यागी सब सों हेत।
कृपावन्त आशा रहित, गुरू भक्ति शिख देत॥१०६॥
रवि को तेज घटै नहीं, जो घन जुरै घमण्ड।
साधु बचन पलटै नहीं, पलटि जाय ब्रह्मंड॥१०७॥

छल प्रपंच और कटु बचन त्यागके बिना कारण कृपालु सन्त सबसो प्रीति पूर्वक सद्गुरु भक्तिकी शिक्षा देते हैं। क्योंकि जैसे सूर्य

का प्रताप बादलके समूहसे कभी नहीं घटता ऐसे ही टेकी सन्तगण अपने वचन स्वभाव को किसी हालतमें भी नहीं पलटते, चाहे ब्रह्माण्ड क्यों न फिर जाय ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

जौन चाल संसार की, तौन साधु को नाहिं।
डिंभ चाल करनो करै, साधु कहो मति ताहि ॥१०८॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी सों नेह।
कहैं कबीर ता साधु की, हम चरणन की खेह ॥१०९॥

संसार की चालसे सन्त अलग रहते हैं। दम्भी और अहंकारियों को साधु मत कहो। कबीर गुरु कहते हैं कि, हम उन्हीं सन्तोंके खाक-सार हैं जो कंचन और कामिनीसे विरक्त हैं ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

कोइ आवै भाव ले; को (इ) अभाव ले आव।
साधु दोऊ को पोषते, भाव न गिनै अभाव ॥११०॥
रक्त छाँड़ि पय को गहै, ज्यौरे गऊ का बच्छ।
औगुण छांड़ै गुण गहै, ऐसा साधू लच्छ ॥१११॥

चाहे कोई भाव से आवे या कुभावसे, दयालु सन्त दोनोंपर दयाकी दृष्टि समान रखते हैं। सन्तोंका लक्ष सद्गुरु की ओर होता है। जैसे गौ का बछड़ा रुधिरको छोड़कर दूधका पान करता है ॥ ११० ॥ १११ ॥

सन्त न छाड़ै सन्तता, कोटिक मिलै असन्त।
मलय भुवंगम बेधिया, शीतलता न तजन्त ॥११२॥

चाहे करोड़ों असन्त क्यों न टूट पड़ें, परन्तु सन्त अपने शान्ति स्वभावको नहीं छोड़ते। जैसे विषधरके चिपटे रहने पर भी मलयागिरि अपनी शीतलता नहीं त्यागता ॥ ११२ ॥

कमल पत्र है साधुजन, बसै जगत के मांहि।
बालक केरी धाय ज्यों, अपना जानत नांहि ॥११३॥

"यों साधु संसारमें कमला जल माही। सदा सर्वदा संग रहै जल परसत नाहीं।" इत्यादिवत् सन्त कमल पत्रकी तरह संसार में रहते हुए उससे विरक्त रहते हैं, जैसे दाई अपना बच्चा नहीं समझती ॥११३॥

हरि दरिया सूभर भरा, साधू का घट सीप।
तामें मोती नीपजै, चढ़ै देशान्तर दीप ॥११४॥

हरि समुद्रवत् परिपूर्ण हैं। उसमें सन्तोंका हृदय सीपीके सदृश हैं, जहाँ ज्ञानरूपी मोती उत्पन्न हो सम्पूर्ण संसार को सुशोभित करते हैं ॥ ११४ ॥

बहता पानी निरमला, बन्दा गन्दा होय।
साधू जन रमता भला, दाग न लागे कोय ॥११५॥
बँधा (भी) पानी निरमला, जो टुक गहिरा होय।
साधूजन बैठा भला, जो कछु साधन सोय ॥११६॥

धारावाही जल की तरह विचरते हुए सन्त सदा निर्मल रहते हैं। बन्धा पानी, वही निर्मल रहता है जिसमें गहराई है। ऐसे साधन सम्पन्न सन्त जन भी बैठे अच्छे होते हैं ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

ढोल दमामा गड़फड़ी, सहनाई औ तूर।
तीनों निकसि न बाहुरै, साधु सती औ शूर ॥११७॥
टूटै बरत अकास सों, कौन सकत है झेल।
साधु सती औ शूर का, अनी उपर का खेल ॥११८॥

जैसे ढोल, डुग्गी, नगाड़ा, सहनाई और तुरही इनकी निकली हुई आवाज पीछे नहीं लौटती तैसेही सन्त, सती और शूर ये तीनों भी पीछे पग नहीं देते। आकाशसे नटके बाँसकी रस्सी को टूटने पर कौन उसे थाम सकता है? कोई नहीं, ऐसे ही सन्त, सती, शूरका खेल भाले की नोकके बराबर है। उसे दूसरा कोई नहीं छू सकता ॥११७॥११८॥

हाँसी खेल हराम है, जो जन राते राम।
माया मन्दिर इस्तरी, नहिं साधू का काम ॥११९॥
उड़गन और सुधा करा, बसत नीर की संघ।
यौं साधू संसार में, कबीर पड़त न फन्द ॥१२०॥

जिन्हें राममें आराम है उन्हें हँसी, खेल हराम है। क्योंकि विरक्त सन्तोंको माया, मन्दिर और स्त्रीसे कुछ काम नहीं। यद्यपि मछली के साथ साथ जलमें चन्द्र, ताराओंके भी प्रतिबिम्ब रहता है किन्तु वे जालमें मछलीके संग नहीं पकड़े जाते। ऐसे ही विरक्त सन्त संसार बन्धनमें कभी नहीं पड़ते ॥ ११९ ॥ १२० ॥

जौन भाव ऊपर रहै, भितर बसावै सोय।
भीतर औ न बसावई, ऊपर और न होय ॥१२१॥
तन में शीतल शब्द है, बोलै बचन रसाल।
कहैं कबीर ता साधु को, गंजि सकै नहिं काल ॥१२२॥

"जस कथनी तस करनी" इसके अनुसार सन्तोंको बाहर, भीतर एक सा होना चाहिये। वेष रहस्य, कथन और कर्त्तव्यमें भेद कभी न होना चाहिये। जो सन्त शीतल हृदय मन प्रसन्न मधुर बचन बोलते हैं, कबीर गुरु कहते हैं, उनका काल कुछ नहीं कर सकता है ॥१२१॥१२२॥

तीन लोक उनमान में, चौथा अगम अगाध।
पंचम दसा है अलख की, जानैगा कोइ साध ॥१२३॥
सब बन तो चंदन नहीं, शूरा के दल नांहि।
सब समुद्र मोती नहिं, यौं साधू जग मांहि ॥१२४॥

संसारी त्रिगुण लोकके चक्रमें पड़े हैं, और सत्संग विमुख वेषधारी, चौथे लोक मनके अथाह दरियामें गोता खा रहे हैं। पंचम स्थान निवासी अलख स्वरूपको तो कोई विरलेही सत्संगी सन्त जानते हैं। संसारमें ऐसे सन्त बहुत कम होते हैं। जैसे सबस्थान में चन्दन, शूरमा और मोती नहीं पाया जाता ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

सिंघन के लेंहड़ा नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधुन चले जमात ॥१२५॥
स्वांगी सब संसार हैं, साधू समझ अपार।
अलल पंछि कोइ एक हैं, पंछी कोटि हजार ॥१२६॥

जैसे सिंहोंकी गरोह, हंसकी कतार और रत्नोंका थैला नहीं होता, वैसेही विवेकी और अभ्यासी सन्तोंकी जमात नहीं होती। वेषधारियोंसे संसार भरे पड़े हैं। सन्तोंके ज्ञान रहस्यसे वे कोसों दूर हैं। गगन विहारी अलल पक्षी कोई एक है और यों तो वातावरणमें उड़ने वाले करोड़ों रंग विरंगे पक्षी हैं ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

ऐसा साधू खोजि के, रहिये चरणों लाग।
मिटै जनम की कलपना, जाके पूरण भाग ॥१२७॥
ऊँडा चित अरु सम दसा, साधू गुन गंभीर।
जो धोखा बिचलै नहीं, सोई संत सुधीर ॥१२८॥

ऐसे सन्तोंको खोजकर शरणागत होना चाहिये। जन्मान्तरों की कल्पना मिट जायगी, पूर्ण भाग्यशालीको ज्ञानी सन्त मिलते हैं। अगाध हृदय, समदृष्टि और सन्तों के लक्षणसे भरपूर जो सन्त हैं, वे हर्गिज नहीं धोखामें पड़ते ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

चिक चैन में गरकि रहा, जागि न देख्यौ मित्त।
कहां कहाँ मल पारि हो, गल बल सहर अनित्त ॥१२९॥

ऐ मित्रो! मनको शान्तिमें शान्त रक्खो जागो और देखलो! मेल और प्रेम किससे करना चाहिये? संसार रूपी शहर गड़बड़ और क्षण-भंगुर है ॥ १२९ ॥

कबीर हमारा कोइ नहिं, हम काहू के नाँहि।
पारै पहुँचो नाव ज्यौं, मिलिके बिछुरो जांहि ॥१३०॥
आज काल के लोग हैं, मिलिके बिछुरी जांहि।
लाहा कारण आपने, सौगंद रामकि खांहि ॥१३१॥

संसारमें कोई किसीका नहीं है मिलना-बिछुड़ना केवल नदी नैया का संयोग है। सब आज कालके लोग हैं, मिलना और बिछुड़ना इनका काम है। फिर भी नहीं समझते, अपने लाभके लिये रामकी शपथ खाते हैं ॥ १३० ॥ १३१ ॥

कबीर सब जग हेरिया, मेल्यौं कंध चढ़ाय।
हरि बिन अपना कोइ नहिं, देखा ठोकि बजाय ॥१३२॥

संसारको कंधे चढ़ाके भलीभाँति ठोक ठठाके देख लिया कि अपना हरि बिना हितकारी कोई नहीं ॥ १३२ ॥

निसरा पै बिसरा नहीं, तो निसरा ना काहि।
पहिली खाद उखालिया, सो फिर खाना नाहि ॥१३३॥
जो विभूति साधुन तजी, मूढ़ ताहि लपटाय।
ज्यौंहि वमन करि डारिया, स्वान स्वाद करि खाय ॥१३४॥

त्यक्त संसारके भोगोंको विस्मृत नहीं किया तो वह त्याग किस काम का ? त्यक्तको पुनः ग्रहण कुत्तेके समान वमन चाटना है। जिन विभूतियोंको तुच्छ समझकर सन्तोंने त्याग दी है पामर उसीमें वमन स्वादी कुत्तेकी तरह लिपटे हुए हैं ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

दुनिया बंधन पड़ि गई, साधू हैं निरबंध।
राखै खड्ग जु ज्ञान का, काटत फिरैं जु फंद ॥१३५॥
कबीर कमलन जल बसै, जल बसि रहे असंग।
साधू जन तैसे रहें, सुनि सतगुरु परसंग ॥१३६॥

संसारी लोग बन्धनमें पड़ते हैं सन्त सदा निर्बन्ध रहते हैं। क्योंकि ज्ञानी सन्त असंग शस्त्रसे फन्दोंको काटते फिरते हैं। जैसे जलमें रहता हुआ कमल जलसे असंग रहता है। वैसेही सद्गुरु ज्ञानमें निमग्न सन्त प्रासंगिक संसार संगसे असंग रहते हैं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

मुर्गाबी को देखकर, मन उपजा यह ज्ञान।
जल में गोता मारिकर, पंख रहे अलगान ॥१३७॥

सन्तोंके असंग व्यवहारका ज्ञान विश्वास न हो तो भ्रान्ति निवृत्ति के लिये जलकुकड़ीको देख लो, जलमें गोता लगाके भी पंख भींगने नहीं देती ॥ १३७ ॥

जूआ चोरी मुखबिरी, ब्याज बिरानी नारि।
जो चाहै दीदार को, इतनी वस्तु निवारि ॥१३८॥

संत समागम परम सुख, जान अलप सुख और।
मान सरोवर हंस हैं, बगुला ठौरे ठौर ॥१३६॥

जुआ, चोरी, जासूसी, सूद और पर-स्त्री गमन इतनी वस्तु आत्म-तत्त्वदर्शनार्थीको अवश्य त्यागनी चाहिये। सत्संगी जन उसको तुच्छ जानकर सन्तोंके सत्संगमें परम सुखका लाभ लेते हैं। हंस मानसरोवरमें ही रहता है, लेकिन बगुला ठौर ठौर देखनेमें आता है ॥१३८॥१३६॥

सन्त मिले सुख ऊपजे, दुष्ट मिले दुख होय।
सेवा कीजै सन्त की, जनम कृतारथ होय ॥१४०॥
हरिजन मिले तो हरि मिले, मन पाया विश्वास।
हरिजन हरिका रूप है, ज्यूँ फूलन में बास ॥१४१॥

सन्तोंके दर्शनसे सुख और दुष्टोंके मिलनेसे दुख होता है। सन्तकी सेवासे नर जन्म सफल होता है॥ पुष्पमें सुगन्धिके समान हरिजनमें हरि रमे हुए हैं। इसलिये हरिजनके दर्शनसे हरि मिलनेका फल मिलता है। ऐसा मनमैं विश्वास रखना चाहिए॥ १४० ॥ १४१ ॥

राम मिलन के कारनै, मो मन बड़ा उदास।
संत संग में सोधि ले, राम उनों के पास ॥१४२॥
शरणैं राखौ साइयाँ, पूरो मन की आस।
और न मेरे चाहिये, संत मिलन की प्यास ॥१४३॥

यदि सब तरफसे उपराम हो केवल रामसे मिलनेकी मनमें उत्कण्ठा है, तो राम सन्तोंके पास है। उन्हींकी शरणमें जाके खोजो। हे प्रभो! अपनी शरणमें लो, और मनकी आशा पूरी करो। मुझे कुछ न चाहिये केवल रामरूप सन्त दर्शनका प्यासा हूँ। ऐसी पुकार करो ॥१४२॥१४३॥

कलियुग एके नाम है, दूजा रूप है सन्त।
साँचे मन से सेइये, मेटै करम अनन्त ॥१४४॥
संत जहाँ सुमरण सदा, आठों पहर अभूल।
भरि भरि पीवैं राम रस, प्रेम पियाला फूल ॥१४५॥

कलियुगमें शान्ति, गतिके लिये एक राम और दूसरा सन्त हैं। निष्कपट भाव से सेवन करो तो सभी कुकर्म मिट जायँगे। जहाँ सन्त हैं वहाँ सदा अचूक स्मरण विचार हुआ करता है। सत्संगी जन राम-रसका प्रेम प्याला सत्संग दरिया से भर भर पिया करते और मस्त रहते हैं ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

फूटा मन बदलाय दे, साधू बड़े सुनार।
तूटी होवै राम सों, फेर सँधावन हार ॥१४६॥
राज दुवार न जाइये, कोटिक मिले जू हेम।
सुपच भगत के जाइये, यह विस्नू का नेम ॥१४७॥

यदि आतमारामसे मन फूटा यानी विमुख है तो सन्त सोनारके पास पुनः सँधाने (जोड़वाने) के लिये चले जाओ ॥ राजाके द्वारे करोड़ों सोने की थाली क्यों न मिलती हो तो भी हर्गिज न जाओ। भक्त चाहे स्वपच हो वहाँ अवश्य जाना यही तो भगवान्‌की टेक है ॥१४६॥१४७॥

संगत कीजै साधु की, कभी न निष्फल होय।
लोहा पारस परस ते, सो भी कंचन होय ॥१४८॥
सो दिन गया अकाज में, संगत भई न संत।
प्रेम बिना पशु जीवना, भाव बिना भटकंत ॥१४९॥

सन्तोंका सत्संग निष्फल कभी न होता। देख लो पारस के स्पर्शसे लोहा भी कंचन हो जाता है ॥ सन्तों के सत्संग के बिना दिन सब व्यर्थ गये। प्रेम बिना ये जीवन जंगली पशु तुल्य भ्रमण मात्र है ॥१४८॥१४९॥

संत मिले तब हरि मिले, यूँ सुख मिलै न कोय।
दरशन ते दुरमत कटै, मन अति निरमल होय ॥१५०॥
साहिब मिला तब जानिये, दरशन पावे साध।
मनसा वाचा कर्मना, मिटे सकल अपराध ॥१५१॥

हरिरूप सन्त के दर्शन सुख के बराबर कोई भी सुख नहीं है। सन्तोंके दर्शन से दुरमत दूर हो हृदय अति पवित्र हो जाता है ॥ सन्तों

के दर्शन ही में साहिब का दर्शन है, उससे मन, वाणी और शरीर से उत्पन्न सबही अपराध (पाप) मिट जाते हैं ॥ १५० ॥ १५१ ॥

दया गरीबी बन्दगी, सुमता शील सुभाव।
ऐते लच्छन साधु के, कहैं कबीर सद्भाव ॥१५२॥
मान नहिं अपमान नहीं, ऐसे शीतल सन्त।
भवसागर उतरन पड़े, तोरै जम के दंत ॥१५३॥

गुरु कबीर सद्भाव से कहते हैं कि दया, दीनता, विनय, समता और शील स्वभाव ये सब सन्त के लक्षण हैं ॥ ऐसे लक्षण युक्त जो सन्त मान, अपमान से रहित सदा स्वरूप में शान्त रहते हैं, वे जीते जी मृत्यु को जीतकर भवसिन्धु तर चुके ॥ १५२ ॥ १५३ ॥

आशा तजि माया तजै, मोह तजै अरु मान।
हरख शोक निन्दा तजै, कहैं कबीर सन्त जान ॥१५४॥
साधू सोइ सराहिये, कनक कामिनी त्याग।
और कछू इच्छा नहीं, निशदिन रह अनुराग ॥१५५॥

आश को त्यागकर माया-मोह और मान, अपमान से होनेवाली जो हर्ष, शोक और निन्दा स्तुति है उन्हें जो त्यागते हैं वे ही कबीर गुरु के मान्य सन्त हैं ॥ क्योंकि कनक और कामिनीके त्यागीसन्तही प्रशंसाके पात्र हैं। जो वासना-रहित नित्य आत्मस्वरूपमें तृप्त रहते हैं ॥१५४॥१५५॥

सन्तन के मन भय रहे, भयधरि करै विचार।
निशदिन राम जपउ करै, बिसरत नहीं लगार ॥१५६॥
आसन तो इकान्त करै, कामिनी संगत दूर।
शीतल संत शिरोमनी, उनका ऐसा नूर ॥१५७॥

विवेकी सन्त जन्मादिका भय मन में रखके निर्भयता के लिये सदा सत्यासत्य का विवेक और आत्मचिन्तन किया करते हैं, जन्म मृत्यु रूपी लगारी से कभी नहीं गफिल होते ॥ जहाँ कामिनी का सहवास न हो ऐसे दूर एकान्त में आसन रखते हैं। वे ही शीतल और श्रेष्ठ सन्त हैं। उन्हीं के कीर्ति प्रकाश से संसार प्रकाशित है ॥ १५६ ॥ १५७ ॥

साधु साधु मुख से कहै, पाप भस्म ह्वै जाय।
आप कबीर गुरु कहत हैं, साधू सदा सहाय ॥१५८॥
हौं साधुन के संग रहूं, अंत न कितहूं जाऊँ।
जुमोहि अरपै प्रीति सो, साधुन मुख ह्वै खाऊँ ॥१५९॥

जो सन्तों का नाम बारम्बार मुखसे उच्चारण करेगा उसका पाप सब क्षय हो जायगा। कबीर गुरु स्वयं कह रहे हैं। सन्त सदा सभीके सहायक हैं। भगवान् भी कहते हैं कि मैं और कहीं नहीं रहता सदा सन्तोंके संग में रहता हूँ, जो कोई पत्र, पुष्प प्रेम से अर्पण करता है उसे साधु मुखसे ग्रहण कर तृप्त होता हूँ ॥ १५८ ॥ १५९ ॥

यह कलियुग आयो अबै, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनकी पूजा होय ॥१६०॥
संत संत सब कोइ कहै, संत समुन्दर पार।
अनल पंखि कोइ एक है, पंखी कोटि हजार ॥१६१॥

कामी, क्रोधी व भाँड़ोंको तो सत्कार और सन्तोंको फटकार यही कलियुगी का व्यवहार है। सन्त सन्त सबही कोई कहते हैं। परन्तु अलल पक्षी के समान कोई एक सन्त हैं भी तो बहुत दूर हैं, और यों तो हजारों, कोटियों पक्षी उड़ते फिरते हैं ॥ १६० ॥ १६१ ॥

साधू खारा यौं तजै, (ज्यौं) सीप समुंदर माँहि।
वासो तो वामें रहै, मन चित वासों नाँहि ॥१६२॥

संसारमें रहते हुए सन्त संसारको ऐसे त्यागे रहते हैं जैसे सीपी खार समुद्रको। यद्यपि निवास उसीमें रहता है यथापि मनोवृत्ति उससे अलग रहती है ॥ १६२ ॥

साधू के घर जाय के, कीरतन दीजै कान।
ज्यौं उद्यम त्यौं लाभ है, ज्यौं आलस त्यौं हानि ॥१६३॥
साधू के घर जाय के, सुधि ना लीजै कोय।
पीछै करी न देखिये, आगे ह्वै सो होय ॥१६४॥

सन्तोंके दरबारमे जाके कथा कीर्तनमें ध्यान देना चाहिये। क्योंकि जैसा उद्योग वैसा लाभ। और ज्यों आलस करेगा त्यों हानि होगी॥ सन्तोंकी शरण में प्राप्त हो अपने पूर्व वृत्त मन्द कर्तव्य को स्मरण कर चिन्तामें किसीको भी नहीं पड़ना चाहिये किन्तु सन्तोंके सदुपदेशमें ध्यान लगाके आगे अच्छा बनानेका प्रयत्न करना चाहिये॥ १६३॥ १६४॥

साधु बिहंगम सुरसरी, चेल बिहंगम चाल।
जो जो गलियाँ नीकसे, सो सो करै निहाल॥१६५॥
साधू सोई सराहिये, पाँचौ राखै चूर।
जिनके पाँचौ बस नहीं, तिनतै साहिब दूर॥१६६॥

सन्त देव नदी गंगा के समान हैं वे जहाँ २ जिस २ मार्गसे विचरते हैं उस २ भूमि और वहाँके निवासियोंका जीवन सफल कर देते हैं॥ जिसने पाँच विषयोंको जीता वेही सन्त सराहनीय हैं और जो पाँचके वश पड़े हैं तिनसे साहिब कोसों दूर हैं॥ १६५॥ १६६॥

साधु दरश को जाइये, जेता धरिये पाँय।
डग डग पै असमेध जग, कहैं कबीर समुझाय॥१६७॥
साधू दरशन महाफल, कोटि जज्ञ फल लेह।
इक मंदिर को का पड़ी, (सब) शहर पवित्र करि लेह॥१६८॥

कामना रहित श्रद्धा भक्ति सहित सन्तोंके दर्शन के लिये जाने में भूमिपर जितने पग पड़ते हैं उतने अश्वमेध यज्ञके समान फल मिलते हैं ऐसा कबीर गुरु समझाकर कहते हैं॥ करोड़ों बागोंका महाफल सन्तोंके दर्शन मात्रसे मिलता है। एक मंदिरकी क्या कथा ये तो शहरके शहर पवित्र कर लेते हैं॥ १६७॥ १६८॥

जाकी धोति अधर तपै, ऐसे मिले असंख।
सब ऋषियन के देखताँ, सुपच बजाया घंट॥१६९॥
साहिब का बाना सही, संतन पहिरा जानि।
पांडव जग पूरण भयो, सुपच विराजे आनि॥१७०॥

जाकी धोति अधर तपे अर्थात् जिनकी यश कीर्तिकी ध्वजा आकाशमें लहराती थी ऐसे अगणित ऋषि मुनि लोग पाण्डवके यज्ञमें एकत्रित हुये थे किन्तु उनके सामने घंट तो बजाया सुपच भक्तही ने ॥ इसीलिये साहिब का बाना सत्य जानकर सन्तोंने धारण किया और करते हैं। देखलो अनन्तों ऋषि मुनिके होते हुए भी पाण्डवका यज्ञको सन्त सुपच ने पूरा किया ॥ १६९ ॥ १७० ॥

कुलवंता कोटिक मिले, पंडित कोटि पचीस ।
सुपच भक्तकी पनहि में, तुलै न काहू शीस ॥१७१॥
हरि सेती हरिजन बड़े, जानै सन्त सुजान ।
सेतु बाँधि रघुबर चले, कूदि गये हनुमान ॥१७२॥

करोड़ों कुलीन और करोड़ों शास्त्रज्ञ पण्डित क्यों न मिले । किन्तु सुपच भक्तकी जूती के बराबर उनके मस्तक भी नहीं तुल सकते ॥ हरिसे हरिजन बड़े हैं, यह महिमा तो सन्त लोग जानते हैं, देखो, रामचन्द्रजी पुल बाँध के समुद्र पार गये और हनुमानजी उसे कूद कर चले गये ॥ १७१ ॥ १७२ ॥

साधु ऐसा चाहिये, जहाँ रहै तहाँ गैब ।
बानी के बिस्तार में, ताकूँ कोटिक ऐब ॥१७३।

विशेषकर साधुओंकोएकान्त स्थानमें एकाकी और गुप्त रहनाचाहिये क्योंकि अधिक वाणीके विस्तारमें उन्हें ऐबके सिवा हुनर नहीं ॥१७३॥

सन्त मता गजराज का, चाले बंधन छोड़ ।
जग कुत्ता पीछे फिरै, सुनै न वाका सोर ॥१७४॥
आज काल दिन पाँच में, बरस पंच जुग पंच ।
जब तब साधू तारसी, और सकल सरपंच ॥१७५॥

मदमस्त हस्तीके समान सन्त सदा निर्बन्ध रहते हैं कुत्तोके समान संसारियोंकी बोलको समझ कर ध्यानमें नहीं लाते ॥ आज कल या वर्ष, युगमें इस प्रपंचसे जब तारेंगे तब सन्त । और तो सकल हैं द्वन्द ॥१७४॥ ॥ १७५ ॥

सत गुरु केश भावता, दूरहि ते दीसन्त ।
तन छीन मन उन मुनी, झूठा रूठ फिरन्त ॥१७६॥
ज्यौं जल में मच्छी रहैं, (यौं) साहिब साधू मांहि ।
सब जग में साधू रहैं, असमझ चीन्है नांहि ॥१७७॥

सद्गुरु प्रेमी सन्तको विवेकी जन दूरहीसे परख लेते हैं। और ढोंगी झूठे उनसे सदा रूठे (विमुख) फिरते हैं ॥ जैसे मीन जलमें लीन रहती है तैसेही सन्त में साहिब। और सन्त सब जगह है परन्तु "अबुझा लोग कहा लौ बूझे, बूझनहार विचारो" इत्यादि। यदि अनभिज्ञको पहिचान नहीं है तो कोई क्या करे ॥ १७६ ॥ १७७ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जाका पूरन मंग ।
विपति पड़ै छाड़ै नहीं, चढ़ै चौगुना रंग ॥१७८॥
कबीर साधू (की) दुरमति, ज्यौं पानी में लात ।
पल ऐकै बिरजत रहै, पीछै इक ह्वै जात ॥१७९॥

सन्तका मन स्वयं पूर्ण सन्तोषी होता है। विपत्ति आनेपर कर्तव्य पालन में तो और चौगुणा दृढ़ रङ्ग जमाते हैं ॥ सन्तों का मन तो कभी आत्म विमुख होता ही नहीं यदि किञ्चित हुआ भी तो पानी में पग चीन्ह की तरह, पल मात्र के लिये पुनः एकदम एक हो जाता है ॥ १७८ ॥ १७९ ॥

केता जिभ्या रस भखै, रती न लागै टंक ।
ज्ञानी माया मुक्त ये, यौं साधू निकलंक ॥१८०॥
काग साधू दरशन कियो, कागा ते भय हंस ।
कबीर साधू दरस ते, पाये उत्तम बंस ॥१८१॥

चाहे जितना षड्रस युत स्निग्ध पदार्थ क्यों न खा-लो किन्तु जिह्वा को चिकनाई छू तक नहीं जाती। इसी प्रकार ज्ञानी सन्त माया से सदा विमुक्त और निष्कलंक रहते हैं। ऐसे सन्तोंके दर्शन से "काक होहिं पिक बकहु मराला" की तरह काक से उत्तम कुलीन विवेकी हंस बन जाता है ॥ १८० ॥ १८१ ॥

हंस साधु दरशन कियो, हंसा ते भय कौर।
कबीर साधू दरस ते, पाये उत्तम ठौर ॥१८२॥
कौर साधु दरसन कियो, पायो उत्तम मोष।
कबीर साधू दरस ते, मिटि गये तीनौं दोष ॥१८३॥

'सुनि आश्चर्य करहि जनि कोई। सत्संगति महिमा नहिं गोई' इत्यादि वचन के अनुसार सन्तों के दर्शन, सत्संग के प्रभाव से हंस से कौर होके उत्तम स्थिति को प्राप्त हुआ॥ पुनः सन्तों के दर्शनसे कौर का मल, विक्षेप और आवरण तीनों दोष भी दूर हो गया और वह आत्यन्तिक निवृत्ति रूपी मुक्ति को पा गया॥ १८२॥ १८३॥

कागा ते हंसा भयो, हंसा ते भयो कौर।
कबीर साधू दरस ते, भयो और और को और ॥१८४॥
हेत बिना आवै नहीं, हेत तहां चलि जाय।
कबीर जल औ संतजन, नवै तहां ठहराय ॥१८५॥

इसमें सन्देह नहीं सन्तोंका दर्शन और सत्संग मनुष्योंमें बहुत परिवर्तन कर देता है॥ संतोंका ज्ञान गुण प्रेम बिना नहीं आता जहाँ प्रेम-भाव होता है वहाँ स्वयं चला जाता है। क्योंकि संत और जलकी एकही गति है, दोनों वहीं जाकर ठहरते हैं जहाँ गहराई और नम्रता है॥ १८४॥ १८५॥

संत होत हैं हेत के, हेत तहां चलि जाय।
कहैं कबीर वे हेत बिन, गरज कहां पतियाय ॥१८६॥
दृष्टि मुष्टि आवै नहीं, रूप बरन पुनि नांहि।
जो मनमें परतीत ह्वै, देखा संतन मांहि ॥१८७॥

सन्त प्रेमीके हैं, प्रेमी के पास जाते हैं। उन्हें प्रेम विना गरजी पर विश्वास कहाँ? अविनाशी देव का रूप और आकार आँख, हाथ का विषय नहीं है। यदि मन में विश्वास है तो सन्तों में देख लो।१८६॥१८७॥

सदा मीन जल में रहै, कब अचवै है पानि।
ऐसो महिमा साधु की, पड़ै न काहू जानि ॥१८८॥

सदा मछली पानीमें रहती है किन्तु पानी वह कब पीती है ? कभी नहीं, अर्थात् पानी से उछल कर जब बाहर निकलती है, उसी वक्त पानी पीती है। ऐसा ही महत्व सन्तका है परन्तु बिना सत्संग के यह रहस्य जानना टेढ़ी खीर है ॥ १८८ ॥

संत सेवा गुरु बन्दगी, गुरु सुमिरन वैराग।
येता तबही पाइये, पूरन मस्तक भाग ॥१८९॥

सन्त गुरुकी सेवा, बन्दगी और स्मरण, विराग आदि ये सब पूर्ण भाग्यशालीको प्राप्त होता है ॥ १८९ ॥

इति श्री साधुको अङ्ग ॥ ६ ॥

अथ भेष को अंग ॥ ७ ॥
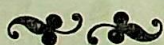
कबीर भेष अतीत का, अधिक करै अपराध।
बाहिर दीसै साधुगति, अन्तर बड़ा असाध ॥ १ ॥

अधिक अपराध अतीतों (गुसांई, संयोगी, साधुओं) के वेषमें होता

है क्योंकि बाहरकी चाल उनकी सन्तकी सी दीखती है किन्तु भीतर तो कूट भरा रहता है ॥ १ ॥

कबीर वह तो एक है, परदा दीया भेष।
भरम करम सब दूर कर, सबही मांहि अलेख ॥ २॥

उस एक आत्म स्वरूप पर पाखण्डियों ने नाना वेषका पड़दा डाल के भेद युत कर दिया है। जिज्ञासुओंको उचित है कि सब भ्रम कर्म को दूर कर अलेख पुरुषको सबमें एक रूपसे देखें ॥ २ ॥

तत्व तिलक तिहुँलोक में, रामनाम निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, शोभा अगम अपार ॥ ३ ॥

जो जिज्ञासु निज स्वरूप सार तत्व राम नाम रूप तिलकको हृदय, कण्ठ और मस्तक पर धारण करते हैं उनकी अनुपम शोभा होती है। भावार्थ--धारण, स्मरण और कथन नित राम ही रूप को करना चाहिये ॥३॥

तत्व तिलक की खानि है, महिमा है निज नाम।
अछै नाम वा तिलक को, रहै अछै बिसराम ॥ ४ ॥

राम रूप सार तत्व सब तिलकोंका उत्पत्ति स्थान है, उसीके नाम की प्रशंसा है, उसीका अक्षय नाम और उसीमें अखण्ड शान्ति है ॥४॥

तत्व तिलक माथे दिया, सुरति सरवनी कान।
करनी कंठी कंठ में, परसा पद निरबान ॥ ५ ॥

जिज्ञासु जन उसे मस्तक पर चढ़ाके और उसीका लक्षरूपी मुद्रा कानमें पहनके तथा उसीका नाम स्मरणरूपी कण्ठी कण्ठमें धारण करके निर्बन्ध परम पदको पाये व पाते हैं ॥ ५ ॥

तत्वहि फलमन तिलक है, अछै बिरछ फल चार।
अमर महातम जानिके, करो तिलक ततसार ॥ ६ ॥

अखण्ड तिलकरूपी वृक्षमें चार फल लगे हैं प्रथम शरीरकी शुद्धि, दूसरा मनकी शान्ति, तीसरा परम तत्वकी प्राप्ति और चौथा फल

अमर प्रशंसा है। ऐसा जानके सार तत्त्वरूप तिलक मुमुक्षुको अवश्य करना चाहिये ॥ ६ ॥

त्रिकुटी ही निजमूल है, भ्रुकुटी मध्य निशान।
ब्रह्म दीप अस्थूल है, अगर तिलक निरबान ॥ ७ ॥

त्रिकुटी और भ्रुकुटी शब्दका अर्थ भी होता है। और ब्रह्म दीप अस्थूलका अर्थ मनादि इन्द्रियोंका अविषय अति सूक्ष्म स्वतः प्रकाश आत्मस्वरूप हैं। तात्पर्य अर्थ यह है कि, अभ्यासी पुरुष सुषमणामें निज नाम का स्मण और मध्य स्थान हृदयमें ध्यान करके अगर यानी अति पवित्र निर्वान स्वरूपको सबका प्रकाशक सहस्त्रदलके आगे मुख्य सर्व साक्षीरूप अपने आपको दृढ़ निश्चय करते हैं ॥ ७ ॥

अगर तिलक सिर सोहई, वैसाखी उनिहारि।
शोभा अविचल नाम की, देखो सुरति बिचारि ॥ ८ ॥

जैसे तिलक मस्तक पर शोभता है, तैसे ज्ञानी पुरुष पवित्र अतम-स्वरूपमें दृढ़ स्थिर हो सुशोभित होते हैं। जिस प्रकार पंगुल वैसाखी के सहारे चलता है इसी प्रकार ज्ञानी आत्मचिंतन के सहारे संसार मार्ग को तय करते हैं। उसी नामकी अखण्ड शोभा है, लक्ष लगावो और विचार कर देख लो ॥ ८ ॥

जसि तिलक उनहार है, तस शोभा अस्थीर।
खम्भ ललाटे सोहई, तत्त्व तिलक गम्भीर ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सीधा स्तम्भकी तरह अखण्ड तिलक ललाटमें शोभता है। इसी प्रकार परम तत्त्व स्वरूप में गंभीर और दृढ़ स्थिर अभ्यासी पुरुष सुशोभित होते हैं ॥ ९ ॥

मध्य गुफा जहँ सुरति है, उपरि तिलक का धाम।
अमर समाधि लगावई, दीसै निरगुन नाम ॥ १० ॥

जिस प्रकार शरीरके ऊपरी भाग ललाट तिलकका मुखय स्थान माना गया है इसी प्रकार सन्त मतमें ध्यान का मुख्य स्थान हृदय वह-वर या सहस्त्र दल कमलके आगे आठवाँ सुरति कमल बतलाया जाता

है। वही अमर समाधि लगाई जाती है, जिसके त्रिगुण के साक्षी का दर्शन होता है ॥ १० ॥

द्वादश तिलक बनावहीं, अंग अंग अस्थान।
कहैं कबीर विराजहीं, ऊजल हंस अमान ॥ ११ ॥
ऊजल देखि न भरमिये, बक जो लावै ध्यान।
कुटिल चाल करनी करै, सो मूरख अज्ञान ॥ १२ ॥

नाभिसे आरम्भकर मस्तक पर्यन्त द्वादश स्थानमें तिलक लगाते हैं, कबीर गुरु कहते हैं कि इस प्रकार हंसजीव उज्ज्वल वेष धारण कर मान अपमान से रहित संसार में विचरते हैं ॥ परन्तु उज्ज्वज वेषही देखकर मत भ्रम में पड़ जाना, उज्ज्वल बगुले की तरह बक ध्यान लगानेवाले बहुतेरे कपटी और छली मूर्ख भी इसी वेषमें फिरा करते हैं ॥११॥१२॥

ऊजल देखि न धीजिये, बग ज्यौं माँडै ध्यान।
धौरै बैठि चपेट सी, यौं ले बूड़ै ज्ञान ॥ १३ ॥

बक ध्यानियोंको उज्वल वेष देखकर हंस [संत] रूप में मत स्वीकार कर लेना नहीं तो पास में धीरे से बैठकर मछली पर बगुलेकी तरह चपेटा लगायंगे और ज्ञान ध्यान सब ले बूड़ेंगे ॥ १३ ॥

चाल बकुल की चलत है, बहुरि कहावै हंस।
ते मुक्ता कसे चुँगै, पड़े काल के फंस ॥ १४ ॥
साधु भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भंगार ॥ १५ ॥

जो चाल बगुलेकी चलते और हंस कहलाते हैं। वें मुक्ता फल (मुक्ति) हर्गिज नहीं पा सकते प्रत्युत कालके फन्दामें पड़ेंगे ॥ बाहरी वेष कण्ठी आदि चार मालाओंको धारण कर साधु भी हो गया तो क्या हुआ ? जबकि अन्दरमें काम, कुटिलता रूपी भंगारी भरी है ॥ १४ ॥ १५ ॥

मीठे बोल जु बोलिये, ताते साधु न जान।
पहिले स्वाँग दिखायके, पीछे दीसै आन ॥ १६ ॥

बाँबी कूटै बावरा, सरप न मारा जाय।
रख बाँबी ना डसै, सरप सबन को खाय ॥ १७॥

मीठी २ बोली सुनकर साधु मत समझो। पहले सुन्दर स्वांग दिखाके पीछे और रंग दिखायगा ॥ ऐ दिवाने ! बिलको पीटनेसे सर्प नहीं मारा जाता, बिल कुछ नहीं करता, सर्प सबको खाता है। भावार्थ–कामादिको मारना चाहिये केवल स्वांग–सजावटसे कुछ न होगा ॥ १६ ॥ १७॥

माला तिलक लगाय के, भक्ति न आई हाथ।
दाढ़ी मूँछ मुँड़ाय के, चले दुनी के साथ ॥ १८॥
दाढ़ी मूँछ मुँड़ाय के, हुआ घोटम घोट।
मन को क्यों नहिं मूँड़िये जामैं भरिया खोट ॥ १९॥

माला तिलक लगा लिया, भक्तिका मर्म पाया नहीं। तो मुड़िया बनके दुनियांके साथ चलने लगा। ऐ मनुष्यो! दाढ़ी, मूँछ मुड़वाके घोटम घोट होनेसे क्या हुआ, सारा खोटका कोट तो मन है, उसे क्यों नहीं मूँड़ता ? ॥ १८ ॥ १९ ॥

केसन कहा बिगारिया, मूँड़ा सौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जामैं विषय विकार ॥ २०॥
मन मेवासी मूँड़िये, केसहिं मूड़ै काहि।
जो कुछ किया सो मन किया, केश किया कछु नाँहिं ॥ २१॥

केशका क्या अपराध है कि उसे सैकड़ों बार मूड़ा, मुड़ाया करते हो, विषय विकारका आकार तो मन है उसे क्यों नहीं मूड़ते ?। मनही लुटेराको मूड़ो, केशसे कुछ मतलब नहीं, जो कुछ किया व करता है वह मन, केश न कुछ किया न करही सकता है ॥ २० ॥ २१ ॥

मूँड़ मुँड़ावत दिन गया, अजहु न मिलिया राम।
रामनाम कहो क्या करै, मनके और काम ॥ २२॥
मूँड़ मुड़ाये हरि मिले, जब कोइ लेहि मुँडाय।
बार बार के मूँड़ने, भेड़ न बैकुँठ जाय ॥ २३॥

मूड़ मुड़ाते दिनों बीत गये, आज तलक भी रामका दर्शन नहीं हुआ तो कहो ! राम क्या करे जबकि मन और ही काम कर रहा है। मूड़ही मुड़ानेसे यदि राम मिल जाता तो सब कोई मुड़ा लेता, बार २ तो भेड़ मुड़ाई जाती है क्या वह बैकुण्ठ जायगी ? हर्गिज नहीं। अतः मुड़ियाका रहस्य समझो और ज्ञान ग्रहण करो ॥ २२ ॥ २३ ॥

स्वाँग पहिरि सोहरा भया, दुनियाँ खाइ खूँद ।
जा सेरी साधू गया, सो तो राखी मूँद ॥ २४ ॥
झूला भसम रमाय के, मिटी न मन की चाह ।
जो सिक्का नहि साँच का तब लग जोगी नाह ॥ २५ ॥

पाखण्डी लोग निर्मल स्वांग सन्तोंका धारणकर दुनियामें प्रसिद्धि फैलाते और सन्तोंके सच्चे मार्गको गुप्तकर वेषकी आड़में मन माना शिकार करते हैं ॥ ऐ ! जबतक कि मनकी वासना निवृत्तकर सत्यकी धारणा नहीं होगी तब तक केवल खाक रमाने और धूनी तापनेसे योगी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ २५ ॥

ऐसी ठाठाँ ठाठिये, बहुरि न यह तन होय ।
ज्ञान गुदरी ओढ़िये, काढ़ि न सकही कोय ॥ २६ ॥
मन माला तन सुमरनी हरिजी तिलक दिलाय ।
दुहाइ राजा राम की, दूजा दूरि कियाय ॥ २७ ॥

ऐसी युक्ति करनी चाहिये कि जिसमें पुनः दुःख मय शरीर न हो। सद्गुरु से वह ज्ञान गुदरी प्राप्तकर ओढ़ लो जिस पर किसीका दावा नहीं। मनकी माला और तनकी सुमिरनीतथा ललाटमें हरिजीका तिलक लगाके रामनामकी घोषणा फिरा दो और दूसरे संशय आदिको ललकारते रहो ॥ २६ ॥ २७ ॥

मन माला तन मेखला, भय की करै भभूत ।
राम मिला सब देखताँ, सो जोगी अवधूत ॥ २८ ॥
माला फेरै मनमुखी, बहुतक फिरै अचेत ।
गांगी रोलै बहि गया, हरि सों किया न हेत ॥ २९ ॥

मनकी माला और तनकी मेखला (करधनी) पहनके जो भयकी खाक रमाता है और सबके सामने राममें रमण करता है वही वैरागी, योगी है ॥ यों तो बहुतेरे गुरु-ज्ञान विमुख मनमती स्नान, तिलक, माला सब कुछ करते फिराते हैं परन्तु हरिसे हेत बिना संसारकी झंझटमें उलझ पुलझके मर मिटे व मर मिटते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

माला फेरै कछु नहीं, डारि मुआ गल भार ।
ऊपर ढोला हींगला, भीतर भरा भंगार ॥ ३० ॥
माला फेर क्या भया, गाँठि न हिय की खोय ।
हरि चरना चित राखिये, तो अमरापुर जोय ॥ ३१ ॥

बिना ज्ञानके माला फेरना व्यर्थ है और गल डालके भारसे मरना है। ऊपर तो गिरुओंका पोतन फिराया है और अन्दरमें कलह कल्पना रूपी भंगार भरी है ॥ ऐसे माला फिरानेसे कुछ लाभ नहीं, जब तक कि अज्ञान जन्य हृदयकी ग्रन्थी नहीं छुटी । सद्गुरुके चरणों की भक्तिसे मुक्ति होती है, यही कर्तव्य है ॥ ३१ ॥

माला फेरै कछु नहीं, काती मन के हाथ ।
जबलग हरि परसे नहीं, तबलग थोथी बात ॥ ३२ ॥

हाथसे तराशी हुई मणकाकी माला पहिरने फिराने से कुछ नहीं हो सकता । जबतक कि सर्वात्म रूप हरिका स्पर्श नहीं तबतक सब करतूत निष्फल है ॥ ३२ ॥

बाना पहिरै सिंघ का, चलै भेड़ की चाल ।
बोली बोलै सियार की, कुत्ता खावै फाल ॥ ३३ ॥
भरम न भागै जीवका, बहुतक धरिया भेष ।
सतगुरुमिलिया बाहिरै, अन्तर रहा अलेख ॥ ३४ ॥

सिंहका स्वाँग बनाके भेड़की चाल और सियारकी बोली बोलेगा तो उसे कुत्ता अवश्य फाड़ खायेगा । बिना ज्ञानके विविधि वेष बनानेसे भ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती । एवं अज्ञानी गुरुसे अलेख स्वरूपका पड़दा भी नहीं हटेगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तन को जोगी सब करैं, मनको करैं न कोय।
सहजै सब सिधि पाइये, जो मन जोगी होय ॥ ३५ ॥
हम तो जोगी मनहिं के, तन के हैं ते और।
मनको जोग लगावताँ, दशा भई कछु और ॥ ३६ ॥

शारीरिक योग क्रिया में सब लगे हैं, मानसिकमें कोई नहीं। यदि मन योगी होगा तो सब सिद्धियाँ आपही मिल जायँगी॥ हम तो "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" के अनुसार मनके योगी हैं। तनके साजने वाले और हैं। मनोवृत्तिके निरोधसे संसारिक दशासे और ही दशा पलट जाती है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

पहिले बूड़ो पिरथवी, झूठे कुल की लार।
अलख बिसार्यो भेष में, बूड़ि काल का धार ॥३७॥
चतुराई हरि ना मिलै, यह बातों की बात।
निस्प्रेही निरधार का, गाहक दीनानाथ ॥३८॥

प्रथम तो संसारी लोग स्वरूप ज्ञान बिना मिथ्या कुल मर्यादाके संगमें पड़के डूब मरै। और दूसरे वेषधारी, मिथ्या वेष पक्षमें अविनाशी देवको भुलाके काल कवल हो गये॥ प्रभु चतुराई से नहीं मिलता। यह तो केवल बात है। अनाथोंके नाथ तो निष्कामी और निरालम्बियोंका ग्राहक हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम ॥३९॥

केवल जप माला और छाप तिलकसे कल्याण रूप कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि मन तो वृथा नश्वर पदार्थ में नाच रहा है और प्रभु साँचे मनका प्रेमी है ॥ ३९ ॥

शीतल जल पाताल का, साठि हाथ पर सेख।
माला के परताप ते, ऊपर आया देख ॥४०॥

जिस प्रकार साठ हाथ गहरा कूंवेका शीतल जल रहटकी माला के

प्रतापसे ऊपर चला आता है, इसी प्रकार प्रेम पूर्वक माला फिराने से अदृश्य प्रभुका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ ४० ॥

करिये तो करि जानिये, सरिखा सेती संग ।
झिरझिर जिमि लोई भई, तऊ न छाड़ै रंग ॥४१॥

यदि प्रेमका तरीका जानो तो सरीखासे संग करो । देखो, जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी लोई का रंग, संग नहीं छोड़ता ॥ ४१ ॥

वैरागी बिरक्त भलो, गिरापड़ा फल खाय ।
सरिता को पानी पिये, गिरही द्वार न जाय ॥४२॥

वही विरक्त वैरागी श्रेष्ठ है जो गृहस्थियोंके द्वारे न जाकर स्वयं गिरे फल और नदीके जल पर निर्वाह करता है ॥ ४२ ॥

गिरही द्वारे जाय के, उदर समाता लेय ।
पीछे लागे हरि फिरै, जब चाहै तब देय ॥४३॥

गृही द्वारे जाके क्षुधा निवृत्तिमात्र अन्न लेवे । क्योंकि इच्छानुसार फल देनेवाला प्रभु तो पीछे लगा ही है । फिर अधिकका संग्रह क्यों ? ॥४३॥

शिष साखा संसार गति, सेवक परतछ काल ।
वैरगी छावै मढ़ी, ताको मूल न डाल ॥४४॥

विरक्तोंको शिष्य-शाखा संसारकी चाल चलाता है और सेवक तो प्रत्यक्ष काल रूप है । और यदि वैरागी होके कहीं कुटी बाँधी तब तो समझ लो कि बिना ठौर ठिकाने के कूँटे गये ॥ ४४ ॥

जा मानुष गृहि धर्म युत, राखै शील विचार ।
गुरुमुख बानी साधु संग, मन बच सेवा सार ॥४५॥

गृह धर्मियोंको उचित है कि शील विचार सहित गुरुमुख वाणी को श्रवण करे और श्रद्धा भक्ति युत मन बचनसे सन्त गुरुकी सत्संग, सेवाको ही सार समझे ॥ ४५ ॥

गिरही सेवै साधु को, साधू सुमरै नाम ।
यामें धोखा कछु नहि, सरैं दोउ का काम ॥४६॥

गृहीको उचित है कि सन्तकी सेवा करै और सन्त अपना ज्ञान विचार करें। इसमें किसीकी हानि नहीं, दोनोंकी भलाई है ॥ ४६ ॥

गिरही सेवै साधु को, भाव भक्ति आनन्द।
कहैं कबीर वैरागि को, निरबानी निरदुन्द ॥४७॥
शब्द विचारे पथ चले, ज्ञान गली दे पाँव।
क्या रमता क्या बैठता, क्या गृह कँदला छाँव ॥४८॥

गृही आनन्द पूर्वक श्रद्धा भक्तिसे सन्त गुरुकी सेवा करै और वैरागी संसार उपाधिसे रहित निर्बन्ध स्वरूपमें स्थित रहैं॥ शब्दोंको विचारि करैं और ज्ञान मार्ग पर चलें। चाहैं जंगल झाड़ीमें रमता रमैया गृह गुफामें बैठा रहैं ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

जैसा मीठा घृत पकै, तैसा फीका साग।
रामनाम सों राचहीं, कहैं कबीर वैराग ॥४९॥

घृत पक्व मिष्ठान्न और अलोना शाक ये दोनों हैं जिनके समान ऐसे नित्य तृप्त राममें निरत रहनेवाले ही सच्चे वैरागी हैं ॥४९॥

पाँच सात सुमता भरी, गुरु सेवा चित लाय।
तब गुरु आज्ञा लेय के, रहे दिसन्तर जाय ॥५०॥
गुरु आज्ञा तें जो रमै, रमते तजै शरीर।
ताको मुक्ति हजूर है, सतगुरु कहैं कबीर ॥५१॥

जिज्ञासुको उचित है कि पाँच सात वर्ष या ज्ञान प्राप्ति पर्यन्त सहन-शीलताके साथ एकाग्र चित्तसे गुरु की सेवा करै, बादमें यदि इच्छा हो तो गुरुकी आज्ञा प्राप्त कर प्रवास या पर्यटन करै॥ ज्ञान प्राप्तिके पश्चात् इस प्रकार गुरु आज्ञासे विचरनेवाले मुमुक्षुको बिचरते हुए शरीर पातान्तर मुक्ति में कोई देशकालका प्रतिबन्ध नहीं होता, ऐसा सद्गुरु कबीर कहते हैं ॥ ५० ॥ ५१ ॥

गुरु के सनमुख जो रहै, सहै कसौटी दूख।
कहैं कबीर ता दुख पर, वारौं कोटिक सूख ॥ ५२ ॥

सतगुरु अधम उधारना, दया सिंधु गुरु नाम।
गुरु बिन कोई न तरि सकै, क्या जप अल्लह राम ॥ ५३ ॥

गुरु समीपमें रहके साधन कसौटी रूपी दुख जो सहता है उसके दुख पर करोड़ों सुखका निछावर है॥ गुरु नाम अर्थात् सत्गुरु दया-सागर और पतित पावन हैं। गुरु बिना किसीका उद्धार नहीं चाहे जितना जप अल्लाह, रामका करै॥ ५२॥ ५३॥

माला पहिरै कौन गुन, मन दुबिधा नहि जाय।
मन माला करि राखिये, गुरु चरनन चित लाय ॥ ५४ ॥
मन का मस्तक मूड़िले, काम क्रोध का केस।
जो पाँचौ परमोधि लै, चेला सबही देस ॥ ५५ ॥

यदि मनका संशय नहीं गया तो माला पहिरनेका कोई अर्थ नहीं। यदि कर्त्तव्य समझो तो फिरानेके लिये मनकी माला बना रक्खो और सद्गुरु चरणोंमें चित्तको अर्पण कर दो। यदि चेलाकी इच्छा हो तो अपने मनका मस्तक मूड़कर उसकी काम क्रोधरूपी चोटी काट लो और पंचेन्द्रियोंको ज्ञानकी फँक लगा दो बस! सारा संसार चेला हो गया॥

माला तिलक बनाय के, धर्म बिचारा नाँहिं।
माला बिचारी क्या करै, मैल रहा मन माँहिं ॥ ५६ ॥
माला बनाई काठ की, बिच में डारा सूत।
माला बिचारी क्या करै, फेरन हार कपूत ॥ ५७ ॥

केवल माला तिलक सजा लिया, धर्मका विचार नहीं तो माला बेचारी क्या करै यदि मन दर्पण मलीन है॥ काष्ठकी मणका बनाके बीचमें डोरी डाल दी, यदि फेरनेवाला विधिज्ञान शून्य है तो माला बेचारी क्या करे?॥ ५६॥ ५७॥

माला तिलक तो भेष है, राम भक्ति कछु और।
कहैं कबिर जिन पहिरिया, पाँचो राखै ठौर ॥५८॥

माला तिलक भेषसे राम भक्ति न्यारी है। पंच इन्द्रियों को जिसने ठीक ठिकाने रख दिया बस! उसने भेष पहिर लिया॥ ५८॥

माला तो मन की भली, औ संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिले, हरहर के गल देख ॥ ५६ ॥

माला मनकी अच्छी है और संसार देखावा वेष है। केवल माला फिरानेसे हरि मिल जाय तो हरहाई गायके गले देखलो ॥ ५६ ॥

मन मैला तन ऊजला, बगुला कपटी अंग।
तासों तो कौआ भला, तन मन एकहि रंग ॥६०॥

मन मैला और तन ऊजला, ऐसा कपटी बगुला का सा अङ्ग बनाना अच्छा नहीं इससे तो वह कौवा अच्छा जो तन मनसे एक रंग है ॥६०॥

कवि तो कोटिन कोटि है, शिर के मूड़े कोट।
मन के मूँड़े देख करि, ता संग लीजे ओट ॥६१॥
भेष देखि मत भूलिये, बूझि लीजिये ज्ञान।
बिना कसौटी होत नहीं, कंचन की पहिचान ॥६२॥

यों तो संसारमें कविता करनेवाले और शिरके मुड़िये करोड़ों हैं। परन्तु कल्याणहित मन के मुड़ियाकी शरण लेनी योग्य है॥ केवल वेष देखकर मत भूलना ज्ञान पूछ लेना क्योंकि कसौटी बिना असल नकल सोनेकी पहिचान नहीं होती ॥६१॥६२॥

फाली फूली गाड़री, ओढ़ि सिंघ की खाल।
साँचा सिंघ जब आ मिले, गाड़र कौन हवाल ॥ ६३ ॥

यदि सिंहकी खाल ओढ़कर भेड़ सिंहके अभिमान में फूली फिरे। तो इसका अभिमान वहैं तक है जहाँ तक सच्चे सिंहसे मुलाकात नहीं हुई है, फिर तो इसकी बुरी दशा होती है ॥६३॥

बोली टोली मसकरी, हाँसी खेल हराम।
मद माया औ इस्तरी, नहिं सन्तन के काम ॥ ६४ ॥
भाँड़ भवाई खेचरी, ये कुल को बेवहार।
दया गरीबी बन्दगी, सन्त शील उपकार ॥ ६५ ॥

सन्तोंको उचित है कि वागिन्द्रिय और शिश्न इन्द्रिय दोनोंको

संयम में रक्खें। व्यंग वचन और हँसी दिल्लगी आदि भाँड़ भवइयोंका काम है। सन्तोंको तो पर उपकारको दया दृष्टि वाले और नम्र एवं शीलवान् होना चाहिये ॥६४॥६५॥

कबिर भेष भगवंत का, माला तिलक बनाय।
उनकूँ आवत देखि के, उठिकर मिलिये धाय॥ ६६॥

माला, तिलकादि भगवान् का वेष है अतः उसको धारण करनेवाले सन्तोंको आते देखकर प्रथम संभ्रमके साथ उठकर दण्ड प्रणाम अवश्य करना चाहिये। पुनः ज्ञान वैराग्यादिके अनुसार सत्कार करना योग्य है ॥६६॥

गिरही को चिन्ता घनी, वैरागी को भीख।
दोनों का बिच जीव है, देहु न सन्तों सीख ॥६७॥
वैरागी विरक्त भला, गिरही चित्त उदार।
दोउ चूकि खाली पड़ै, ताको वार न पार ॥६८॥

"गृह कारज नाना जंजाला" इत्यादिवत् गृहस्थियोंको गृहकार्य की अनेकों चिन्ता और त्यागीको भिक्षाकी पड़ी है। हे सन्तो! दोनोंके मध्यवर्ती चिताग्रस्त जीवोंको निम्नलिखित शिक्षा दीजिये। वैरागीको निर्द्वन्द्व और गृही को चित्त उदार होना चाहिये। यदि इस शिक्षा से विमुख हुए तो उन्हें कहीं भी स्थिति नहीं होगी ॥६७॥६८॥

घर में रहै तो भक्ति करु, ना तर करु वैराग।
वैरागी बन्धन करै, ताका बड़ा अभाग॥ ६९॥
धारा तो दोनौं भली, गिरही कै वैराग।
गिरही दासातन करे, वैरागी अनुराग॥ ७०॥

गृहधर्मी बनो तो भक्ति करो नहीं तो विवेकादि साधनयुत विरक्त बनो। जो वैरागी हो के गृह बन्धनमें पड़ता है उसकी तो फजीहती है। गृहस्थ और त्याग मार्ग दोनों अच्छे हैं। "अपने अपने धर्म में सब सुख हो सब काल" के अनुसार दासातन और बिरक्तता धर्म पालन करने से दोनों सुखी होंगे ॥६९॥७०॥

अजर जु धाम अतीत का, गिरही करै अहार ।
निश्चै होइ दरिद्री, कहैं कबीर विचार ॥ ७१ ॥

अनधिकार और अनुचित व्यवहार युत आहार करने से गृहस्थियों को अतीतका अन्न अजीर्ण होता हैं। और वे निश्चय दरिद्री होते हैं, ऐसा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं ॥ ७१ ॥

इति श्री भेषको अंग ॥ ७ ॥

अथ भीख को अंग ॥८॥

माँगन मरण समान है, मति कोई माँगो भीख ।
माँगन ते मरणा भला, यह सतगुरु की सीख ॥ १ ॥
माँगन मरण समान है, सीख दई मैं तोहि ।
कहैं कबिर सतगुरु सुनो, मतिरे मँगाउ मोहि ॥ २ ॥

किसीसे कुछ माँगना मरण तुल्य है अतः कोई भोग भिक्षार्थी मत बनो। इससे तो भला मरना है, यही सद्गुरु का कहना है। माँगना और मरना दोनों समान है, मैंने तुम्हें सद्गुरु की शिक्षा सुना दी। अब केवल सद्गुरु से विनय कर दुआ माँगो कि हे सद्गुरो ! मुझसे भीख मत मंगवाओ ॥ १ ॥ २ ॥

माँगन मरण समान है, तोहि दई मैं सीख ।
कहैं कबिर समुझाय के, मति कोई माँगै भीख ॥३॥

माँगन गये सो मर रहे, मरै जु मांगन जाँहि ।
तिनतैं पहिले वे मरे, होत करत हैं नाँहि ।। ४ ।।

मैंने तो तुझे समझाकर कह दिया, माँगना मरण सदृश है। यदि इज्जत चाहो तो कोई भीख मत माँगो ।। जो माँगने गया बस ! वह मर गया अब जो माँगने जायगा अवश्य मरेगा। किन्तु दोनों से प्रथम तो वे मर गये जो होते में नकर गये ।। ३-४ ।।

उदर समाता माँगि ले, ताको नाहीं दोष ।
कहैं कबीर अधिका गहै, ताकी गति न मोष ।। ५ ।।

क्षुधा निवृत्ति मात्र माँगलो कोई हर्ज नहीं परन्तु अधिक संग्रही को ज्ञान, कल्याण हर्गिज नहीं ।। ५ ।।

अजहूँ तेरा सब मिटै, जो मानै गुरु सीख ।
जबलग तूँ घर में रहै, मति कहुँ माँगै भीख ।। ६ ।।

अभी कोई हर्ज नहीं सद्गुरुकी शिक्षा मानो सब अपराध क्षमा हो जायगी, किन्तु ध्यान रक्खो ! जबतक घरमें रहो किसीसे कहीं भीख मत माँगो ।। ६ ।।

उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर ।
अधिकहि संग्रह ना करै, तिसका नाँव फकीर ।। ७ ।।
अनमाँगा तो अति भला, माँगि लिया नहिं दोष ।
उदर समाता माँगि ले, निश्चै पावै मोष ।। ८ ।।

निर्वाह मात्र जो अन्न वस्त्रको ग्रहण करके तृष्णा अधिक नहीं बढ़ाता उसीका नाम फकीर है। उसमें भी बिन माँगा तो अति उत्तम है, परन्तु प्रयोजन भर माँग लेने में भी उसकी गति मुक्ति में कोई बाधा नहीं ।। ७ ।। ८ ।।

अन माँगा उत्तम कहा, मध्यम माँगि जु लेय ।
कहैं कबीर निकृष्ट सो, पर घर धरना देय ।। ९ ।।
सहज मिलै सो दूध है, माँगि मिलै सो पानी ।
कहैं कबीर वह रक्त है, जामें ऐचा तानी ।।१०।।

बिना माँगा प्राप्त उत्तम और माँगा हुआ मध्यम कहा गया है परन्तु बिना प्रेम के पर घर अड़ंगा डालना यह तो महा नीचपन है॥ सहजमें जो कुछ मिले वह दूध के समान और माँगने पर वही पानी तुल्य है किन्तु खेंचतानसे यदि जगत् सम्पत्ति भी क्यों न मिल जाय तो भी वह रक्त तुल्य है॥ ९ ॥ १० ॥

आब गया आदर गया, नैनन गया सनेह।
यह तीनों तबही गये, जबहि कहा कछु देह ॥११॥

ज्योंही चाह प्रगट की गई त्योंही शोभा सत्कार और प्रेम ये तीनों चल धरे॥ ११ ॥

भीख तीन परकार की, सुनहु सन्त चितलाय।
दास कबिर परगट कहै, भिन्न भिन्न अरथाय ॥१२॥
उत्तम भीख है अजगरी, सुन लीजै निज बैन।
कहैं कबीर ताके गहै, महा परम सुख चैन ॥१३॥

हे सन्तो! भिक्षा वृत्ति तीन प्रकार की है, पृथक २ सुनिये। उत्तम तो प्रारब्ध प्राप्त अजगरी वृत्ति है जो इससे निर्वाह करते हैं वे परम शान्तिमय जीवन बिताते हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

भँवर भीख मध्यम कही, सुनो संत चितलाय।
कहैं कबिर ताके गहै, मध्यम मांहि समाय ॥१४॥
खर कूकर की भीख जो, निकृष्ट कहावे सोय।
कहैं कबिर इस भीख में, मुक्ति न कबहूँ होय ॥१५॥

मधुकरी वृत्ति मध्यम है इस वृत्तिमें मध्यम कोटिके सन्त प्रवृत्त होते हैं। परन्तु प्रेम बिना लत्तमलत्तो और थुक्कमथुक्की के साथ जो परघर अड़ंगा डाला जाता है वह तीसरी निकृष्ट गर्दभ और श्वान वृत्ति है। कबीर गुरु कहते हैं इस वृत्तिमें मुक्ति हर्गिज नहीं हो सकती ॥१४॥१५॥

इति श्री भीखको अंग ॥ ८ ॥

अथ संगति को अंग ॥ ६ ॥

कबीर संगति साधु की, नित प्रति कीजै जाय ।
दुरमति दूर बहावसी, देसी सुमति बताय ॥ १ ॥
कबीर संगति साधु की, कबहुँ न निष्फल जाय ।
जो पै बोवै भूनि के, फूलै फलै अघाय ॥ २ ॥

ऐ मनुष्यो । सन्तोंकी संगति प्रतिदिन करो, सत्संग प्रभावसे दुर्गुण रहित सद्गुणी और सुमार्गी सज्जन बन जावोगे । क्योंकि संतकी संगति कभी भी निष्फल नहीं होती, देखो ! दूधको तपाकर भी जामन देने से तृप्तिकारक दधि, घृत रूप पुष्प, फल प्राप्त होता है अथवा ॥१॥२॥

कबीर संगति साधु की, जो का भूसी खाय ।
खीर खाँड़ भोजन मिलै, साकट संग न जाय ॥ ३ ॥
कबीर संगति साधु की, ज्यौं गंधी को बास ।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी बास सुवास ॥ ४ ॥

---

१ "महाजनस्य संसर्गः कस्यनोन्नतिकारकः ।
पद्म पत्रस्थितं श्वारि धत्ते मुक्ताफलप्रदम् ॥ ? ॥
काचः काञ्चन संसर्गाद्धत्ते मारकतो द्युती ।
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खोयाति प्रवीणताम्" इति

अर्थात् :-श्रेष्ठ पुरुष का सत्संग किसीकी उन्नति करने वाला नहीं होता ? यानी सत्सँगसे सबकी उन्नति होती है । कमलके पत्तेमें स्थित जल मोतीकी शोभा को धारण करता है, इसी प्रकार सज्जनके संगसे मूर्ख जनभी बुद्धिमान होजाता है ।

२-यद्यपि भूने हुये अन्न (बीज) खेतमें बोनेसे उगता ही नहीं तो फूल, फल की कथा ही क्या ! तथापि साधु या साधु-संगरूप खेतमें बोने (दान देने) से भुने हुये अन्न भी परमार्थ रूप फूल फलका महान कारण हो जाता है ।

मिष्ठान्न भोजन मिले तो भी निगुरोंके संगसे संतों के संगमें जौका चोकर खाकर रहना अच्छा है। क्योंकि सन्तोंकी संगति मानो अत्तार की दुकान है, अतर भले वह न दे किन्तु सुगन्धि नहीं रोक सकता, खुशबू अवश्य मिलेगी ॥ ३ ॥ ४ ॥

कबीर संगति साधु की, निष्फल कभी न होय।
होसो चंदन वासना, नीम न कहसो कोय ॥ ५ ॥
कबीर संगति साधु की, जो करि जानै कोय।
सकल बिरछ चंदन भये, बांस न चंदन होय ॥ ६ ॥

सन्तोंकी सत्संगति निष्फल कभी नहीं होती। देखो! चन्दनके संसर्ग से नीम वृक्ष को नीम कोई नहीं कहता॥ किन्तु सन्तोंकी संगति करनेमें कुछ ज्ञातव्य नम्रतादि गूढ़ तत्व हैं। जैसे चन्दनके सहवासमें सार तत्व युत सबही वृक्ष चन्दन हो जाते किन्तु निःसार बाँस हर्गिज नहीं होता ॥ ५ ॥ ६ ॥

कबीर चंदन संग से, बेधे ढाक पलास।
आप सराखा करि लिया, जो ठहरा तिन पास ॥ ७ ॥
मलयागिरिके पेड़ सों, सरप रहै लिपटाय।
रोम रोम विष भीनिया, अमृत कहां समाय ॥ ८ ॥

जिस प्रकार पासके सारयुत ढाक पलासको चन्दन अपना गुण प्रवेश कर अपना स्वरूप कर लेता है इसी प्रकार सन्त भी विनयी और शील-वान् निज सत्संगीको स्वगुण अर्पण कर स्व स्वरूप कर लेते हैं। और जैसे मलयगिरि के वृक्षमें लिपटे हुए विषधर का विष दूर नहीं होता इसी प्रकार मिथ्याभिमानी कपटी के हृदय में सन्तका शान्तिप्रद

---

३ "सन्तः सदैव गन्तव्या यद्यपि उपदिशन्ति ता।
या हि स्वैर कथास्तोषमुपदेशा भवन्ति ताः ॥

अर्थात्: वशिष्ठजीने राम से कहा कि सन्तों की संगति में अवश्य जाना चाहिए चाहे उपदेश करें या न करें। उनके परस्परकी आत्मचर्चा ही उपदेश रूप हो जायगी।

अमृतमय बचन भी प्रवेश नहीं करता क्योंकि जगह नहीं है, कूट २ विष भरा है ॥ ७ ॥ ८ ॥

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी हूँ सों आध ।
कबीर संगति साधु की, कटै कोटि अपराध ॥ ९ ॥
घड़ि ही की आधी घड़ी, भाव भक्ति में जाय ।
सतसंगहिं पलही भली, जम का धक्का न खाय ॥१०॥

"क्षणमपि सज्जन संगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका" ॥ इस बचनके अनुसार सन्तोंकि संगति आधी घड़ी का आधा भी करोड़ों अपराध को दूर करती है ॥ प्रेमभक्तिमें चाहे आधी घड़ी लगावो परन्तु पल मात्र भी यदि सन्तोंकी संगति हो तो मृत्यु की चोटसे बचा सकती है ॥ ९ ॥ १० ॥

जा पल दरशन साधु का, ता पल की बलिहार ।
रामनाम रसना बसै, लीजै जनम सुधार ॥११॥
ते दिन गये अकारथी, संगत भई न संत ।
प्रेम बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भगवंत ॥१२॥

सन्तोंके दर्शनकी घड़ीकी बलिहारी है, ऐ रसज्ञ रसने ! राम नाम रस ले और जन्म सुधार दे ॥ सन्त-संगति के विना दिन सब व्यर्थ गये क्योंकि प्रभुकी प्रेमभक्ति बिना जीवन पशुतुल्य है ॥ ११ ॥ १२ ॥

जा घर गुरु की भक्ति नहीं, संत नहीं मिहमान ।
ता घर जम डेरा दिया, जीवत भये मसान ॥१३॥

जिस गृह में गुरु की भक्ति और सन्त मिहमान नहीं हैं, वहाँ उस गृही के जीतेजी मृत्युका विश्राम स्थान श्मशान समझो ॥ १३ ॥

रिद्धि सिद्धि माँगूँ नहीं, माँगूँ तुम पर येह ।
नित प्रति दरशन साधु का, कहैं कबिर मुनि देह ॥१४॥
मेरा मन हंसा रमैं, हंसा गगनि रहाय ।
बगुला मन मानैं नहीं, घर आँगनु फिर जाय ॥१५॥

विभव और अणिमादि सिद्धि सफलताकी आवश्यकता नहीं, सद्-गुरो ! केवल प्रतिदिन सन्तोंका दर्शन चाहिये ॥ हे प्रभु ! मन बगुलेको समझाकर घर-आँगनकी फेरी छुड़ा दो और हंसकी चाल चला कर सत्संगरूप मानसरोवर में विश्राम करा दो ॥ १४ ॥ १५ ॥

कबीर बन बन में फिरा, ढूँढ़ि लिया सब गाम ।
राम सरीखा जन मिलै, तब पूरा है काम ॥१६॥
कबीर तासों संग कर, जो रे भजिहैं राम ।
राजा राणा छत्रपति, नाम बिना बेकाम ॥१७॥

मैंने बन, बस्ती सबही जगह फिरकर देख लिया, रामस्नेही सन्त मिलैंगे तबही पूर्ण प्रयोजन सिद्ध होगा। इसलिए रामसे मिलानेवाले की संगति करनी चाहिए, राम बिना सब बेकाम है, राजा राणा से कोई काम नहीं ॥ १६ ॥ १७ ॥

कबीर लहरि समुद्र की, कभी न निष्फल जाय ।
बगुला परखि न जानई, हंसा चुगि चुगि खाय ॥१८॥
कबीर मन पंछी भया, भावै तहवाँ जाय ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसा फल पाय ॥१९॥

समुद्र की लहर निष्फल नहीं जाती किन्तु परीक्षा बिना बगुला क्या करे ? मोतीको तो हंस चुग २ तृप्त होता है इसी प्रकार सत्संगका आनन्द विवेकी पुरुष लेता है कुसंगी नहीं पा सकता ॥ मन पक्षी चाहे जहाँ जाय; किन्तु संगति के अनुसार ही फल पायगा ॥ १८ ॥ १९ ॥

कबीर खाई कोट की, पानी पिवै न कोय ।
जाय मिलै जब गङ्ग में, सब गंगोदक होय ॥२०॥
कबीर कलह रु कल्पना, सतसङ्गति से जाय ।
दुख बासो भागा फिरै, सुख में रहै समाय ॥२१॥

कोई भी हो, बड़े की संगति से बड़ा हो जाता है देखो ! शहर-पनालीका जल कोई नहीं पीता, किन्तु वही जब गंगामें जा मिलता है तब

सबही गंगाजल हो जाता है। सत्संगतिसे दुखरूपी कलह कल्पना दूर हो जाता और सत्संगी निष्कलह स्वरूपमें स्थिर हो सुखी हो जाता है॥ २०॥ २१॥

सङ्गति कीजै सन्त की, जिनका पूरा मन।
अनतोले ही देत हैं, नाम सरीखा धन॥२२॥
साधु सङ्ग अन्तर पड़े, यह मति कबहुँ न होय।
कहैं कबिर तिहुंलोक में, सुखी न देखा कोय॥२३॥

पूर्ण ज्ञानी और सन्तोषी संतका संग करना चाहिये वे ही अनुपम ज्ञान सदृश धन देते हैं॥ ऐ मनुष्यों! ऐसी मति कदापि न हो जिससे सन्त-संगति में भेद पड़े। मैंने सर्वत्र टटोला तो सन्संग, सन्तोष बिना किसीको कहीं सुखी नहीं देखा॥ २२॥ २३॥

मथुरा काशी द्वारिका, हरिद्वार जगनाथ।
साधु सङ्गति हरिभजन बिन, कछू न आवै हाथ॥२४॥
साखि शब्द बहुते सुना, मिटा न मन का दाग।
संगति सो सुधरा नहीं, ताका बड़ा अभाग॥२५॥

चाहे सब धाम करि आओ! किन्तु सन्त-संगति और हरि चिन्तन बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होनेका॥ साखी शब्दादि बहुतेरे पढ़ा, सुना किन्तु मनकी मलिनता नहीं गई। यदि सत्संग में भी नहीं सुधरा तो उस भाग्यहतको कही भी कुशल नहीं॥ २४॥ २५॥

साधुन के सतसंग ते, थर थर काँपै देह।
कबहूं भाव कुभाव ते, मत मिटि जाय सनेह॥२६॥
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु सङ्ग में, सो बैकुण्ठ न होय॥२७॥

सत्संगीके हृदयमें सदा इस बातकी चिन्ता रहती है कि, मन चंचल कदाचित सांसारिक भावमें पड़के सन्तके सत्संगसे कुभाव कर प्रेम न घटे॥ सत्संग सुखका अनुभवी पुरुष स्वर्ग में भी सुख नहीं मानता, प्रत्युत वह उससे दुखी होता है॥ २६॥ २७॥

राम राम रटिबा करै, निशदिन साधुन सङ्ग ।
कहो जु कौन विचारते, (नहिं) नैना लागत रङ्ग ॥२८॥
मन दीया कहुँ और ही, तन साधुन के संग ।
कहैं कबिर कोरा गजी, कैसे लागे रंग ॥२६॥

सन्तोंके संगमें अहो रात्र राम राम स्मरण करो । कहो ! किस विचार से राम रंग नेत्रमें नहीं लगता ? बस यही कारण है कि संत संगमें केवल शरीर है मन कहीं और में लगाया है । कहो ! बिना धोये खादीमें रंग कैसे चढ़ेगा ? हर्गिज नहीं ॥ २८ ॥ २६ ॥

भुवंगम वास न बेधई, चन्दन दोष न लाय ।
सब अंग तो विषसों भरा, अमृत कहाँ समाय ॥३०॥
चन्दन परसा बावना, विष ना तजै भुजंग ।
यह चाहै गुन आपना, कहा करै सतसङ्ग ॥३१॥

यदि सर्पमें सुवास प्रवेश नहीं करता तो चन्दनका कोई दोष नहीं, क्योंकि आपका प्रत्येक अंग विषसे भरा है फिर अमृत कहाँ समाय ? ॥ बाँबीके ऊपरही चन्दनका वृक्ष क्यों न लग जाय तो भी भुजंग विष नहीं त्यागता "कबीर खलक ना तजै जामें जौन विचार" इसी प्रकार जबतक अपना विचार नहीं पलटेगा तबतक सतसंगका असर नहीं होगा ।३०।३१।

कबीर चन्दन के निकट, नीम भी चन्दन होय ।
बूड़े बाँस बड़ाइया, यौं जनि बूड़ै कोय ॥३२॥
चन्दन जैसे सन्त हैं, सरप जैसे संसार ।
वाके अंग लपटा रहै, भागै नहीं विकार ॥३३॥

चन्दन के समीप नीम भी चन्दन हो जाता । ऐ नरजीवो । ऊँचेपन का अभिमानमें पड़के बाँसकी तरह मत कोई निःसार बनो ॥ चन्दनके समान सन्तके संगमें यद्यपि संसारी लोग सर्पवत् लिपटे रहते हैं तो भी विचार बिना विकार दूर नहीं होता । इसलिये निरभिमानी और विचारी बनो ॥

चन्दन डर लहसुन करै, मति रे बिगारै वास।
सुगुरा निगुरा सो डरै, जग से डरपै दास ॥३४॥
कबीर कुसङ्गत कीजिये, लोहा जल न तिराय।
कदली सीप भुजङ्ग मुख, एक बुंद तिर भाय ॥३५॥

जिस प्रकार चन्दन सुवास रक्षाके लिये लहसुन-संगसे भय खाता है इसी प्रकार गुरुमुखी मनमतीसे और मुमुक्षु संसार प्रपंचसे डरते रहते हैं ॥ कुसंगियोंका संग तो हर्गिज न करो क्योंकि लोहा जलमें कदापि नहीं तैरता। संगका गुण, दोष देख लो, स्वातीकी एकही बूँदसे केला सीप, सर्पके संगमें क्रमशः कपूर, मोती और विष पैदा होता है ॥३४॥३५

कबिर कुसंग न कीजिये, जाका नाँव न ठाव।
ते क्यों होसी बापरा, साध नहीं जिहि गाँव ॥३६॥
कबीर गुरु के देश में, बसि जानैं जो कोय।
कागा ते हंसा बनै, जाति वरन कुल खोय ॥३७॥

कुसंगीका संग मत करो उसकी कोई स्थिति नहीं है उनकी कैसे दशा पलटेगी जिस ग्राममें सन्त ही नहीं ॥ जो गुरुके देशमें निवास करने का तरीका जानता है उसका स्वरूप काकसे हंस बन जाता और जाति पाँति सब मिट जाती है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

कबीर कहते क्यौं बनै, अन बनता के संग।
दीपक को भावै नहीं, जरि जरि मरैं पतंग ॥३८॥
ऊजल बुंद अकाश को, पड़ि गइ भूमि विकार।
माटी मिलि भई कीच सो, बिन संगति भौछार ॥३९॥

अनमेलका संग नहीं सरसाता, दीपकका भाव नहीं, पतंग योंही जल-जल मरता है। आकाशका निर्मल जल विकाररूपी पत्थरों की भूमि पर पड़ा तो वहाँकी मिट्टी धुलकर नीचकीचमें जा मिली और सुस्थान संग बिना जल निरुपयोगी बन गया, ऐसाही अधिकारी पात्र बिना गुरुपदेश व्यर्थ होता है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

हरिजन सेती रूठना, संसारी सों हेत ।
ते नर कबहुँ न नीपजे, ज्यौं कालर का खेत ॥४०॥
गिरिये परवत सिखर ते, परिये धरनि मंझार ।
मूरख मित्र न कीजिये, बूड़ा कालो धार ॥४१॥

जो कोई सत्संगीसे विरोध और कुसंगीसे प्रेम करता है उसके हृदय क्षेत्रमें कालर वाले खेतकी तरह ज्ञान अंकुर कदापि नहीं उत्पन्न होता ॥ कालर[1] धान्य विघातक तृण विशेष । भले पर्वतसे गिरकर या पृथिवी तलमें समाकर मर जावो किन्तु मूर्ख से मित्रता मत करो क्योंकि, वह अन्धकूपमें ले बूड़ेगा ॥ ४० ॥ ४१ ॥

मूरख को समझावते, ज्ञान गाँठि का जाय ।
कोयला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय ॥४२॥
कोयला भी हो ऊजला, जरि बरि ह्वै जो सेत ।
मूरख होय न ऊजला, ज्यौं कालर का खेत ॥४३॥

"मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम" मूर्ख के प्रति सदुपदेश यों व्यर्थ है ज्यौं कोयलेमें सैकड़ों मन साबुन । कदाचित कोयला भी जलकर खाक रूपमें सुफेद हो जाता है किन्तु कालरवाले खेत की तरह मूर्खके हृदय में चेत हर्गिज नहीं होता ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

ऊँचेकुलकहजनमिया, (जो) करनी ऊँच न होय ।
कनक कलस मदसों भरा, साधुन निंदा सोय ॥४४॥

श्रेष्ठ कर्तव्य बिना कुलीन कुलमें जन्मसे भी कुछ लाभ नहीं । क्योंकि मद्यसे भरा सोनेका घड़ा भी सज्जन का अग्राह्य है ॥ ४४ ॥

जानि बूझि साँची तजै, करै झूठ सों नेह ।
ताकी संगति राम जी, सपने हू मति देह ॥४५॥

---

१ कालर ऊसर भूमिको भी कहते हैं; वहां उत्तम बीज बोया हुआ भी निष्फल जाता है । और कालर एक प्रकारकी घास भी होती है ।

सत्संगसे समझ बूझकर जो सत्यको तिरस्कार और झूठेका सत्कार करता है। दोहाई रामजीकी तिसका संग स्वप्न में भी न हो ॥ ४५ ॥

काचा सेती मति मिलै, पाका सेती बान।
काचा सेती मिलतही, है तन धन की हान ॥४६॥
तोहि पीर जो प्रेम की, पाका सेती खेल।
काची सरसों पेलि के, खरी भया नहिं तेल ॥४७॥

जैसे कच्चे धागाका बन्धन दृढ़ नहीं होता, इसी प्रकार हलका विचार वालेका संग दृढ़ नहीं होता। इसलिये पूर्ण सत्संगीसे प्रेम जोड़ना चाहिये। क्योंकि क्षुद्र बुद्धिवालेके मेलसे तन, धन, ज्ञान सबही की हानि होती है। यदि तुझे प्रेमकी पीर सताती है तो पक्के के साथ प्रेम करो, कच्ची सरसोंसे तो तेल खरी कुछ नहीं निकलने की ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

दाग जु लागा नील का, सौ मन साबुन धोय।
कोटि जतन परसोधिये, कागा हंस न होय ॥४८॥

नीलका दाग निर्मूल नहीं होता, चाहे सैकड़ों मन साबुनसे धोवो। इसी प्रकार "वायस पालिये अति अनुरागा। होइ निरामिष कबहुँ कि कागा ?" ॥ चाहे कोटिन युक्तियों से शिक्षा दो काग हंसकी गति नहीं सीख सकता ॥ ४८ ॥

जग सों आपा राखिये, ज्यौं विषहर सो अंग।
करो दया जो खूब है, बुरा खलक का संग ॥४९॥

सर्पकी भाँति अपने आपको कुसंगियों से रक्षा करनी चाहिये। प्राणी मात्र पर दया उचित हैं किन्तु 'कागा कुबुद्धि निकट नहीं आवे' के अनुसार ध्यान रहै। कुसंगियों का संग बुरा होता है ॥ ४९ ॥

जीवन जोवन राजमद, अविचल रहै न कोय।
जु दिन जाय सतसंगमें, जीवन का फल सोय ॥५०॥

'जीवे वारि तरंग चंचल तरे सौख्यं कुतः प्राणिनामि' तिवत् अस्थिर होनेसे जीवन यौवन और राज्य सम्पत्ति का अहंकार मिथ्या है, इसलिये जीवनका सफल समय केवल सतसंगका समझना चाहिये ॥ ५० ॥

ब्राह्मण केरी बेटिया, मांस शराब न खाय।
संगति भई कलाल की, मद बिन रहा न जाय ॥५१॥

"संगति भली भली बुधि होई। ओछी संगति मूलहु खोई" के अनुसार कुलीन ब्राह्मणकी लड़की तबही तक मांस, शराब से घृणा करती है जब तक कि कलालकी सोहबत नहीं हुई है, फिर तो उसे उसके बिना रहा ही नहीं जाता, सोहबत असर अवश्य जमाती है ॥ ५१ ॥

साखि शब्द बहुतहिं सुना, मिटा न मनका मोह।
पारस तक पहुंचा नहीं, रहा लोह का लोह ॥५२॥

साखी शब्द चाहे जितना सुनलो बिना सद्गुरु सत्संग के मन मोह (अज्ञान पड़दा) दूर नहीं हो सकता, जैसे पारस से स्पर्श बिना लोहा सोना नहीं बनता ॥ ५२ ॥

माखी चन्दन परिहरे, जहं रस मिलि तहं जाय।
पापी सुनै न हरि कथा, ऊंघे कै उठि जाय ॥५३॥
पुरुष जनम के भोग से, मिले संत का जोग।
कहैं कबिर समुझै नहीं, फिर फिर चाहै भोग ॥५४॥

"जाके जवन सुभाव छूटे नहिं जीव सों। नीम न मीठी होय सींचे गुड़ घीव सो" जिस प्रकार मक्खी चन्दन-सुवासको छोड़कर बदबू युत मल मूत्र में जा बैठती है इसी प्रकार मलीन मनको आत्मकथा नहीं रुचती, प्रत्युत उससे उसका जी मचलता है ॥ यद्यपि पूर्व सुकृतिसे सन्त का सत्संग प्राप्त भी हो जाता है तथापि वह नासमझके कारण पुनः २ कुभोगको ही चाहता है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

जहाँ जैसी संगति करै, तहँ तैसा फल पाय।
हरि मारग तो कठिन है, क्यौं करि पैठा जाय ॥५५॥
ज्ञानी को ज्ञानी मिलै, रस की लूटम लूट।
ज्ञानी अज्ञानी मिले, होवे माथा कूट ॥५६॥

संगति के अनुसारही फल मिलता है, ज्ञान मार्ग अति सूक्ष्म

है वहाँ ऐसे तैसेका प्रवेश कैसे हो सकता ? ।। राम रसकी लूट तो ज्ञानी ज्ञानी के मेलमें है और ज्ञानी अज्ञानीके मेल में तो केवल माथा कूट है ।। ५५ ।। ५६ ।।

सज्जन सों सज्जन मिले, होवे दो दो बात ।
गदहा सों गदहा मिले, खावे दो दो लात ।।५७।।

"मिलहिं सन्त वचन दुई कहिये" इत्यादि वत् सज्जन सज्जनके संग में सत् मिथ्या, जीव अजीव आदि दो बातोंका विचार होता है किन्तु 'मिलहिं असन्त मौन ह्वै रहिये, नहीं तो दो गद्धोंके मिलापमें दुलत्ती के सिवा और कुछ नहीं ।। ५७ ।।

मैं माँगूं यह माँगना, मोंहि दीजिये सोय ।
संत समागम हरि कथा, हमरे निश दिन होय ।।५८।।
कंचन भौ पारस परसि, बहुरि न लोहा होय ।
चंदन बास पलास विधि, ढाक कहै नहिं कोय ।।५९।।

सद्गुरो ! सत्संग और हरि कथा हमारे अहो रात्र हो, बस ! यही मुझे माँगना है कृपाकर प्रदान कीजिये ।। पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है, पुनः वह लोहा नहीं होता, जिस प्रकार चन्दनका सुवास पलास में प्रवेश होने से उसे कोई ढाक नहीं कहता ।। ५८ ।। ५९ ।।

पहिले पट पासै बिना, बंधै बड़े न सात ।
पासै बिन लागे नहीं, कुसुंभ बिगारै साथ ।।६०।।

जिस प्रकार प्रथम कपड़ा को अच्छी तरह धोये बिना सुन्दर और चमकदार रंग नहीं चढ़ता प्रत्युत कुसुंमिया रंग भी उसके साथ खराब हो जाता है । इसी प्रकार अन्तःकरण शुद्धि और शमादि साधन बिना ज्ञानोपदेश स्थिर नहीं रहता ।। ६० ।।

कबीर सतगुरु सेवियेे, कहा साधु का संग ।
बिन बगुरे भिगोये बिना, कोरै चढ़ै न रंग । ६१ ।

कल्याणार्थ सन्तोंका संग प्रथम कहा गया है अतः सन्त गुरुकी सेवा

भली भाँति करनी चाहिये, क्योंकि भिगोकर अच्छी तरह धोये बिना कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता ॥ ६१ ॥

कबीर विषधर बहु मिले, मणिधर मिला न कोय ।
विषधर को मणिधर मिले, विषधर अमृत होय ॥६२॥

विषधर सर्प बहुतेरे मिलते किन्तु मणिधर कहीं नहीं मिलते । यदि विषधरको मणिधर मिल जाय तो उसका विष अमृत[1] हो जाता है ॥६२॥

प्रीति करो सुख लेन का, सो सुख गया हिराय ।
जो पाइ छछुन्दरी; पकड़ि साँप पछिताय ॥६३॥
जो छोड़ै तो आंधरा, खाये तो मरि जाय ।
ऐसे संग छछुन्दरी, दोउ भाँति पछिताय ॥६४॥

अयोग्यके साथ सुख इच्छा से प्रीति करने पर सुख के बदले दुखही होता है, जसे छछुन्दर के ग्रहण से सर्प को। यदि छोड़े तो अन्धा और खाये तो उसे मरण होता है, उसे पकड़ कर सर्प दोनों तरह से दुखी होता है ॥६३॥६४॥

साँप छछुन्दर दोय कूँ, नौला नीगल जाय ।
वाकूँ विष बेड़ै नहीं, जड़ी भरोसे खाय ॥६५॥
कुसंगति लागे नहीं, शब्द सजीवन हाथ ।
बाजीगर का बालका, सोवै सरप कि साथ ॥६६॥

साँप छछुन्दर दोनोंको नेवला निगल जाता है और उसे विष भी नहीं व्याप्ता क्योंकि उसके पास जड़ी है ॥ इसी प्रकार सद्गुरुकी सार शब्द सजीवन मूरी यदि पासमें हो तो कुसंगतिका असर नहीं लग सकता। देखो ! बाजीगरका लड़का युक्तिसे सर्पके साथ सो जाता है ।६५।६६।

---

१ महात्माओंका कथन है कि मणिवाला सर्पकी मणिमें यह एक विचित्र गुण है कि विषधरके काटने पर उस मणिको लगा देनेसे वह विष को खैंच लेता है । बाद उसे दूधमे डाल देनेसे वह अमृत गुणवाला हो जाता है । यदि वह दूध कोढ़ीको पिला दिया जाय तो उसका कोढ़ भी जाता रहता है ।

निगुणै गाँव न बासिये, सब गुण को गुण जाय।
चंदन पड़िया चौक[1] में, ईंधन बद्ले जाय ॥६७॥

यदि कद्र चाहें तो जहाँ गुण ग्राहक नहीं हैं वहाँ गुणियोंको हर्गिज न रहना चाहिये। क्योंकि इंधनकी बाजारमें चन्दन भी उसीके भाव बिकता है॥ ६७॥

संगति को बैरी घनो, सुनो सन्त इक बैन।
येही काजल कोठरी, येही काजल नैन ॥६८॥

हे जिज्ञासुओं! एक सुनने योग्य बात सुन लो और संगतिका प्रभाव देख लो। "ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुयोग सुयोग। होइ कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलक्षण लोग" देखो, वस्तुके योग्य, अयोग्य संगति से गुण और शोभामें कितना फर्क पड़ जाता है, एकही काजल नेत्र को सुरूप अन्य स्थानोंको कुरूप कर देता है॥ ६८॥

साधू संगति परिहरै, करै विषय को संग।
कूप खनी जल बावरे, त्यागि दिया जल गंग ॥६९॥

जो सन्तोंकी संगति छोड़कर पामरोंका संग करता है वह दिवाना मानों गंगाजल त्यागकर जलके वास्ते कुंआ खोदता है।

लकड़ी जल डूबै नहीं, कहो कहाँ की प्रीति।
अपनो सींचो जानि के, यही बड़न की रीति ॥७०॥
मैं सींचो हित जानि के, कठिन भयो है काठ।
ओछी संगति नीच की, शिर पर पाड़ी बाट ॥७१॥

कहो! लकड़ी (नौका) जलमें क्यों नहीं डूबती? सुनो "विष वृक्षोपि संबर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्" इस सूक्तिके अनुसार जल इसे इस प्रकार अपना समझता है कि मैंनेही इसे प्रेम पूर्वक सींचकर समृद्ध किया है, अतः इसे डुबाना योग्य नहीं। यही बड़ोंके बड़ापनकी रीति है॥ लेकिन काठका हृदय बड़ा कठोर है, वह जलकी सौजन्यताको कुछ नही समझ

---

१ चौकामें जानेसे चन्दन भी जलोनी लकड़ीके साथ जलाया जाता है।

कर उसके मस्तक परही अपना मार्ग बना लिया यही ओछी संगति का फल या नीचोंकी नीचता समझ लो ॥ ७० ॥ ७१ ॥

तरुवर जड़ से काटिया, जबै सम्हारो जहाज।
तारै पन बोरै नहीं, बाँह गहे की लाज ॥७२॥

बड़े पुरुष जिसे अपना कर लेते हैं उसे किसी हालतमें दुखी नहीं होने देते, देखो, वृक्षको जड़ से काटकर जहाज बनाया तो भी काटनेवालेको सदैव सागरसे पारही करता है, कभी डूबता नहीं ॥ ७२ ॥

साधु संगति गुरु भक्तिजु, निष्फल कबहुँ न जाय।
चन्दन पास है रूखड़ा, (सो) कबहुँक चन्दन भाय ॥७३॥

सन्त गुरुकी संगति और मुक्ति निष्फल कदापि नहीं होती, जैसे चन्दन समीपका वृक्ष कभी न कभी चन्दन अवश्य होता है ॥७३॥

सन्त सुरसरी गंगजल, आनि पखारा अङ्ग।
मैले से निरमल भये, साधू जन के संग ॥७४॥

संत गंगा के प्रवाह रूप हैं उसमें जो कोई डुबकी लगाया व लगाता है वह सन्तोंके संगमें मैलेसे निर्मल हुआ और होता है ॥ ७४ ॥

चर्चा करु तब चौहटे, ज्ञान करो तब दोय।
ध्यान धरो तब एकिला, और न दूजा कोय ॥७५॥

सभा सत्संग चार जने मिलके या सरे मैदानमें कर सकते हैं किन्तु निर्विघ्न आतमतत्त्व का विचार करो तब तो दोही जने, अपनी कहे मेरी सुनै' में योग्य होगा और इसे आगे मनन चिन्तनादि तो एकाकी। वहाँ दूसरे की आवश्यकता नहीं ॥ ७५ ॥

संगति कीजै साधु की, दिन दिन होवै हेत।
साकुट काली कामली, धोते होय न सेत ॥७६॥

संगीत सन्तों की करनी चाहिये उसमें प्रीति प्रति दिन बढ़ती है। निगुरों का संग तो काला कम्बल है जो धोने पर भी सुफेद नहीं होता ॥७६॥

साधु संगति गुरुभक्ति रु, बढ़त बढ़त बढ़िजाय।
अछी संगति खर शब्द रु, घटत घटत घटिजाय ॥७७॥

सद्गुरु-भक्तिके समान सन्तकी संगति बढ़ते बढ़ते अधिक बढ़ जाती है। और निगुरों की संगति गदहे के चिक्कार के सदृश शनैः शनैः घटती ही जाती है ॥ ७७ ॥

संगति ऐसो कीजिये, सरसा नर सों संग।
लर लर लोई होत है, तऊ न छाड़ै रंग ॥७८॥

ऐसे सुहृदय पुरुषसे संग करना चाहिये कि किसी हालत में भी संग न छोड़े जैसे जीर्ण शीर्ण होने पर भी लोई (वस्त्रविशेष) का रंग संग नहीं छोड़ता ॥ ७८ ॥

तेल तिली सों ऊपजै, सदा तेल को तेल।
संगति को बेरो भयो, ताते नाम फुलेल ॥७९॥

संगतिसे स्वरूप पटल जाता है, देखिलो तिलसे तेल उत्पन्न हो सदा तेल ही रहता है परन्तु पुष्प सुगन्धी (Scient) का सम्बन्ध होते ही फुलेल नाम पड़ जाता है ॥ ७९ ॥

हरिजन केवल होत हैं, जाको हरिका संग।
विपति पड़ै बिसरै नहीं, चढ़ै चौगुना रंग ॥८०॥

जो हरिका संग करता है वही हरिजन होता है, हरिका नाम विपत्ति में भी वह नहीं बिसारता किन्तु और चौगुन राम में रंग जमाता है ॥ ८० ॥

इति श्री संगति को अङ्ग ॥ ९ ॥

अथ सेवक को अंग ॥१०॥

सेवक सेवा में रहै, अन्त कहूँ नहिं जाय।
दुखसुख शिर ऊपर सहै, कहैं कबीर समुझाय ॥१॥
सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय।
कहैं कबिर सेवा बिना, सेवक कभी न होय ॥२॥

कबीर गुरु समझाकर कहते हैं सेवकको उचित है कि स्वामी की सेवकाई में लगा रहे और कहीं न जाय चाहे दुःख हो या सुख, सबको सहन करे ॥ उसीका नाम सेवक है, सेवकाई बिना दास नही कहला सकता ॥ १ ॥ २ ॥

सेवक मुखै कहावई, सेवा में दृढ़ नाँहि।
कहैं कबिर सो सेवका, लख चौरासी माँहि ॥३॥
सेवक सेवा में रहै, सेव करै दिन रात।
कहैं कबिर कुसेवका, सनमुख ना ठहरात ॥४॥

जो सेवकाई में दृढ़ नहीं है, केवल मुखसे दास कहलाता है, वह चौरासी में पड़ेगा ॥ सेवक तो वह है जो सदा स्वामीके सत्कारमें लगा रहता है, जो स्वामीके सन्मुख ठहरता ही नहीं वह सेवक कैसा ? ।३।४।

सेवक फल माँगै नहीं, सेव करै दिनरात।
कहैं कबिर ता दास पर, काल करै नहिं घात ॥५॥
सेवक स्वामी एक मत, मत में मत मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय ॥६॥

जो सेवक सेवकाई के फलकी चाह नहीं रखता और सेवा दिन रात करता है, उस पर कालका घात हर्गिज नहीं लगता ॥ सेवक और

स्वामी का एक सिद्धान्त होना चाहिये। चालाकी जरूरत नहीं, स्वामी तो सेवककी निष्कपट भक्तिसे प्रसन्न होते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

सेवक कुत्ता राम का, मुतिया वाका नाँव ।
डोरी लागी प्रेम की, जित खैंचै तित जाँव ॥७॥
तू तू करु तो निकट ह्वै, दुर दुर करु तो जाय ।
ज्यौं गुरु राखै त्यौं रहै, जो देवै सो खाय ॥८॥

सेवकको उचित है कि कुत्तेकी तरह वृत्ति बनाले, स्वामी प्रेमसे जहाँ बुलावे वहाँही जावे ॥ तू तू करे तो पास और दुर दुर करे तो दूर हो जाय, स्वामी जिस प्रकार रखना चाहें उसी प्रकार रहे और जो देवै वह खाकर पड़ा रहे ॥ ७ ॥ ८ ॥

फल कारन सेवा करै, निश दिन जाँचै राम ।
कहैं कबिर सेवक नहीं, चाहै चौगुन दाम ॥९॥

जो ऋद्धि सिद्धिके लिये सेवा करता है और प्रतिदिन प्रभुसे याँचना करता है वह सेवक नहीं वह लोभी है एकके चार गुणा पैसा चाहता है।९

सब कुछ गुरु के पास है, पाइये अपने भाग ।
सेवक मन सौंप्या रहै, रहै चरण में लाग ॥१०॥

गुरु के पास किसीको कमी नहीं है किन्तु प्राप्त अपने भाग्य के अनुसार होगा। सेवक को इतनाही बस है कि गुरुके चरणों में मन अर्पण कर शरण में पड़ा रहे ॥१०॥

सतगुरु शब्द उलंघि कर, जो सेवक कहुँ जाय ।
जहाँ जाय तहँ काल है, कहैं कबिर समुझाय ॥११॥
सतगुरु बरजै शिष करै, क्यौं करि बाचै काल ।
दहुँ दिशि देखत बहि गया, पानी फूटी पाल ॥१२॥

जो सेवक सद्गुरु उपदेशके विपरीत आचरण करता है, उसके लिये वही काल रूप बन जाता है ॥ सद्गुरु आज्ञाके विरुद्ध करनेवाले शिष्य किसी हालतमें भी कालसे अपने को इस तरह रक्षा नहीं कर सकता,

जिस प्रकार तालाबके बाँध फूटने पर पानी सब तरफ पलब भरमें निकल जाता और सम्भालमें नही आता ॥ ११ ॥ १२ ॥

सतगुरु कहिजो शिष करै, सब कारज सिधहोय ।
अमर अभय पद पाइये, काल न झांकै कोय ॥१३॥

सद्‌गुरु-आज्ञानुसार चलनेवाले शिष्यको सर्व कार्य सिद्ध होता और निर्भय मोक्षपदको भी पा जाता, उसे काल भी कुछ नहीं करता ॥१३॥

साहिब को भावै नहीं, सो हमसों जनि होय।
सतगुरु लाजै आपना, साधु न मानै कोय ॥१४॥

जो प्रभुको अनुचित है वह हमसे कदापि न हो ! क्योंकि उसमें अपने सद्‌गुरुकी अप्रतिष्ठा और सन्त हमें धिक्कारेगे ॥ १४ ॥

साहिब जासों ना रुचै, सो हमसों जनि होय।
गुरु की आज्ञा में रहूँ, बल बुधि आपा खोय ॥१५॥

हे सद्‌गुरो ! वह कार्य हमसे हर्गिज न हो, जिसमें आपकी प्रसन्नता नहीं है। मैं तो अपने बल, बुद्धिकी अहन्ता ममता छोड़कर फक्त आपही की ताबेदारी में रहना चाहता हूँ ॥

साहिब के दरबार में, कमी काहु की नाँहि ।
बन्दा मौज न पावहीं, चूक चाकरी माँहि ॥१६॥
द्वार धनी के पड़ि रहै; धका धनी का खाय।
कबहुक धनी निवाजिहै, जो दर छांड़ि न जाय ॥१७॥

गुरो ! आपकी शरणमें कुछ कमी नहीं है किन्तु चाकरीमें चूक है तो चाकर आनन्द कैसे पायगा। फिर भी यदि धक्का मुक्का खाकर आपके चरणों में पड़ा रहे और कहीं न जाय तो दयालो ! कभी न कभी आपकी दयादृष्टि अवश्य होगी ॥ १६ ॥ १७ ॥

आश करै वैकुण्ठ की, दुरमति तीनों काल ।
शुक्र कही बलि ना करी, ताते गयो पताल ॥१८॥

जो अज्ञानी मनमती गुरु-आज्ञाके विरुद्ध बैकुण्ठकी आशा करता है। उसे इस प्रकार अधोगतिको जाना पड़ेगा जिस प्रकार शुक्राचार्यके मने करने पर सर्वस्व दानी बलि राजाको पातालमें जाना पड़ा ॥१८॥

गुरु आज्ञा मानै नहीं, चलै अटपटी चाल।
लोक वेद दोनों गये, आगे शिर पर काल ॥१९॥

गुरु-आज्ञाके विरुद्ध मनमाना करनेवाला स्वार्थ परमार्थ दोनों ओर से विमुख हो कालके मुखमें चला जाता है ॥ १९ ॥

भुक्ति मुक्ति मांगौं नहीं, भक्ति दान दे मोहि।
और कोइ जाँचौं नहीं, निशिदिन जांचौं तोहि ॥२०॥

भोग मोक्ष मांगौं नहीं, भक्ति दान गुरुदेव।
और नहीं कुछ चाहिये, निस दिन तेरी सेव ॥२१॥

सद्गुरु ! भोग मोक्षकी चाह नहीं केवल मुझे भक्ति प्रदान कीजिये प्रतिदिन आपही के मिलने की चाह बनी रहे। गुरुदेव ! भक्ति भी व चाहिये, जिससे अहोरात्र आपही की सेवकाई हो ॥ २१ ॥

यह मन ताको दीजिये, साँचा सेवक होय।
शिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय ॥२२॥

सद्गुरुदेव ! यह भक्ति उपदेश उस सच्चे सेवकको दीजिये जो शि पर आराका घाव सहै, फिर भी दूसरा भाव न होने दे ॥ २२ ॥

अन राते सुख सोवना, राते निंद न आय।
ज्यौं जल छूटी माछरी, तलफत रैन बिहाय ॥२३॥

जो आत्म प्रेमी नहीं है उसे मोह निशामें सोना अच्छा लगता किन्तु 'तस्या जागर्ति संयमी'के अनुसार आत्मप्रेमी को उसमें निद्रा उन्हें तो जल वियोगी मछली की तरह तड़फड़ाते ही वह रात्रि बीत है ॥२३॥

राता राता सब कहै, अनराता नहिं कोय।
राता सोई जानिये, जा तनरक्त न होय ॥२४॥

शाता रक्त न नीकसे, जो तन चीरै कोय।
जो शाता गुरु नाम सों, ता तन रक्त न होय ॥२५॥

सबही प्रेम और प्रेमीकी बातें करते हैं किन्तु प्रेम मगन वही हो सकता है जिसे और लगन न हो। जो सद्गुरु ज्ञानमें अनुरक्त हैं उसके शरीरमें कुछभी रक्त नहीं चाहे कोई चीर देखे ॥ २४ ॥ २५ ॥

शीलवन्त सुर ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान् अतिनिछलता, कोमल हिरदा सोय ॥२६॥
चितदय धरमक ध्वजा, धीरजवान् प्रमान।
सन्तोषी सुख दायका, सेवक परम सुजान ॥२७॥

सद्गुरु-प्रेमी शीलवान्, प्रतिज्ञावान् ज्ञानवान् तथा अति उदार हृदय और विशेषकर संकोची निश्छली तथा मृदुचित्त होते हैं॥ दया, धैर्य, सन्तोष आदि सद्गुण युत सेवक मानो धर्मके पताका रूप है।२६।२७।

ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहूं सो हेत।
सत्यवान परमारथी, आदर भाव सहेत ॥२८॥
षट् दरशन को प्रेम करि, असन बसन सों पोष।
सेव करैं हरिजनन की, हरषित परम संतोष ॥२९॥

ज्ञानी होने पर अभिमानी नहीं, कुसंगियों से दूर रहते किन्तु प्रेम सबसे रखते, सत्य प्रतिज्ञ, परमार्थी प्रेम भावसे सबका आदर करने वाले प्रेम पूर्वक योगी जंगमादि षड् दर्शनोंको भोजन अच्छादनसे तुष्ट करते, परम सन्तोष और प्रसन्नतासे हरिजनोंकी सेवा करते हैं ॥२८॥२९॥

यह सब लच्छन चित धरे, अप लच्छन सब त्याग।
सावधान सम ध्यान है, गुरु चरनन में लाग ॥३०॥
गुरुमुख गुरु चितवत रहे, जैसे मणि भुवंग।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, यह गुरुमुख को अंग ॥३१॥

ऊपर बताये हुए लक्षणोंको धारण करे और ईर्षा द्वेषादि दुर्गुणोंको

त्याग दे। सदैव एकाग्र चित्तसे सदगुरु चरणोंमें ध्यान रक्खे। जिस प्रकार सर्प मणिका ध्यान रखता है इसी प्रकार गुरुमुखी सेवक गुरुमें लक्ष लगाय रहे। कभी भूले नहीं यही गुरुमुखी-शिष्यका लक्षण है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहै, जैसे शाह दिवान।
और कभी नहिं देखता, है वाही को ध्यान ॥३२॥
गुरुमुख गुरु आज्ञा चलै, छाँड़ि देइ सब काम।
कहैं कबिर गुरुदेव को, तुरत करै परणाम ॥३३॥

जिस प्रकार दीवान बादशाहकी ओर देखता रहता है, इसी प्रकार गुरुमुख सेवक और कहीं कभी न देखकर सदा गुरुके ही ध्यानमें रहते हैं ॥ सेवकको यही उचित है कि गुरु आज्ञानुसार चले और यदि गुरु सन्मुख हो तो सब काम छोड़कर शीघ्र प्रणाम करे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

उलटे सुलटे बचन के, शीष न मानै दूख।
कहैं कबिर संसार में, सो कहिये गुरु मूख ॥३४॥
सुरति सुहागिनसोइ सहि, जो गुरुआज्ञा माँहि।
गुरु आज्ञा जो मेटहीं, तासु कुशल है नाँहि ॥३५॥

दयालु गुरु शिष्य-सुधारके लिये कदाचित् नरम गरम बचन कहें तो जो उसे दुख न मानकर सहन करता है वही संसारमें सेवक कहलाता है ॥ शिष्यकी मनोवृत्ति वही सौभाग्यवती है जो गुरु-आज्ञामें है। गुरु आज्ञा विरुद्ध चलनेवालोंको कहीं भी कुशल नहीं होता ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

गुरु आज्ञा लै आवही, गुरु आज्ञा लै जाय।
कहैं कबिर सों सन्त प्रिय, बहुविधि अमृत पाय ॥३६॥
कहैं कबीर गुरु प्रेम बस, क्या नियरै क्या दूर।
जाका चित्त जासों बसै, सों तिहि सदा हजूर ॥३७॥

गुरु-आज्ञानुसार चलनेवाला सेवक सन्तका प्रिय और सब प्रकार मोक्षका अधिकारी होता है ॥ प्रेमीको दूर, निकट कोई नहीं, जिससे जिसका चित्त मिला है वह उसके पास है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

कबीर गुरु और साधु कूँ, शीष नवावै जाय ।
कहैं कबिर सों सेवका, महापरम पद पाय ॥३८॥

जो सेवक सन्त, गुरुके कदमोंमें शीष झुकाता है वही परम पद पाता है ॥ ३८ ॥

इति श्री सेवकको अङ्ग ॥ १० ॥

अथ दासातनको अंग ॥ ११ ॥

गुरु समरथ शिर पर खड़े, कहा कमि तोहि दास ।
रिद्धि सिद्धि सेवा करैं, मुक्ति न छोड़ैं पास ॥ १ ॥

ऐ गुरु-भक्तों ! तुझे क्या कमी है ! जब कि तेरे शिर मुकुट समर्थ गुरु बने हैं । समृद्धि और सफलता सेवा में और मुक्ति तो तेरे पास ही है ॥ १ ॥

दुख सुख सिर ऊपर सहै, कबहुँ न छाड़ैं संग ।
रंग न लागैं और का, ब्यापै सतगुरु रंग ॥ २ ॥

सुख-दुख सहते रहो सदगुरुका संग कभी न छोड़ो । सदगुरुके ज्ञान रंगमें ऐसे रंग जावो कि दूसरे रंगकी गुञ्जाइश न हो ॥ २ ॥

धूम धाम सहता रहै, कबहुँ न छाड़ै संग।
पाहा बिन लागे नहीं, कपड़ा के बहु रङ्ग॥ ३॥

धूम धड़क्का सहते रहो, सदगुरुका साथ मत छोड़ो। क्योंकि बिना भट्ठी चढ़ाये कपड़े पर सुन्दर रङ्ग नहीं चढ़ता॥ ३॥

कबीर गुरु सबको चहै, गुरु को चहै न कोय।
जब लग आश शरीर की, तब लग दास न होय॥ ४॥
कबीर गुरु के भावते, दूरहि ते दीसन्त।
तन छीना मन अनमाना, जग ते रूठि फिरन्त॥ ५॥

सद्गुरु सबको चाहते हैं परन्तु शरीर सुखाध्यासी उन्हें कोई नहीं चाहता॥ सदगुरु सत्संगी तो दूरहीसे दीख जाते हैं। क्योंकि उनका तन क्षीण, और मन संसारसे उदासीन रहता है॥ ४॥ ५॥

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोय।
कै जागै विषया भरा, दास बन्दगी जोय॥ ६॥

एक संसारका मालिक जागता है दूसरा कोई नहीं। और जो दो जने जागते हैं उनमेंसे एक विषयभोगी और दूसरे विषय वियोगी हैं॥ ६॥

कबीर पाँचौ बलधिया, उजड़ उजड़ जांहि।
बलिहारी वा दास की, पकड़ि जु राखै बांहि॥ ७॥
काजर केरि कोठरी, ऐसो यह संसार।
बलिहारी वा दास की, पैठी निकसन हार॥ ८॥

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें दौड़ करती हैं उस दासको धन्यवाद है जो पकड़कर पासमें रखता है। बलिहारी उस पुरुषकी जो संसार रूपी कज्जलकी कोठरीमें पैठकर बेदाग निकल आता है॥७॥८॥

निरबन्धक बँधा रहै, बँधा निरबँध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय॥ ९॥

विरक्त वेष आदिका भी अहन्ता ममता करना बन्धन रूप है। किसी भी वेषमें रहके अविद्या प्रयुक्त मेरी तेरी राग द्वेषसे रहित निर्बन्ध

हो सकता है। किन्तु जो शुभदानादि कर्म करके भी कर्त्तापनाका अहंकार नही लाता वही दास कहलाता है ॥ ९ ॥

दासातन हिरदै नहीं, नाम धरावै दास।
पानी के पिये बिना, कैसे मिटै पियास ॥१०॥

दासत्व भावमें तो उतरते नहीं केवल दासका नाम धराते हैं तो कहो भला ! पानी पिये बिना प्यास कैसे मिटेगी ? हर्गिज नहीं ॥ १० ॥

दासातन हिरदै बसै, साधुन सों अधीन।
कहैं कबिर सो दास है, प्रेम भक्ति लौ लीन ॥११॥

जो हृदयमें दीनता गरीबी धारणकर सन्तों के अधीन प्रेम भक्तिमें तल्लीन रहता है वही सब दासोंमें दास और प्रवीण है ॥ ११ ॥

नाम धराया दास का, मन में नाहीं दीन।
कहैं कबिर सो श्वान गति, औरहि के लौलीन ॥१२॥

जो दास का नाम धराया और प्रेम भक्ति हृदयमें नहीं लाया बस ! वह धोबी का कुत्ता, घरका भया न घाटका ॥ १२ ॥

नाम धरावै दास को, दासातन में लीन।
कहैं कबिर लौलीन बिन, श्वान बुद्धि कहि दीन ॥१३॥

सेवकको उचित है कि सेवकाईमें लीन रहे। बिना प्रेमका ज्ञान तो श्वान-बुद्धि समान है ॥ १३ ॥

स्वामी होना सोहरा, दुहरा होना दास।
गाड़र आनी ऊन को, बाँधी चरै कपास ॥१४॥

गुरु बन जाना तो बाँया हाथका खेल है, मुश्किल तो होना दास है। क्योंकि गुरु वृत्तिसे विपरीत दासत्व वृत्तिमें दीनता गरीबीकी आवश्यकता है। परन्तु जो दास भावमें उतरे बिना ही गुरु पद पर चढ़ते हैं। उन्हें फायदाके बदले नुकसान इस प्रकार उठाना पड़ता है जिस प्रकार कपास चर जाने पर ऊन के लिये लाई हुई भेड़से कपास कृषकको पश्चाताप करना पड़ता है ॥ १४ ॥

दास दुखी तो हरि दुखी, आदि अन्त तिहुँ काल ।
पलक एक में प्रकट ह्वै, छिन में करूं निहाल ॥१५॥

स्वामी सेवकका एक दिल होनेसे दासके दुखी होने पर प्रभु सदा दुखी रहते हैं। क्षण मात्र में प्रगट होके दासका दुःख दूरकर सुखी कर देते हैं ॥ १५ ॥

कबीर कुल सों ही भला, जा कुल उपजै दास ।
जा कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥१६॥

वही कुल कुलीन है जिस कुलमें दास प्रगट होता हैं। 'निर्गन्धा इव किसुका' के समान वह खानदान व्यर्थ है जिसमें दास का जन्म नहीं ॥१६॥

भली भई जो भय मिटा, टूटी कुल की लाज ।
बेपरवाही ह्वै रहा, बैठा नाम जहाज ॥१७॥

बहुत अच्छा हुआ कुल कानिका भय मिट गया और सद्गुरु ज्ञान जहाज पर बैठनेसे निर्भय, निःशंक भी हो गया ॥ १७ ॥

कबिर भये हैं केतकी, भँवर भये सब दास ।
जहँ जहँ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ मुक्ति निवास ॥१८॥

सदगुरु कबीर केतकी पुष्प और दास सब भ्रमर हैं। जहाँ तहाँ गुरु की भक्ति है तहाँ तहाँ मुक्तिका निवास है ॥ १८ ॥

दास कहावन कठिन हैं, मैं दासन का दास ।
अब तो ऐसा ह्वै रहूँ, पाँव तले की घास ॥१९॥

दासका कहा ना मुश्किल है किन्तु मुझे तो दासोंके दासमें आनन्द है अब तो ऐसा चाहता हूँ कि हरिजनोंके पाँव तलेकी घास बन जाऊँ ।१९।

काहू को न सँतापिये, जो शिर हंता सोय ।
फिर फिर वाकूँ बन्दिये, दास लच्य ह्वै सोय ॥२०॥

ऐ गुरु भक्तों ! जिसके शिर वर्णाश्रमादिका मिथ्या अहंकार सवार है उसे मत सतावो वह अपने आपमें नहीं है। दासका लक्षण यह है कि उसकी पुनः पुनः स्तुति करो, शायद जी उठे ॥ २० ॥

लगा रहै सतज्ञान सों, सबही बन्धन तोड़ ।
कहैं कबिर वा दास सों, काल रहे हथ जोड़ ॥२१॥

जो वर्णाश्रमकी बेड़ी तोड़कर केवल गुरुज्ञान में लीन रहता है उसके सामने काल (मृत्यु) भी हाथ जोड़ता है ॥ २१ ॥

दास कहावन कठिन हैं, जब लग दूजी आन ।
हाँसी साहिब जो मिले, कौन सहै खुरसान ॥२२॥

जब तक दूसरी मर्यादामें पड़ा है तब तक दास होना मुश्किल है। यदि हंसी खेलमें प्रभु मिले तो विवेकादिकी खुराफात कौन सहे ? ॥२२॥

डग डग पै जो डर करै, नित सुमिरै गुरुदेव ।
कहैं कबिर वा दास की, साहिब मानै सेव ॥२३॥

जो सदा दुष्कर्मों से डरता और सदगुरुका स्मरण करता है। उसी की सेवा साहिब कबूल करता है ॥ २३ ॥

निहकामी निरमल दशा, नित चरणों की आश ।
तीरथ इच्छा ता करै, कब आवै वै दास ॥२४॥

वही दास निर्मल है जिसमें सदगुरु चरणोंकी आशाके अतिरिक्त दुसरी कामना नहीं है, अपनी महिमा रक्षाके लिये तीर्थवासी भी ऐसे दासोंके आगमनकी अभिलाषा करते हैं ॥ २४ ॥

इति श्री दासातनको अंग ॥ ११ ॥

अथ भक्तिको अंग ॥ १२ ॥
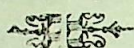
भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द[1] ।
परगट करी कबीर ने, सात दीप नवखण्ड ॥१॥

पहिले पहल सदगुरुको भक्ति द्रविण देश निवासी श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराजके हृदयमें उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे अच्छी तरह हृदय से लगाया। किन्तु उसे सात द्वीप नव खण्डों तथा श्रीस्वामीजीके हृदयमें प्रगटकर्ता सदगुरुकबीर ही हैं ॥ १ ॥

भक्ति भाव भादौं नदी, सबहि चली घहराय ।
सरिता सोई सराहिये, जेठ मास ठहराय ॥२॥

भादोंमें तो सबही नदियाँ उमड़ चलती हैं किन्तु प्रशंसनीय सरिता तो वही है जो जेठमें ठहरती है। इसी प्रकार भक्त वही है जिसकी भक्ति विपत्तिमें दृढ़ रहती है ॥ २ ॥

भक्ति प्रान सो होत है, मन दै कीजै भाव ।
परमारथ परतीति में, यह तन जाये जाव ॥३॥

---

१. स्वामी रामानन्द ये १४ वीं सदीके अन्त और १५ वीं सदीके प्रारम्भमें रामानुजाचार्यके सम्प्रदायमें पांचवें आचार्य्यमें हुये थे। ऐसा कहा जाता है, दक्षिणके वैष्णव लोगोंने इनका अपमान किया, तिससे स्वामी रामानन्दने वहाँ से चलके काशीमें पंचगंगा पर मठ स्थापना किया। इन्होंने भी रामानुजाचार्य्य की तरह भक्ति मार्गका उपदेश किया। परन्तु रामानुजाचार्यने विष्णु, वासुदेव, पुरुषोत्तम, नारायण, परमात्माके इन नामोंके जो उपदेश किया था। तिसके बदले स्वामी रामानन्दजीने केवल एक रामनाम ही की महिमा का प्रचार किया। और इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्यने जो जाति-पंक्तिका भेद माना था तिसको इन्होंने त्याग दिया और भक्तिमें सर्व वर्णको बराबर अधिकारी बताया।

भक्ति बीज बिनसै नहीं, आय पड़े जो झोल ।
कंचन जो विष्टा पड़ै, घटै न ताको मोल ॥४॥

भक्ति प्रतिज्ञासे होती है, परमार्थके लिये तन मन सबही अर्पण कर देना चाहिये ॥ कोई भी अड़चन भले आन पड़े भक्ति-बीज नाश नहीं होता, जैसे विष्टामें पड़ जानेपर भी कंचनकी कीमत नहीं घटती ।३।४।

भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग आय अनन्त ।
ऊँच नीच घर औतरे, होय सन्त का सन्त ॥५॥

कल्पान्तोंमें भी भक्तिकी वासना नहीं बदलती, चाहे किसी भी खानदानमें उत्पन्न हो पुनः सन्त होकर वह वासना बलसे अभ्यास बैराग्य में लग जाता है ॥ ५ ॥

भक्ति कठिन अति दुर्लभ, भेष सुगम नित सोय ।
भक्ति जु न्यारी भेष से, यह जानै सब कोय ॥६॥
भक्ति भेष बहु अन्तरा, जैसे धरनि अकास ।
भक्त लीन गुरु चरण में, भेष जगत की आस ॥७॥

भक्ति अति दुष्कर और दुर्लभ है, इससे वेष बनाना सदा सीधा है । भेष-भक्ति की जुदाई सब कोई जानता है । भेष और भक्ति में जमीन आसमान का फर्क है । भक्त सद्गुरु के चरणोंमें लीन रहता और भेषधारी जगत की आशा में डोलता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

भक्ति रूप भगवन्त का, भेष आहि कछु और ।
भक्ति रूप भगवन्त है, भेष जु मन को दौर ॥८॥
भक्ति पदारथ तब मिलै, जब गुरु होय सहाय ।
प्रेम प्रीति की भक्ति जो, पूरण भाग मिलाय ॥९॥

भक्ति भगवान का स्वरूप है और भगवान् भक्तके । और भेष तो औरही कुछ मनकी तरङ्ग है । प्रेम प्रीति की भक्ति एक ऐसी अनूठी वस्तु है कि सदगुरु की सहायता से ही मिलती है वह भी पूर्ण भाग्यशाली को ॥ ८ ॥ ९ ॥

भक्ति दुहीलो गुरुन की, नहिं कायर का काम ।
शीष उतारै हाथ सों, ताहि मिलै निज धाम ॥१०॥
भक्ति दुहीली राम की, नहिं कायर का काम ।
निस्प्रेही निरधार को, आठ पहर संग्राम ॥११॥

सदगुरुकी भक्ति कठिन है यहाँ 'काया सीचनहार' कायरोंका काम नहीं। यहीं तो स्वधाम प्राप्ति के लिये अपने हाथों से धड़से शिर उतार कर अर्पण करना पड़ता है। और निराशा व निरालम्ब हो काम क्रोधादि रूप शत्रुओं से आठो पहर युद्ध करना होता है ॥ १० ॥ ११ ॥

भक्ति दुहीला राम की, जस खाँडे की धार ।
जो डोलै सो कटि पड़ै, निहचल उतरै पार ॥१२॥
भक्ति जु सीढ़ी मुक्ति की, चढ़े भक्त हरषाय ।
और न कोई चढ़ सकैं, निजमन समझो आय ॥१३॥

राम-भक्ति मार्ग पर चलना मानो तलवार का धार पर चढ़ना है, जरा सा इधर-उधर हुआ कि पारके बदले भवधार गया। इसका हानि लाभ तो भक्त जन ही अपने मनमें समझ कर प्रसन्न चित्तसे मुक्ति की भक्ति रूपी सीढ़ी पर चढ़ते हैं। और कोई नहीं ॥ १२ ॥ १३ ॥

भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय ।
जिन जिन मन आलस किया, जनमजनम पछिताय ॥१४
भक्ति बिना नहिं निसतरै, लाख करै जो कोय ।
शब्द सनेही ह्वै रहै, घर को पहुँचे सोय ॥१५॥

भक्ति मुक्तिका सोपान है। उसपर चढ़ाई सन्तोंकी होती है। आलसी बैठे २ जनम२ पछताता है। चाहे कोई लाखों उपाय करे ! भक्ति बिना मुक्ति नहीं। जो शब्द स्नेही होगा वही निज घरको पहुंचेगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

भक्ति दुवारा साँकरा, राई दसवें भाय ।
मन तो मैंगल ह्वै रहा, कैसे आवै जाय ॥१६॥

भक्ति दुवारा मोकला, सुमिरि सुमिरि समाय ।
मन को तो मैदा किया, निरभय आवै जाय ॥१७॥

भक्ति का द्वार बहुत सकेत राई के दशवें भाग बराबर है और मन मदमस्त हस्ती बना है, कहो ! कैसे आना जाना होगा ? सुनो, जिसने सदगुरु नाम स्मरणमें मनको चूर्ण बना रक्खा है वह उस द्वारसे निर्भय जाता आता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

भक्ति सोइ जो भाव सों, इकमन चितको राख ।
साँच शील सों खेलिये, मैं तैं दोऊ नाख ॥१८॥
भक्ति गेंद चौगान की, भावै कोइ ले जाय ।
कहैं कबिर कछु भेद नहिं, कहाँ रंक कहँ राय ॥१९॥

भक्ति वही है जो प्रेम पूर्वक एकाग्र चित्तसे की जाती है और मेरी तेरी रहित शील सहित सत्यसे व्यवहार होता है ॥ मैदानके गेंदकी तरह भक्तिमें भेदभाव नहीं है, राजा चाहे रंक कोई भी ले सकता है।१८।१९।

भक्ति सबन ही ऊपरै, भागि न पावै सोय ।
कहै पुकारै सन्त जन, संत सुमिरत सब कोय ॥२०॥
भक्ति बनाये ना बनै, भेष बनाये होय ।
भक्ति भेष बहु अन्तरा, जानै बिरला कोय ॥२१॥

भक्तिपद सबसे ऊँचा है, इसे भाग्यशाली पाता है। अतः चिन्तनके लिये सन्तजन सबसे पुकार २ कर कह रहे हैं॥ वेषकी तरह बनावटी नहीं चलती भेष भक्तिका अन्तर बिरला कोई समझता है ॥२०॥२१॥

कबीर गुरूकी भक्ति करू, तजविषया रसचौज ।
बार बार नहिं पाइये, मनुष जनम की मौज ॥२२॥
कबीर गुरुकी भक्ति बिन, धिक् जीवन संसार ।
धूँवा का सा धौरहरा, बिनसत लगे न वार ॥२३॥

ऐ नरजीवो ! सदगुरुकी भक्ति करो विषय रसकी चाट छोड़ो। नर जन्मका आनन्द बार-बार नहीं मिलता ॥ सदगुरुकी भक्ति बिना जगमें

जीवन धिक्कार है। इसे धुँयेकी ऊंची लाटके सदृश नाश होते देरी नहीं लगती ॥ २२ ॥ २३ ॥

कबीर गुरु की भक्ति का, मन में बहुत हुलास।
मन मनसा माँजै नहीं, होन चहत है दास ॥२४॥
कबीर गुरु की भक्ति से, संशै डारा धोय।
भक्ति बिना जो दिन गया सो दिन सालै मोय ॥२५॥

यदि मन में सदगुरु—भक्ति की अभिलाषा अधिक है तो बहुत अच्छा किन्तु मन—दर्पणको शुद्ध किये बिना केवल दास होनेकी चाहना व्यर्थ है॥ ऐ मनुष्यों ! सदगुरु—भक्ति जलसे दिल दर्पणके संशय मल को धो डालो, उस दिनके लिये मुझे पश्चाताप है जो दिन भक्ति बिन योंही गुजर गया ॥ २४ ॥ २५ ॥

जब लग नाता जाति का, तबलग भक्ति न होय।
नाता तोड़ गुरु भजै, भक्त कहावै सोय ॥२६॥
छिमा खेत भल जोतिये, सुमिरनबीजजमाय।
खंड ब्रह्मण्ड सूखा पड़ै, भक्तिबीज नहिं जाय ॥२७॥

"जाति पाँतिके भर्म भुलाने, सो नर काल अधीना। निज स्वरूप परख्यो नहीं मूरख, ताते दुविधा कीना॥ सन्तो! सन्त बिलग किन कीन्हा ? इसलिये भक्त वही है जो वर्णाश्रम भ्रमसे पृथक है॥ चाहे खण्ड, ब्रह्माण्ड भले सूखा पड़ जावे किन्तु क्षमा रूप खेतमें बोया हुआ भक्ति बीज निष्फल नहीं होता ॥ २६ ॥ २७ ॥

जल ज्यौं प्यारा मछली, लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका, भक्ति प्यारी राम ॥२८॥
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार।
उदर भरन के कारने, जनम गँवायो सार ॥२९॥

मीनको जल, लोभीको धन और माताको पुत्र जिस प्रकार प्रिय है इसी प्रकार प्रभुको भक्तकी भक्ति प्रिय है॥ किन्तु प्रेम बिनाकी भक्ति

पाखण्ड है। पेट पोषणके लिये व्यर्थमें पाखण्डी लोग नर जन्म गमाय व गमाते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीति का भक्त।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्त कर्यो सब जक्त ॥३०॥
जहाँ भक्ति तहँ भेष नहिं, बरणा श्रम तहाँ नाँहि।
नाम भक्ति जो प्रेमसों, सो दुरलभ जग माँहि ॥३१॥

प्रेमी भक्त और प्रीति युत भक्ति पूर्ण भाग्य बिना प्राप्त नहीं होता। यों तो प्रेम प्रीति बिनाके भक्त जगत्में भरे पड़े हैं ॥ भक्तिमें वेष और वर्णाश्रमकी आवश्यकता नहीं होती। ज्ञानार्थं जो प्रेम भक्ति है वह संसारमें दुर्लभ है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

भाव बिना नहिं भक्ति जग, भक्तिबिनानहिंभाव।
भक्ति भाव इक रूप है, दोऊ एक सुभाव ॥३२॥
गुरु भक्ती अतिकठिन है, ज्यों खांड़ै की धार।
बिना सांच पहुँचै नहीं, महाकठिन व्यवहार ॥३३॥

भाव और भक्ति को परस्पर अन्योऽन्याश्रय है, दोनों का स्वभाव और स्वरूप एक है ॥ सदगुरुकी भक्ति अति दुर्गम तलवार की धारके समान है। भक्ति व्यापार में साँच बिना कोई भी नफा नहीं उठा सकता ॥३२॥३३॥

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ शूरमा, जाति बरन कुल खोय ॥३४॥
जाति बरन कुल खोय के, भक्ति करै चितलाय।
कहैं कबिर सत गुरु मिलै, आवागवन नशाय ॥३५॥

कामी, क्रोधी और लोभी इनसे भक्ति नहीं हो सकती, भक्ति करना उस शूराका काम है जिसके धड़पर लोक लाज रूप शिर नहीं है। वही वर्णादि उलझन से रहित एकाग्रचित्त से भक्ति करता है और सद्गुरु स्वरूपमें मिलकर आवागमन से रहित होता है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

जब लगि भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहैं कबिर वह क्यौं मिलै, निहकामी निजदेव ॥३६॥
ज्ञान भक्तका नित मरण, अनजाने का राज।
सर औसर समझै नहीं, पेट भरन सों काज। ३७॥

कामना युक्त भक्ति निष्फल है, क्योंकि निजात्म देवका दर्शन निष्काम से होता है। प्रसिद्ध भक्तों की भक्ति में प्रति दिन की यही भारी कठिनाइयाँ हैं कि आये गये सन्त महात्माओं के यथा योग्य सेवा सत्कार का मौका सँभालना पड़ता है। और समय ज्ञान शून्य के लिये तो कहना ही क्या है? उन्हें तो पेट पूरण से काम है।।३६।।३७।।

मनकी मनसा मिटि गई, दुरमति भइ सबदूर।
जन मन प्यारा राम का, नगर बसै भरपूर ॥३८॥

जब मन की तृष्णायें मिट जाती और सदगुरु ज्ञान से दुर्बुद्धि सब नष्ट हो जाती है तब भक्त जन का मन रामका प्रिय और नगर (हृदय) सन्तुष्ट हो जाता है॥ ३८॥

मेवासा मोहै किया, दुरिजन मन का दूर।
राज पियारे राम का, नगर बसै भरपूर ॥३९॥

जिसने मोह ममता को जीता और पापों को हृदय से दूर किया! बस वह राम का प्रेमी और उसका नगर माला माल हुआ। ३९॥

आरत ह्वै गुरु भक्तिकरु, सब कारज सिध होय।
करम जाल भौजाल में, भक्त फँसै नहिं कोय ॥४०॥
आरत सों गुरुभक्ति करु, सब सिध कारज होय।
कृपा मांग्या राछ है, सदा न फनसी कोय।।४१॥

आर्त्त, जिज्ञासा और अर्थार्थी ये तीन भावसे भक्तजन सदगुरु की भक्ति करते हैं। तिसमें संसारसे सन्तप्त होकर आर्त्तस्वरसे सदगुरु की भक्ति करने वाले भक्त संसार के कर्म जाल में नहीं फंसते और उनका सब कार्य सिद्ध हो जाता है। इसलिये ऐ भक्तों! आर्त्तनादसे सदगुरु की

पुकार करो, तेरा सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जायगा ध्यान रक्खो! दूसरेसे माँगा हुआ यह शरीर रूप चमड़े का भाण्ड सदा किसी को भी सुशोभित नहीं करता ॥ ४०-४१ ॥

सबसों कहूँ पुकारि कै, क्या पंडित क्या सेख।
भक्ति ठानी शब्दै गहै, बहुरि न काछे भेष ॥४२॥
देखा देखी भक्ति का, कबहु न चढ़सी रंग।
विपत्ति पड़ै यों छाँड़सी, केचुली तजत भुजंग ॥४३॥

मैं सबसे पुकार कर कहे देता हूँ, चाहे पण्डित हो या काजी जो सद-गुरुका सार शब्द ग्रहण कर भक्तिसे लगन लगायेगा वह पुनः संसार नाटकका भाँड़ नहीं कहायेगा यानी मुक्त हो जायेगा। किन्तु देखा देखी भक्तिका रंग कभी न जमता क्योंकि विघ्न आने पर जिस प्रकार सर्प केंचुली को त्यागता है इसी प्रकार वह भक्तिको छोड़ देगा ॥४२॥४३॥

तोटै में भक्ती करै, ताका नाम सपूत।
मायाधारी मसखरै, केते गये अऊत ॥४४॥

वही पूर्ण भक्त है जो आपत्तिमें भक्ति करता है, यों तो मायासाज और दिल्लगीबाज बहुतेरे निर्वंश हो गये ॥ ४४ ॥

ज्ञान सपूरण ना भिदा, हिरदा नाँहि जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का, रंग नहीं ठहराय ॥४५॥
खेत बिगार्यौ खरतुआ, सभा विगारी कूर।
भक्ति बिगारी लालची, ज्यौं केसर में धूर ॥४६॥

पूर्ण ज्ञान बिना हृदयमें शान्ति नहीं आती और देखा देखीकी भक्ति भी स्थायी नहीं होती। जिस प्रकार खरतुआ (तृण विशेष) खेतीको, दुष्टजन सभाको और धूल केसरको नष्ट कर देती है। इसी प्रकार "कबिरन भक्ति बिगारिया" लोभियोंने सदगुरु-भक्तिको नाश कर दिया ॥४५-४६॥

तिमिर गया रवि देखते, कुमति गई गुरुज्ञान।
सुमति गई अति लोभ से, भक्ति गई अभिमान ॥४७॥

निर्पक्षी की भक्ति है, निर्मोही को ज्ञान।
निरदुंदी की मुक्ति है निर्लोभी निरबान ॥४८॥

जिस प्रकार सूर्यसे अन्धकार, कुबुद्धिसे गुरु-ज्ञान और लोभसे सुबुद्धि नहीं रहती इसी प्रकार वर्णादिके मिथ्या अभिमानसे सदगुरुकी भक्तिभी नहीं ठहरती। 'निर्पछ ह्वै के हरि भजे' के अनुसार भक्ति पक्षपातरहित से होती है, और निर्मोहीको स्वरूप ज्ञान एवं राग द्वेषादि द्वन्द्वसे रहित मोक्ष और निर्लोभी निर्बन्ध पदको पाता है ॥४७॥४८॥

विषय त्याग वैराग ह्वै, समता कहिये ज्ञान।
सुखदाईसब जीव सों, यही भक्ति परमान ॥४९॥

उभय लोक-भोगके त्यागका नाम वैराग्य और समदृष्टि का नाम ज्ञान है। 'निर्बैरी बर्त्तै जग माही। मन वच कर्म घात कोउ नाहीं॥' बस! इसीका नाम भक्ति है ॥ ४९ ॥

जब लगिआशा देह की, तब लगि भक्ति न होय।
आशा त्यागी हरि भजैं, भक्ति कहावै सोय ॥५०॥
चार चिह्न हरि भक्ति के, प्रगट दिखाई देत।
दया धर्म आधीनता, पर दुख को हरि लेत ॥५१॥

शरीर सम्बन्धी आसक्तिवालोंसे भक्ति नहीं हो सकती भक्ति निराश पद है। प्रभु के भक्तोंको चार लक्षण प्रत्यक्ष रहता है। दया, धर्म, नम्रता और परोपकारिता ॥ ५० ॥ ५१ ।

और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निहकर्म।
कहैं कबीर पुकारि के, भक्ति करो तजि भर्म ॥५२॥
भक्ति भक्ति सब कोई कहै, भक्ति न आई काज।
जिहिको कियो भरोसवा, तिहि ते आई गाज ॥५३॥

कबीर गुरु पुकार कर कहते हैं कि और कर्मो की भांति भक्ति कर्म ज्ञान जनक होने से बन्धन का हेतु नहीं होता अतः भ्रम त्यागकर सदगुरु-सत्संग भक्ति अवश्य करनी चाहिये। नाम मात्र की भक्ति मोक्ष

प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकती। आशा जनक भक्ति अन्त दुखदाई होती है ॥५२॥५३॥

इन्द्र राज सुख भोगकर, फिर भौसागर माँहि।
यह सरगुणकी भक्ति है, निर्भय कबहूं नाँहि ॥५४॥

आशा जनक भक्ति गुरु विमुखोंकी है, जिससे इन्द्रादि पद पाने पर भी जन्मादि संसारसे निर्भय कदापि नहीं होते ॥ ५४ ॥

भक्त आप भगवान है, जानत नाहिं अयान।
शीष नवावै साधु कूँ, बूझि करै अभिमान ॥५५॥

भक्त स्वयं भगवान स्वरूप हैं, परन्तु इस वातको गुरु सत्संग विमुख नहीं जानता। मिथ्या जाति अभिमान में पड़ा रहता है, सन्तोंके नमस्कार करनेमें भी जाति पूछता है ॥ ५५ ॥

भक्ति महल बहु ऊँच है, दूरहि ते दरसाय।
जो कोइ जन भक्ति करै, शोभा बरनि न जाय ॥५६॥
भक्तन की यह रीति है, बँधे करै जो भाव।
परमारथ के कारनै, या तन रहो कि जाव ॥५७॥

भक्ति मन्दिर बहुत ऊँचा है, वह दूरहीसे दीखता है, भक्तोंकी शोभा अकथनीय है। भक्तोंकी यही रीति है कि 'धन कुलका अभिमान त्यागिके, रहे अधीना रे। परमारथ के हेत देत शिर, विलम्ब न कीना रे" भक्त-जन परोपकारार्थ सदा शरीरको अर्पण किये रहते हैं ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

भक्ति २ बहु कठिन है, रति न चाले खोट।
निराधार का खेल है, अधर धार की चोट ॥५८॥

भक्ति मार्गपर चलना बड़ी कठिनाइयाँ हैं इसमें असत्यताकी तो रत्ती मात्र भी गुञ्जायश नही है यहाँ निरालम्बका व्यवहार है। जरासामें रसातलका भोग भोगना पड़ता है ॥ ५८ ॥

भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब आय।
नीचै बाघिन लुकि रही, कुचल पड़े कूँ खाय ॥५९॥

भक्ति २ सब कोई कहै, भक्ति जानै भेव।
पूरण भक्ति जब मिलै, कृपा करै गुरुदेव ॥६०॥

मुक्ति महलमें जानेकी सीढ़ी भक्ति है, इस पर सन्त लोग दृढ़तासे कदम जमाके चढ़ जाते हैं! नीचे छिपी हुई मायारूपी बाघिनी गिरनेवाले को फाड़ खाती है॥ यों तो भक्तिका नाम सबही कोई जानते हैं किन्तु भक्तिका पूर्ण रहस्य तो तबही मिलता है जब सदगुरु कृपा करते हैं॥ ५९ ॥ ६० ॥

इति श्री भक्तिको अंग ॥ १२ ॥

अथ सुमिरनको अंग ॥१३॥

नाम रतन धन पाय के, गाँठो बांधि न खोल।
नहिं पाटननहिं पारखी, नहिंगाहक नहिं मोल ॥ १ ॥

'ज्ञान रतनकी कोठरी चुम्बक दीन्हों ताल' के अनुसार सदगुरुके ज्ञान धन रत्न को प्राप्त कर दृढ़ गाँठी लगा लो, जिस नगरमें इसके कदरदाँ पारखी नहीं हैं वहाँ मत खोलो ॥ १ ॥

नाम रतन छन संत पहं, खान खुली घट माँहिं ।
सेत मेत ही देत हैं, गाहक कोई नाँहिं ॥ २ ॥

सन्तोंका हृदय ज्ञान रतनकी खान है और मुफ्त देते हैं तो भी नहीं कोई लेते हैं ॥ २ ॥

नाम बिना बेकाम है, छप्पन भोग विलास ।
क्या इन्द्रासन बैठना, क्या बैकुण्ठ निवास ॥ ३ ॥
नाम रतन सो पाइहैं, ज्ञान दृष्टि जेहि होय ।
ज्ञान बिना नहिं पावई, कोटि करै जो कोय ॥ ४ ॥

चाहे इन्द्रासन या बैकुण्ठहीका भोग बिलास क्यों न हो ? किन्तु ज्ञान बिना सब व्यर्थ है ॥ गुरु ज्ञान रतन वही पाता है जिसे ज्ञान दृष्टि है, इसके बिना उसके प्राप्त्यर्थ करोड़ों उपाय व्यर्थ हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

नाम जो रती एक है, पाप जु रती हजार ।
आध रात घट संचरे, जारि करै सब छार ॥ ५ ॥

एक रति ज्ञान और हजार रति पाप क्यों न हो किन्तु आधि रति भी यदि हृदय में ज्ञान दृढ़ हो जाय तो सबको जार कर क्षार कर देता है । ५ ॥

राम जपत कुष्टी भला, चुइ चुइ परै जु चाम ।
कंचन देह किस कामको, जो मुख नाहीं राम ॥ ६ ॥

रामका चिन्तन करनेवाला गलित कुष्टी उस सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर-वालेसे अच्छा है जिसके मुखसे रामका नाम उच्चारण नहीं होता ॥६॥

राम जपत कन्या भली, साकुट भला न पूत ।
छेरी के गल गल थना, जामें दूध न मूत ॥ ७ ॥

बकरीकी गलथनीवत् निरर्थक उस गुरु विमुख लड़केसे तो लड़की अच्छी, जो रामका नाम स्मरण करती है ॥ ७ ॥

राम जपत दरिद्री भला, टूटी घर की छान ।
कंचन मन्दिर जारि दे, जहाँ न सतगुरु ज्ञान ॥ ८ ॥

सदगुरुकी ज्ञान चर्चा के बिना सोनेका मन्दिरमें अग्नि लगा दो और उस दरिद्रीकी टूटी झोपड़ी में रहो, जहाँ रमैया रामका चिन्तन होता है ॥ ८ ॥

राम लिया जिन सब लिया, सब सास्त्रन को भेद ।
बिना राम नरके गये, पढ़ि गुनि चारों बेद ॥ ९ ॥

सब शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य जो राम है उसे जिसने जान लिया बस ! उसका काम हो गया । "राम बिना नर ! होइ हो कैसा । बाट माझ गोबरौरा जैसा" बिना राम तो चारो वेदोंका श्रवण मनन भी हराम है ॥ ९ ॥

नाम पियू का छोड़ि के, करै आन का जाप ।
वेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन को बाप ॥१०॥

अन्तर्यामी प्रभुका नाम छोड़कर जो अन्यका नाम जपता है । वह वेश्याके पुत्रवत् बिना आश्रयका होता है ॥ १० ॥

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह ।
परसत ही कंचन भया, छूटा बन्धन मोह ॥११॥

रामका नाम पारसमणि है और मन मलिन लोहा रूप है । उसमें स्पर्श होते ही मन कंचन रूप बन जाता और अविद्या जन्य मोह बन्धन भी सब छूट जाते हैं ॥ ११ ॥

कोटि नाम संसार में, तातें मुक्ति न होय ।
आदि नाम जो गुप्त जप, बिरला जाने कोय ॥१२॥

एक स्वरूप ज्ञान बिना संसारके अनेकों ज्ञान से भी मुक्ति नहीं हो सकती । इसे बिरलाही कोई जानता है ॥ १२ ॥

राम नाम निज औषधि, कोटिक कटे विकार ।
विष बारी विरकत रहै, काया कंचन सार ॥१३॥
यह औषधि अंगही लगि, अनेक उधरी देह ।
कोउ फेर कूपथ करे, नहिं तो औषधि येह ॥१४॥

निज स्वरूप राम का नाम रूप औषधि से करोड़ों व्याधियाँ मिट जाती हैं और शरीर उत्तम स्वर्णमय बन जाता यदि संसार बागसे सदा उदास रहे। इस औषधि के अङ्ग लगने से अनेको शरीर का उद्धार हो गया। परम औषधि यही है, यदि पुनः कुपथ करके कोई भले रोगी बने १३।१४॥

राम नाम निज औषधि, सतगुरु दई बताय।
औषधि खाय रु पथ रहै, ताकी बेदन जाय ॥१५॥

जन्मादि रोग निवृत्ति अर्थ सदगरु ने रामनाम रूपी औषधि बतला दी है 'सदगुरु वैद्य वचन विश्वासा। संयम यह न विषय कर आशा' बस! औषधि खाने पर भी उसी की पीढ़ा जाती है जो संयम से रहता है॥ १५ ॥

राम नाम विश्वास, करम भरम सब परिहरै॥
सतगुरु पुरवै आस, जो निराश आशा करै॥१६॥
राम नाम को सुमिरताँ, उधरे पतित अनेक॥
कहैं कबिर नहिं छाँड़िये, राम नाम को टेक॥१७॥

जो सब भ्रम कर्मों को छोड़कर एक रामही नामका विश्वास रक्खे और निराश वर्तमानमें वर्ते तो सदगुरु उसकी सम्पूर्ण आशाओंको पूर्ण कर देते है॥ क्योंकि रामनाम के सुमिरन से अनेकों पतितका उद्धार हुआ है। इसलिये राम राम सुमिरन टेकको कभी न छोड़नी चाहिये॥

राम नाम को सुमिरतां हँसि कर भावै खीझ।
उलटा सुलटा नीपजै ज्यौं खेतन में बीज॥१८॥
राम नाम जाना नहीं, लागी मोटी खोर।
काया हाँड़ी काठ की, ना वह चढ़ै बहोर।१९॥

भाव या कुभाव किसी भी हालतमें रामका स्मरण करो फल अवश्य होगा। जैसे सुखेतमें बीज उलटा, सुलटा पड़ने पर भी जम जाता है॥ कायाके अभिमानमें रामनाम भुलानेवाले की बड़ी भूल हुई। क्योंकि यह काया हाँड़ी काठकी है दूसरी बार नहीं चढ़ती॥ १८। १९॥

ॐकार निश्चै भया, सो कर्ता मति जान ।
साँचा शब्द कबीर का, परदे माँहि पिछान ॥२०॥

ॐकार निश्चय भया, सो कर्ता मत जान । लिखकर मेटे ताहि लख, सो है पद निर्वान ॥ ॐकार जो निश्चय हुआ है उसे सत्य कर्ता मत समझो, जो उसे लिखता और मिटा देता है उसीको पहिचानो, वही निर्बन्ध और सत्य पद है ॥ २० ॥

जो जन होइहैं जौहरि, रतन लेहिं बिलगाय ।
सोहँग सोहँग जपि मुआ, मिथ्या जनम गँवाय ॥२१॥
सबहि रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय ।
रंचक घट में संचरै, सब तन कंचन होय ॥२२॥

पारखी सन्त पत्थरसे रत्नको अलग कर लेते हैं। और सोऽहंग सोऽहंग जपने वाले गँवार व्यर्थमें जन्म गँवाते हैं। हमने सबही रसायन (धातु शोधन) क्रियाको कर देखी, परन्तु नाम रसायन के समान कोई भी नहीं यदि वह रत्ती मात्र भी घटमें प्रवेश करने पावे तो सारे शरीर को स्वर्ण बना देवे ॥ २१ ॥ २२ ॥

जवहि राम हिरदै धरा, भया पाप का नाश ।
मानो चिनगी आग की, परी पुराने घास ॥२३॥

ज्यों ही हृदय निवासी राम में वृत्ति लगाई त्यों ही अघ समुदाई खाक हो गई। मानो अग्नि की चिनगारी पुराने घास गंज पर पड़ गई ॥ २३ ॥

कोई न जम से बाँचिया, राम बिना धरि खाय ।
जो जन बिरही राम के, ताको देखि डराय ॥२४॥
पूँजि मेरी राम है, जाते सदा निहाल ।
कबीर गरजे पुरुष बल, चोरी करै न काल ॥२५॥

रामाश्रय बिना काल बलीसे कोई भी नहीं बचता किन्तु रामके बिरहमें जो बेचैन है उसे देखकर काल भी डरता है॥ मैं अपनी राम

नाम पूँजीसे ही सदा कृत कृत्य हैं। रामाश्रय जिज्ञासु सदा मौजमें रहते हैं वहाँ कालकी दाल नहीं गलती ॥ २४ ॥ २५ ॥

कबीर हरिके नाम में, सुरति रहै करतार ।
ता मुख से मोती झरे, हीरा अनँत अपार ॥२६॥
कबीर हरि के नाम में, बात चलावे और ।
तिस अपराधी जीव को, तीन लोक कित ठौर ॥२७॥

प्रभुके नाममें जिसका लक्ष एक तारसे लगा रहता है उसके मुखसे शान्तिरूपी मोती और सन्तोष रूप अनन्त, अपार हीरा झरता रहता है। प्रभुके नाममें जो अनमेल बात छेड़ता है उस अपराधी जीवको कहीं भी स्थान नही मिलता ॥ २६ ॥ २७ ॥

कबीर सब जग निरधना, धनवन्ता नहिं कोय ।
धनवंता सो (इ) जानिये, राम नाम धन होय ॥२८॥
साहेब नाम सँभारताँ, कोटि बिघन टरि जाय ।
राई भार बसन्दरा, केता काठ जराय ॥२९॥

संसार सब निर्धन है, धनवान् कोई नहीं, धनवान् तो वही है जिसके पास रामनाम धन है ॥ सद्गुरु नामको याद करो, करोड़ों विघ्न टल जायंगे। देख लो, राई भर अग्नि कितने काठ समुदायको खाक कर देती है ? ॥ २८ ॥ २९ ॥

कबीर परगट राम कहु, छानै राम न गाय ।
फूसक जोड़ा दूरि करु, बहुरि न लागे लाय ॥३०॥

ऐ कबीरो ! प्रत्यक्ष रामकी पुकार करो गुप्त मत रक्खो। फूसके पहिरनको दूर करो, अग्नि फिर नहीं लगेगी ॥ ३० ॥

कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाय ।
जा मुख राम न नीसरै, ता मुख राम कहाय ॥३१॥
कबीर मुख सोई भला, जा मुख निकसै राम ।
जा मुख राम न नीकसै, ता मुख है किस काम ॥३२॥

अपने भी राम जपो और दूसरे जो नहीं जपते उनसे भी जप करावो। ऐ कबीरो! वही मुख सुन्दर है जिस मुख से सुन्दर रामका नाम निकलता है। जिस मुखसे रामका नाम नहीं निकलता वह मुख किस काम का ? ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कबीर हरि के मिलन की, बात सुनी हम दोय ।

कै कछु हरि को नाम ले, कै कर ऊँचा होय ॥३३॥

कबीर राम रिझाय ले, जिह्वा सों कर प्रीत ।

हरि सागर जनि बीसरै, छीलर देखि अनीत ॥३४॥

ऐ कबीरो! प्रभु मिलने की मैंने दो बातें सुनी हैं। धन होय तो दान दे नहीं तो रामका नाम ले। रसज्ञ रसना से प्रीति कर रामको प्रसन्न कर ले। छिछला तलैया (इन्द्रिय-भोग) तुच्छ को देख आत्म सुख अगाध सागर को मत भूलो ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

कबीर राम रिझाय ले, मुख अमृत गुन गाय ।

फूटा नग ज्यों जोरि मन, सन्धै सन्धि मिलाय ॥३५॥

कबिर नैन झर लाइये, रहट बहै निस जाम ।

पपिहा यौं पी पी करै, कबरि मिलेंगे राम ॥३६॥

हे कबीरो! मुखसे अमर स्वरूपका गुण गावो और रमैया रामको रिझाओ। मनको राममें ऐसे जोड़ो जैसे संधि से संधि मिलकर फूटा नग जोड़ा जाता है। प्रभु मिलने के लिये रहटधाराकी तरह अहोरात्र नेत्र झड़ी का प्रवाह चलाओ। रमैया राममें मेरा मन कब रमेगा ? इसके समाधान अर्थ पपिहा की तरह पीव २ पुकार करो ॥३५॥३६॥

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरत हरि को नाम ।

सूली ऊपर नट बिधा, गिरै तो नाहीं टाम ॥३७॥

प्रभु नाम सुमिरन में खरे खरी कठिनाइयाँ हैं। यह तो नट वत् बिना सहारा सूली परका खेल है, जरा सा चूका कि गया ॥ ३७ ॥

लम्बा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार ।

कहो सन्त क्यों पाइये, दुर्लभ गुरु दीदार ॥३८॥

सदगुरु का देश बहुत दूर है । रास्ता भी बहुत विघ्न वाला विकट और लम्बा है इसलिये सदगुरु का दर्शन दुष्कर है कहो कैसे प्राप्त किया जाय ? ।। ३८ ।।

घटहि राम की आस करु, दूजी आश निरास ।
बसै जु नीर गँभीर में, क्यों वह मरै पियास ।।३९।।
जा घट प्रीत न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं राम ।
जे नर पशु संसार में, उपजि मरे बेकाम ।।४०।।

दूसरे से उदासीन हो घटमें रमनेवाला रामकी आशा करो अगाध जलमें रहनेवाला प्यासे क्यों मरेगा ? हर्गिज नहीं। जिसके हृदयमें प्रीति युत प्रेम रस और जिह्वा पर रामका नाम नहीं है वह नर पशु है उसका जन्म जगत् में व्यर्थ है ।। ३९ ।। ४० ।।

जैसे माया मन रमै, तैसा राम रमाय ।
तारा मण्डल बेधि के, तब अमरापुर जाय ।।४१।।
ज्ञान दीप परकाश करि, भीतर भवन जराय ।
तहाँ सुमिर गुरु नाम को, सहज समाधि लगाय ।।४२।।

जिस प्रकार मन मायामें रमता है इसी प्रकार यदि राममें रमेगा तबही तारामण्डलको बेधके अमर धामको जायगा । और अन्दर हृदय भवनमें ज्ञान दीपक जलाके वहाँ ही गुरु-ज्ञान के विचार रूपी सहज समाधि लगाके स्थिर हो जाय ।। ४१ ।। ४२ ।।

एक राम को जानि करि, दूजा देइ बहाय ।
तीरथ ब्रत जप तप नहीं, सतगुरु चरण समाय ।।४३।।

एक आत्मरूप रामको जानिके दूसरे तीर्थ व्रतादि की झंझट छोड़ दे, केवल सदगुरु-चरणोंमें वृत्ति लगाय रक्खे ।। ४३ ।।

सुरति समावे राम में, जग से रहे उदास ।
कहैं कबीर गुरु चरण में, दृढ़ राखो विश्वास ।।४४।।

अस औसर नहि पाइहो, धरो राम कड़िहार ।

भौ सागर तरि जाव जब, पलक न लागे बार ॥४५॥

संसारसे उपराम वृत्तिकर चित्स्वरूप राममें लगाओ कबीर गुरु कहते हैं, सदगुरु चरणमें दृढ़ विश्वास रक्खो। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा नाव खेवइया रामका नाम हृदयमें धारण करो। देरी नहीं लगैगी क्षणमात्र में संसार सिन्धु पार हो जावोगे ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कोटि करम कटि पलक में, रंचक आवै राम ।

जुग अनेक जो पुन्य करु, नहीं राम बिनु ठाम ॥४६॥

सपने में बरराइ के, धोखे निकरै राम ।

वाके पग की पानही, मेरे तन को चाम ॥४७॥

जन्मान्तरोंका संचित कर्म समुदाय क्षण मात्रमें निवृत्त हो जायगा यदि लव मात्र भी वृत्ति राममें प्रवृत्त हो जाय। यों चाहे अनेकों युग पुण्य कर्म किया करो, राम बिना स्थिति कहीं नहीं ॥ धोखाही से स्वप्न अवस्थामें बरबराता हुआ रामका नाम यदि मुखसे निकल आवे तो अपने तनकी चाम बराबर उसकी पग पनही समझो ॥४६॥४७॥

जाकी गाँठी राम है, ताके हैं सब सिद्धि ।

कर जोर ठाढ़ी सबै, अष्ट सिद्धि नव निद्धि ॥४८॥

जिसकी गिरहमें राम रत्न है उसके पास अष्ट सिद्धि और नव निधियाँ सब हाथ जोड़े हाजिर रहती हैं ॥ ४८ ॥

सुख के माथे शिल परै, राम हृदे से जाय ।

बलिहारी वा दुःख की, पल पल राम रटाय ॥४९॥

लेने को गुरु नाम है, देने को अंन दान ।

तरने को है आधीनता, बूड़न को अभिमान ॥५०॥

उस मुखके ऊपर पत्थर पडो, जिससे कि रामका चिन्तन हृदय से चला जाय। उस दुखही की बलिहारी है जिसमें सद्गुरु का नाम बारम्बार याद आता है ॥ बस! गुरु का नाम लो और अन्नका दान दो। तरनेके लिये दीनता और बूड़नेके लिये अभिमान है ॥ ४९ ॥ ५० ॥

लूटि सकै तो लूट ले, राम नाम की लूट ।
फिर पाछे पछिताहुगे, प्राण जाहिंगे छूट ॥५१॥
लूट सकै तो लूटि ले, राम नाम की लूट ।
नामजु निरगुण को गहो, नातर जैहो खूट ॥५२॥

राम नाम की लूट है यदि समर्थ है तो लूट लो। नहीं तो प्राण छूटने पर पछताना ही होगा ॥ त्रिगुण संसार है भलाई चाहो तो निर्गुण राम को लूटो नहीं तो टोटा सहोगे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

कहैं कबिर तू लूट ले, राम नाम भण्डार ।
काल कंठ को जब गहे, रोके दशहूँ द्वार ॥५३॥
कबिर निर्भय राम जपु, जब लग दीवे बाति ।
तेल घटे बाती बुझै, सोवोगे दिन राति ॥५४॥

गुरु कबीर कहते हैं राम नाम खजाना खुला है अभी चाहो तो ले सकते हो। किन्तु जब दशों द्वार रोककर काल कण्ठ दबायेगा उस वक्त कुछ न बसायगा। निर्भय रामका नाम वहाँही तक जप लो जब लग शरीर रूपी दीपक में आयु रूपी तेल से प्राण रूपी बत्ती जल रही है। तेल चूकने पर बत्ती बुझ जायगी फिर तो दिनरात सोना ही होगा ॥५३॥५४॥

कबीर सूता क्या करै, जागि जपो मुरारि ।
एक दिना है सोवना, लम्बे पाँव पसारि ॥५५॥
कबीर सूता क्या करै, उठि न भजो भगवान ।
जम घर जब ले जायँगे, पड़ा रहेगा म्यान ॥५६॥

ऐ कबीरो ! क्यों सोये हो ? उठो, प्रभुको भजो। एक दिन (मरने पर) तो लम्बे पांव पसार कर गहरी नींद सोना ही है। इसलिये अभी क्यों सोते हो ? उठो भगवानको भजो। जब मृत्यु पकड़ ले जायगी तब शरीर रूप म्यान या कोष सब पड़ा ही रह जायगा ॥५५॥५६॥

कबीर सूता क्या करै, गुण सतगुरु का गाय ।
तेरे शिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाय ॥५७॥

कबीर सूता क्या करै, सूते होय अकाज ।
ब्रह्मा को आसन डिग्यो, सुनी काल की गाज ॥५८॥

ऐ कबीरो ! सूतो मत, सद्गुरु का गुण स्मरण करो । तेरे शिर पर यम कबसे खड़ा है और गाँठ का खर्च खा रहा है । इसलिये मत सोवो, सोने से कल्याण कार्य में हानि होगी । अरे ! काल की गर्जना से तो ब्रह्मा का आसन भी हिल जाता है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

कबीर सूता क्या करै, ऊठि न रोवो दूख ।
जाका बासा गोर में, सो क्यों सोवे सूख ॥५९॥
कबीर सूता क्या करै, जागन की कर चौंप ।
ये दम हीरा लाल है, गिन गिन गुरुको सौंप ॥६०॥

ऐ कबीरो ! उठो, अपना दुख सद्गुरु को सुनावो ! कबर में निवास करने वाला सुख निद्रा कैसे सोयेगा ! अतएव जागने की चिन्ता करो इस श्वासरूपी हीरा लाल को एक एक गिन के गुरु को सपुर्द कर फाखंती ले लो ॥५९॥ ६० ॥

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि ।
जाके संग ते बीछुरा, ताहि के संग लागि ॥६१॥
अपने पहरे जागिये, ना परि रहिये सोय ।
ना जानौ छिन एक में, किसका पहरा होय ॥६२॥

ऐ कबीरो ! क्या सोये पड़े हो, जागकर क्यों नहीं देखते ? जिस आत्मस्वरूपके संगसे बिछुड़े हो उसमें पुनः क्यों नहीं मिलते हो ? अपने पहरे में जागो, अलसा कर मत सो रहो । क्या खबर ! पल भरमें किसका पहरा होगा ॥६१-६२॥

नींद निशानी मीच की, ऊठु कबीरा जाग ।
सुखके रसायन छाँड़िके, राम रसायन लाग ॥६३॥
सो[illegible] निष्फल गया, जागा सो फल लेहि ।
[illegible]हिब [illegible] न राखसी, जब माँगे तब देहि ॥६४॥

नींद मौत की निशानी है, ऐ कबीरो ! उठ बैठो। अन्य रसायन को छोड़ दो केवल राम रसायन ग्रहण करो ।। जिन सोया तिन खोया, जागा सो फल पाया । साहिब किसी का हक नहीं मारते माँगते ही दे देते हैं ।।६३-६४।।

केशव कहि कहि कूकिये, ना सोइये असरार ।
रात दिवस के कूकते, कबहुँक लगै पुकार ।।६५।।

बार बार प्रभु के नामका चिन्तन करो बेफिक्र मत सो रहो। अहो रात्र के बिलापसे कभीं तो प्रभु लग पुकार पहुँचेगी ।।६५।।

कबिर क्षुधा है कूकरी, करत भजन में भंग ।
वाकूँ टुकड़ा डारि के, सुमिरन करूँ सुरंग ।।६६।।

ऐ कबीरो ! भजन में भंग पड़ने वाली क्षुधारूपी कूकरी को प्रथम टुकड़ी डाल दो फिर एक तार सुमिरन करो ।।६६।।

गिरही का टुकड़ा बुरा, दो दो आँगुल दाँत ।
भजन करै तो ऊबरे, नातर काढ़ै आँत ।।६७।।

संसारीका टुकड़ा बड़ा बुरा है, उसे दो दो अंगुल का दाँत है, भजनानन्दी उसे पचाते है। बेकार खाने वाले को अँतड़ी तक निकाल डालती है ।।६७।।

बाहिर क्या दिखलाइये, अन्तर जपिये राम ।
कहा महोला खलक सों, पर्यो धनी सों काम ।।६८।।

बाहर दिखानेकी कोई जरूरत नहीं हृदयमें राम का नाम जपो मालिक से प्रयोजन है, संसार से क्या मतलब ।।६८।।

गोविंद के गुण गावता, कबहु न कीजै लाज ।
यह पद्धति आगे मुक्ति, एक पंथी स्वै काज ।।६९।।

प्रभुके नाम लेनेमें लज्जा कदापि न करें, इस मार्गसे आगे मुक्ति मिलती है अतएव यहाँ एकही मार्ग में परम्परा पथका और मुक्ति दोनों कार्य की सिद्धि है ।।६९।।

गुण गाये गुण ना कटै, रटै न नाम वियोग ।
अहिनिशिगुरुध्यायो नहिं, (क्यों) पावै दुरलभयोग ॥७०॥

जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ नहीं साफ होता इसी प्रकार त्रिगुण माया के गुण गानेसे जन्मादि बन्धन नहीं कटता । एक संसार से उपराम हो निशिदिन सद्‌गुरुके नाम स्मरण और ध्यान बिना दुष्कर योगको कोई कैसे पायगा ? ॥७०॥

सुमिरण मारग सहजका, सतगुरु दिया बताय ।
साँस साँस सुमिरण करूँ, इक दिन मिलसी आय ॥७१॥
सुमिरण से सुख होत हैं, सुमिरण से दुख जाय ।
कहैं कबिर सुमिरण किये, साँई माँहि समाय ॥७२॥

सुमिरणका सरल मार्ग सद्‌गुरुने इस तरह बतला दिया है कि प्रत्येक श्वास में अन्तर्यामी राम का नाम लो वह स्वयं एक दिन आ मिलेगा । सुमिरन करनेसे सुख आता और दुख चला जाता है, अतः स्वामी में वृत्ति समाकर सुमिरन करो ॥७१॥७२॥

सुमिरण की सुधि यौं करो, जैसे कामी काम ।
एक पलक बिसरै नहीं, निशदिन आठौ जाम ॥७३॥

सुमिरनकी सुधि (चेत) इस प्रकार करो जिस प्रकार कामी पुरुष कामनाओं की । एक क्षण भी नहीं भूलता सदैव चिन्तित रहता है ।७३।

सुमिरणकी सुधि यौं करो, ज्यौं गागर पनिहारि ।
हालै डोलै सुरति में, कहैं कबीर विचारि ॥७४॥

सुमिरन की सुधि इस प्रकार करो जिस तरह पनिहारी गागर को रखती है । म[illegible] में हिलती डोलती भी उसे नहीं भूलती ॥७४॥

सुमिरन क[illegible]धि यौं करो, ज्यौं सुरभि सुत माँहि ।
कहैं क[illegible] चारा चरत, बिसरत कबहूं नाँहि ॥७५॥

सुमिरन की [illegible]ता इस प्रकार करो जिस प्रकार गाय बछड़े को । चारा भी चरती है तो भी कभी नहीं बिसरती है ॥७५॥

सुमिरन की सुधि यौं करो, जैसे दाम कंगाल ।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, पल पल लेत सँभाल ॥७६॥

सुमिरनकी खबर इस तरह लो जिस तरह दरिद्र पैसे की । वह कभी भी नहीं भूलता बारम्बार सँभालता है ॥७६॥

सुमिरन की सुधि यौं करो जैसे नाद कुरंग ।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, प्राण तजै तिहि संग ॥७७॥

सुमिरनकी सुधि इस प्रकार करो जिस प्रकार मृगा शब्दकी । उसके साथ वह प्राण त्याग देता है किन्तु भूलता नहीं ॥७७॥

सुमिरन सों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग ।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तिहि रंग ॥७८॥

सद्गुरु—सुमिरन में इस प्रकार मन लगावो जिस प्रकार कीट भृङ्ग में लगाता है । और अपने आपको भुलाकर वही रूप बन जाता है ॥७८॥

सुमिरन सों मन लाइये, जैसे दीप पतंग ।
प्राण तजे छिन एक में, जरत न मोरै अंग ॥७९॥

चित्तवृत्तिको सुमिरनमें इस तरह लगाव जिस तरह पतंग दीपकमें जलनेसे नहीं डरता पलमें प्राण त्याग देता है ॥७९॥

सुमिरन सो मन लाइये, जैसे पानी मीन ।
प्राण तजै पल बीछुरे, सत्य कबीर कहि दीन ॥८०॥

सुमिरनमें वृत्ति इस प्रकार लगावो जिस प्रकार मछली पानी में । वह पानीका वियोग पल मात्र भी नहीं सहती यह सत्य कबीरने सत्य ही बचन कहा है ॥८०॥

सुमिरन सों मन जब लगै, ज्ञानांकुस दे सीस ।
कहैं कबिर डोलै नहीं, निश्चै बिस्वा बीस ॥८१॥

सुमिरन मन लागै नहीं, विषहि हलाहल खाय ।
कबीर हटका ना रहै, करि करि थका उपाय ॥८२॥

सुमिरनमें मन तबही लगेगा जब ज्ञान अंकुश शिर पर दोगे, फिर इधर उधर नहीं डोलेगा यह पूर्ण निश्चय कर लो। ज्ञान अंकुश बिना मन सुमिरन में नहीं लगेगा जहरीला विषयही खाने दौड़ेगा, चाहे करोड़ों उपाय करो हटका नहीं मानेगा ॥८१॥८२॥

सुमिरन माँहि लगाय दे, सुरति आपनी सोय।
कहैं कबिर संसार गुण, तुझे न व्यापै कोय ॥८३॥

ज्ञानांकुश देकर अपनी वृत्तिको ध्यान में लगा दे फिर तुझे संसार का संशय गुण नहीं लगेगा ॥ ८३ ॥

सुमिरन सुरति लगाय के, मुख ते कछू न बोल।
बाहर के पट देय के, अन्तर के पट खोल ॥८४॥

चित्ति स्वरूप में वृत्ति लगा दो मुख से कुछ बोलने की जरूरत नहीं, बाहर के नेत्र बन्द कर हृदय-दृष्टिका पलक उघाड़ कर देखो ॥ ८४ ॥

सुमिरन तू घट में करै, घट ही में करतार।
घट ही भीतर पाइये, सुरति शब्द भण्डार ॥८५॥

तेरा मालिक तेरे घट में है अन्दर ही उसका सुमिरन करो मिल जायगा, ध्यानसे देखो शब्दका खजाना भी अन्दर ही है ॥ ८५ ॥

राजा राणा राव रँक, बड़ो जु सुमिरै राम।
कहैं कबिर सब सों बड़ा, जो सुमिरे निहकाम ॥८६॥

मालिक के ध्यान में राजा, रंकका कोई हिसाब नहीं, जो कामना रहित रामका नाम लेता है वही सबसे बड़ा है ॥ ८६ ॥

सहकामी सुमिरन करै, पावै उत्तम धाम।
निहकामी सुमिरन करै, पावै अविचल राम ॥८७॥
जप तप संयम साधना, सब कुछ सुमिरन माँहिं।
कबीर जाने भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाँहिं ॥८८॥

कामना युक्त सुमिरन करनेसे उत्तम लोक भोग को प्राप्त होता है और कामना रहित को अविनाशी अन्तर्यामी राम ही मिलता है ॥ सद्-

गुरुके सुमिरनमें जप तप और सब ही साधन भरे हैं, इसके समान दूसरा कुछ नहीं है। इस रहस्य को भक्त लोग जानते हैं ॥८७॥८८॥

थोड़ा सुमिरन बहुत सुख, जो करि जानै कोय।
हरदी लगे न फिटकरी, चोखा ही रंग होय ॥८९॥
ज्ञान कथे बकि बकि मरै, काहे करै उपाय।
सतगुरु ने तो यों कहा, सुमिरन करो बनाय ॥९०॥

थोड़ेहीसुमिरनसे बहुत सुखका लाभ होता है, यदि कोई इसे करने की विधि जाने। हरदी,फिटकिरी बिनाही सुन्दर रंग होता है। भाव है कि कर्म, योगादिकी तरह भक्ति में विशेष अड़चन नहीं होती सब कोई सरलता से कर सकता है। चित्त वृत्तिके एकाग्रबिना ज्ञानादिका कथन और उपाय व्यर्थ है। विषयोंसे वृत्ति निरोध कर अन्तर अविनाशीका भलीभाँति ध्यान करना, यहि सद्गुरु का कथन है ॥ ८९ ॥ ९० ॥

कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत मधि सोधिया, दूजा देखा काल ॥९१॥

ऐ कबीरो। आत्मचिन्तनही सार है और सब कालका जंजाल है। आदि, अन्त, मध्य सर्वत्र मैंने भलीभाँति शोधकर देख लिया है ॥९१॥

कबीर हरि हरि सुमिरिले, प्राण जाहिंगे छूट।
घर के प्यारे आदमी, चलते लेंगे लूट ॥९२॥
कबीर चित चंचल भया, चहुँदिशि लागी लाय।
गुरु सुमिरन हाथे घड़ा, लीजै बेगि बुझाय ॥९३॥

ऐ कबीरो ! प्रभुका नाम लो संसार में प्रिय कोई नहीं सब लुटारे हैं, प्राण बियोग होते ही सब लूट लेंगे। चित्त वृत्ति की चंचलता से चारों ओर अग्नि लगी है। उसे सद्गुरु के चिन्तन रूपी घड़ा से शीघ्र शान्त करो ॥ ९२॥९३॥

कबीर मेरी सुमिरनी, रसना ऊपर राम।
आदि जुगादि भक्ति है, सबका निज बिसराम ॥९४॥

ऐ कबीरो ! सदा रसना ऊपर राम रहे वही मेरी सुमिरनी है सबके अपने विश्रान्तिका स्थान अनादि कालकी एक भक्ति है ॥ ९४ ॥

कबीर मुख से रामकहु, मनहि रामको ध्यान ।
रामक सुमिरन ध्यान नित, यही भक्ति यहि ज्ञान ॥९५॥

ऐ कबीरो । यही भक्ति और ज्ञान है कि सदा मुखमें, मनमें, ध्यान में रामही का नाम हो ॥९५॥

जीना थोड़ा ही भला, हरिको सुमिरन होय ।
लाख बरस का जीवना, लेखै धरै न कोय ॥९६॥
निज सुख आतम राम है, दूजा दुःख अपार ।
मनसा वाचा करमना, कबीर सुमिरन सार ॥९७॥

थोड़े ही जीना अच्छा है, उसमें गुरुका चिन्तन होता है । सुमिरन बिना लाख वर्षका जीवन बिना हिसाब व्यर्थ है । अपना सुख स्वरूप अन्तर राम है और सब दुःख रूप है । इसलिये उसी परम प्रभुको मन, बचन और कर्मसे सुमिरन करना चाहिये ॥९६॥९७॥

दुखमें सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय ।
जो सुखमें सुमिरन करै, दुख काहे को होय ॥९८॥
सुखमें सुमिरन ना किया, दुख में कीया याद ।
कहैं कबीर ता दास की, कौन सुनै फरियाद ॥९९॥

बिपत्तिमें सबही रामकी पुकार करते किन्तु सुख सम्पत्तिमें कोई भी नहीं । यदि सुखमें सुमिरन करें तो दुख ही क्यों होवे ? कबीर गुरु कहते हैं कि उसकी पुकार कोई नहीं सुनता जो दुखमें करता और सुख में नहीं ॥

साँइ सुमिर मति ढील कर, जो सुमिरे ते लाह ।
इहाँ खलक खिदमत करै, उहाँ अमरपुर जाह ॥१००॥
साँइ यौं मति जानियो, प्रीति घटे मम चीत ।
मरूँ तो सुमिरत मरूँ, जीयत सुमिरूँ नीत ॥१०१॥

स्वामीके सुमिरन में लाभ है आलस मत करो। यहाँ संसार सेवा करेगा आगे अमर धामका रास्ता खुलेगा ॥ स्वामिन् ! ऐसा मत जानिये कि मेरे हृदयमें प्रीति कम है, मैं जीते जी सदा आपका नाम स्मरण करता हुआ प्राण त्यागूंगा ॥१००॥१०१॥

साँई को सुमिरन करै, ताको बन्दे देव।
पहली आप उगावही, पाछे लागै सेव ॥१०२॥
चिन्ता तो गुरु नाम की, और न चितवै दास।
जो कुछ चितवै नाम बिनु, सोइकाल की फाँस ॥१०३॥

स्वामीके सुमिरन करने वालेको देवता स्तुति करता है। किन्तु प्रथम अपना कर्तव्य पालन करना होता है पीछे सेवा होती है। ऐ भक्तों! एक प्रभु नामकी चिन्ता रक्खो और की जरूरत नहीं,प्रभु चिन्तन बिना सब कालका बन्धन है ॥१०२-१०३॥

मन जो सुमिरे राम को, राम बसै घट आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, शीष नवाऊँ काहि ॥१०४॥
तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँय।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूयँ ॥१०५॥

मन रामका नाम जपता है, राम हृदय में रहता है। अब तो मन राम रूप ही हो गया फिर जाप किसके जपना ?॥ ऐ प्रभु! तेरा नाम लेते २ मेरे में मुझता (अहन्ता ममता) ही न रही, बलिहारी है तेरे नामकी जहाँ है तहाँ तुहीं तू है ॥१०४॥१०५॥

तू तू करता तू भया, तुझ में रहा समाय।
तुझ माँहीं मन मिलि रहा, अबकहुँ अनत न जाय ॥१०६॥

तेरे नाम स्मरण के प्रभाव से मैं तेरा ही हो गया। तेरे स्वरूप में मन मिल गया अब कहीं विलग नहीं होता ॥१०६॥

रग रग बोले रामजी, रोम रोम (र) रंकार।
सहजे ही धुन होत है, सोई सुमिरन सार ॥१०७॥

सहजे ही धुन होत है, पल पल घटही माँहि।
सुरति शब्द मेला भया, मुखकी हाजत नाँहि ॥१०८॥

वही सुमिरनका सार है जो नस२ और रोम २ में स्वाभाविक रकार मकारकी ध्वनि होती है। हरदम हृदय के अन्दर स्वाभाविक ध्वनि होती है। जब अपने लक्ष्य में मनोवृति प्रवेश करती है तब मुखकी जरूरत नहीं रहती ॥१०७-१०८॥

अजपा सुमिरन घट विषे, दीन्हा सिरजन हार।
ताही सो मन लगि रहा, कहैं कबीर बिचार ॥१०९॥
साँस साँस पर नाम ले, वृथा साँस मति खोय।
न जानै इस साँस को, आवन होय न होय ॥११०॥

सद्गुरुने उपांसु जाप घटही में दिखलाया है, उसीमें मन लग रहा है। और कबीर विचार कर यह भी कहते हैं कि, प्रत्येक श्वास पर नाम लो व्यर्थ एक भी मत जाने दो कौन जानता है इसका आना जाना कब रुक जाय ॥१०९॥११०॥

साँस सुफल सो जानिये, जो सुमिरन में जाय।
और साँस यौं ही गये, करि करि बहुत उपाय ॥१११॥
कहा भरोसा देह का, बिनसि जाय छिन माँहि।
साँस साँस सुमिरन करो, और जतन कछु नाँहि ॥११२॥

वही श्वास सार्थक जानो जिसमें गुरुका नाम लिया और तो यों ही व्यर्थमें चला गया, जो दूसरे व्यवसाय में गमाया। इस क्षणभंगुर शरीर का क्या भरोसा ? पल पल गुरुका नाम लो और कुछ मत करो॥ "और जतन कछुवो मति करहू। केवल साहिब पारख लहहू" इति पंच ग्रन्थी ॥१११॥११२॥

जाकी पूँजी साँस है, छिन आवै छिन जाय।
ताको ऐसा चाहिये, रहे नाम लौ लाय ॥११३॥
कहता हूँ कहिजात हूँ, कहूँ बजाये ढोल।
श्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल ॥११४॥

जो जीवनकी पूँजी श्वासको ही समझता उसे उचित है कि राममें वृति लगावे। इस रहस्यको मैंने बहुते कहा और फिर भी सचेत कर रहा हूँ कि नाम के बिना श्वास व्यर्थ जा रहा है जिसका मोल तीन लोकमें भी नहीं है ॥११३॥११४॥

ऐसे महँगे मोलका, एक साँस जो जाय।
चौदह लोक न पटतरै, काहे धूर मिलाय ॥११५॥
माला साँस उसाँसकी, फे रो (इ) निज दास।
चौरासी भरमै नहीं, कटै करम की फांस ॥११६॥

ऐ मनुष्यो! जिसके समान चौदहों भुवन में भी कोई नहीं है ऐसे बहुमूल्य श्वासको धूल में क्यों मिलाते हो। प्रत्येक श्वास का मनका बना के सद्गुरु नामका जप करो। यही सद्गुरु—सेवकका कर्तव्य है इसीसे चौरासी का कर्म वन्धन कटता है ॥११५॥११६॥

माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारिदे, मन का मनका फेर ॥११७॥

करका मनका फिराते तो युगों बीत गये मन विषयों से नहीं फिरा, इसलिये उसे छोड़ो और मनही का मनका फिराओ ॥ ११७ ॥

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहिं।
मनवा तो दहुदिशि फिरै, यह तौ सुमिरन नाँहिं ॥११८॥
माला फेरूँ न हरि भजूँ, मुख से कहूं न राम।
मेरा हरि मोको भजै, तब पाऊँ बिसराम ॥११९॥

सुमिरनका यह मतलब नहीं है कि माला हाथ में फिरे व जीभ मुख में हिले और मनोवृत्तिदशों दिशा प्रपंचमें फिरे॥ मैं तो न इसप्रकार माला फिराऊं न हरि भजूँ न मुख से रामही कह सकता। मैं तो उस सुमिरन में आराम मानता हूँ जिसमें मेरा राम मेरेको भजे ॥ ११८ ॥ ११९ ॥

माला मोसे लड़ि पड़ी, का फेरत है मोहि।
मन की माला फेरि ले, गुरु से मेला होय ॥१२०॥

माला फेरै कहि भयो, हिरदा गांठि न खोय।
गुरु चरणन चित राखिये, तो अमरापुर जोय ॥ १२१ ॥

मेरेसे माला रुष्ट होके कहने लगी मुझे तू बार बार क्यों फिराता है अपने मन का मनका फिराओ शीघ्र गुरु से मिलाप हो जायगा ॥ माला फिराने से कुछ न होगा जब तक हृदय की ग्रन्थी नहीं खुलेगी। सद्गुरु-चरणोंमें चित्त लगाओ और अमर धामकी शोभा देख लो ॥१२०॥२२१

कबीर माला काठ की, बहुत जतन का फेर।
माला सांस उसांस की, जामें गांठ न मेर ॥ १२२ ॥
क्रिया करै अँगुरि गिनै, मन धावै चहुँ ओर।
जिहि फेरै सांई मिलै, सो भय काठ कठोर ॥ १२३ ॥

ऐ कबीरों! काठकी माला फिरानेमें बड़ी तरद्दुद है माला तो सरल श्वास उश्वास की है जिसमें न गाँठ न सुमेर है ॥ कोई अमरोली आदि क्रिया करता तो कोई अँगुली जप का हिसाब करता है किन्तु मन चारों दिशामें दौड़ धूपका और ही हिसाब बैठा रहा है जिसके फिराने से स्वामी मिलता है वह मन तो महा कठोर बना है ॥ १२२॥१२३ ॥

तन थिर मन थिर बचन थिर,सुरति निरति थिर होय।
कहैं कबिर उस पलक को, कल्प न पावै कोय ॥ १२४ ॥
जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नहि खाय ॥ १२५ ॥

तन, मन, बचन सहित चित्त वृत्ति स्थिर हो जो स्वरूप को चिन्तन करती है उसीका नाम सुमिरन है, कबीर गुरु कहते हैं उस क्षणका कल्प भी नहीं पा सकता। जिसकी वृत्ति स्वरूप में लीन हो गई उसे जाप, अजपा और अनाहत् शब्दसे कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि उसे काल नहीं खाता ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

बिना साँच सुमिरन नहीं,(बिन) भेदी भक्ति न सोय।
पारस में परदा रहा, (कस) लोहा कंचन होय ॥ १२६ ॥

सत्स्वरूपके ज्ञान बिना सुमिरन और रहस्य ज्ञान बिना भक्ति नहीं होती। क्योंकि पारस में बाल भर भी अन्तर रहनेसे लोहा सोना नहीं बनता ॥ १२६ ॥

देखा देखी सब सहै, भरो भये हरिनाम।
अरधरात को (इ) जन कहै, खाना जाद गुलाम ॥ १२७॥

सबेरा होने पर तो देखा देखी सब लोग राम २ कहते हैं किन्तु आधी रात को तो निज घरका भेदी कोई एक भक्त ही राम धुन लगाता है ॥ १२७ ॥

कहता हूँ कहि जात हूं, सुनता है सब कोय।
सुमिरन सो भल होयगा, नातर भला न होय ॥ १२८ ॥
कबीर माला काठ की, पहिरो मुगद डुलाय।
सुमिरन की सुधि है नहीं, (ज्यौं) डींगर बाँधी गाय ॥ १२९ ॥

मैं कहता हूँ और कहते जाता हूँ सब कोई सुन भी रहा है कि सुमिरन के सिवा भलाई किसी में भी नहीं॥ तो भी अज्ञानी लोग काठकी माला पहिनकर सुमिरन ज्ञान बिना हरही गायके गलेकी डिंगर की तरह डोलता फिरता है ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

सुरति फँसी संसार में, ताते परिगौ दूर।
सुरति बाँधि अस्थिर करो, आठों पहर हजूर ॥ १३० ॥

मनोवृत्ति संसार में फंसी हैं इसलिये अपना प्रभु दूर पड़ गया है, सुरति को विषयों से निवृत्त कर स्थिर करो वह तो हर वक्त हाजिर हजूर है ॥ १३० ॥

बाद विवादाँ मत करो, करु नित एक विचार।
नाम सुमिर चितलायके, सब करनी में सार ॥ १३१ ॥
वाद करै सो जानिये, निगुरे का वह काम।
संतों को फुरसत नहीं, सुमिरन करते राम ॥ १३२॥

किसीसे व्यर्थ वादविवाद मत करो सदा एक आत्म स्वरूपका

विचार करो। चित्त लगाके गुरुका नाम लो यही सबका सार है॥ वादविवाद करना गुरु विमुखोंका काम है, सन्तोंको तो राम सुमिरनसे ही फुरसत नहीं॥ १३१॥ १३२॥

कबीर सुमिरन अंग को, पाठ करै मन लाय।
विद्याहिन विद्या लहै, कहैं कबिर समुझाय॥ १३३॥
जो कोय सुमिरन अंगको, पाठ कर मन लाय।
भक्ति ज्ञान मन ऊपजै, कहैं कबीर समुझाय॥ १३४॥

ऐ नरजीवो! सुमिरन अङ्गको मन लगाकर चिन्तन करनेसे विद्या-हीन विद्या को प्राप्त करता है और उसके हृदयमें ज्ञान जनक भक्ति भी उत्पन्न होती है। इस बातको कबीरगुरु समझाकर कहते हैं॥१३३॥१३४॥

जो कोय सुमिरन अंगको, निशिवासर करै पाठ।
कहैं कबीर सो संत जन, सन्धै औघट घाट॥ १३५॥

इस सुमिरन अङ्गको जो कोई दिन रात पाठ करता है कबीर गुरु कहते हैं वही सन्त औघट घाट (आत्मस्वरूप) में प्रवेश करता है॥१३५॥

इति श्री सुमिरनको अङ्ग॥ १३।

अथ परिचयको अङ्ग ॥ १४ ॥

पिव परिचय तब जानिये, पिव सों हिलमिल होय।
पिवकी लाली मुख परै, परगट दीसै सोय ॥ १ ॥

साहिब का जानकार तबही जानो जब साहिब से मेल हो और उसका चिह्न प्रसन्नता है जो जानकारके चेहरेपर प्रत्यक्ष झलकती है॥१॥

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥ २ ॥
जिन पाँवन भुइं बहु फिरै, घूमें देश विदेश।
पिया मिलन जब होइया, आँगन भया विदेश ॥ ३ ॥

जहाँ देखूँ तहाँ प्रभु की शोभा है और उसे देखते २ मैं भी वही रूप हो गया। जिन पगोंसे मैंने देश और विदेशोंमें बहुतेरे भ्रमण किया अब मालिकका दर्शन होनेसे वहीं आँगन भी विदेश प्रतीत होता है॥२॥३॥

उलटि समानी आप में, प्रगटी जोति अनंत।
साहिब सेवक एक संग, खेलें सदा बसंत ॥ ४ ॥

वृत्ति उलट कर जब आपमें समाई तब अखण्ड स्वरूपका प्रकाश प्रत्यक्ष हो गया और स्वामी सेवक का वसन्त बिहार एक संग होने लगा ॥४॥

जोगी हूआ झक लगी, मिटि गइ ऐंचातान।
उलटि समाना आप में, हूआ ब्रह्म समान ॥ ५ ॥
हम वासी वा देश कै, जहाँ पुरुष की आन।
दुख सुख कोइ व्यापै नहीं, सब दिन एक समान ॥ ६ ॥

योगी बन गया ध्यानकी धुन लग गई मतवाद की खैंचतान जाती रही। वृत्ति उलटकर आपमें लय हुई और राग-द्वेष-रहित जैसा का

तैसा हो गया। हम उस देश के निवासी हुये जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तमकी मर्यादा (हद्द) है वहाँ हर्ष, शोक, मन का धर्म्म नहीं व्याप्ता, सब दिन एक समान रहता है ॥ ५ ॥ ६ ॥

हम वासी वा देश के, गगन धरण दुइ नांहि।
भौंरा बैठोपंख बिन, देखो पलकौं मांहि ॥ ७ ॥

हमउस देशके निवासी हैं जहाँ शीश और धड़ दो नहीं हैं बिना पंख का मनभंवरापलकोंमेंपलक उलटकरमालिकके ध्यानमें निमग्न हो गया ॥७॥

हम वासी वा देश के, जहां ब्रह्म का कूप।
अविनाशी विनसै नहीं, आवै जाय सरूप ॥ ८ ॥

हम उस अखंड ज्ञान कुण्डके निवासी हैं जहाँ परिणामी रूप का परिवर्त्तन होने पर भी जिसका नाश कभी नहीं होता ॥ ८ ॥

हम वासी वा देश के, आदि पुरुष का खेल।
दीपक देखा गैब का, बिन बाती बिन तेल ॥ ९ ॥
हम वासी वा देश के, बारह मास बिलास।
प्रेम झरै बिगसै कमल, तेज पुञ्ज परकास ॥ १० ॥

हम उसी देशके हैं जहाँ आदि पुरुषका स्वयं विनोद है। उस अजब देशके दीपकको बिना बत्ती तेलका जलता देखा ॥'आतम ज्योति जले दिन राती, नहीं कछु चाहिये दिवा घृत बाती ॥' वहाँ बारहो महीना आनन्द होता है। प्रेम रसके झरनेसे हृदय कमल प्रफुल्लित होता है। और आतमस्वरूपका ज्योति समूह प्रकाशित करता है ।९॥१०॥

हम वासी वा देश के, जाति बरन कुल नाँहि।
शब्द मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नाँहि ॥ ११ ॥

'ऊँच नीच कुल की मर्यादा, आश्रम वर्ण विचारा।
धर्म अधर्म्म किछुवो नहिं तहवां, संयम नियम अचारा ॥'

"सन्तो ! सो निज देश हमारा" इस बचन के अनुसार गुरु कबीर कहते हैं हमारा वह देश है जहाँ मिथ्या वर्णादिकी व्यवस्था नहीं है उस देशका मिलाप केवल सार शब्द से होता है, शरीर से नहीं ॥ ११ ॥

हम वासी वा देश के, रूप वरन कछु नाँहि ।
सैन मिलावा ह्वै रहो, शब्द मिलावा नाँहि ॥ १२ ॥

"पाँच तत्त्व गुण तीन तहाँ नहिं, नहिं तहाँ सृष्टि पसारा ।
तहाँ न माया कृत प्रपञ्च यह, लोग कुटुम परिवारा ॥'
'सन्तो ! सो निज देश हमारा' ॥ कहते हैं हम उस देशके वासी हैं, जहाँ मायाकृत नाम रूप कुछ नहीं हैं उस देशका सम्बन्ध केवल इशारा से होता है वर्णात्मक शब्द से नहीं ॥ १२ ॥

संसै करौं न मैं डरौं, सब दुख दिये निवार ।
सहज शुन्न में घर किया, पाया नाम अधार ॥ १३ ॥

'संशय सब जग खंडिया' के अनुसार न मैं संशय करता न डरता हूँ, मैंने दुख-सुखका निर्णय कर ज्ञान के आधार से निराधार स्वरूप में घर कर लिया ॥ १३ ॥

बिन पाँवन का पंथ है, बिन बस्ती का देश ।
बिना देह का पुरुष है, कहैं कबीर सन्देश ॥ १४ ॥
नोंन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहैं गौन ।
सुरति शब्द मेला भया, काल रहा गहि मौन ॥ १५ ।

गुरु कबीर इशारा कर रहे हैं कि, उस मार्ग पर चलने के लिए इस पग की जरूरत नहीं है क्योंकि वह देश और पुरुष बिना बस्ती व शरीर के हैं ॥ जब नमक गलके पानी हो गया । फिर थैले में कैसे भर सकता? जहाँ वृत्तिसार स्वरूपमें मिलगई वहाँ काल चूँभी नहीं करता॥१४-१५॥

हिल मिल खेलै शब्द सो, अन्तर रही न रेख ।
समझे का मत एक है, क्या पंडित क्या सेख ॥ १६ ॥
अलख लखा लालच लगा, कहत न आवै बैन ।
निज मन धसो सरूप में, सतगुरु दीन्हीं सैन ॥ १७ ॥

जहाँ सार शब्द का विचार है वहाँ पण्डित, काजीका भेद-भाव नहीं रहता, क्योंकि समझदारोंका मत एक होता है ॥ सद्गुरुके इशारे से

अलख लखनेमें आगया, मनोवृत्ति निज स्वरूपमें लीन होगई किन्तु वह वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥

कहना था सो कहि दिया, अब कछु कहा न जाय ।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहरि समाय ॥ १८ ॥
जो कोई समझै सैन में, तासों कहिये धाय ।
सैन बैन समझै नहीं, तासों कहै बलाय ॥ १९ ॥

कहने योग्य कह दिया अब न बाकी है न कहा जा सकता है। क्योंकि दरिया और लहर दो नहीं है और एकमें कुछ कहा जाता नहीं। इशारा समझनेवालोंको इशारा किया जा सकता है किन्तु जो सैन बैन समझते नहीं हैं। उनसे कुछ कहना व्यर्थ है ॥ १८ ॥ १९ ॥

पिंजर प्रेम प्रकाशिया, जागी जोति अनन्त ।
संशै छूटा भय मिटा, मिला पियारा कन्त ॥ २० ॥
उनमुनि लागी सुन्न में, निशिदिन रहि गलतान ।
तनमनकी कछु सुधि नहीं, पाया पद निरबान ॥ २१ ॥

देह देवालयमें प्रेम दीपक जलनेसे अखण्ड स्वरूपकी ज्योति जाग उठी। संशय निवृत्त हुआ, निर्भय प्रीतमसे मिलाप हो गया। निरालम्बमें उन्मुनि समाधि लग गई, मन मस्ती में आ गया रात-दिन और तन-मन की भी कुछ सुध न रही क्योंकि निर्वाण पद पा गया ॥२०॥२१॥

उनमुनि चढ़ी अकास को, गई धरणि से छूट ।
हंस चला घर आपने, काल रहा शिर कूट ॥ २२ ॥
उनमुनि सों मन लागिया, गगनहिं पहुँचा जाय ।
चांद बिहूना चांदनी, अलख निरञ्जन राय ॥ २३ ॥

जब निरावरण स्वरूपमें उन्मुनि वृत्ति हुई तब धर-धरतीसे सम्बन्ध छूट गया। हंस निज देशका रस्ता लिया उस पर गति न होने से काल शोकातुर हुआ ॥ मनोवृत्ति उन्मुन हो नव कोशके आगे दशवें द्वारमें जा पहुँची जहाँ बिना चांदके शीतल प्रकाश है। और मायावी ब्रह्मकी गति नहीं है ॥ २२ ॥ २३ ॥

उनमुनिसों मन लागिया, उनमुनि नहीं बिलंग।
नौंन बिलंग्या पानिया, पानी नौंन बिलंगि ॥ २४ ॥
पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय ॥ २५ ॥

मन उनमुनि दशासे प्रेम कर लिया अब वह अलग उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार पानी में मिला हुआ लवण ॥ पानी से ही बर्फ हुआ था बर्फ गल के पुनः जो था सोई हो गया, दो का कथन मिट गया ॥ २४ ॥ २५ ॥

मेरी मिटि मुक्ता भया, पाया अगम निवास।
अब मेरे दूजा नहीं, एक तुम्हारी आस ॥ २६ ॥
सुरति समानि निरति में, अजपा माहीं जाप।
लेख समाना अलख में, आपा माहीं आप ॥ २७ ॥

"मैं' 'मेरी' मिट गई और मुक्त स्वरूप की अगम स्थिति की गम हो गई। प्रभुजी ! अब मुझे आपके सिवा दूसरोंकी आशा भी न रही ॥ निरालम्ब स्वरूपमें सुरति और अजपामें जाप एवं लेख क्रिया अलखमें और अपने स्वरूप में आप समा गया ॥ २६ ॥ २७ ॥

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परिचय भया, खुल गयासिंधुदुवार ॥ २८ ॥
गुरू मिले शीतल भया, मिटी मोह तन ताप।
निशिवासर सुख निधि लहूं, अन्तर प्रगटे आप ॥ २९ ॥

लक्ष्यमें सुरति समा गई और लक्ष्य निरालम्ब है। सुरतिको निरतिसे परिचय होने पर सिन्धु स्वरूप निरावरण हो गया ॥ सद्गुरु मिले, ज्ञान कपाट खुल गया, शान्ति आ गई मोह जनित त्रिविध तन-ताप मिट गया प्रभो ! आप भीतर प्रगट हुये कि रात-दिन सुख सागर की प्राप्ति हो गई ॥ २८ ॥ २९ ॥

सचि पाया सुख ऊपजा, दिल दरिया भरपूर ।
सकल पाप सहजै गया, साहिब मिले हजूर ॥ ३० ॥
तन पाया तन बीसरा, मन धावा धरि ध्यान ।
तपनमिटी शीतल भया, शुन्न किया अस्थान ॥ ३१ ॥

शुद्ध शान्ति की प्राप्ति हुई, सुख उत्पन्न हुआ, हृदय-सागर उमड़ चला, अघ समूह धोआ गया, फिर हुजूर साहिब आप हाजिर हो गये ॥ स्वरूप तत्त्वकी प्राप्तिसे तन की सुध नहीं रहती । विषयमें दौड़ने वाला मन भी ध्यानमें मग्न होता है, निरालंबमें स्थिति होने से ताप मिटकर शान्ति आ जाती हैं ॥ ३० ॥ ३१ ।

कौतुक देखा देह बिन, रवि शशि बिना उजास ।
साहिब सेवा माहिं है, बेपरवाही दास ॥ ३२ ॥

'सूर्य चन्द्र तहाँ नहिं प्रकाशत, नहि नभ मण्डल तारा ।
उदय न अस्त दिवस नहिं रजनी, बिना ज्योति उंजियारा ॥

'सन्तो ! सो निज देश हमारा' इत्यादि, बिना देह का दृश्य और बिना सूर्य-चन्द्र का प्रकाश देखने में आया और साहिब की सेवा में दास अनिश्चिन्त है ॥ ३२ ॥

नेव बिहूँना देहरा, देह बिहुँना देव ।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख की सेव ॥ ३३ ॥

बिना बुनियाद का देवालय और बिना पंच भूतोत्पन्न देह का चेतन देव हैं । उसी मन्दिर में कबीर की स्थिति और उसी अलक्ष्य देव की सेवा पूजा है ॥ ३३ ॥

देवल माँहि देहुरी तिल, जैसा विस्तार ।
माहीं पाती फूल जल, माहीं पूजन हार ॥ ३४ ॥

शरीररूप मन्दिर में हृदयरूपी देहरी यानी स्थानक है उसका फैलाव । अति सूक्ष्म तिल परिमाण है और उसीमें प्रेमपुष्पको मनमलीने स्नेह जल से सींचकर प्रफुल्लित किया है और उसी में पूजने वाला प्राण पुजारी अपने आपको अर्पण कर चेतन देवका पूजन करता है ॥ ३४ ॥

पवन नहीं पानी नहीं, नहिं धरणि आकास।
तहाँ कबीरा सन्त जन, साहिब पास खवास ॥ ३५ ॥

ऐ कबीर! जहाँ सन्तजन मालिक का चिन्तन रूप गुलामी करते हैं वहाँ भौतिक पवन, पानी आदि नहीं है ॥ ३५ ॥

अगुवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक।
पीछै हरि भी आयँगे, सारे सौंज समेत ॥ ३६ ॥

प्रभु मिलने की सूचना प्रथम ज्ञान, विवेक और विचार जिसके हृदय में आ गये फिर वहाँ मालिक भी अपनी सम्पूर्ण सामग्री सहित अवश्य आवेंगे ॥ ३६ ॥

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे की शोभा नहीं, देखै ही परमान ॥ ३७ ॥

पारब्रह्मके तेज का अन्दाज करना व्यर्थ हैं क्योंकि कहने में उसकी शोभा नहीं वह देखनेही से प्रमाणित हो सकता है ॥ ३७ ॥

सुरज समाना चाँद 'में दोउ किया घर एक।
मन का चेता तब भया, पूरब जनम का लेख ॥ ३८ ॥

ईड़ा, पिंगला का मिलाप सुषुम्णा में एक ठिकाने करके योगी लोग जब वहाँ ध्यान लगाते हैं तब पूर्व जन्म के शुभ संस्कार से मनोबृति चेतन मय हो जाती है ॥ ३८ ॥

पिंजर प्रेम प्रकाशिया, अन्तर भया ऊजास।
सुख करि सूती महल में, बानी फूटी बास ॥ ३९ ॥

घटमें प्रेम प्रकाश होने से भीतर उजाला हुआ और हृदय मन्दिरमें ध्याता निश्चिन्त निद्रा लेने लगे हैं अनुभव वाणी का विकास भी होने लगा ॥ ३९ ॥

आया था संसार में, देखन को बहु रूप।
कहैं कबीरा सन्त हों, परि गया नजर अनूप ॥ ४० ॥

पाया था सो गहि रहा, रसना लागी स्वाद।
रतन निराला पाइया, जगत टटोला बाद ॥ ४१ ॥

संसारके रंग बिरंगे रूपों को देखनेको आया था, उसी सिलसिलेमें सन्तोंका सत्संग हुआ और अनुपम वस्तु नजरमें आ गई ॥ बस ! उसी को पकड़ लिया, रसना रस लेने लगी क्योंकि विशुद्ध रत्न मिल गया फिर व्यर्थमें गन्दे जगत को क्या टटोलना ? ॥ ४० ॥ ४१ ॥

कुछ करनी कुछ करम गति, कुछ पूरवके लेख ।
देखो भाग कबीर का, लख से भया अलेख ॥ ४२ ॥

ऐ कबीर ! भाग्यका तमाशा देखले, लखते २ अलख हो गया इसमें कर्तव्य का यथावत् पालन और कर्मका यथार्थ ज्ञान एवं जन्मान्तर का संचित शुभ संस्कार, बस ! यही तीन कारण हैं ॥ ४२ ॥

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नांहि ।
कबीर नगरी एक मैं, दो राजा न समाँहि ॥ ४३ ॥
मैं जाना मैं और था, मैं तजि ह्वै गये सोय ।
मैं तैं दोऊ मिट गये, रहे कहन को दोय ॥ ४४ ॥

जहां तक 'मैं' 'मेरी' का खयाल था, गुरु नहीं थे, अब 'मैं' 'मेरी' मिट गई स्वयं गुरु हैं । ऐ कबीरो! एक तखत पर दो राजा नहीं बैठते । मैं अपने आपको और समझ रक्खा था, परन्तु खुदी मिटाने से वही हो गया । 'मैं' 'तू' दोनों मिट गये, केवल कहने को दो रहे ॥४३ ॥ ४४ ॥

अगम अगोचर गम नहीं, जहाँ झिलमिली जोत ।
तहाँ कबीरा रमि रहा, पाप पुन्न नहिं छोत ॥ ४५ ॥

वहाँ स्थूल इन्द्रियों की गति नहीं है जहाँ स्वतः प्रकाश स्वरूप हैं । वहां मुमुक्षु की वह शुद्ध वृत्ति बिहार करती है । जो पाप-पुण्य, स्पर्शा-स्पर्शादि भेद-भाव से रहित है ॥ ४५ ॥

कबीर तेज अनंत का, मानो सूरज सैन ।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतुक देखा नैन ॥ ४६ ॥

ऐ कबीर ! 'तमेव भान्तमनु भति सर्वम्' के अनुसार अनन्त आत्मस्वरूप के प्रकाशसे ही सूर्य प्रकाशता है ऐसा समझो, उसी स्वामी

के संग सुन्दरी यानी शुद्ध वृत्ति जगी और विवेक दृष्टि से :उस अनुपम खेलको देखो ॥ ४६ ॥

कबीर देखा एक अंग, महिमा कही न जाय।
तेज पुंज परसा धनी, नैनों रहा समाय ॥ ४७ ॥

ऐ कबीर ! जिसके एक अंगकी शोभा वर्णन नहीं हो सकती उस स्वामी के सर्वाङ्ग को जिसने देखा और स्पर्श किया वह उससे अलग कैसे हो सकता ! हर्गिज नहीं ॥ ४७ ॥

कबीर कमल प्रकाशिया, ऊगा निरमल सूर।
रैन अंधेरी मिटि गई, बाजै अनहद तूर ॥ ४८ ॥
कबीर मन मधुकर भया, करै निरन्तर वास।
कमल खिला है नीर बिन, निरखै कोइ निजदास ॥ ४९ ॥

हृदय कमल शुद्ध होने से निर्मल ज्ञान रूप सूर्य उदय हुआ मोह-निशा जाती रही ज्ञान बिगुलकी अनाहत ध्वनि होने लगी। मन भ्रमर लुब्ध होकर वहीं निरन्तर निवास करने लगा। बिना जल के कमल खिला है उसका दर्शन निजी सेवक करता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

कबीर मोतिन की लड़ी, हीरों का परकास।
चाँद सूर की गम नहीं, दरशन पाया दास ॥ ५० ॥
कबीर दिल दरिया मिला, पाया फल समरत्थ।
सायर माँहि ढिंढोरताँ, हीरा चढ़ि गया हत्थ ॥ ५१ ॥

हीरा रूपी स्वरूप के प्रकाश में वृत्तियों की स्थिरता रूपी मोतियों का हार शोभा बढ़ा रहा है। वहाँ सूर्य-चन्द्र का प्रवेश नहीं है, दास दर्शन कर कृतकृत्य होता है। मन-तरंग सागर से मिला और समर्थ साहेब रूप फल पा लिया। संसाररूप सागरमें टटोलने से हीरा (स्वरूप) हाथ लग गया ॥ ५० ॥ ५१ ॥

कबीर जब हम गावते, तब जाना गुरु नाँहि।
अब गुरु दिल में देखिया, गावन को कछु नाँहि ॥ ५२ ॥

कबीर दिल दरिया मिला, बैठा दरगह आय।
जीव ब्रह्म मेला भया, अब कछु कहा न जाय॥ ५३॥

'गावे कथे विचारे नाहीं' के अनुसार विचार बिना गुरुका ज्ञान नहीं होता, दिल दरबार में गुरुका दर्शन कर लिया अब गानेकी जरूरत न रही। चित्स्वरूप सागरमें मनरूप तरंग मिला और उसी दरबार में आ बैठा। जीव ब्रह्म का मिलाप हुआ, अब कथन नहीं हो सकता॥५१।५३।

गगन गरजि बरसे अमी, बादल गहिर गंभीर।
चहुंदिशि दमकै दामिनी, भीजैं दास कबीर॥ ५४॥
गगन मंडल के बीच में, झलकै सत का नूर।
निगुरा गम पावै नहीं, पहुँचै गुरुमुख शूर॥ ५५॥

ऐ कबीर! ब्रह्माण्डमें सघन बादल लगा है अभ्यासियोंकी वृत्तिरूपी वायु वहाँ जाकर उसे हिलाती और अमृत वर्षाती है। चारोंओर बिजली चमक रही है, दास तर हो रहा है। यद्यपि वहाँ सत्स्वरूपका प्रकाश हो रहा है तथापि निगुरोंकी पहुंच वहाँ तक नहीं होती वहाँ तो गुरु सत्संगी वीर पहुंचता है।॥ ५४॥ ५५॥

गगन मंडल के बीच में, महल पड़ा इक चीन्हि।
कहैं कबीर सो पावई, जिहिं गुरु परिचै दीन्हि॥ ५६॥
गगन मंडल के बीच में, बिना कमल की छाप।
पुरुष एक तहाँ रमि रहा, नहीं मंत्र नहिं जाप॥ ५७॥

हृदय शहर में एक महल है और उसी की निशानी भी है किन्तु वहाँ वही जा सकता है जिसको सद्गुरु ने परिचय कराया है वहाँ कमल आकार बिना निशानी मात्र है, एकही पुरुष वहाँ रमता है, मंत्र जप कुछ नहीं करता॥ ५६॥ ५७॥

गगन मंडल के बीच में, तुरी तत्त इक गांव।
लच्छन निशाना रूप का, परखि दिखाया ठांव॥ ५८॥

हृदय आकाशमें एक नगर है, तुरीयावस्था वाला वहाँ पहुंचता है

जिसको सद्गुरुने लक्ष्य स्वरूप का निशाना ठीक-ठीक परखाया है ॥५८॥

गरजै गगन अमी चुवै, कदली कमल प्रकास।
तहां कबीरा संत जन, सत्त पुरुष के पास ॥ ५९ ॥
गरजै गगन अमी चुवै, कदली कमल प्रकाश।
तहाँ कबीरा बन्दगी, कर कोई निज दास ॥ ६० ॥

गगन गर्जता और अमृत बरसता है, शरीररूपी कदली में हृदय कमल प्रफुल्लित होता है। ऐ कबीर! वहाँ सत्पुरुष के समीप अभ्यासी संतजन रहते हैं। या बन्दगीदार भक्त, जिसको वे अपना सेवक समझ लें ॥ ५९ ॥ ६० ॥

दीपक जोया ज्ञान का, देखा अपरम देव।
चार वेद की गम नहीं, तहां कबीरा सेव ॥ ६१ ॥
मानसरोवर सुगम जल, हंसा केलि कराय।
मुक्ताहल मोती चुगै, अब उड़ि अंत न जाय ॥ ६२ ॥

ज्ञान-दीपक जलाया और अनुपम देवका दर्शन कर लिया जहाँ वेद-वाणीकी गति नहीं, ऐ कबीर! वहाँ के लिये प्रयत्न करो॥ हृदयरूप मानसरोवर में निर्मल चित्स्वरूप जल भरा है, उसमें सत्संगी हंस जीव विहार करते हैं और अनबेधे मोती (अचल मुक्ति) का आहार भी। अब उड़कर अलग नहीं जाते ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

शुन्न महल मैं घर किया, बाजै शब्द रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटै दीन दयाल ॥ ६३ ॥
पूरे से परिचय भया, दुख सुख मेला दूर।
जम सों बाकी कटि गई, साईं मिला हजूर ॥ ६४ ॥

निरालम्ब स्वरूप में अपनी स्थिति कर ली, जहाँ उद्वेग रहित मधुर शब्द हो रहा है वहाँ रोम-रोम में ज्ञान-दीपक जलाके तरन-तारन प्रभु प्रगट हुए॥ बस! पूरे साहिब से परिचय हुआ सुख-दुःख का झमेला दूर हो गया। स्वामी का प्रत्यक्ष हुआ और मृत्यु से फारखती हुई॥६३॥६४॥

सुरति उड़ानी गगन को, चरन विलंबी जाय।
सुख पाया साहेब मिला, आनंद उर न समाय॥ ६५॥

सुरति उड़ी और निरालम्ब सद्गुरुके चरणों में जा लगी। साहिब मिल गये आनन्द सिन्धु में शान्त हो गई॥ ६५॥

जा बन सिंघ न संचरै, पँछी उड़ि नहिं जाय।
रैन दिवसकी गम नहीं, रहा कबीर समाय॥ ६६॥

जिस बन यानी निरालम्ब स्वरूप में सिंहरूप हिंसक संसारी जीवों का प्रवेश नहीं और मलिन मनरूप पक्षी का गति नहीं एवं रात-दिन समयका आक्रमण नहीं, ऐ कबीर! वहाँ सत्संगियोंकी शुद्ध सुरति जाकर स्थित होती है॥ ६६॥

सीप नहीं सायर नहीं, स्वाति बूँद भी नाँहि।
कबीर मोती नीपजै, सुन सरवर घट माँहि॥ ६७॥
काया सिप संसार में, पानी बुन्द शरीर।
बिना सीप के मोतिया, प्रगटै दास कबीर॥ ६८॥

न शरीररूपी सीप है न संसाररूप सागर, फिर भोगरूप स्वाती बूंद की भी क्या जरूरत? ऐ कबीरो! अब तो निराधार हृदय सागरमें मोती पकता है। और जिज्ञासुजन संसाररूप सागरमें बूंदसे रचा हुआ शरीर रूपी सीपी के बिनाही मोती (ज्ञान) पकाते हैं॥६७॥६८॥

घट में औघट पाइया, औघट माहीं घाट।
कहैं कबिर परिचय भया, गुरू दिखाई बाट॥ ६९॥
जा कारण मैं जाय था, सो तो मिलिया आय।
साईं ते सनमुख भया, लगा कबीरा पाय॥ ७०॥

शरीरहीमें चित्स्वरूप औघटको प्राप्त कर लिया, क्योंकि सद्गुरुने औघट घाटकी बाट को लखा दिया इसलिये साहिबसे परिचय हो गया॥ जिसके लिये मैं अनेकों मार्ग में जा रहा था वह सद्गुरुकी दयासे स्वयं आकर मिल गया, बस! सेवक स्वामी के संमुख हुआ और चरणोंमें लेट गया॥ ६९॥ ७०॥

जा कारन मैं जाय था, सो तो पाया ठौर।
सो ही फिर आपन भया, जाको कहता और ॥ ७१ ॥

"दूर दूर ढूंढ़े मन लोभी मिटै न गर्भ तरासा" इत्यादि वचनके अनुसार जिसके वास्ते मैं लोक, वेदके पीछे दौड़ रहा था वह वस्तु पास ही में मिल गई 'सोहंग पलटे हँसा होई। पावे पारख पारखी सोई ॥' 'है समीप संधि बूझै कोई' इत्यादि वचनके अनुसार भ्रमिकों के कहने से जिसे तुच्छ समझ रहा था सद्गुरु-दया-अन्तर्मुख वृत्तिसे वही पुनः आपने आप हुआ ॥ ७१ ॥

जा दिन किरतम ना हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हता कबीरा सन्त जन, देखा औघट घाट ॥ ७२ ॥
नहीं हाट नहिं बाट था, नहीं धरति नहिं नीर।
असंख जुग परलै गया, तब की कहैं कबीर ॥ ७३ ॥

जिस दिन (सत्संग में) कृत्रिम प्रपंच का अभ्यास नहीं था और न यह बाजार न मार्गही था ऐ कबीर! सद्गुरुसे परिचित सन्तजन उस दिन औघट घाट (चित्स्वरूप) में थे और रहते हैं ॥ स्वरूप में स्थित पुरुष को हाट बाट और ये सम्पूर्ण संसार प्रपंच न था न है और न युग प्रलयों की संख्या थी न हो सकती है। कबीर गुरु कहते हैं उस वक्त की यह बात है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता नहीं ओंकार।
तहाँ कबीरा सन्त जन, को जानै संसार ॥ ७४ ॥
धरति गगन पवन नहीं, नहीं होते तिथि वार।
तब हरि के हरिजन हुते, कहैं कबीर विचार ॥ ७५ ॥

जहाँ चन्द्र व सूर्य की गति नहीं है एवं वेदका मस्तक ॐकार भी न था न है। ऐ कबीर! वहाँ (स्वरूपमें) शान्त चित्त सन्तजन रहते हैं फिर उन्हें परिवर्तन संसार में रहने वाला कोई कैसे जान सकता ?॥ पृथ्वी, पवनादि परिणामी पदार्थ अपरिणामी चित्स्वरूप में न था न है। कबीर गुरु कहते हैं-हरिजन हरवक्त हाजिर हजूर थे व हैं ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

धरति हति नहिं पग धरूँ, नीर हता नहिं न्हाऊँ।
माता ने जनम्या नहीं, छीर कहाँ ते खाऊँ ॥ ७६ ॥

आत्मस्वरूप से विदेह मुक्ति की स्थिति बतलाते हैं कि परिणामी पृथ्वी आदि के आधार बिना चित्स्वरूप स्थित है उसकी स्थिति के लिये न पृथ्वी थी न स्नानार्थ जल ही था और जब उसे माता (माया) ने जन्म नहीं दिया तो दुग्ध पान की कथा ही क्या ? ॥ ७६ ॥

पाँच तत्त्व गुन तीन के, आगे मुक्ति मुकाम।
तहाँ कबीरा घर किया, गोरख दत्त न राम ॥ ७७ ॥

पृथ्वी आदि पंच तत्व और सत् आदि तीन गुण के आगे मोक्षधाम है। ऐ कबीर! वहाँ विदेह मुक्त की स्थिति होती है जहाँ गोरख, दत्ता-त्रेय और राम-रहीम का भेद नहीं है ॥ ७७ ॥

सुर नर मुनिजन औलिया, ये सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर ॥ ७८ ॥

सुर नर मुनिजन देवता, ब्रह्मा विष्णु महेस।
ऊँचा महल कबीर का, पार न पावै सेस ॥ ७९ ॥

ऐ कबीर! सुर, नर, मुनि और औलिया इन सबकी स्थिति उरले किनारे है परले किनारे तो प्रभुसे परिचित विरले सँत पहुँचते हैं जहाँ राम रहीम की गति नहीं ॥ वह बहुत ऊंचा स्थान है, भेद वादी कोरा कर्मकाण्डी ब्रह्मा आदि की वहाँ तक पहुँच नहीं हो सकती ॥७८॥७९॥

जब दिल मिला दयाल सों, तब कछु अन्तर नाँहि।
पाला गलि पानी भया, यौं हरिजन हरि माँहि ॥ ८० ॥

ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघारी पोल।
दरशन भया दयाल का, शूल भई सुख सोल ॥ ८१ ॥

प्रभु से परिचय होने पर स्वामी, सेवक में ऐसे अन्तर जैसे पाला गलने पर पानी पाला में ॥ ममता मेरा कुछ नहीं कर सकती क्योंकि प्रेम का द्वार खुल गया और दयाल के दर्शन से कृतकृत्य हो चुका हूँ अब दुःख भी सरल और सुख रूप प्रतीत हो रहा है ॥ ८० ॥ ८१ ॥

सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव।

सधा सिंधु सुख बिलसही, बिरला जानै भेव ॥ ८२ ॥

जिस शीतल शान्त आनन्द को तटस्थ देवगण नहीं ले सकते उस एकान्त अमृत सागरका विहार अभ्यासी जनका मन रूपी मछली लेती है। क्योंकि उसका रहस्य बिरलाही सत्संगी जानता है ॥८२॥

गुन इन्द्री सहजे गये, सतगुरु करी सहाय।

घट में नाम प्रगट भया, बकि बकि मरै बलाय ॥ ८३ ॥

सद्गुरुने सहायता की, विषयों में प्रवृत्तिरूप गुण इन्द्रियोंके सहजही चले गये और हृदयमें राम प्रगट हो गया अब मेरा बलाय बकि-बकि मरे, मुझे कोई प्रयोजन नहीं ॥ ८३ ॥

जब लग पिय परिचय नहीं, कन्या क्वाँरी जान।

हथ लेवो हूँ सालियो, मुश्किल पड़ि पहिचान ॥ ८४ ॥

जब तक पतिसे परिचय नहीं है तबही तक कन्या को कुमारी समझो। परिचय होने पर तो पाणिग्रहण भी बुरा लगता है ॥ ८४ ॥

सेजै सूती रंग रम्हा, भागा मान गुमान।

हथ लेवो हरि सूँ जुर्यो, अखै अमर वरदान ॥ ८५ ॥

पूरे सों परिचय भया, दुख सुख मेला दूर।

निरमल कीन्हीं आतमा, ताते सदा हजूर ॥ ८६ ॥

निर्भय सेज पर सो गई और स्वामीके रंगमें रमने लगी, मान और अभिमान दोनों चले गये पाणिग्रहणका संयोग प्रभुसे हुआ वही अखण्ड अविनाशी वर मिला। जब पूर्ण धनीसे पहिचान हुई तब सुख-दुख दोनों दूर हो गये आतमा पवित्र हो गई, अब सर्वदा स्वामी हाजिर हैं ॥८५-८६॥

मैं लागा उस एक सों, एक भया सब माँहि।

सब मेरा मैं सबन का, तहाँ दूसरा नाँहि ॥ ८७ ॥

भली भई जा भय पड़ी, गई दिसा सब भूल।

पाला गलि पानी भया, ढूलि मिला उस कूल ॥ ८८ ॥

मैंने तो उस एक अपने स्वामीसे प्रेम किया किन्तु जब वह एक सबमें प्रतीत होने लगा। तब मैं समझ गया सब मेरा और सबका मैं हूँ वहाँ द्वैती भेद नहीं ॥ बहुत अच्छा हुआ ऐसा होनाही योग्य था, सब दिग्भ्रम मिट गया। भेदभावरूप पाला निज ज्ञान स्वरूप पानी होकर उस अपने असल प्रथम स्वरूपमें जा मिला ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

चितमनि पाई चौहटै, हाड़ी मारत हाथ।
मीरा मुझपर मिहर करि, मिला न काहू साथ ॥ ८९ ॥
बरसि अमृत निपजत हिरा, घटा पड़े टकसार।
तहाँ कबीरा पारखी, अनुभव उतरै पार ॥ ९० ॥

हृदय-हाट में चितमनि-स्वामी मिल गये अब तृष्णारूपी हाड़ी दमपच्छार खाने लगी, मेरे ऊपर तो केवल मीरा-सद्गुरु ने ही दया की और और कोई भी संग साथी नहीं ॥ उपदेशामृतकी वर्षा हुई और हृदय में ज्ञानरूप हीरा उत्पन्न हुआ। घटहीमें टँकसाल,घर खुला और मुहर छाप पड़ने लगा, ऐ कबीरा! तहाँ सारासार पारखी सन्तही निज अनुभव परीक्षा से वस्तुको परखकर पार उतरे व उतरते हैं ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मकर तार सौं नेहरा, झलकै अधर बिदेह
सुरति सोहंगम मिलि रहि, पल पल जुरै सनेह ॥ ९१ ॥

दशवें द्वारका मार्ग मकर तार की तरह बारीक और तेल की तरह सचिकण है जहाँ विदेह पुरुष का प्रकाश होता है। केवल अभ्यासियोंकी वृत्ति वहाँ जाकर उससे मिलती और प्रेम करती है ॥ ९१ ॥

ऐसा अविगति अलख है, अलख लखा नहिं जाय।
जोति सरूपी राम है, सब में रह्यौ समाय ॥ ९२ ॥

यद्यपि प्रकाश रूपसे घट घट में रमा हुआ राम है। तथापि वह पुरुष ऐसा अगम, अलख है कि उसे सर्व साधारण नहीं लख सकता ॥ ९२ ॥

मिलि गये नीर कबीर सों, अंतर रही न रेख।
तीनों मिलि एकै भया, नीर कबीर अलेख ॥ ९३ ॥

नीर कबीर अलेख मिलि, सहज निरंतर जोय।
सत्त सब्द औ सुरति मिलि, हंस हिरंबर होय ॥ ६४ ॥

मनरूप नीर जब काया वीर कबीर से मिला तब अन्तर पड़दा हट गया और नीर,[1] कबीर,[2] अलेख[3] तीनों एक स्वरूप हो गये ॥ मनोवृत्ति की चंचलता मिट जाने व शुद्ध होने पर स्वाभाविक सदा स्वरूपही को विषय करती है क्योंकि सद्गुरु उपदिष्ट सत्स्वरूप को छोड़ अन्य कोई उसका विषयही नहीं होता अतः चित्स्वरूप में सुरति लीन होने से हँस जीव कंचन (अमर, मुक्त) हो जाता है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

कहना था सो कहि दिया, अब कछु कहना नांहि।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया मांहि ॥ ५ ॥

कथन-वाग्विलास भी तबही तक होता है जबतक पीवसे अपरिचित वृत्ति बाह्य होती है और स्वरूप सागर में लीन होने पर तो दूसरी की भावना ही नहीं रहती फिर कथन, श्रवण कैसा ? अतः कहते हैं कि 'कहना था सो कह दिया' इत्यादि ॥ ६५ ॥

आया एकहि देश ते, उतरा एकही घाट।
बिच में दुबिधा हो गई, हो गये बारह बाट ॥ ६६ ॥
तेज पुञ्ज का देहरा, तेज पुञ्ज का देव।
तेज पुञ्ज झिलमिल झरै, तहां कबीरा सेव ॥ ६७ ॥

सबका मन मुसाफिर एकही आत्मदेशसे आया और एक ही संसार घाट में उतरा किन्तु गुरु विमुखताके कारण मन में दुविधा पैदा होगई। अतः जहाँ तहाँ छिन्न-भिन्न हो गया ऐ कबीरो ! वहाँ उस देवको सेवन करो जहाँ तेजोमय देव और देवालय है और जिसकी तेजपुञ्ज ज्योति प्रकाशित है ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

---

१ मन--मन की बाह्य प्रवृत्ति होने से, २ कबीर--आत्म स्वरूपको, ३ अलेख—अलख जैसा समझता था पडदा दूर होनेसे "परम प्रभु अपने ही उर पायो" के सदृश प्रभुसे परिचय हुआ भेद मिट गया ॥

खाला नाला हीम जल, सो फिर पानी होय ।
जो पानी मोती भया, सो फिर नीर न होय ॥ ९८ ॥

जलका नाम और रूप खाला, नाला व पाला भेद से बदलता है और वह नाम रूप मिटकर पुनः पानी बन जाता है किन्तु जो जल मोती बन जाता वह फिर पानी कभी नहीं होता ॥ ९८ ॥

जब मैं था तब हरि नहिं, अब हरि है मैं नाँहि ।
सकल अँधेरा मिटि गया, दीपक देखा नांहि ॥ ९९ ॥

जब मैं 'मैं' 'मैं' का भाव में था तब हरि नहीं था अब हरि है मैं नहीं। अन्दर ज्योति स्वरूप देखा और अन्धेरा सब दूर हो गया ॥ ९९ ॥

सूरत में मूरत बसै, मूरत में इक तत्त ।
ता तत तत्व विचारिया, तत्व तत्व सो तत्त ॥१००॥
फेर पड़ा नहीं अंग में, नहिं इन्द्रियन के मांहि ।
फेर पड़ा कछु बूझ में, सो निरुवारै नाँहि ॥१०१॥

शुद्ध वृत्ति का एक लक्ष्य स्वरूप होता है और उसी में एक तत्व है, किसी तत्त्व के विचार से वही तत्वरूप हो जाता है ॥ किसी के भी अङ्ग, इंद्रिय आदि में भेद नहीं है, भेद विचार में है, वह कुसंगी नहीं सुधरता ॥ १०१ ॥

साहेब पारस रूप हैं, लोह रूप संसार ।
पास सो पारस भया, परखि भया टकसार ॥१०२॥
मोती निपजै सुन्न में, बिन सागर बिन नीर ।
खोज करंता पाइये, सतगुरु कहैं कबीर ॥१०३॥

पारस स्वरूप साहिव लोहरूप संसारी को टकसार-बीजक ज्ञान से स्पर्श कराकर पारसरूप बना लेते हैं ॥ बिना सागर और नींरके निरालम्ब में मोती (मुक्ति) मिलती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं वह खोजनेवाला पाता है ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

या मोती कछु और है, वा मोती कछु और।
या मोती है शब्द का, व्यापि रहा सब ठौर ॥१०४॥
दरिया माँहीं सीप है, मोती निपजै माँहि।
वस्तु ठिकानै पाइये, नाले खाले नाँहि ॥१०५॥

इस मोती और उस (सागरके) मोतीमें भेद है, यह तो शब्द का मोती है और सर्वत्र गूंज रहा है ॥ जिस प्रकार समुद्रकी सीपमें ही मोती उत्पन्न होता है। ताल, तलैयामें नहीं, इस प्रकार सद्वस्तु सत्पुरुष के पासही मिलती है ॥१०४॥१०५॥

यह पद है जो अगम का, रन संग्रामे जूझ।
समुझे कूँ दरसन दिया, खोजत मुये अबूझ ॥१०६॥

यह जो अगम का पद है इसे प्राप्त करने वाले को संसार संग्राम में मन इन्द्रियों से युद्ध करना पड़ता है। जो इसे समझा और मनेन्द्रियों पर विजयी हुआ और होता है उसीको दर्शन दिया व देता हूँ। अज्ञानी खोजते-खोजते मर मिटे न वह पाया न पा सकता है ॥ १०६ ॥

शीतल कोमल दीनता, संतन के आधीन।
वासों साहिब यों मिले, ज्यौं जल भीतर मीन ॥१०७॥

जिसका हृदय शान्त और मृदु है एवं सन्तोंसे नम्र और अधीन रहता है उससे साहिब ऐसे मिले-जुले रहते हैं जैसे जल बीच मछली ॥१०७॥

कबीर आदू एक है, कहन सुनन कूँ दोय।
जल से पारा होत है, पारा से जल होय ॥१०८॥
दिल लागा जु दयालसों, तब कछु अंतर नाँहि।
पारा गलि पानी भया, साहिब साधू माँहि ॥१०९॥

ऐ कबीर! यह आत्मस्वरूप स्वयं अनादि, अनन्त ओर परिणामी पदार्थ का आदि एक हैं किन्तु 'एक चेता एक चेतवन हारा' इत्यादिके अनुसार श्रोता वक्ता के भेद से दो कहा जाता हैं। दृष्टान्त पानी पाला को समझना चाहिये ॥ मन साहिब मे लीन होने पर भेद इस

प्रकार नहीं रह जाता, जिस प्रकार पाला गलने पर पाला पानी मे इसी तरह साहिब सन्त में रहते हैं ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

रामनाम तिरलोक में, सकल रहा भरपूर ।
लाजै ज्ञान शरीर का, दिखवै साहिब दूर ॥११०॥

आतमस्वरूप रमैया राम जो सर्वत्र घट में रम रहा है उस साहि को जो दूर (पृथक) बतलाता है उसका ज्ञान लज्जास्पद है। अर्थात वह अज्ञानी है ॥ ११० ॥

जिन जेता प्रभु पाइया, ताकूं तेता लाभ ।
ओसे प्यास न भागई, जब लग धसै न आभ ॥१११॥

"कहहिं कबीर जिन जैसी समझी, की ताकी गति भई तैसो" इत्यादि बचन के अनुसार जिसने जिस प्रकार जितना प्रभु का ज्ञान प्राप्त किय उसको उतना हीं लाभ हुआ। सच्चा जल पिये बिना ओस कण से प्या नहीं जाती, अतः सत्स्वरूप का सच्चा ज्ञान सद्गुरु से प्राप्त करन चाहिये ।

इति श्री परिचय को अंग ॥ १४ ॥
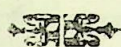
अथ प्रेम को अंग ॥ १५ ॥

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि ।
शीष उतारै भुयँ धरै, तब पैठे घर माँहि ॥ १ ॥
यह तो घर है प्रेम का, मारग अगम अगाध
शीष काटि पग तर धरै, निकट प्रेम का स्वाद ॥ २ ॥

सद्गुरु का दरबार प्रेम भक्तिका है, बेखटके जाने योग्य मौसीका नहीं । जब धड़ से शिर उतार कर वेदी पर बलि धरे तब इस घर में बैठे । इसलिये प्रेम का मार्ग अगम, अथाह कहा जाता है क्योंकि, चरणों में शिर की बलि देने ही से प्रेम का स्वाद समीप होता है ॥ १ ॥ २ ॥

यह तो घर है प्रेम का, ऊँचा अधिक इकंत ।
शीष काटि पग तर धरै, तब पैठे कोई संत ॥ ३ ॥
शीष काटि पासंग किया, जीव शेर भरि लीन ।
जिहि भावै सो आय ले, प्रेम आगु हम कीन ॥ ४ ॥

प्रेम का स्थान बहुत ऊँचा और एकान्त है धड़ से शीश चरणों में रखके कोई सन्त वहाँ पहुँचता है ॥ शिर काटके तुला की डाँड़ी ठीक की है और जीव को शेर बनाया है यदि किसी को प्रेम चाहिये तो इस प्रकार ले सकता है हमने प्रेम सौदा को आगे कर रक्खा है ॥३ ॥४ ॥

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जो रुचै, शीश देय ले जाय ॥ ५ ॥
प्रेम पियाला सो पिये, शीश दच्छिना देय ।
लोभी शीश न दे सकै, नाम प्रेम का लेय ॥ ६ ॥

प्रेम न तो बागमें उत्पन्न होता न बाजारमें बिकता है । बस ! चाहे

राजा हो या प्रजा, जिसे चाहिये वह शिर के बदले में ले जाय ॥ प्रेम प्याला तो वही पीता है जो शीश दक्षिणा देता है। जीने की आशावाला शीश नहीं दे सकता केवल प्रेम का नाम लेता है ॥ ५ ॥ ६ ॥

प्रेम पियाला भरि पिया, राचि रहा गुरु ज्ञान।
दिया नगारा शब्द का, लाल खड़ै मैदान ॥ ७ ॥
प्रेम प्रेम सब को (इ) कहै, प्रेम न चीन्हैं कोय।
आठ पहर भींजा रहै, प्रेम कहावै सोय ॥ ८ ॥

जिसने प्रेमरस प्याला भरके पी लिया वह गुरु ज्ञान रंगमें रंग गया और वह गुरु का लाल सरे मैदान में खड़े हो सार शब्द का निर्भय आवाज करने लगा। यों तो बहुतेरे प्रेम का अर्थ जाने बिना प्रेम का नाम लिया करते हैं। किन्तु प्रेम तो वह कहलाता है जो आठों पहर उसमें तर रहै ॥ ७-८ ॥

प्रेम प्रेम सब को (इ) कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
जा मारग साहिब मिलै, प्रेम कहावे सोय ॥ ९ ॥
प्रेम पियारे लाल सों, मन दे कीजै भाव।
सतगुरु के परसाद से, भला बना है दाव ॥ १० ॥

प्रेम मार्ग की पहचान बिना कथन मात्र से कुछ न होगा। जिस मार्ग से प्रभु मिलता है वही प्रेम-मार्ग कहलाता है। ऐ प्रभुके प्रेमियो मन को अर्पण कर प्रेम करो, सद्गुरुकी कृपा से यह बहुत सुन्दर अवसर मिला है ॥ ९ ॥ १० ॥

प्रेम बिकाता मैं सुना, माथा साटै हाट।
पूछत विलम न कीजिये, तत छिन दीजे काट ॥ ११ ॥
प्रेम बनिज नहि करि सके, चढ़ै न राम कि गैल।
मानुष केरो खोलरी, ओढ़ि फिरै ज्यों बैल ॥ १२ ॥

मैं बाजार में शिरके बदले प्रेम बिकता सुना! पूछते देर मत करो शीघ्र काटकर चढ़ाही दो ॥ जो न तो प्रेमका व्यापार कर सकता और

न राम-मार्ग पर चढ़ सकता है तो वह केवल मनुष्य की खोलरी ओढ़े बैल है ॥११॥१२॥

प्रेम बिना धीरज नहीं, बिरह बिना वैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग ॥१३॥
प्रेम भक्ति में रचि रहै, मोक्ष मुक्ति फल पाय।
शब्द माँहि जब मिलि रहै, नहिं आवै नहिं जाय ॥१४॥

जिस प्रकार प्रेम बिना धैर्य और वियोगविना वैराग्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सद्गुरु ज्ञान बिना हृदय का आवरण दूर नहीं हो सकता। प्रेमी को चाहिये कि प्रेम भक्ति में लीन रहे मुक्तिफल अवश्य प्राप्त होगा। सद्गुरु उपदिष्ट शब्द पर आरुढ़ होने से आवागमन मिट जाता है ॥१३॥१४॥

प्रेम पाँवरी पहिरि के, धीरज कजल देय।
शील सिंदूर भराय के, तब पिय का सुख लेय ॥१५॥
प्रेम छिपाया ना छिपै, जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय ॥१६॥

जब पग में प्रेम रूपी घूँघरु पहने और नयनमें धैर्य का अंजन लगावे एवं शिर में शीलका सिन्दूर भरावे तब प्रियतम प्रभु का आनन्द ले सकता है। क्योंकि उसका प्रेम प्रभु पहिचान लेगा, कारण यह है कि जिसके हृदयमें प्रेम प्रगट होता है वह छिपाने से नहीं छिपता, भले वह मुखसे न बोले किन्तु उसके नेत्र आँसु-द्वारा प्रगट कर देता है ॥०५॥०६॥

प्रेम बिना नहिं भेष कछु, नाहक करै सुवाद।
प्रेम वाद जब लग नहीं, सबै भेष बरबाद ॥१७॥
प्रेम बिना नहिं भेष कछु, नाहक का संवाद।
प्रेम भाव जब लग नहीं, तब लग वाद विवाद ॥१८॥

प्रेम बिना किसी भी प्रकार का वेष निरर्थक है उसके लिये वाद विवाद करना व्यर्थ है। जब तक प्रेम बचन नहीं है तब तक सब वेष

फिजूल है ॥ प्रेम बिना का वेष और सम्वाद बेकार है। जब तक भाव नहीं है तब तक केवल वाद-विवाद है ॥ १७ ॥ १८ ॥

प्रेम भाव इक चाहिये, भेष अनेक बनाय।
भावै घर में वास कर, भावै बन में जाय ॥
प्रेम तो ऐसा कीजिये, जैसे चन्द चकोर।
घींच टूटि भुँय में गिरै, चितवै वाही ओर ॥

फक्त एक प्रेम भाव होना चाहिये। चाहे वेष अनेक बनावो बनाओ, चाहे घरमें रहो या वनमें जाओ ॥ प्रेम चन्द्र-चकोर की होना चाहिये। चाहे उसकी गर्दन टूटकर जमीन पर भले गिर पड़े यह देखता है उसी तरफ ॥ १९ ॥ २० ॥

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरूँ, प्रेमी न मिलै कोय।
प्रेमी सों प्रेमी मिलै, विष से अमृत होय ॥
छिनहि चढ़ै छिन उतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ॥

मैं प्रेमी को ढूंढ़ता फिरता हूँ लेकिन वह मिलता नहीं यदि प्रेमी प्रेमी मिले तो विष अमृत बन जाय ॥ क्षणमात्र में चढ़कर उतरने प्रेम नाश नहीं कहलाता प्रेम तो वह कहलाता हैं जो कभी घटे सदैव तन मन प्रेम मस्ती में माता रहै ॥ २१ ॥ २२ ॥

आया प्रेम कहां गया, देखा था सब कोय।
छिन रोवै छिन मे हँसै, सो तो प्रेम न होय ॥ २३
सागर उमड़ा प्रेम का, खेवटिया कोई एक।
सब प्रेमी मिलि बूड़ते, यह नहिं होती टेक ॥ २४

जिस प्रेम को सबने देखा था वह कहाँ गया ? पल में हंसना रोना वह प्रेम नहीं होता ॥ प्रेम का सागर उमड़ चला किन्तु उसे वाला कोई एक ही है यदि यह प्राण सहारा नहीं मिलता तो सब प्रे बूड़ मरते ॥ २३ ॥ २४ ॥

नहीं प्रेम निरबाहिये, रहनि किनारे बैठि।
सागर ते न्यारा रहा, गया लहरि में पैठि ॥ २५ ॥
पहिले प्रेम न चाखिया, चाखि न लिया स्वाद।
सूने घर का पाहुना, ज्यौं आवै त्यौं बाद ॥ २६ ॥

यही प्रेम का निर्वाह है कि रहस्य का किनारा पकड़ बैठो। जो सागर से अलग रहता है वह लहर में बैठता है। जो प्रथम प्रेम रस को चखकर स्वाद नहीं लिया तो वह उससे ऐसे बंचित हुआ जैसे सूने घर का पाहुना ॥ २५ ॥ २६ ॥

पहिले प्रेम न चाखिया, मुक्ति निरासी आय।
पीछे तन मन बाँटिया, गया चकमक लाय ॥ २७ ॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान ॥ २८ ॥

प्रेम बिना अखण्ड मोक्ष सुख नहीं मिलता और उसका नर-तन यों व्यर्थ चला जाता है ज्यौं रूई सँभालने बिना चकमककी आग॥ जिसके हृदय में प्रेमका प्रवेश नहीं है वह श्मशान सदृश समझो। लोहार की धौंकनी की तरह बिना प्राण का वह श्वास लेता है अर्थात् उसका जीवन बेकार है ॥ २७ ॥ २८ ॥

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहीं, तहाँ न बुधि व्यवहार।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथिवार ॥ २९ ॥
जोगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दरवेस।
बिना प्रेम पहुँचे नहीं, दुरलभ सतगुरु देस ॥ ३० ॥

जहाँ प्रेम होता है वहाँ किसी तरह का नियम (परहेज) नहीं और बुद्धि पूर्वक व्यवहार भी नहीं होता। यहाँ तक कि जब प्रेम में मन निमग्न होता है तिथि बार की भी सुधि नहीं रहती। जोगी जंगमादि कोई भी हो बिना प्रेम सद्गुरु का उपदेश पाना दुर्लभ है॥ २९ ॥ ३० ॥

जो तूँ प्यासा प्रेम का, शीश काटि करि गोय ।
जब तूं ऐसा होयगा, तब कछु ह्वै सो होय ॥ ३१ ॥
पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान ।
दोय खड्ग इक म्यान में, देखा सुना न कान ॥ ३२ ॥

यदि तू प्रेम का प्यासा है तो शीश काटि कर गेंद बना ले । यदि ऐसा करेगा तो कुछ प्रेम रस चाखेगा ॥ यदि मान रख के प्रेम प्याला पीना चाहेगा तो यह नहीं होगा क्योंकि एक कोष में दो तलवार को किसी ने भी न देखा न सुना ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

गोता मारा सिंधु में, मोती लाये पैठि ।
वह क्या मोती पायँगे, (जो) रहे किनारे बैठि ॥ ३३ ॥
पिया पिया रस जानिये, उतरै नहीं खुमार ।
नाम अमल माता रहै, पिये अमीरस सार ॥ ३४ ॥

जिसने प्रेम-सागर में गोता लगाया उसने मोक्ष-मोती पाया । वह कहाँसे मोती पायगा जो किनारे बैठ रहा है ॥ प्रेम रस पिया उसीको जानो जिसे प्रेम नशा कभी नहीं उतरता सदा राम अमल में मते रहता है अमृत रस-सार पिया करता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

कबीर भाठी प्रेम की, बहुतक बैठे आय ।
शिर सौंपे सो पीवशी, नातर पिया न जाय ॥ ३५ ॥

ऐ कबीरो ! प्रेमकी भट्ठी में बहुतेरे आके बैठते हैं किन्तु प्रेम रस वही पीयेगा जो शिर सौंपेगा अन्यथा नहीं पिया जा सकता ॥ ३५ ॥

कबीर हम गुरु रस पिया, बाकी रही न छाक ।
पाका कलश कुम्हार का, बहुरि न चढ़सी चाक ॥ ३६ ॥
कबीर तासे प्रीति करु, जो निरबाहै ओर ।
बनै तो विविध न राचिय, देखत लागै खोर ॥ ३७ ॥

ऐ कबीर ! मैंने गुरु-प्रेमरस पान कर लिया और पुनः पीनेकी प्यास उस प्रकार न रही जिस प्रकार कुम्हार का पक्का घड़ा फिर चाककर नहीं

चढ़ता है ॥ ऐ कबीर ! उसी एकसे प्रेम कर जो अन्त तक निबाहे जहाँ तक बने अनेकों से प्रीति मत छोड़, देखने में बुरा मालूम पड़ता है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु है मैं नाँहि ।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाँहि ॥ ३८ ॥

स्वतः की अहंता में गुरु विषयक प्रेम नहीं रहता, खुदी मिटाने से खुद गुरु रमते हैं क्योंकि प्रेम मार्ग अत्यन्त बारीक है उसमें दो का गुजारा कहाँ ॥ ३८ ॥

अधिक सनेहो माछरी, दूजा अलप सनेह ।
जबही जलते बीछुरै, तबहीं त्यागै देह ॥ ३९ ॥
सौ जोजन साजन बसै, मानो हृदय मँझार ।
कपट सनेही आँगनै, जानो समुँदर पार ॥ ४० ॥

प्रेम रसकी प्यारी अधिक मछली है, उसकी अपेक्षा औरो में बहुत कम है । देखो जलसे वियोग होते ही देह त्याग देती है ॥ प्रेमी सैकड़ों योजनकी दूरीपर होते हुये भी जानो हृदय ही में है किन्तु कपटी यित्र तो संमुख होते भी समुद्र पार प्रतीत होता हैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥

यह तत वह तत एक है, एक प्रान दुइ गात ।
अपने जियसे जानिये, मेरे जियकी बात ॥ ४१ ॥

परस्पर प्रेमी के प्राणमें भेद नहीं होता, केवल शरीर दो है । प्रेमी का इस मूढ़ रहस्यको प्रेमी स्वयं दिल से जानता है ॥ ४२ ॥

जो जागत सो सपन में, ज्यौं घट भीतर साँस ।
जो जन जाको भावता, सो जन ताके पास ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार जो श्वास जाग्रतावस्थामें रहता है वही स्वप्नमें भी ॥ इसी प्रकार जो जिसके प्रेम पात्रहैं वह सदा उसके पास ही हैं ॥४२॥

प्रीति ताहि सो कीजिये, (जो) आप समाना होय ।
कबहुक जो अवगुन पड़ैं, गुनही लहै समोय ॥ ४३ ॥

अतः "समाने शोभते प्रीतिः" इस नीतिके अनुसार प्रीति उसी से करना चाहिये जो अपने समान हृदय का सच्चा प्रेमी हो यदि कदाचित अनुचित व्यवहार भी जान पड़े तो भी स्नेहीमें उचित गुणही की संभावना हृदय में रक्खे ॥ ४३ ॥

नाम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल ।
कबीर पीवन दुर्लभ है, माँगै शीश कलाल ॥ ४४ ॥
यह रस महँग सो पीवै, छाँड़ि जीव की बान ।
माथा साटै जो मिलै, तौ भी सस्ता जान ॥ ४५ ॥

यद्यपि नाम रसायन का प्रेमरस पीनेमें अधिक मधुर है तथापि ऐ कबीर ! उसे पीनेमें बड़ी कठिनाइयाँ हैं क्योंकि, कलाल (सद्गुरु) उसके बदले शिर माँगता है । यह कीमती रस वही पीता है जो जीनेकी आशा छोड़ता है । यदि वह शिर देने से मिले तो भी सस्ता समझो ॥४४॥४५॥

सबै रसायन हम किया, प्रेम समान न कोय ।
रंचक तन में संचरै, सब तन कंचन होय ॥ ४६ ॥
अमृत केरि मोटरी, राखो सद्गुरु छोरि ।
आप सरीखा जो मिलै, ताहि पिलावै घोरि ॥ ४७ ॥

हमने सबही रसायनोंको भी देखा, किन्तु प्रेम रसके समान कोई नहीं । यदि यह रत्ती मात्र भी शरीरमें प्रवेश करे तो भी सम्पूर्ण अंग को स्वर्ण बना देता हैं ।। इस अमृत घूँटीको सद्गुरुने मोटरी से खोल कर बाहर कर रक्खी है । किन्तु जो अपने समान मिलता है उसीको वह पिलाते हैं ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

अमृत पीवै ते जना, सतगुरु लागा कान ।
वस्तु अगोचर मिलि गई, मन नहिं आवा आन ॥ ४८ ॥
साधू सीप समुद्र के, सतगुरु स्वाती बुन्द ।
तृषा गई एक बुन्द से, क्या ले करो समुन्द ॥ ४९ ॥

अमृत घूँटी वही पीता है जिसे सद्गुरु मिले हैं। इन्द्रियों का

अविषय वास्तविक वस्तु उसे मिल गई उसके मनमें अब दूसरा नहीं भाता ॥ सन्त सागरके सीप और सद्गुरु स्वाती नक्षत्रकी बूँद हैं। एक ही बूँदसे तृषा (तृष्णा) मिट गई फिर समुद्रसे क्या लेना ? ॥४८॥४९॥

मिलना जगमें कठिन है, मिलि बिछुरो जनि कोय।
बिछुरा साजन तिहि मिलै, जिहि माथै मनि होय ॥ ५० ॥

संसारमें सद्गुरु मिलना कठिन है, मिलकर कोई मत बिछुड़ो। वियुक्त स्नेही पुनः उसी को मिलता है जिसके मस्तक में आकर्षक मणि है ॥५०॥

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पियको लिया रिझाय ॥ ५१ ॥
जब लगि मरने से डरैं, तब लगि प्रेमी नाँहि।
बड़ी दूर है प्रेम घर, समझि लेहु मन माँहि ॥ ५२ ॥

वह प्रभु प्रसन्नताके लिये नेत्रोंकी कोठरी बनाके आँख के ताराओं की शैया बिछादी और पलकों के चिक (पड़दा) डालके इसप्रकार प्रीतम को प्रसन्न कर लिया ॥ जब तक मरने का भय है तब तक प्रेमी नहीं हो सकता, उससे प्रेम घर बहुत दूर है इस बात को मन में भली भाँति समझ लो ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पियका मारग कठिन हैं, जैसा खाँडा सोय।
नाचन निकसा बापुरी, घूंघट कैसा होय ॥ ५३ ॥
पियका मारग सुगम है, तेरी चलन अबेढ़।
नाचि न जानै बापुरी, कहै आँगना टेढ़ ॥ ५४ ॥

प्रभु मिलने का मार्ग ऐसा कठिन है जैसा तलवार की धाँर। ऐ बपुरी ! नाचने चली फिर घूँघट (लाज) कैसा ? प्रीतमका मार्ग तो सीधा है किन्तु तेरा चलना ही बेढंगा है तू नाचने नहीं जानती व्यर्थ में आँगनको टेढ़ बतलाती है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

प्रीति बहुत संसार में, नाना विधि की सोय।
उत्तम प्रीति सो जानिये, सतगुरु से जो होय ॥ ५५ ॥

गुणवेत्ता औ द्रव्य को, प्रीति करै सब कोय।
कबीर प्रीती (सो) जानिये, इनंते न्यारी होय ॥ ५६ ॥

संसारमें प्रीति बहुत प्रकारकी है किन्तु उत्तम उसीको जानो जोसत्-गुरुसे है ॥ गुणवान्, धनवान् से प्रीति सब कोई करता है। ऐ कबीर ! प्रभु मिलनेकी प्रीति इससे अलग है ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

जो है जाका भावता, जब तब मिलि हैं आय।
तन मन ताको सौंपिये, (जो) कबहुँन छाँड़ी जाय ॥ ५७ ॥
जलमें बसै कुमोदिनी, चन्दा बसै अकास।
जो है जाका भावता, सो ताही के पास ॥ ५८ ॥

जो जिसका प्रेमी है वह कभी न कभी उसे अवश्य आय मिलता है। इसलिये तन मन उसीको सुपुर्द करना चाहिये जो साथ छोड़कर कभी न जाय। देखो, जल निवासिनी कुईं कहाँ और आकाशवासी चन्द्र कहाँ ? किन्तु जो जिसके आह्लाद जनकस्नेही है वह उसके पासही है ॥५७॥५८॥

तन दिखलावै आपना, कछू न राखे गोय।
जैंसी प्रीति कुमोदिनी, ऐसी प्रीति जु होय ॥ ५९ ॥
सही हेत है तासु का, जाको सतगुरु टेक।
टेक निबाहै देह भरि, रहै शब्द मिलि एक ॥ ६० ॥

प्रेमीको चाहिये कि प्रेमीसे अपना हृदय खोलकर दिखला दे और कुछ भी गुप्त न रक्खे। जैसे चन्द्रकी प्रेमी कमलनी हृदयको विकाश कर दिखला देती है ॥ जिसे सद्गुरुका प्रण है उसीका सच्चा प्रेम है। जो सद्गुरुके शब्दमें मिलकर एक रूपसे जीवन पर्यन्त प्रेम प्रणको निबाहता है ॥ ५९ ॥ ६० ॥

आगि आँचि सहना सुगम, सुगम खड़गकी धार।
नेह निबाहन एक रस, महा कठिन ब्यौहार ॥ ६१ ॥
नेह निबाहै ही बनै, सोचै बनै न आन।
तन दे मन दे शीश दे, नेह न दाजै जान ॥ ६२ ॥

अग्निकी आँच और तलवारकी धार सहन करना कोई मुश्किल नहीं है किन्तु स्नेहको एकरस निबाहना बहुत कठिन व्यवहार है ॥ प्रीति करके उसे ओर-छोर निबाहने ही में कुशल है, कुल मर्यादा या और कुछ खयाल करना लज्जास्पद है। चाहे तन, मन, शिर भले जाय किन्तु स्नेहको मत जाने दो ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

प्रेम पिछोरी तान के, सुख मंदिर में सोय।
घर कबीर को पाय के, कहा मुक्ति को रोय ॥ ६३ ॥
प्रीति पुरानि न होत है, जो उत्तम से लाग।
सो बरसाँ जल में रहै, पथर न छोड़ै आग ॥ ६४ ॥

ऐ कबीर ! प्रेमरूपी दुपट्टा तानके निज चित्स्वरूप घरको प्राप्तकर आनन्द महलमें सो रहो क्या मुक्तिके लिये रोते हो। जो श्रेष्ठसे प्रीति लगती है वह पुरानी नहीं होती, देख लो, सैकड़ों वर्ष जलमें रहनेपर भी पत्थर अग्निको नहीं त्यागता ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

गहरी प्रीति सुजान की, बढ़त बढ़त बढ़ि जाय।
ओछी प्रीति अजान की, घटत घटत घटि जाय ॥ ६५ ॥
कबीर सूरति मित्र की, दिनदिन चढ़ रहे चित्त।
तन ना मिलै तो क्या भया, मनतो मिलता नित्त ॥ ६६ ॥

अपराह्नकी छाया सदृश श्रेष्ठ ज्ञानियोंकी प्रीति गहरी होती है जो दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है और पूर्वान्ह की छाया के समान अज्ञानियों की प्रीति ओछी है जो घटते घटते बिलकुल घट जाती है ॥ ऐ कबीर ! मित्रका ध्यान चित्तमें प्रतिदिन लगा रहना चाहिये, शरीरसे नहीं भी मिले तो क्या ? मन तो नित्यप्रति मिलता है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

प्रीति जु तासों कीजिये, जाकी जात मजीठ।
प्रीति कुसुंब न कीजिये, भीड़ पड़े दे पीठ ॥ ६७ ॥
सजन सनेही बहुत हैं, सुख में मिले अनेक।
बिपति पड़े दुख बांटिये, सो लाखन में एक ॥ ६८ ॥

प्रीति उसीसे करनी चाहिये जिसकी जाति मजीठ[1] की तरह है किन्तु कुसुंब[2] रंगवाला से प्रीति हर्गिज न करनी चाहिये वह वक्त पड़े पर काम कदापि न देगा ॥ यों तो सुखके सज्जन स्नेही संगी अनेकों हैं किन्तु विपत्ति बँटानेवाले लाखोंमें कोई एक ही हैं ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

बलिहारी उस फूल की, जामें दूनो बास ।
अपना तन मन सौंपके, भया पुराना घास ॥ ६९ ॥
नेह निबाहन कठिन है, सबसे निभत नाँहि ।
चढ़वो मोम तुरंग पर, चलबो पावक माँहि ॥ ७० ॥

उस फूलको धन्यवाद है जिसमें द्विगुण सुवास है और जो दूस[illegible] प्रसन्नता अर्थ अपना सर्वस्व सौंपके स्वयं पुरानी घास बन जाता है ॥ प्रेमका आदि अन्त निर्वाह करना ऐसे मुश्किल है जैसे मोमके घोड़े पर सवार हो अग्निमें चलना, यह सबसे नहीं हो सकता ॥ ६९ ॥ ७० ॥

प्रेम प्रीति से जो मिले, ताको मिलिये धाय ।
कपट राखिके जो मिले, तासे मिले बलाय ॥ ७१ ॥
प्रीतम प्रीति बढ़ाय के, दूर देश मति जाय ।
हम तुम एकै नगर बसैं, (जो) भीख मांग नितखाय ॥ ७२ ॥

जो मप्रेसे मिले उससे दौड़कर प्रीति पूर्वक मिलो परन्तु कपटी मित्र को दूरसे त्यागो ॥ ऐ प्रीतम ! प्रीति बढ़ाकर दूर देश मत जावो । नित भीख माँगकर भले खावें किन्तु हम तुम एकही नगरमें रहैं ॥७१॥७२॥

पपिहा तो पिव पिव करे, निशदिन प्रेम पियास ।
पंछी विरुद न छाँड़हा, क्यौं छाँड़े निज दास ॥ ७३ ॥
आठ पहर चौसठ घड़ी, लागि रहै अनुराग ।
हिरदै पलक न बीसरे, तब सांचा वैराग ॥ ७४ ॥

१— एक बृक्ष विशेष, जिसकी लड़कीसे पक्का लाल रंग बनाते हैं ॥

२—कुसुम यह भी एक लाल रंगका पुष्प होता, जिसमें कपड़े रँगे जाते हैं किंतु रंग हलका होता है ॥

प्रेमरस पिपासु पपीहा अहोरात्र पिव २ करता है, ऐ प्रेमीजन ! पक्षी विरुद (वाना, टेक) नहीं छोड़ता तो निज दास क्यों छोड़ेंगे ? ॥ वही साँचा वैराग है जो अहोरात्र अनुरागमें लगा रहता है हृदयसे पल मात्र भी नहीं भूलता ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

जाके चित ननुराग है, ज्ञान मिले नर सोय ।
बिन अनुराग न पावई, कोटि करै जो कोय ॥ ७५ ॥
प्रेम पंथ में पग भरै, देत न शीश डेराय ।
सपने मोह ब्यापे नहिं, ताको जन्म नशाय ॥ ७६ ॥

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं' इसके अनुसार अनुरागी नरको ज्ञान मिलता है । प्रेम बिना करोड़ों उपाय व्यर्थ है ॥ प्रेम मार्ग में पग रखके शीश देते हर्गिज न डरे तो उसे स्वप्न में भी मोह नहीं व्याप्ता और वह जन्म मृत्युसे मुक्त हो जाता है ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

प्रेमको अङ्ग ॥ १५ ॥

अथ बिरहको अंग ॥१६॥

रात्यूं रूनी बिरहिनी, ज्यूं बच्चों को कुंज।
कबीर अंतर परगट्यो, बिरह अग्नि को पुंज ॥ १ ॥

प्रभु में रची पची बिरहिनी उदासीनी होके हृदय में ऐसे बिरह अग्नि प्रगट की जैसे बच्चोंसे बियोगी क्रौंच (करांकुल) पक्षी ॥ १ ॥

अमा कुंज, कुरलाइय, गरजि भरा सब ताल।
जिनते साहिब बीछुरा, तिनका कौन हवाल ॥ २ ॥

ताल तलैया सब भर जाने पर वर्षा ऋतु में करांकुल पक्षी आकाशमें चिल्लाते फिरते हैं। जिनके सद्गुरु से वियोग है उनकी दशा क्या कहें ? ॥ २ ॥

चकवी बिछुरी रैन की, आय मिली परभात।
जो जन बिछुरे नाम सो, दिवस मिले नहिं रात ॥ ३ ॥
बासर सुख नहिं रैन सुख, ना सुख सपना माँहि।
जो नर बिछुरे राम सों, तिनको धूप न छाँहि ॥ ४ ॥

रात्रीकी वियोगिनी चकवी प्रभात होते ही पुनः चकवे से आ मिलती है, किन्तु जो प्रभु नाम से बिछुड़े हुए हैं वे तो न दिन में मिलते न रात में ॥ जो जन राम से विमुख हैं उन्हें न दिन सुख न रात। यहाँ तक कि स्वप्न में भी शान्ति नहीं सर्वत्र सन्तप्त धूपी धूप ही दीखती है कहीं भी छाया नहीं ॥ ३ ॥ ४ ॥

बहुत दिनन की जोहती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुव मिलन को, मन नाँहीं बिसराम ॥ ५ ॥

बिरहिनि ऊभी पंथ शिर, पंथी पूछै धाय।
एक शब्द कहो पीव का, कबहि मिलैंगे आय ॥ ६ ॥

ऐ राम ! मिलने के लिये तेरी राह बहुत दिनों से देख रहा हूँ, तेरे दर्शन को जी तरस रहा है, मनमें शान्ति नहीं है ॥ मार्ग में खड़ी हो वियोगिनी राही से दौड़ २ पूछती है कि प्रभु मिलने का एक शब्द भी तो सुनाओ, कब वो आकर मिलेंगे ? ॥ ५ ॥ ६ ॥

बिरहिनि देय संदेसरा, सुनो हमारे पीव।
जलबिन मछली क्यों जिये, पानी में का जीव ॥ ७ ॥
बिरहिनि देय संदेसरा, सुनहू राम सुजान।
बेगि मिलो तुम आयके, नहिं तो ताकहौं प्रान ॥ ८ ॥

वियोगिनी सन्देश (समाचार) देती है, ऐ प्राणनाथ ! हमारी सुनो, पानी का जीव मछली पानी बिना कैसे जीवेगी ? ऐ राम सुजान ! हमारी बात सुनो और शीघ्र आकर मिलो नहीं तो प्राण छोड़ दूंगी ।७-८

बिरहिनि बिरह जलाइया, बैठी ढूंढ़ै छार।
मति को (य) कुईला ऊबरै, जारै दूजी बार ॥ ९ ॥
बिरहिनि जलती देखि के, सांई आये धाय।
प्रेम बूंद सो छिरकि के, जलती लेय बुझाय ॥ १० ॥

बिरहिनो ने पति के वियोग रूपी अग्नि जलाई और बैठकर इस चिन्ता में खाक ढूँढ़ रही है कि पुनः बिरह अग्नि को जलाने को कोई कोयला भी बाकी न रहै ॥ इस प्रकार जलती हुई बिरहिनी को देखकर स्वामी दौड़कर आये और प्रेम बूंद का छींटा देकर जलने से बचा लिये ॥ ९ ॥ १० ॥

बिरहिनी थी तो क्यौं रही, जरी न पिवके साथ।
रहि रहि मूढ़ गहेलरी अब क्यौं मींजै हाथ ॥ ११ ॥
बिरहिनि उठि उठि भुँइ परै दरशन कारण राम।
लोहा माटी मिल गया तब पारस किहि काम ॥ १२ ॥

यदि बिरहिनी थी तो पति के साथ सती क्यों न हो गई। ऐ मूढ़! पगली!! अब क्यों रह २ के पश्चात्ताप करती है॥ रामके दर्शन निमित्त बिरहिनी उठ २ के भूमि पर पड़ती है॥ किन्तु "मुये करहिं क्या सुधा तड़ागा" के अनुसार लोहे को जब मिट्टी खा गई तब पारस किस काम का? समय चूकने पर कुछ नहीं होता॥ ११॥ १२॥

मूये पीछे मति मिलो कहैं कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया तब पारस किहि काम॥ १३॥
बिरह जलन्ती मैं फिरूँ, मोहि बिरह का दूख।
छाँह न बैठूँ डरपती, मति जलि ऊठै रूख॥ १४॥

वियोगी कहता है, ऐ राम! मूये पीछे मत मिलो, लोहा को मिट्टी खाने पर पारस का स्पर्श व्यर्थ है॥ बिरह अग्निसे जलती हुई मैं फिरा करती हूँ मुझे बिरहका दुःख है, इस भय से छाया (आशा) में भी नहीं बैठती कि कहीं वृक्ष (प्रेम) न जल उठे॥ १३॥ १४॥

बिरह तेज तन में तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव में, मौत ढूँढ़ि फिरि जाय॥ १५॥
बिरह कमंडल कर लिये वैरागी दो नैन।
माँगै दरस मधूकरी, छके रहै दिन रैन॥ १६॥

बिरह ताप तनमें तप रहा है प्रत्यङ्ग व्याकुल होता है। जीव पीवमें लगा है मौत भी शरीर सूना देखकर पीछे लौट जाती॥ बिरह कमण्डल हाथ में लिये हुए दोनों नेत्र वैरागी बन के प्रभु दर्शन की भिक्षा माँगते हैं और उसी में अहो रात्र मस्त हैं॥ १५॥ १६॥

बिरह बिथा वैराग की, कही न काहू जाय।
गूँगा सपना देखिया, समुझि समुझि पछिताय॥ १७॥
बिरह बड़ो बैरी भयो, हिरदा धरै न धीर।
सुरति सनेही ना मिलै, मिटै न मन की पीर॥ १८॥

बिरह, वैराग का दुख इस प्रकार किसी से नहीं कहा जाता जिस

प्रकार गूँगा स्वप्न देखता और समझ २ पछताता है ॥ वियोग का भारी बैरी बिरह है ? हृदयमें धैर्य नहीं रहने देता। जब तब वृत्तिका प्रिय लक्ष्य नहीं मिलता तब तक मनका दुःख भी नही मिटता ॥ १७ ॥ १८ ॥

बिरह प्रबल दल साजिके, घेरि लियो मोहि आय।
नहिं मारै छाड़ै नहीं, तलफि तलफि जिय जाय॥ १९ ॥
बिरह कुल्हाड़ी तन बहै, घाव न बाँधै रोह।
मरने का संशै नहीं, छूटि गया भ्रम मोह ॥ २० ॥

बिरहने अपना प्रबल दल साज के मुझे सब तरफ से आ घेरा वह न तो मारता है न छुटकारा देता है। उसी में तड़फड़ाते मेरा जी जाता है ॥ यद्यपि बिरह टाँगी तन पर लग रही है और घाव पुरने नही पाता। तथापि मुझे मरनेका संशय तो है नहीं क्योंकि भ्रान्ति और मोह छूट गया है ॥ १९ ॥ २० ॥

बिरह जलाई मैं जलूँ, जलती जलहर जाऊँ।
मो देखा जलहर जलै, सन्तों कहं बुझाऊं ॥ २१ ॥

बिरह-ज्वाला से मैं जल रही हूँ और शान्त्यर्थं जहाँ कहीं जिस जलाशयकी शरण लेता हूँ मुझे देख वह भी जलने लगता है, कहो ! सन्तो ! विरह अग्नि कहाँ बुझाऊं ॥ २१ ॥

बिरहा पूत लुहार का, धुवै हमारो देह।
कुइला किया न छूटिहै, जब लग होय न खेह ॥ २२ ॥

बिरहा पीव पठाइया, कही साधु परमोधि।
जा घट ताला बेलिया, ताको लावो सोधि ॥ २३ ॥

बिरहा मानो लोहारका पुत्र है, हमारे शरीरको धौंक-धौंक कर जलाया करता है। कोयला होने पर भी नहीं छोड़ता जबतक कि राख न हो जाय ॥ बिरहको प्रभुने यह कहके भेजा है कि उस साधुको शोध-कर बोधो और मेरे पास लावो जिसके हृदय में मेरे वियोगकी बेचैनी है ॥२२॥२३॥

बिरहा आया दरद सों, कडुवा लागा काम ।
काया लागी काल ह्वै, मीठा लागा राम ॥ २४ ॥
बिरहा सेती मति अड़ै, रे मन मोर सुजान ।
हाड़ मांस रग खात है, जीवत करै मसान ॥ २५ ॥

जिसे विरह दुःख प्राप्त हुआ उसे सांसारिक कामनाएँ कडुवी लगने लगी। और काया काल रूप, केवल एक रामही मीठा लगा॥ ऐ सुजान मेरे मनो राम! बिरहासे विरोध मतकर वह तो हाड़, मांस, रग सबही खाता और जीते जी श्मशान बनाता है अर्थात् सांसारिक भाव छुड़ाकर प्रभुमय जीवन बनाता है। २४ ॥ २५ ॥

बिरही प्राणी बिरह की, पिंजर पीर न जाय ।
एक पीर है प्रीति की, रही कलेजे छाय ॥ २६ ॥
बिरहा बिरहा मति कहो, बिरहा है सुलतान ।
जा घट बिरह न संचरे, सो घट जान मसान ॥ २७ ॥

बिरही प्राणीको शरीरसे बिरह-दुख दूर नहीं होता, बस! एकहीप्रेम पीर हृदयमें छाय रहती है॥ बिरहको बिरह मत कहो वह तो बड़ा बादशाह है। जिस हृदयमें बिरहका प्रवेश नहीं वह मरघट समझो।२६।२७।

बिरहा मोसों यों कहै, गाढ़ा पकड़ो मोहि ।
चरण कमल की मौज में, ले पहुँचावौ तोहि ॥ २८ ॥

बिरह तो मुझसे ऐसा कहता है कि मुझको दृढ़कर पकड़ो तो तुझे प्रभुके चरणारविन्दके आनन्दमें लेकर पहुँचा दूँगा॥ २८॥

कबीर सुन्दरी यों कहै, सुनिये कन्त सुजान ।
बेगि मिलो तुम आय के, नहि तो तजिहौं प्रान ॥ २९ ॥

वियोगिनी दुलहिन यों कहती है कि ऐ ज्ञानवान् प्राणनाथ। सुनो! तुम शीघ्र आकर मिलो, नहीं तो प्राण त्याग दूँगी॥ २९॥

कबीर हँसना दूर करु, रोने से करु चीत ।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत ॥ ३० ॥

ऐ कबीर ! हंसी खेल दूर कर, प्रभुसे दुखरो और प्रेम कर। प्रेम प्यारा प्रभु मित्र बिना प्रेम रुदन के कैसे पायेगा ॥ ३० ॥

कबीर चिनगी बिरह की, मो तन पड़ी उड़ाय।
तन जरि धरती हूं जरी, अंबर जरिया जाय ॥ ३१ ॥

ऐ कबीर ! बिरह की चिनगारीं उड़कर जब मेरे तामसरूप तन पर पड़ी तब तन तामस जलकर तज्जन्य कुबुद्धिरूपी धरती भी जल गई और अहन्तारूप आकाश भी जल गया ॥ ३१ ॥

कबीर बैद बुलाइया, जो भावै सो लेय।
जिहि जिहि ओषधहरि मिलै, सो सो औषध देय ॥ ३२ ॥
कबीर बैद बुलाइया, पकरिके देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानसी, करक कलेजे माँहि ॥ ३३ ॥

बिरह-रोग निवृत्ति अर्थ जिज्ञासु ने वैद्य (गुरु) को लाया और कहा जो चाहो सो लो और प्रभु मिलनेका जो जो औषध (उपदेश, मार्ग) है सो सो दो ॥ यद्यपि वह वैद्य (गुरुवा) बाँह पकड़के नब्ज भी देखा अर्थात् उपदेश भी दिया तथापि शिष्यके हृदयका सन्ताप दूर नहीं हुआ क्योंकि वह वैद्य संसारी गुरु) उसके दुखको नहीं जाना, न जानता है। जो हृदयमें बिरह कसक रहा है। यह तो सद्गुरु वैद्यका काम है।२३॥३३।

जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या बेदन निरमई, भला करेगा सोय ॥ ३४ ॥
अन्देसो नहिं भागसो, सन्देसो कहि आय।
कै हरि आया भाग सों, कै हरि पास गवाँय ॥ ३५ ॥

ऐ वैद्य ! तू अपने घर की राह ले, यहाँ तेरा किया कुछ न होगा जिसने इस बिरह दरदको निर्माण किया है बस वही भला करेगा। यथा—'कासीद तेरा न काम यह तू अपनी राह ले। दिल का पयाम उसके सिवा कौन ला सके ॥'' इत्यादि सन्देश कहने से चिन्ता नहीं जा सकती। हृदय बिदारी बिरह दुख तो तब ही दूर होगा जब सौभाग्य से प्रभु आ मिलेगा या प्रभुके पास ही चला जाऊँ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

आय न सकिहौं तोहि पै, सकूँ न तुझै बुलाय।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाय तपाय॥ ३६॥
या तन जारूँ मसि करूँ, धूँवा जाय सुरंग।
मति वह राम दया करै, बरसि बुझावै अंग॥ ३७॥

ऐ प्रभु! न मैं तेरे पास आ सकता न तुझे बुलाही सकता हूँ। मालूम होता है कि दर्शन बिना बिरह अग्निमें तपा तपाकर तू यों ही मेरा जी लेगा॥ भले वह राम अनुग्रह न करे। मैं इस शरीर ही को जलाकर काला कोयला कर डालूँ और उसका धुआँ सीधा वहाँ तक चला जाय और बादल बनके वृष्टि द्वारा तनकी तपन बुझा दे॥३६॥ ३७॥

या तन जारूँ मसि करूँ, लिखूँ राम को नाँव।
लेखनि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाँव॥ ३८॥
साँई सेवत जरि गई, माँस न रहिया देह।
साँई जब लग सेय ही, या तन ह्वै हैं खेह॥ ३९॥

शरीरको जलाकर स्याही और हड्डीको कलम बना के रामका नाम लिखकर उनके पास भेज दूँ, शायद इसी से खुश हों॥ बिरहिनी प्रभु चिन्तन में जल गई, तनमें मांस नहीं रह गया। बेशक, स्वामीकी सेवामें शरीर भस्म हो जायगा॥ ३८॥ ३९।

कै बिरहिनि को मीच दे, (कै) आप आय दिखलाय।
आठ पहर का दाझना, मो पै सहा न जाय॥ ४०॥
तन मन जोबन जारिके, भसम किया सब देह।
उठो कबीरा बिरहिनि, अजहूँ ढूंढ़ै खेह॥ ४१॥

ऐ प्रभु! या तो बिरहिनीको मृत्यु दे या स्वयं आकर दर्शन, क्योंकि मुझसे आठ पहरकी जलन सहन नहीं होती। तन-मनकी ज्वानी (उमंग) जलाकर शरीर को भी भस्म कर डाला, तिसपर भी बिरह उठकर अभी बिरह ही की खाक ढूँढ़ रहा है॥ ४०॥ ४१॥

हूँ जु बिरहकी लाकड़ी, सपुचि सपुचि धुँधवाय।
छूटि परूँ जो बिरह सों, सगरी ही जलिजाय॥ ४२॥

लकड़ी जलि कुइला भई, मो तन अजहूँ आग ।
बिरह की ओदि लाकड़ी, सिलग २ उठि जाग ॥ ४३ ॥

मैं बिरही प्रभुका बियोग-दुःख को समझ २ कर ओदी लकड़ी की तरह अन्दरही अन्दर धुधुआय रहा हूं । यदि बिरह से छुटूं तो सम्पूर्ण जलकर खाक हो जाऊं ॥ लकड़ी जलकर तो कोयला हो गया किन्तु मेरे तनमें तो इस क्षण भी गीली लकड़ी की तरह बिरह अग्नि सिलग २ कर उठती रहती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

निशदिन दाझे बिरहिनि, अंतर गति की लाय ।
दास कबीरा क्यों बुझै, सतगुरु गये लगाय ॥ ४४ ॥
तन मन जोबन यों जला, बिरह अगिनि सोंलागि ।
मिरतक पीर न जानही, जानेगी वा आगि ॥ ४५ ॥

बिरहिनी अन्दर की बिरह अग्निसे अहोरात्र जलती रहती है । ऐ कबीरा ! सद्गुरुकी लगाई हुई अग्नि दास को दर्शन बिना कैसे बुझे । बिरह अग्नि से तन, मनकी तरंग योंही जल गई । मृतक दुःखको क्या जाने ? इसे तो अग्नि जानेगी ।, ४४ ॥ ४५ ॥

चोट सतावै बिरह की, सब तन जरजर होय ।
मारन हारा जानि है, कै जिस लागि सोय ॥ ४६ ॥
अँखियन तो झाँई परी, पंथ निहार निहार ।
जिभ्या तो छाला पड़्या, नाम पुकार पुकार ॥ ४७ ॥

बिरह चोट बिरहिनी को ऐसा सताती है कि उसका शरीर जीर्ण हो जाता है । इस चोटको तो वही अनुभव करता है जिसने मारी और जिसको लगी ॥ उसके बाट की प्रतीक्षा में आँखों में झाँई और नाम स्मरणसे जिह्वामें छाला पड़ गया ॥४६॥४७।

नैनन तो झड़ि लाइया, रहट बहे निसुघास ।
पपिहा ज्यों पिवपिव रटै, पिया मिलन की आस ॥ ४८ ॥
सब रग ताँती रबाब तन; बिरह बजावै नीत ।
और न कोई सुनि सकै, कै साँई कै चीत ॥ ४९ ॥

प्रभु मिलनेकी आशामें तो निशिवासर रहटकी तरह नेत्रसे आँसुका प्रवाह चल रहा है। और जिह्वा पपीहाकी तरह पिव २ नाम रटन कर रही है॥ तनके अन्दरके सम्पूर्ण तन्तु (नसें) नित प्रति रबाब बाजा की तरह बज रहे हैं और बिरह बजा रहा है। इसे स्वामी और बिरहिनीके अतिरिक्त दूसरा नहीं सुन सकता ॥४८॥४६॥

या तनका दिवला करूँ, बाती मेलूँ जीव।
लोहू सींचूँ तेल ज्यौं, तब मुख देखूँ पीव ॥ ५० ॥
अंखियां प्रेम कसाइयाँ, जिन जानौ दुखदाय।
नाम सनेही कारनै, रो रो रात बिताय ॥ ५१ ॥

प्रभुका मुख तबहीं देख सकता हूँ जब इस तन को दीपक और जीव को बत्ती बनाके उसे तेलकी जगह रुधिर से सोचूँ॥ भावार्थ— सर्वस्व अर्पण किये बिना प्रभु नहीं मिल सकता॥ ऐ प्रेमीजन। यदि प्रभु प्रेम प्रतीक्षामें आँखें कसा गई तो भले, उसे दुखदाई मत समझो। प्रभु दर्शनके वास्ते राम स्नेही इसी प्रकार रो रो (प्रभु-गुण गान में) रात बिताते हैं। ५०॥५१॥

हसुँ तो दुःख न बिसरूँ, रोऊँ बल घटि जाय।
मनही माँहि बिसूरना, ज्यौं घुन काठहि खाय ॥ ५२ ॥
काठहि घून जो खाइया, खात न किनहु दीठ।
छाल उखाड़ा देखिये, भीतर जमिया चीठ ॥ ५३ ॥

हँसनेसे भी तो दुख नहीं भूलता, रोने से शक्ति क्षीण होती है इस हालतमें ऐसे मनही मन सुसकना है, जैसे घुन काष्ठको अन्दर ही अन्दर खाता है॥ काष्ठ खाते घुनको बाहरसे कोई नहीं देखता किन्तु छिलका उखाड़ कर देखिये तो अन्दर चूर्ण का ढेर लगा है ॥५२॥५३॥

चीठर जमिया चूनका, बैरी बिरहा खद्द।
बीछुरिया सो साजना, बेदन काहू लद्द ॥ ५४ ॥
हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलाँ पिव मिले, (तो) कौन दुहागिन होय ॥ ५५ ॥

बिरहिनीका जानी दुश्मन तो बिरहा है जो भीतर ही भीतर सन्ताप देता है । प्रभु वियोगी का दुख प्रभु बिना कौन ले सकता है ? कोई नहीं ॥ मौज, शौकसे स्वामीको किसीने भी नहीं पाया, किसीने पाया भी तो रोकर। यदि हँसी खेलसे प्रभु मिले तो विधवा कौन रहे ? अर्थात् वैधव्यका दुख कौन सहेगा ॥५४॥५५॥

हाँसी खेलाँ पिव मिलै, (तो) कौन सहे खुरसान।
काम क्रोध तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान ॥ ५६ ॥
देखत देखत दिन गया, निशि भी देखत जाय।
बिरहिनी पिव पावै नहीं, जियरा तलफत जाय ॥ ५७ ॥

मौज शौकसे प्रभु मिलता तो खुराफात कौन सहता ? जो काम क्रोध तृष्णाको तजता है उसीको प्रभु मिला व मिलता है ॥ उसीकी प्रतीक्षा में सारा दिन गया और रात भी चली जायगी । पति वियोगिनी पतिको पाती, नहीं तड़फड़ाती हुई समय बिताती है ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

रोवत रोवत मैं फिरूँ, नैन गँवायो रोय।
सो बूटी पाऊं नहीं, जासों जीवन होय ॥ ५८ ॥
नैना अन्तर आव तू, निशदिन निरखूं तोहि।
कब हरि दरशन देहुगे, सो दिन आवै मोहि ॥ ५९ ॥

प्रभु-चिन्तामें रोता फिरता हूँ इसी रोनेमें समय भी गमा बैठा तिसपर भी वह बूटी (प्रभु) नहीं पाता जिससे कि जीवन हो ॥ ऐ प्रभु ! तू नेत्रोंके भीतर आ जा, तुझे रात दिन देखा करूँ, कब दर्शन दोगे, मुझे कब वह दिन प्राप्त होगा ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

नैन हमारे बावरे, छिन छिन लोरै तुझ्झ
ना तुम मिलो न मैं सुखी, ऐसी बेदन मुझ्झ ॥ ६० ॥
रनयाँ राम छिपाइयां, रहु रहु संख मझूर।
देवल देवल धाहरी, दिवस न ऊगै सूर ॥ ६१ ॥

हमारे दीवाने नेत्र तेरे दर्शनको पल २ चाह रहे-हैं। ऐ प्रभु ! न

तुम मिलते हो न मैं सुखी होता हूँ, ऐसा दुख मुझे है। ऐ राम! तुम तो रनवाँ संख मभूर अर्थात् इसी शरीर रूप जंगलमें हर दम छिपे रहते हो और मैं मन्दिर २ दौड़ा करता हूँ वहाँ कहाँसे मिले? अतः तुम्हारे दर्शन रूप सूर्य बिना दिनही में अन्धेरा है ॥६०॥६१॥

फारि पटोरा धज करूं, कामलियां पहराऊं।
जिन जिन भेषै हरि मिलै, सो सो भेष बनाऊं ॥ ६२ ॥
गलौं तुम्हारे नाम पर, ज्यौं पानी में लौन।
ऐसा बिरहा मेलि के, नित दुख पावै कौन ॥ ६३ ॥

कहो तो रेशम वस्त्रको फाड़कर धज्जी उड़ा दूँ और इस तन को काली कमली पहिरा दूँ। ऐ प्रभु! जिस-जिस वेषसे तुम मिलो वही-वही वेष बनाऊँ॥ पानीमें लवणकी तरह तेरे नाममें गलना होय तो मंजूर है किन्तु ऐसा बिरह लगाके प्रतिदिन का दुःख कौन सहे? ॥६२॥६३॥

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥ ६४ ॥
मो बिरहिनका पिव मुआ, दाग न दीया जाय।
मांसहि गलि गलि भुइंपरा, करंक रही लपटाय ॥ ६५ ॥

संसारी सब सुखी हैं, मौज शौक करते और अचिन्त निद्रा सोते हैं प्रभु सेवक बिरही दुखी हैं, प्रभु दर्शनकी चाह में मोह-निशा में जागते और गुणानुवाद रोते यानी गाते हैं॥ बिरहिनीका मोहरूप पति मर गया किन्तु आशावश उसे जलाया नहीं जाता। शरीरका ममता मांस गलकर मिट्टी हो गया तो भी तृष्णारूपी हड्डी लिपट रही है ॥६४॥६५॥

भली भई जो पिव मुवा, नित उठि करता रार।
छूटी गल की फाँसरी, सोऊँ पाँव पसार ॥ ६६ ॥
काक करंक ढँढोरिया, मुठि इक रहिया हाड़।
जिस पिंजर बिरहा बसै, माँस कहाँ रे राड़ ॥ ६७ ॥

अहो! बहुत अच्छा हुआ कि पति (चाह) मर गया जिसके लिये

प्रति दिन प्रपंच करना पड़ता था। अब गलेका बन्धन मिट गया, अतः बेफिक्र सोता हूँ ॥ यद्यपि मुट्ठी भर हड्डी रह गई अर्थात् प्रारब्ध मात्र रह गया है तो भी कागा-कुबुद्धि या मांस भक्षी मृत्यु हड्डी टँटोल रही है। ऐ चण्डाल! जिस शरीर में विरह अग्नि लगी है उसमें मांस कहाँ? ॥६६।६७॥

माँस गया पिंजर रहा, तसकन लागे काग।
साहिब अजहुं न आइया, मन्द हमारे भाग॥ ६८॥

विरह व्यथासे शरीरका मांस गल गया मात्र अस्थि पंजर रह गया है मृत्युरूपी काग भी बुरी निगाहसे देखने लगा। अपने मन्द भाग्यकी गाथा कहाँ लग कहूँ अद्यावधि स्वामीका दर्शन दृष्टिपथ नहीं हुआ ॥६८॥

काग करंक न चूथि रे, उड़ि रे परेरो जाय।
मैं दुख दाझी बिरह की, (तू) दाझा मास न खाय॥ ६९॥
रगत मास सब भषि गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागो हाड़ चबान॥ ७०॥

ऐ मृत्युरूप काग! अब तू उड़कर अलग हो जा हड्डीको मत चोंथ, मैं विरह अग्निकी जली हूँ तू जला मांस खाता भी नहीं। तात्पर्य—भोगार्थी मृत्युका भक्ष्य होता है॥ आशा रक्त और ममता मांसको खाने में बिरहाने जरा भी मुलाहिजा न किया सब खा गया। अब कूकर होके हड्डी चूसने लगा अर्थात् प्रारब्ध भोग भी शान्ति से नहीं भोगने देता उसमें भी उपाय करता है॥ ६९॥ ७०॥

पिय बिन जिय तरसत रहै, पल पल बिरह सताय।
रैन दिवस मोहिं कल नहिं, सिसकि २ दम जाय॥ ७१॥
जो जन बिरही नाम के, तिनकी गति है येह।
देही से उद्यम करै, सुमिरन करै बिदेह॥ ७२॥

प्रभु बिना जी तरस रहा है और बिरहा क्षण-क्षण सता रहा है रात न दिन, कभी भी मुझे शान्ति नहीं, सुसक-सुसक श्वास निकलता है।

जो राम के वियोगी हैं उनका यही हाल है कि विदेह स्वरूप का चिन्तन रूप उद्यम सदैव देह से किया करते हैं ॥७१॥७२॥

मैं तुमको ढूँढ़त फिरूँ, कहूं न मिलिया राम।
हिरदा माँहि उठि मिलै, कुसल तुम्हारे काम ॥ ७३ ॥
अंक भरै भरि भेंटिया, मन में बाँधी धीर।
कहैं कबीर वह क्यों मिले, जब लग दोय शरीर ॥ ७४ ॥

ऐ राम ! मैं तुझे ढूंढ़ता फिरा परन्तु तू कहीं भी नहीं मिला यदि मिला तो उठकर मन ही में, धन्य है तू। और तेरा काम ॥ मन में धैर्य धरके हृदयका परदा उठाकर खूब ही मिला। कबीर गुरु कहते हैं जब तक दो देहकी दुविधा है तब तक वह कैसे मिले? हर्गिज नहीं ॥७३॥७४

जीव विलम्ब बीजासों, अलख लख्यो नहिं जाय।
साहिब मिले न झल बुझै, रही बुझाय बुझाय ॥ ७५ ॥
जीव विलम्बा जीव सों, पिय जो लिया मिलाय।
लेख समाना (अ) लेख में, अब कछु कहा न जाय ॥ ७६ ॥

जीव अपने आपमें स्थित हो गया, अब वह दूसरेको लखनेमें नहीं आता अतः अलखसा हो गया। स्वामी के मिलाप बिना बिरह ज्वाला चाहे कोटि उपाय करो अन्य साधन से कदापि नही बुझती ॥ जब सद्-गुरु स्वामी ने रहस्य बतलाया तब स्वस्वरूप में जीव लीन हो गया। निज घर पहुंचने पर पन्थवार्ता समाप्त हो गई ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

सबको (य) बिरहिनि पीयरी, तूँ बिरहिनि क्यूँ लाल।
परचा पाया पीव का, यौं हम भई निहाल ॥ ७७॥
अविनाशी की सेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे को शोभा नहीं, देखे ही परमान ॥ ७८ ॥

प्रश्न—विरहिनी सब पीली होती हैं, तू लाल क्यों है? उत्तर—प्रभु का परिचय होने से हम कृतकृत्य हो गई ॥ प्रश्न—अविनाशी पुरुष की शैया का कैसा और क्या अन्दाज है? उत्तर—उसकी शोभा का

अन्दाज कहने में नही आ सकता वह तो देखने ही से प्रमाणित होता है ॥७७॥७८॥

अविनाशी की सेज पर, केलि करे आनन्द ।
कहैं कबिर या सेज पर, विलसत परमानन्द ॥ ७९ ॥
तन मन जोबन जरि गया, बिरह अगिनि घट लाग ।
बिरहिन जानै पीर को, क्या जानेगी आग ॥ ८० ॥

जो अविनाशी सेज पर लेटता वह अनुत्तम आनन्द क्रीड़ा करता है, कबीर गुरु कहते हैं उस सेज पर परम आनन्द का विलास होता है ॥ हृदय में विरह अग्नि लगी और उसी में सर्वस्व स्वाहा हो गया । उस निर्धनता को बिरहिनी जानती है, या अग्नि अथवा अग्नि क्या ? जानेगी ॥ ७९-८० ॥

आग लगी आकाश में, झरि झरि परे अंगार ।
कबीर जलि कंचन भया, काँच भया संसार ॥ ८१ ॥
तन मन जोबन जारि के, भसम किया सब देह ।
बिरहिन जरि जरि मरि गई, क्या तू ढूँढ़ै खेह ॥ ८२ ॥

हृदय आकाश में बिरह अग्नि लगी और काम क्रोधादिरूप आग जलकर झोला हो गिर पड़ा, प्रभु प्रेमी जलकर शुद्ध कंचन बन गया और संसारी कांच ही रह गया ॥ बिरह चितापर तन, मन यौवन जला कर सारा शरीर भस्म कर दिया और विरहिनी मर गई, ऐ बिरहा ! अब तू क्या खाक ढूढ़ंता है ॥८१॥८२॥

लकड़ी जलि कुइला भई, कुइला जलि भई राख ।
मैं बिरहिनि ऐसी जली, कुइला भई न राख ॥ ८३ ॥
दीपक पावक आनिया, तेल भि आना संग ।
तिनूँ मिलि के जाईया, उड़ि उड़ि परै पतंग ॥ ८४ ॥

लकड़ी जलकर कोयला और कोयला जलकर भस्म हुआ किन्तु मैं विरहिनी इस प्रकार जली कि न कोयला हुई न खाक ॥ श्रद्धा दीपक,

विरह अग्नि और साथ ही में स्नेह तेल को तुलाया इस प्रकार तीनोंको मिलाके ज्ञान दीपक जलाया बस। उसमें आशा तृष्णादि सकल सलभ जलकर भस्म हो गये इस प्रकार मैं शुद्ध हो गई ।।८३।।८४।।

हवस करे पिय मिलन की, औ सुख चाहै अंग।
पीड़ सहै बिनु पदमिनी, पूत न लेत उछंग ।। ८५ ।।
चूड़ी पटकूँ पलँग से, चोली लाऊँ आगि।
जा कारण या तन धरा, ना सूती गल लागि ।। ८६ ।।

जो प्रभु मिलनेकी इच्छा करता है और शरीरका सुख भी चाहता है ये दो बातें इस प्रकार नहीं बन सकती जिस तरह प्रसव पीड़ा सहै बिना पद्मिनी (स्त्री) अपने गोदको पुत्रसे सुशोभित नहीं कर सकती। यदि प्रभु मिलाप नहीं तो नर तनका शृङ्गार सब अङ्गार है ।।८५।।८६।।

पावक रूपी नाम है, सब घट रहा समाय।
चित चकमक चहुटै नहीं, धूँवा ह्वै ह्वै जाय ।। ८७ ।।

अग्निरूप प्रभु का नाम प्रत्येक घटमें उपस्थित है किन्तु चित्तरूप चकमक उससे नहीं लगता अतः प्रकाश न होकर धूवाँ ही धूवाँ होकर रह जाता है ।। ८७ ।।

राम वियोगी विकल तन, ताहि न चीन्है कोय।
तम्बोली का पान ज्यौं, दिन दिन पीला होय ।। ८८ ।।

राम वियोगीका मन व्यग्र होता है उसे कोई नहीं पहिचानता। तम्बोलीके पानकी तरह उसका तन प्रतिदिन पीला होता जाता है ।।८८।

पील कँदौरी साइयाँ, कँवल कहै इस रोग।
छौने लघन नित करूँ, राम पियारे जोग ।। ८९ ।।

मैं स्वामीके वियोगमें कन्दूरीकी तरह पीली हो गई। ना समझ लोग इसे कमला रोग बतलाते हैं। प्रिय रमण रामके मिलने के लिये प्रतिदिन मैं पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मनके विषयोंपभोगोंका त्यागरूप उपवास करता हू ।। ८९ ।।

जिहि साँई का सोच है, सो तन फूलै नाँहि ।
जन कबीर सिमटा रहै, ज्यौं अजा सिंह पाँहि ॥ ९० ॥

स्वामी मिलनेकी जिसे चिन्ता है उसे सांसारिक भोगमें प्रसन्नता कहाँ ? ऐ कबीर ! प्रभु प्रेमीजन संसार भोग से ऐसे संकुचित रहते हैं जैसे छेरी सिंह से ॥ ९० ॥

मेरे मन होरी जरै, सब कोई खेले फाग ।
खेत सु मिरगा खा गया, राजा माँगे भाग ॥ ९१ ॥

मेरे मनमें होलिका जल रही है अर्थात् मैं विरह अग्नि में जली जा रही हूँ। लोग सब फगुवा खेलते हैं। क्या आश्चर्य है ? खेतको तो मिरगा चर गया और राजा को कर की लगी है ॥ ९१ ॥

बिरहा बूरा जनि कहो, बिरहा है सुलतान ।
जा घट हरि बिरहा नहिं, सो घट सदा मसान ॥ ९२ ॥
जा तन में बिरहा बसै, ता तन लोहु न माँस ।
इतना बहुत जु ऊबरा, हाड़ चाम अरु श्वास ॥ ९३ ॥

बिरहा को बूरा मत कहो बिरहा बड़ा बादशाह है। जिस घट में प्रभु की लगन नहीं वह घट सदा श्मशान है ॥ जिस घट में प्रभुकी लगन है, उस तन में रूधिर, मांस नहीं। यही बड़ी गनीमत समझो कि हाड़-चाम और प्राण हैं ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

पहिले अगनी बिरह की, पीछे प्रेम पियास ।
कहैं कबिर तब जानिये, राम मिलन की आस ॥ ९४ ॥

कबीर गुरु कहते हें, राम मिलने की आशा उसी को सही समझो जिसके तनमें प्रथम विरह अग्नि लगी और पीछे मनमें प्रेम पियास ॥९४

इति श्री बिरह को अङ्ग ॥ १६ ॥

अथ चितावनीको अंग ॥१३॥

कबीर गर्व न कीजिये, काल गहे कर केश।
ना जानौ कित मारि हैं, क्या घर क्या परदेश ॥ १ ॥

ऐ कबीर! गुरुकी शरण ले। तन, धनादिका अभिमान मत कर मृत्युने तेरी चोटी पकड़ रक्खी है तुझे यह भी खबर नहीं है कि वह कहाँ, कब मार डालेगा, घर या परदेश में? "जीवन की जनि आसा राखो, काल धरे है श्वासा" इत्यादि ॥१॥

कबीर गर्व न कीजिये, इस जोबन की आस।
टेसु फूला दिवस दस, खंखर भया पलास ॥ २ ॥

इसी तरह युवावस्था भी क्षण विनाशी है इसकी भी आशा मत करो प्रफुल्लित टेसूकी तरह दश दिनकी शोभा है ॥२॥

कबीर गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि आवास।
काल परौ भुँई लेटना, ऊपर जमसी घास ॥ ३ ॥

ऊँचे महलके अभिमानमें मत भूलो, कल या परसों ही जमीन पर सोना होगा और ऊपर घास जमेगी ॥३॥

कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटे हाड़।
हय वर ऊपर छत्र तट, तो भी देवै गाड़ ॥ ४ ॥
कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटी हाड़।
इक दिन तेरा छत्र सिर, देगा काल उखाड़ ॥ ५ ॥

ऐ कबीर! हड्डीके ठाट पर चामकी चमक देखकर तो अभिमान कभी मत कर। किन्तु यदि सब साजों से सजा हुआ हस्ति अरूढ़ छत्र

छायामें है तो भी जमीनमें गाड़ देंगे ॥ काल बली है एकदिन अवश्य तेरे शिरसे छत्र अलग कर देगा ॥४॥५॥

कबीर गर्व न कीजिये, देहि देखि सुरंग।

बिछुरे पै मेला नहीं, ज्यों केंचुली भुजंग ॥ ६ ॥

सुन्दर शरीर देखके उसके घमण्डमें मत भूलो, सर्पकी केंचुली की तरह वियोग होने पर फिर वह नहीं मिलेगा ॥६॥

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।

यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय ॥ ७ ॥

ऐ कबीर! ऊपर, कहे हुए तन, धन, यौवनादि की चमक दमक दस दिन की है। जो चाहै जैसा नौबत नगारा अपना बजा लो फिर तो ऐसी नौबत आयगी कि यह शहर और गली देखना दुश्वार होगा ॥७॥

कबीर थोड़ा जीवना, माँड़ै बहुत मँडान।

सबही ऊभा पंथ सिर, राव रंक सुलतान ॥ ८ ॥

ऐ कबीर। थोड़ा जीना है, क्यों अधिक ठाट बाटको उपाधि बढ़ता है? देखता नहीं की अमीर, गरीब और बादशाह सबही चला चलीके मार्ग पर खड़े हैं ॥८॥

कबीर देवल हाड़ का, माटी तना बंधान।

खरहता पाया नहीं, देवल को सहिदान ॥ ९ ॥

कबीर देवल ढहि पड़ा, ईंट भई संवार।

कोई चिजारा चूनिया, मिला न दूजी बार ॥ १० ॥

इस हड्डीके मन्दिरका बन्धान मिट्टी का है। खरभराने पर इसका निशान तक भी किसी ने नहीं पाया ॥ देवल गिर पड़ा, ईंटें चूर २ हो गई। इसे पुनः जोड़े ऐसा कोई कारीगर नहीं मिला ॥ ९ ॥ १० ॥

कबीर देवल ढहि पड़ा, ईंट रही सँवारि।

करी चिजारा प्रीतड़ी, (ज्यौं) ढहै न दूजी बारि ॥ ११ ॥

ऐ कबीर! मन्दिर गिरा तो गिरने दो ईंट (शुभ कमाई या

स्वरूप) को संभाल रक्खो और इसे बनाने वाले करीगर (प्रभु) से एसी प्रीति करो कि फिर गिरने का वक्त न आवे ।। ११ ।।

कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ि जो बाँधी येह ।
दिवस चार का पेखना, अन्त खेहकी खेह ।। १२ ।।

ऐ कबीर। धूली बटोर के शरीर रूपी पुड़िया जो बाँधी है, वह चार दिन का दर्शन मात्र है अन्त में धूली की धूली है ।। १२ ।।

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरा लाल ।
दिवस चार का पेखना, बिनसि जायगा काल ।। १३ ।।
कबीर सुपनै रैन के, उघरी आये नैन ।
जीव परा बहु लूट में, जागूँ (तो) लेन देन ।। १४ ।।

शरीर रूप मन्दिर लाख के समान नश्वर है, (अथवा हीरा लाल जड़ित लाखोंके मन्दिर का भी शीघ्र विनाश हो जाता है) इससे जो कुछ उपकार और परमार्थ होते हैं वेही हीरा, लाल उसमें जड़े हैं, नहीं तो आज या कल देखते २ चार दिन में नष्ट हो जायगा ।। रात्रि के स्वप्न तुल्य इसका सब व्यवहार मिथ्या है, जीव व्यर्थ को लूटमें पड़ा है, नेत्र खोलकर देखे तो लेना देना कुछ नहीं ।। १३ ।। १४ ।।

कबीर यह संसार है, जैसा सेंमल फूल ।
दिन दस के व्यवहार में, झूठे रंग न फूल ।। १५ ।।
कबीर धंधै धरि रहैं, बिन धंधै धुल नाँहि ।
जो नर बिनठे मूलको, (ते) धंधै ध्यावै नाँहि ।। १६ ।।

यह संसार सेमर के फूल सा हैं, इसलिये इसके रंग, रास मिथ्या व्यवहारमें मत भूलो ।। तन मनका व्यवहार सब मायाका प्रपंच है उसी को पकड़ रहे हैं, उसे छोड़नेसे सब मिट जाता है। जो मनुष्य उसके मूल अविद्याको नाशकरता है वह उसे ध्यानमें कभी नहीं लाता ।।१५।।१६।।

कबीर जो दिन आज है, सो दिन नांहीं काल ।
चेति सके तो चेत ले, मीच परी है ख्याल ।। १७ ।।

ऐ कबीर! आज (नर) का दिन कल (पशु आदि में) नहीं है यदि चेत सको तो चेत लो, होश करो मौत शिर पर है ॥ १७ ॥

कबीर या संसार है, घना मनुष मतिहीन।
रामनाम जाना नहीं, आये टापा दीन ॥ १८ ॥

ऐ कबीर! इस संसारमें विवेक शून्य बहुतेरे मनुष्य हैं जो रामनाम को जाने बिना भटक रहे है ॥ १८ ॥

कबीर यह तन जात है, सकै तो ठौर लगाव।
कै सेवा कर साधु की, कै गुरु के गुन गाव ॥ १९ ॥

व्यर्थ में यह सुर दुर्लभ तन जा रहा है बन सके तो स्थिति कर लो। संतन की सेवा या सद्‌गुरु का गुणगान करो ॥ १९ ॥

कबीर खेत किसान का, मिरगन खाया झारि।
खेत बिचारा क्या करै, धनी करै नहिं बारि ॥ २० ॥

किसान का सारा खेत मृगोंने उजाड़ डाला। खेत बेचारा क्या करे जब कि मालिक मजबूत बाड़ नहीं लगाता। भावार्थ—विवेक, बाड़ बिना अवश्य इन्द्रियाँ ज्ञानांकुर को नहीं बढ़ने देती ॥ २० ॥

कबीर अनहूआ हुआ, बहु रीता संसार।
पड़ा भुलावा गाफला, गया कुबुद्धि हार ॥ २१ ॥

गुरु सत्संग विमुख ज्ञान-शून्य अधिक संख्याके संसारमें ऐसे लोग हैं जो मायाकी अनहोनी घटनाको देखकर स्वयं विचार नहीं पर पाते, बेभान हो उसकी भूल भुलइयामें पड़के कुबुद्धि-वश अपने आपको खो बैठते हैं ॥ २१ ॥

कबीर वा दिन याद कर, पग ऊपर तल सीस।
मृतु मंडल में आय के, बिसरि गया जगदीस ॥ २२ ॥

ऐ कबीर। उस दिनको होशकर जिसदिन पग ऊपर और शिरनीचा करना पड़ेगा। मौतके जगत्‌में आके जगत्-ईश ही को भूल गया है ॥२२॥

कबीर बेड़ा जरजरा, कूड़ा खेवन हार।
हरुये हरुये तरि गये, बूड़े जिन सिर भार ॥ २३ ॥

दश छिद्र वाली नौका (देह) है और मूर्ख खेवैया है। इस हालत में वर्णादिका मर्यादा-बोझ-रहित हलके २ पार गये व जाते हैं और भार वाले बूड़े व बूड़ते हैं ॥२३॥

कबीर पाँच पखेरुवा, राखे पोष लगाय।
एक जु आया पारधी, लइ गय सबै उड़ाय ॥ २४ ॥

ऐ कबीर! जीवन की जनि आशा राखो काल धरे हैं श्वास। जिन पंच प्राण पखेरूको आशा लगाय अन्नपानादिसे पोषण करते हो एक दिन ऐसा व्याधा आयगा कि उन सबही को एक साथ ही उड़ा ले गया व ले जायगा ॥ २४ ॥

कबीर पैंडा दूर है, बीचि पड़ी है रात।
ना जानौ क्या होयगा, ऊगते परभात ॥ २५ ॥

चलने का रास्ता बहुत दूर है बीच ही में रात हो गई। यह भी कहाँ खबर है, सबेरे क्या होगा? 'न जाने जान की नाथे सवारे शूं थवा नुं छे' इत्यादि अतः कल का कार्य आज ही करो ॥ २५ ॥

कबीर यह तन बन भया, करम जु भया कुल्हार।
आप आप को काटि है, कहैं कबीर विचार ॥ २६ ॥
कबीर सतगुरु सरन की, जो कोई छाड़ै ओट।
घन अहरन बिच लोह ज्यौं, घनी सहै सिर चोट ॥ २७ ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं, इस शरीर रूप जंगल को कर्मरूपी कुल्हाड़ी स्वयं काट डालेगी। शीघ्र सद्‌गुरु की शरण लो॥ सद्‌गुरु की शरण छाया को जो कोई छोड़ता है उसे घन और निहाई के मध्य में लोहे की तरह जन्मादि की घनी चोट सहनी पड़ती है ॥२६॥२७॥

कबीर नाव तो झाँझरि, भरी बिराने भार।
खेवट सों परिचै नहीं, क्यौंकर उतरै पार ॥ २८ ॥

ऐ कबीर! एक तो देह रूप नौका स्वय जीर्ण २ हो गई है दूसरे त्रिविध ईषणा रूपी बिराने भार से लदी हुई है। तिस पर भी सद्‌गुरु खेवैया से परिचय नहीं, कहो कैसे पार उतरेगा? ॥२८॥

कबीर रसरी पाँव में, कह सोवै सुख चैन।
साँस नगारा कूँच का, बाजत है दिन रैन ॥ २९ ॥
कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चला बजावन हार ॥ ३० ॥

ऐ कबीर! पगमें बेड़ी पड़ी है क्या सुख, शान्तिसे सोता है? होश-कर कूचका श्वासरूप नगारा रात-दिन बज रहा है॥ ध्यान रख श्वास-रूप तारोंके टूटने पर शरीर रूप सितार फिर नहीं बजता। बजानेवाला चल दिया तो जंत्र क्या करे ॥२९॥३०॥

कबीर गाफिल क्या करै, आया काल नजीक।
कान पकरि के ले चले, ज्यौं अजियाहि खटीक ॥ ३१ ॥
कबीर पानी हौज का, देखत गया बिलाय।
ऐसे ही जिव जायगा, काल जु पहुँचा आय ॥ ३२ ॥

ऐ बेखबर! क्या उपाय करता है? मौत तो नजदीक आ गई। ऐसे कान पकड़ कर ले चलेगा जैसे छेरी को चिकवा॥ जैसे सहस्र छिद्र वाला हौजका पानी देखते देखते गायब हो जाता है वैसे ही काल को आने पर जीवन, जोबन धनादि सब चले जायँगे ॥३१॥३२॥

कबीर चितहि चमकिया, किया पयानां दूर।
कायथ कागज काढ़िया, दरगह लेखा पूर ॥ ३३ ॥

सतुगुरु कृपासे जिसका चित्त चमका अर्थात् चित्स्वरूप में स्थिति हो गई वह संसार से अलग हो गया चित्रगुप्तने दफ्तर उघाड़ा और देखा तो दरबारका हिसाब पूरा पाया ॥३३॥

कबीर केवल नाम कह, सुद्ध गरीबी चाल।
कूर बड़ाई बूड़ सी, भारी परसी झाल ॥ ३४ ॥

ऐ कबीर! राम का नाम ले और सन्तगुरु की शुद्ध अधीनता स्वीकार कर। जो मूर्ख मिथ्या बड़ाई में पड़ेगा वह बूड़ेगा और भारी त्रिविध ताप में तपेगा ॥३४॥

कबीर पूँजी साह की, तू जिन करै खुवार।
खरी बिगुरचन होयगी, लेखा देती बार ॥ ३५ ॥
मरेंगे मरि जायँगे, कोय न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाहिंगे, छोड़ि बसन्ता गाम ॥ ३६ ॥

साहुकारकी नरतनरूपी पूंजी व्यर्थमें तू मत बिगाड़। हिसाब देते वक्त भारी उलझनमें पड़ेगा ॥ इस उलझनमें पड़के कितने मरे और मारे जायंगे। उसका नाम तक भी न कोई लेता न लेगा। नरदेहरूपी सुन्दर बस्तीको छोड़कर वे ही लोग स्वरूप ज्ञान शून्य पशु आदिका शरीररूप उजाड़ बस्तीको बसाये और बसायँगे ॥३५॥३६॥

लेखा देना सोहरा, जो दिल साँचा होय।
साँई के दरबार में, पला न पकड़े कोय ॥ ३७ ॥
कायथ कागज काढ़िया, लेखा वार न पार।
जबलग साँस शरीर में, तब लग नाम सँभार ॥ ३८ ॥

जिसका हृदय और व्यवहार सच्चा है उसे हिसाब देना बाये हाथका खेल है, मालिकके दरबारमें उसका पला (धोतीकी खूंट) कोई नहीं पकड़ सकता ॥ चित्रगुप्तने दफ्तर खोला तो हिसाब बेहिसाब पाया इसलिये जबतक शरीर श्वासका संबंध है तबतक मालिकका नाम लो ॥३७॥३८॥

जिनके नौबत बाजती, मैंगल बंधति बारि।
एकहि गुरु के नाम बिन, गये जनम सब हारि ॥ ३९ ॥
ढोल दमामा दुरबरी, सहनाई सँग भेरि।
औसर चले बजाय के, है कोय राखै फेरि ॥ ४० ॥

जिनके द्वारे निशाने फहराते और डंका बजा था एव भद्र दर्शनके लिए द्वारे हाथी बँधता था ऐसे मनुष्यभी एक सद्‌गुरु-ज्ञान बिना नर-जन्म सब हार गये ॥ ऐसे ढोल, नगारा, तासा तथा सहनाई के संगमें खुरदक इत्यादि बाजाओंको भी अपने-अपने समयमें बजा (हूकूमत कर) के चल धरे, क्या कोई ऐसा है जो उसे लौटा सके ? ॥३९॥४०॥

एक दिन ऐसा होयगा, सब सों परै बिछोह।
राजा रानी राव रंक, सावध क्यों नहिं होय ॥ ४१ ॥

एक समय तो ऐसा आयगा कि स्वयंही सबसे वियोग होना पड़ेगा। फिर राजा महाराजा और अमीर गरीब सावधान क्यों नहीं होते ? "अन्तहु तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबहीते। मन पछितैहो अवसर बीते" इत्यादि ॥४१॥

ऊजड़ खेड़े टेकरी, घड़ि घड़ि गये कुम्हार।
रावन जैसा चलि गया, लंका को सरदार ॥ ४२ ॥
आज काल के बीच में, जंगल होगा वास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरैंगे घास ॥ ४३ ॥

जंगल जोतनेवाला किसान और ऊँची जमीनको मिट्टी खोदकर नीची करनेवाला कुम्हार ये सब तो चलेही गये किन्तु लंका राजधानी का राजा रावण ऐसा भी नहीं रहने पाया, तो औरोंकी क्या कथा ? ॥ अरे ! एक दिन आगे पीछे सबही जंगल में भूमिसात होंगे और उनके ऊपर हल चलेगा और पशु घास चरेंगे ॥४२॥४३॥

हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास ॥ ४४ ॥
पानी केरा बुद बुदा, इस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायंगे, क्यों तारा परभात ॥ ४५ ॥

अग्निमें डालनेसे लकड़ीकी तरह हड्डी और घासकी तरह केश जलते हैं इस प्रकार सब जगज्जीवोंको जलते देखकर मुमुक्षु माया प्रपंच से वृत्ति प्रथमही हटा लेते हैं। क्योंकि पानी के बुलबुले की तरह इस मनुष्य (माया-प्रपंच) की स्थिति है, देखते-देखते ऐसे अदृश्य हो जाता है जैसे प्रातःकालमें तारा ॥४४॥४५॥

रात गंवाई सोय कर, दिवस गंवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥ ४६ ॥

कै खाना कै सोवना, और न कोई चित ।
सतगुरु शब्द बिसारिया, आदि अन्त का मीत ॥ ४७ ॥

ऐ नर ! चेत, क्यों खाने-सोनेमें रात दिन गमाता है, अरे ! नर-जन्म अमूल्य रतन, कौड़ी बदले जा रहा हैं, इसे रक्षा कर। आदि-अन्त का सहायक सद्गुरु ज्ञानको खाने-सोने में मत भुला ॥४६॥४७॥

निधड़क बैठा नाम बिनु, चेति न करै पुकार ।
यह तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार ॥ ४८ ॥
यह औसर चेत्यो नहीं, पसु ज्यौं पाली देह ।
राम नाम जान्यो नहीं, अन्त पड़े मुख खेह ॥ ४९ ॥

सद्गुरु—नाम बिना वेफिक्र बैठा है, होशकर गुरुको याद क्यों नहीं करता ? यह तन क्षण भर में जल-बुदबुदकी तरह नष्ट हो जायेगा ॥ चेतने का यही वक्त है क्यों सो कर पशुवत् शरीर पालते हो, रामका नाम भी नहीं जानते ध्यान रक्खो, नरतन जाने के बाद बड़ा दुख उठाना पड़ेगा ॥४८॥४९॥

आछे दिन पाछे गये, गुरु सों किया न हेत ।
अब पछितावर क्या करै, चिड़िया चुगि गइ खेत ॥ ५० ॥
आज कहै मैं काल भजु, काल कहै फिर काल ।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल ॥ ५१ ॥
काल करै सो आज कर, सबहि साज तुव साथ ।
काल काल तू क्या करै, काल काल के हाथ ॥ ५२ ॥

शुभ सत्संगका समय चला गया सद्गुरु से प्रेम न किया। अब समय चुकने पर पछतानेसे क्या ? जो सद्गुरु सत्संग ज्ञान का शुभ औसर था उसे आज काल करते २ गमा बैठे, ऐसे ही शेष भी चला जायगा ॥ इसलिये कल करनेका कार्य आज ही कर लो, सर्व साधन सम्पन्न नर तन तुम्हें प्राप्त है। काल २ क्यों करते हो ? कलका काम तो कालके हाथ है उसे अपना मत समझो ॥५०॥५१॥५२॥

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब ।
पल में परलय होयगी, बहुरि करेगा कब्ब ॥ ५३ ॥
पाव पलक की सुधि नहीं, कर काल की साज ।
काल अचानक मारसी, ज्यौं तीतर को बाज ॥ ५४ ॥

कल का कार्य आज और आजका अभी करो तुम्हें खबर नहीं, क्षण मात्र में कल्पान्त होगा, फिर कब क्या करोगे ॥ निमेषके चतुर्थांशकी तो खबर नहीं और कालका कौल करता है । अरे, काल तो अकस्मात ऐसे मारेगा जैसे बटेर को वाज ॥५३॥५४॥

पाव पलक तो दूर है, मो पै कहा न जाय ।
ना जानौ क्या हौयगा, पल के चौथे भाय ॥ ५५ ॥

पाव पलक तो बहुत है, मुझसे तो यह भी नहीं कहा जाता कि पल के चौथे भाग में क्या होगा ॥५५॥

ऊँचा दीसै धौहरा, मांड़ी चीती पोल ।
एक गुरु के नाम बिना, जम मारेंगे रोल ॥ ५६ ॥
ऊँचा मंदिर मेड़ियाँ, चूना कली ढुलाय ।
एकहि गुरु के नाम विन, जदि तदि परलै जाय ॥ ५७ ॥

पालिस और चित्रकारियों से सुशोभित ऊँचा मीनारवत् नर तन श्रेष्ठ दीख रहा है किन्तु एक सद्गुरु के नाम बिना दो मंजिल ऊँचा धवल धाम क्वचित् प्रलय होने वाला सब बे काम है ॥५६॥५७॥

ऊंचा महल चुनाइया, सुबरन कली ढुलाय ।
वे मन्दिर खाली पड़े, रहै मसाना जाय ॥ ५८ ॥

सोनहली बेल बूटोंसे सजाकर ऊंचे महल क्यों न बनायें हों किन्तु अंतमें वे मंदिर खाली पड़ेंगे और सजानेवाले मरघट में जाकर रहेंगे ॥ ५८ ॥

सातों शब्द जु बाजते, घरि घरि होते राग ।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥ ५९ ॥

कहा चुनावै मेड़िया, चूना माटी लाय।
मीच सुनैगी पापिनी, दौरि कि लेगो आय ॥ ६० ॥

जिन महलोंमें सा, रे, ग, म आदि सातों स्वर युत विविध बाजे बजते और समय २ के राग गाये जाते थे वे भी खाली पड़ गये और ऊपर काग बैठने लगे ॥ अरे, पापिनी मृत्यु तो दौड़ कर तुम्हें ही चुन डालेगी। तुम क्या चूना मिट्टी लाकर महल चुनाते हो ॥५९॥६०॥

कहा चुनावै मेड़िया, लंबी भीत उसारि।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तु पौने चारि ॥ ६१ ॥

ओसारादार लंबी भीतका महल क्या चुनाते हो तेरा घर तो साढ़े तीन ही हाथ है यदि वहुत बड़ा चाहिये तो पौने चार हाथ बनालो ॥६१॥

पांव तत्त्व का पूतला, मानुस धरिया नाम।
दिना चार के कारनै, फिर फिर रोकै टाम ॥ ६२ ॥

पंचभूत निर्मित पुतलाको चार दिनके वास्ते मनुष्य नाम धर लिया है और उसीमें बारम्बार उलझ पुलझ कर मुक्ति-स्थान को भी रोक रक्खा है ॥६२॥

पाकी खेती देखि के, गरब किया किसान।
अजहूं झोला बहुत है, घर आवै तब जान ॥ ६३ ॥

ए किसान, पकी हुई खेतीको देखकर क्या फूले न समाता है? अभी तो बहुत झंझट है घर आ जाय तब मनोरथ सिद्ध समझो॥ भावार्थ केवल नरतन ही से कृतार्थ नहीं हो सकता जब तक कि गुरुज्ञान व स्वरूपस्थिति न हो ॥६३॥

हाड़ जले लकड़ी जले, जले जलावन हार।
कौतिक हारा भी जले, कासों करूं पुकार ॥ ६४ ॥

हड्डी, लकड़ी तो जल ही गई किन्तु जलाने वाले और तमाशेगिर भी जल गये अब गोहार किससे करना ? ॥ ६४ ॥

घर रखवाला बाहिरा, चिड़िया खाया खेत।
आधा परधा उबरै, चेति सकै तो चेत ॥ ६५ ॥

घर रक्षक गुरु-वाक्य विमुख बहिरा है, तृष्णारूपी चिड़िया खेत (आयु) को खा गई, यदि चेत सको तो बचे खुचे लो ॥ ६५ ॥

मौत बिसारी बावरी, अचरैंज कीया कौन।
तन माटी में मिल गया, ज्यौं आँटा में लौन ॥ ६६ ॥

शरीर तो मिट्टी में ऐसे मिल गया जैसे आँटे में लवण। तिस पर भी दिवानी मौत बिसारी है, न जाने यह आश्चर्य किसने किया ॥ ६६ ॥

जनमैं मरन बिचारि के, कूरे काम निवारि।
जिन पंथा तोहि चालना, सोई पंथ संवारि ॥ ६७ ॥

जन्म-मरण को दुःसह दुःख समझ कर उसे निवृत्ति अर्थ दुष्ट काम क्रोधादिको दूर करो। उसी मार्ग को पकड़ो जिस मार्ग से तुम्हें चलना है ॥ ६७ ॥

जिन गुरु की चोरी करी, गये नाम गुन भूल।
ते विधना बागल रचे, रहे अरध मुख झूल ॥ ६८ ॥

जिन कर्मों ने गुरु से विमुख ओर राम-गुण को भुलाया उसी ने अधोमुख झुलानेको गर्भ-फन्दा भी रचा है ॥ ६८ ॥

राम नाम जाना नहीं, पाला सकल कुटुम्ब।
धन्धाही में पचि मरा, बार भई नहिं बुम्ब ॥ ६९ ॥

कुटुम्बोंके पोषण में रामनाम को बिसार दिया और धन्धे में ऐसे रचे पचे कि शुभ यश कीर्ति भी नहीं बना सके ॥ ६९ ॥

राम नाम जाना नहीं, हुआ बहुत अकाज।
बूड़ोगे रे बापुरे, बड़े बड़ों की लाज ॥ ७० ॥

नरतन मे जिसने राम नाम को नहीं जाना उसे बड़ा विघ्न हुआ ऐ बावरा ! लाज वश बड़ो की बड़ाई में बूड़ मरोगे ॥ ७० ॥

राम नाम जाना नहीं, ता मुख आन धरम ।
कै मूसा कै कातरा, खाता गया जनम ।। ७१ ।।

सब घट रमिता राम को जिसने स्वरूप करके नहीं जाना उसके मुख में दया धर्म विरूद्ध हिंसा धर्म रहा । अतः चूहा था टिड्डी खाते उसका नर जन्म यों ही व्यर्थ गया ।। ७१ ।।

राम नाम जाना नहीं, मेला मना बिसार ।
ते नर हाली बालदी, सदा पराये बार ।। ७२ ।।

सद्गुरु की शरणागत हो जिसने मनकी मलिनता दूर कर रमैया राम को नहीं जाना वह किसान का हल बहने वाला बैल होकर सदा पराधीन रहेगा ।। ७२ ।।

राम नाम जाना नहीं, बात बिनूठा भूल ।
हरिसा हितू बिसारिया, अंत पड़ी मुख धूल ।। ७३ ।।

स्वरूप रामको न जानकर भ्रम-भूल में पड़ गया और सारी बात बिगाड़ डाली । अतः अकारण अनुग्रही प्रभुको भुलाने से अन्त में दुखी हुआ ।। ७३ ।।

राम नाम जाना नहीं, चूके अबकी घात ।
माटी मिलन कुम्हार की, घनी सहेगा लात ।। ७४ ।।

राम नाम को जाने बिना यह शुभ अवसर चुक गया, अब कुम्हारकी मिट्टी बन उसकी घनी लात मर्दन सहेगा ।। ७४ ।।

माटी कहै कुम्हार को, क्या तू रौंदे मोहिं ।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रौंदोंगी तोहिं ।। ७५ ।।

मिट्टी भी कुम्हार को होशियार करती कि तू मुझे क्या कुचलता है, एक दिन तुम्हारा भी यही दशा होगा मैं तुझे भली भाँति कुचलूंगी ।।७५।।

लकड़ी कहै लुहार सों, तू मति जारै मोहिं ।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं जारौंगी तोहिं ।। ७६ ।।

लकड़ी लुहार से कहती है तू मुझे मत जला ! एक दिन ऐसा होगा कि मैं तुझे जलाऊंगी ।। ७६ ।।

कहा किया हम आयके, कहा करेंगे जाय।
इत के भये न ऊत के, चाले मूल गंवाय ॥ ७७ ॥

संसारमें आके हम क्या किये और जाके क्या करेंगे लोक परलोक दोनों गमाके नरतन व्यर्थ में खो बैठे ॥ ७७ ॥

जग जहदा में राचिया, झूठे कुल को लाज।
तन छीजै कुल बिनसिहै, रटै न नाम जहाज ॥ ७८ ॥

"वर्णाश्रम कुल पन्थ में, जाको है आवेश। ब्रह्मज्ञान हृदय मह, करि न सकत प्रवेश" इत्यादि वचन के अनुसार मिथ्या वर्णाश्रम कुल पन्थके झगड़े में रचपच गये। सद्गुरु नाम जहाज की शरण बिना ही तन क्षीण व कुल विनाश हो गया ॥ ७८ ॥

यह तन काचा कुंभ है, लिया फिरै थे साथ।
टपका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथ ॥ ७९ ॥
यह तन काचा कुम्भ है, चोट चहुंदिस खाय।
एकहि गुरु के नाम बिन, जदि तदि परलै जाय ॥ ८० ॥

मोहवश जिसे साथ लिये फिरते थे उस कच्चे घड़े को जरासी ठोकर लगी और फूट गया कुछ भी हाथ न आया ॥ यह तन कच्चा घड़ा है और चारों ओरसे आधि व्याधिरूपी चोट भी खा रहा है। एक सद्गुरु ज्ञान बिना इसका कभी न कभी योंही अन्त हो जायगा ॥ ७९ ॥ ८० ॥

यह तन काचा कुंभ है, मांहि किया रहि वास।
कबीर नैन निहारिया, नहिं जीवन की आस ॥ ८१ ॥

जिस शरीर में निवास किया है वह क्षण विनाशी कच्चा घड़ा है। मैंने विवेक दृष्टि फैलाकर देख लिया इसमें कुशल नहीं है ॥ ८१ ॥

दुनिया भांडा दुःख का, भरा मुहाँ मुंह मूख।
आदि अल्लह राम की, कुरलै कौनी कूख ॥ ८२ ॥

संसार दुखका पात्र है, उसमें लबालब दुख भरा है। अतः आदि प्रभु के यादमें कुरलै कौनी (अन्न विशेष) को अर्पण कर स्मरण करो ॥ ८२ ॥

दुनिया के मैं कुछ नहीं, मेरे दुनिया कात।
साहिब दर देखै खड़ा, दुनिया दोजख जात ॥ ८३ ॥

जैसे संसार के लिये मैं निरर्थक हू वैसे ही मेरे लिये संसार भी कातकथीर यानी राङ्गातुल्य नाचीज है। क्योंकि दर ही से मालिक खड़े देख रहे हैं, दुनियाँ जहन्नुम में जा रही है ॥ ८३ ॥

दुनिया सेती दोसती, होय भजन में भंग।
एका एकी राम सों, कै साधुन के संग ॥ ८४ ॥

दुनिया से सम्बन्ध रखने में भजन में भंग (विघ्न) होता है, प्रभु से प्रेम तो अकेले या सन्तों के सँग में होता है ॥ ८४ ॥

दुनिया के धोखै मुआ, चला कुटुंब को कानि।
तब कुलकी क्या लाज है, जब ले धरा मसानि ॥ ८५ ॥

संसार परिवार सब धोखे की टट्टी है उसकी आड़में चला वह मरा। होश करो तब कुलकी क्या लज्जा रहेगी जब श्मशान घाट पर ला धरेगा ॥ ८५ ॥

कुल खोये कुल ऊबरै, कुल राखै कुल जाय।
राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय ॥ ८६ ॥

सांसारिक मिथ्या कुल खोने हीमें आतम रूप कुलका उद्धार होता है और उसकी रक्षामें यह चला जाता है। कुल-रहित आत्माराम कुल को मिलनेसे उसीमें कुल सब लय हो गये ॥ ८६ ॥

कुल करनी के कारनै, हंसा गया बिगोय।
तब कुल काको लाजि है, चारि पाँव का होय ॥ ८७ ॥

मिथ्या कुल आचरण के कारण हंस स्वरूप से वञ्चित रह गया। ऐ हंस ! विचार कर, उस वक्त कौन कुलको लाज रहेगी जब चौपाया हो नंगे फिरेगा ॥ ८७ ॥

कुल करनी के कारनै, ढिग ही रहिगो राम।
तब कुल काको लाजि है, (जब) जमकी धूमाधाम ॥ ८८ ॥

'ढिग बूढ़ा उतरा नहीं, याहि अन्देसा मोहि'' इत्यादि, ऐ हंस ! मिथ्या कुलाचरण के कारण अति सन्निकट रामस्वरूप से विमुख रह गया। विचार कर, जब यम से काम पड़ेगा तब कौन कुलकी लाज रहेगी ॥ ८८ ॥

कहत सुनत जग जात है, विषय न सूझै काल।

कहैं कबिर सुन प्रानिया, साहिब नाम सम्हाल ॥ ८९ ॥

विषयी जगज्जीव सब विषय कथा कहते सुनते चले जा रहे हैं, उन्हें मृत्यु नहीं दीखती। कबीर गुरु कहते हैं, ऐ प्राणी ! यदि मेरी सुन तो मालिकका नाम ले इसमें कल्याण है ॥ ८९ ॥

काया मंजन क्या करै, कपड़ धोयम धोय।

ऊजल होय न छूटसी, सुख निंदरि नहिं सोय ॥ ९० ॥

यदि हृदय का मैल नहीं गया तो काया, कपड़े की सफाई व्यर्थ हैं। इस सफाई से मृत्यु से नहीं छूट सकता अतः सुख निद्रा मत ले प्रभुको याद कर ॥ ९० ॥

उजल पहिनै कोपड़ा, पान सुपारी खाय।

कबीर गुरुकी भक्ति बिन, बाँधा जमपुर जाय ॥ ९१ ॥

श्वेत वस्त्र पहिरना, और पान सुपारी खाना सब कुछ ठीक है, परन्तु सद्गुरु की भक्ति विना निर्बन्ध न होगा, यमपुर अवश्य जाना पड़ेगा ॥ ९१ ॥

मलमल खासा पहिरते, खाते नागर पान।

टेढ़ा होकर चालते, करते बहुत गुमान ॥ ९२ ॥

महलन माँहीं पौढ़ते, परिमल अंग लगाय।

ते सपने दीसे नहीं, देखत गये बिलाय ॥ ९३ ॥

जो खासा मलमल पहिरते और नागर पान खाते एवं अभिमान वश टेढ़े होकर चलते थे ॥ और सुगन्धि पदार्थों से अंग चर्चित कर महलों में लेटते थे वे स्वप्नों में भी नजर नहीं आते देखते ही बिला गये ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

जंगल ढेरी राख की, उपरि उपरि हरियाय।
ते भी होते मानवी, करते रंग रलियाय ॥ ९४ ॥

जिनके भस्म की ढेरी जंगलमें लगी ऊपर २ सब्जी हरिया रही है। वे भी तो मनुष्य ही थे जो बड़े रास रंग किया करते थे ॥ ९४ ॥

मेरा संगी कोय नहिं, सबै स्वारथी लोय।
मन परतीति न उपजै, जिय बिस्वास न होय ॥ ९५ ॥

मेरा परमार्थी संगी कोई नहीं, सब ही स्वार्थी लोग हैं। इसलिये प्रीति पूर्वक प्रतीति उत्पादक कोई विश्वास का पात्र नहीं होता ॥ ९५ ॥

थलि जो चरता मिरगला, बेधा इक जूँ सौंन।
हम तो पंथी पंथ सिर, हरा चरेगा कौन ॥ ९६ ॥

ऊजड़ मैदानमें चरनेवाले मृग भी जब मृत्यु रूपी एक बाणसे बेधे [मारे] जाते हैं, तो कहो भला हम रास्ता चलने वाले राही, हरा मैदान कौन चरेगा ? ॥९६॥

जिसको रहना उत घरा, सो क्यौं तोड़ै मीत।
जैसे पर घर पाहुना, रहै उठाये चीत ॥ ९७ ॥

जिसे उस घरमें रहना है वह उससे प्रीति क्यों जोड़ेगा ? बल्कि वह इस घरसे ऐसे मन मोड़े रहता है जैसे पराये घरसे पाहुना ॥९७॥

इत पर घर उत है घरा, उनिजन आये हाट।
करम करीना बेचि के, उठि करि चलो बाट ॥ ९८ ॥

इस संसार, शरीर पर घर है और वह आतम स्वरूप निज घर है संसार बाजार में सद्गुरु सौदा करने आये हैं। अब कर्म रूप मसाले को बेचके उठकर अपनी राह लो, बिलम्ब मत करो ॥९८॥

ज्यैयौं कोरी रेजा बुनैं, नीरा आवै छोर।
सा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर ॥ ९९ ॥

जिस प्रकार जोलहा कपड़ा बुनता है और उसकी छोर नजदीक

आती जाती है इसी प्रकार मौत भी कच्छप चालसे आ रही है, ऐ नर ! दौड़ सके तो दौड़ चल ॥ ९९ ॥

कोठे ऊपर दौरना, सुख निंदरि नहिं सोय ।
पुनै पाया देहरा, ओछी ठौर न खोय ॥१००॥

ऊपरी मंजिल पर दौड़ना है, क्या सुख सोवे मोह खोह में बड़े पुण्य प्रभावसे नर देह रूप देवालय प्राप्त हुआ है कुमार्ग में मत गमा ॥१००॥

मैं मेरी तू जनि करै, मेरी मूल विनासि ।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँसि ॥१०१॥

परिणामी वस्तु विषये 'मैं' 'मेरी' मत कर, यही नाशका हेतु है। 'मेरी' ही को पगकी बेड़ी और गलेकी फंसरी समझ ॥१०१॥

मैं मैं बड़ी बलाय है, सको तो निकसु भागि ।
कब लग राखो रामजी, रुई लपेटी आगि ॥१०२॥

'मैं' 'मैं' यह भारी फन्दा है, यदि इसे तोड़ सके तो भाग निकल उस रुईकी रक्षा प्रभु कहाँतक करेगा जो अग्नि से लिपटी है ॥१०२॥

मोर तोर की जेवरी, गल बंधा संसार ।
दास कबीर क्यों बँधै, जाके नाम अधार ॥१०३॥

मोर तोर रूपी रस्सीसे संसारियोंका गला वंधा हुआ है । ऐ कबीर! वह दास क्यों बंधेगा जिसे सद्‌गुरु का नाम रक्षक है ॥१०३॥

नान्हा कातौ चित्त दे, महंगे मोल बिकाय ।
ग्राहक राजा राम हैं, और न नीरा जाय ॥१०४॥

चित्त एकाग्र करके अति सूक्ष्म सद्‌गुरु नाम रूपी सूत कातो, यह महँगे मूल्यसे बिकेगा, उसका ग्राहक सबका मालिक राम है और कोई तो उसके पास भी न जायगा ॥१०४॥

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय ।
को काहू का है नहीं, देखा ठोंकि बजाय ॥१०५॥

शरीर सरायमें मन पहरेदार है मनोरथ रूप मुसाफिर डेरा डाला

हैं। भलीभाँति ठोक बजाकर देख लिया कोई किसी का नहीं हैं ॥१०५॥

राम कहेते खिझ मरैं, कुष्ट होय गलि जाय।
सूकर ह्वै करि औतरैं, नाक बूड़ता खाय ॥१०६॥

जो राम कहने से खीजता और दुःखी होता है वह गलित कुष्टी हो मरकर शूकर योनि को प्राप्त होगा और नाक बुड़ा कर नरक को खायगा ॥ १०६ ॥

पुर पट्टन काया पुरी, पाँच चोर दस द्वार।
जमराजा गढ़ भेलसी, सुमरि लेहु करतार ॥१०७॥

काया गढ़ शहरमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँरूपी चोर और दश इन्द्रियाँ रूप दरवाजे खुले हैं। मृत्युराज गढ़ पर चड़ाई करेगा अतएव प्रभु का नाम सुमर ले ॥ १०७ ॥

राज दुवारे बाँधिया, मूड़ी धुनैं गयंद।
मनुष जनम कब पायहूं, कब भजिहू गोबिंद ॥१०८॥

राजद्वारे बंधा हुआ हस्ति मानो शिर धुन कर कह रहा है कि कब नर जन्म प्राप्त होगा और कब प्रभुको भजूंगा ॥१०८॥

आये हैं ते जायंगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़िचले, (एक) बाँधे जात जंजीर ॥१०९॥

आने वालेको जाना जरूर है चाहे राजा या रंक, फकीर ही क्यों न हो। किन्तु जानेमें गूढ़ रहस्य तो यह है कि एक सिंहासन बैठ के और एक जंजीर पहिरके जाता है ॥ १०९ ॥

या मन गहि जो थिर रहै, गहिरी धूनी गाड़ि।
चलती बिरियाँ उठि चला, हस्ती घोड़ा छाँड़ि ॥११०॥

इस मनको पकड़के गहरी धुनी जमा दे और स्थिर हो रहे। प्राणान्त में तो हाथी, घोड़ा सब ही को छोड़कर चल ही देना पड़ता है ॥११०॥

तू मति जानैं बावरे, मेरा है सब कोय।
पिंड प्रानसों बँधि रहा, सो नहिं अपना होय ॥१११॥

ऐ बावरे ! तू किसी को भी अपना मत समझ। जिस प्राण से पिंड बन्धा है वह भी तो अपना नहीं होता ॥१११॥

दीन गंवायो दूनि संग, दुनी न चाली साथ।
पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ ॥११२॥

जिन संसारियों के संग अपना अमूल्य समय गमाया वे भी तो साथ नहीं चले। ऐ मूर्ख ! तूने अपने हाथ-पाँव में कुल्हाड़ी मार लिया ॥ ११२ ॥

मैं भौंरा तुहि बरजिया, बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुं बेल सों, तड़प तड़प जिय देय ॥११३॥

ऐ मन भौंरा ! मैंने मना किया कि इन्द्रियरूप बन २ की विषयरूप वासना मत ले, कहीं किसी विकट बेली (नारी) के पाले पड़ेगा तो तड़प २ जान गमायगा ॥११३॥

एक सीस का मानवा, करता बहु तक हीस।
लंकापति रावन गया, बीस भुजा दस सीस ॥११४॥

एक शीशका मनुष्य बिना विचारे मायिक पदार्थों की अधिक चाह करता है। यह नहीं देखता कि दश शीश और बीस भुजा वाला लंकेश्वर तो योंहि हाथ डोलाते चला गया, मैं क्या ले सकता ॥११४॥

कालचक्र चक्की चलै, बहुत दिवस औ रात।
सगुन अगुन दोय पाटला, तामें जीव पिसात ॥११५॥
राम भजो तो अब भजो, बहोरि भजोगे कब्ब।
हरिया हरिया रूखड़े, ईंधन हो गये सब्ब ॥११६॥

निर्गुण सगुणरूपी दो पाटवाली कालचक्रकी चक्की बड़े वेगसे अहोरात्र घूम रही है उसीमें गुरु सतसंग विमुख जीव सब पिसा रहे हैं ॥ अतः यदि उससे बचना चाहते हो तो सद्‌गुरु के शरणागत हो रामको अभी भजो फिर ऐसा अवसर नहीं मिलेगा, ध्यान रक्खो हरे वृक्ष भी सब जलावन हो गये ॥११५॥११६॥

भय बिनु भाव न ऊपजै, भय बिनु होय न प्रीति ।
जब हिरदे से भय गया, मिटी सकल रस रीति ॥११७॥
भय से भक्ति करै सबै, भय से पूजा होय ।
भय पारस है जीव को, निरभय होय न कोय ॥११८॥

भय बिना श्रद्धा, और प्रेम नहीं होता; हृदयमें भय न रहने से भजन, प्रेम और गुरु-शिष्यकी मर्यादा नहीं रहती ॥ भयहीसे भक्ति और पूजा सब करते हैं। लोहरूप जीवको स्वर्ण बनाने में भय पारसरूप है, न तो कोई निर्भय है न निर्भय से कुछ होता ही है ॥११७॥११८॥

डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार ।
डरता रहै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार ॥११९॥
खलक मिला खाली हुआ, बहुत किया बकवाद ।
बाँझ हिलावै पालना, तामें कौन सवाद ॥१२०॥

डरही सब कुछ है, डरसे उद्धार होता है और गाफिल गोता खाता है ॥ निर्भय लोग मिलने पर सार बिना खाली बकवाद करते हैं। कहो! यदि बन्ध्या पालनाभी डोलावे तोभी उससे उसे क्या स्वाद मिलेगा ? ॥ ११९-१२० ॥

यह बिरियाँ तो फिरि नहिं, मनमें देखु विचार ।
आया लाभहि कारनै, जनम हुआ मति हार ॥१२१॥

मनमें अच्छी तरह विचार देखो फिर यह अवसर नहीं मिलेगा। मुक्ति लाभ के लिये ही नर जन्म है, इस दाव को जीतो, हारो मत ॥ २२१ ॥

बैल गढ़न्ता नर गढ़ा, चूका सींग रु पूँछ ।
एकहि गुरु के नाम बिनु, धिक दाढ़ी धिक मूँछ ॥१२२॥

विधाताने यद्यपि स्वरूप ज्ञानशून्य नरको सब साज पशुका बनाया तथापि सींग, पुच्छ, भूल गया। सद्गुरु नाम बिना पुरुषका चिन्ह उस दाढ़ी, मुच्छको धिक्कार है ॥१२२॥

यह मन फूला विषय बन, तहाँ न लावो चीत ।
सागर क्यों ना उड़ि चलो, सुनी बैन मन मीत ॥१२३॥
कहैं कबीर पुकारि के, चेतन नाहीं कोय ।
अबकी बिरियाँ चेतिहै, सो साहिब का होय ॥१२४॥

ऐ मित्र ! यह मन भंवरा बिषयारण्यमें फूला फिरता है वहाँ चित्त मत लाव किन्तु मेरी बात सुन, उड़कर सद्गुरु सिन्धुकी शरण क्यों न लेता ॥ स्वयं कोई नहीं चेतता कबीर गुरु पुकार कर कहते हैं । इस वक्त जो चेतेगा वही प्रभुका प्यारा होगा ॥१२३॥१२४॥

झूठा सब संसार है, कोउ न अपना मीत ।
रामनाम को जानि ले, चलै सो भौजल जीत ॥१२५॥
एक दिन ऐसा होयगा, कोय काहु का नाँहि ।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाँहि ॥१२६॥

ससार और इसके सम्बन्धी सब झूठे हैं, अपना हितकर कोई भी नहीं । संसार-सागर से वही तरेगा जो राम का यथार्थ नाम जान लेगा । एकदिन तो ऐसा आयगा कि, कोई न किसी का होगा । घरकी नारीकी क्या कथा तनकी नाड़ी भी अलग हो जायगी ॥१२५॥१२६॥

आठ प्रहर यौंही गया, माया मोह जंजाल ।
रामनाम हिरदे नहीं, जीत लिया जमकाल ॥१२७॥

आठों पहर योंही माया मोहकी उलझन में चला गया । राम का नाम हृदय नहीं आया नर जन्म की वाजी मृत्युने जीत ली ॥१२७॥

मंदिर माँही झलकती, दीवा की सी ज्योति ।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ी घर की छोति ॥१२८॥

चैतन्य देवकी ज्योति देह देवालय में दीपक की तरह चमक रही थी । यही हंस मुसाफिर जब उड़ चला, तब लोग घरका सूतक निकालने लगे ॥ १२८ ॥

बारी पारी आपने, चले पियारे मीत।
तेरी बारो जीयरा, नियरैं आवै नीत ॥१२६॥
सेषनाग के सहस फन, फन फन जिभ्या दोय।
नर के एकै जीभ है, रहै ताहि में सोय ॥१३०॥

लोग अपनी २ पारी से पयान कर रहे हैं। ऐ प्रिय मित्र! तेरी भी पारी तो प्रति दिन नजदीक ही आ रही है॥ प्रत्येक फनमें दो जिह्वा वाला शेषनाग भी दो हजार जिह्वाओं से सचेत हो प्रभु का भजन करता है, क्या आश्चर्य! मात्र एक जिह्वा है तौ भी नर जीव प्रभु से बिमुख हो गफलत में पड़ा है॥ १२९॥ १३०॥

परदे रहती पद्मिनी, करती कुल की कान।
घड़ी जु पहुँची काल की, छोड़ भई मैदान ॥१३१॥

जो कुलवन्ती कुलकानि के मारे पड़दे में रहती है काल के सोंटा पहुंचने पर वह भी पड़दे से अलग हो मैदान में आ जाती है॥१३१॥

मछरी यह छोड़ौ नहीं, धीमर तेरो काल।
जिहि जिहि डाबर घर करो, तहँ तहँ मेले जाल ॥१३२॥

ऐ मछली! तेरा काल धीमर है तू इस असार संसाररूप डाबरको क्यों नहीं छोड़ती? जहाँ २ (जिस २ योनि में) तू जायगी वहाँ २ ही वह काल जाल डालेगा॥ १३२॥

हे मतिहीनी माछरी, राखि न सकी शरीर।
सो सरवर सेवा नहीं, जाल काल नहिं कीर ॥१३३॥

ऐ समझहीन मछली! तूने शरीर रक्षा का हाल नहीं जाना क्योंकि उस गुरुचरण रूप सरोवर का सेवन नहीं किया जहाँ धीमर काल का जाल नहीं पहुँचता॥ १३३॥

हे मतिहीनी माछरी, छीलर माड़ो आलि।
डाबरियाँ छूटै नहीं, सकै तु समुँद सँभाल ॥१३४॥
मछली फिरि फिरि बाहुरी, ताकि समुन्दर तीर।
दरिया भीतर घर किया, कहा करेगा कीर ॥१३५॥

ऐ विवेक शून्य मछली ! तूने जो तुच्छ जलाशय को विहार स्थान बनाया है, वह भी तेरे से नहीं छूटता, यदि छोड़ सके तो छोड़ और शीघ्र सद्गुरु समुद्र की शरण ले ॥ क्योंकि जिसने संसार छीलर से उलट कर सद्गुरु-शरण सागर के किनारे की ओर दृष्टि करी और स्वरूप सिन्धु में स्थिति कर ली है उसे धीमर भी क्या करेगा ? ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

सुमिरन का संसै रहा, पछितावा मन माँहि ।
कहैं कबीरा राम रस, सघरा पीया नाँहि ॥१३६॥
विषय बासना उरझिकर, जनम गँवाया बाद ।
अब पछितावा क्या करै, निज करनी कर याद ॥१३७॥

कबीर गुरु कहते हैं कि सुमिरन विषये जिसको भ्रम रहा उससे सम्पूर्ण आरामप्रद रामरस नहीं पान किया गया अतः मनमें पछतावा रह गया ॥ और विषय वासना की उलझन में पड़के नर-जन्म व्यर्थ में गमा दिया । अब उसके लिये क्या पश्चाताप करते हो, अपने कर्तव्य को याद करो या पूर्वकृत कर्म को स्मरण कर पछताना फिजूल है, सुधारका मार्ग ढूंढ़ो ॥ १३६ ॥ १३७ ॥

एक बुन्द ते सब किया, नर नारी का नाम ।
सो तूँ अन्तर खोजि ले, सकल बियापक राम ॥१३८॥

नर नारी के नाम रूप सबकी रचना एक बुन्दसे हुई है, उसी सबके अन्तर निरन्तर रमन वाले राम को तू खोज ले ॥ १३८ ॥

एक बुन्द ते सब किया, यह देह का विस्तार ।
सो तू क्यों बीसारिया, अंधा मूढ़ गंवार ॥१३९॥
सब घट भीतर राम है, ऐसा आय सुजान ।
आप आप से बाँधिया, आपै भया अजान ॥१४०॥

जिसने एक बुन्द से सम्पूर्ण इस शरीर का विस्तार किया है । ऐ गंवार ! उसे मत विसार ॥ प्रत्येक घट के अन्दर राम है ऐसा अपने आपको निश्चय कर, अपने अज्ञान से तू आप बन्धाया है ॥ १३९॥१४० ॥

पाँच धातु का पिंजरा, सो तो अपना नाँहि।
अपना पिंजर तहं बसे, अगम अगोचर माँहि ॥१४१॥

जो पाँच तत्व का पिंजरा दीखता है वह अपना नहीं है, अपना पिंजर (स्वरूप) वहाँ है जहाँ वाह्य पंच इन्द्रियों की गम नहीं है ॥१४१॥

सगा हमारा रामजी, सहुदर है पुनि राम।
और सगा सब सगमगा, कोई न आवै काम ॥१४२॥
चले गये सो ना मिले, किसको पूँछूं बात।
मात पिता सुत बान्धवा, झूठा सब संघात ॥१४३॥

बस ! हमारे सहायक सगा, सहोदर केवल एक राम ही हैं और सब राहबाट के बेकाम हैं ॥ गये सो आके मिले नहीं, बात किससे पूछी जाये माता-पिता और पुत्र आदि का सम्बन्ध सब झूठा है ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

राम बिसारो बावरा, अचरज कीन्ही येह।
धन जोबन चल जायगा, अंत होयगी खेह ॥१४४॥
मनुस जन्म तोकूं दियो, भजिबे को हरिनाम।
कहैं कबिर चेत्यो नहीं, लागो औरहि काम ॥१४५॥

ऐ बावरे ! धन, यौवन के अभिमान में तूने अपने राम को भुलाया यह बड़ा बुरा किया, यह सब तो योंही अन्त में खाक हो जायँगी ॥ प्रभु नाम भजन के लिये मनुष्य जन्म तुझे दिया गया था, किन्तु उसका चिन्तन छोड़ तू तो और ही काम में लग गया ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

कबीर केवल नाम की, जब लगि दीपक बाति।
तेल घटा बाती बुझी, तब सोबे दिन राति ॥१४६॥

ऐ कबीर ! नरदेहरूपी दीपकमें केवल प्रभु नामकी बाती जब तक जल रही है तबही तक उजाला है नहीं तो आयुरूपी तेल घटनेपर बाती बुझ जायगी और दिन-रात अन्धेरे (पशु योनि) में सोना होगा ॥१४६॥

जो तू परा है फंद में, निकसेगा कब अंध।
माया मद तोकूं चढ़ा, मत भूले मति मंद ॥१४७॥

ऐ अन्धे ! तू माया फन्दसे कब निकलेगा ? ऐ मतिमन्द ! तुझे माया का मद चढ़ा है भूल मत होश कर ॥ १४७ ॥

कबीर काया पाहुनी, हंस बटाऊ माँहि ।
ना जानूं कब जायगी, मोहि भरोसा नाँहि ॥१४८॥

हंस अतिथिके सत्कारार्थ काया पहुनई का स्थानहै, यह भी मालूम नहीं इसका कब वियोग होगा क्योंकि इसे रहने का भरोसा मुझे बिलकुल नहीं है ॥ १४८ ॥

दरद न लेवै जात को, मुआ न राखे कोय ।
सगा उसी को कीजिये, (जो) नेह निबाहू होय ॥१४९॥

न दुःख जानेवाला का कोई लेता है न मुर्दे को कोई रखता है । इस लिये उसी से नेह जोड़ो जो अन्त तक निबा हैं ॥ १४९ ॥

जिन घर नौबत बाजती, होत छतीसों राग ।
सो घर भी खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥१५०॥

क्या करिये क्या जोड़िये, थोड़े जीवन काज ।
छाँड़ि छांड़ि सब जात है, देह गेह धन राज ॥१५१॥

जिस दरबार (देह) में नौबत बाजती थी और छै राग छतीसों रागिनी होती थीं वे घर भी खाली पड़ गये और कौवे बैठने लगे ॥ अतः थोड़े जीवन के वास्ते क्या करना ? क्या जोड़ना ? सब ही तो देह गेह, धन, राज आदि छोड़ २ जा रहे हैं ॥ १५० ॥ १५१ ॥

जागो लोगों मत सुवो, ना करु निंद से प्यार ।
जैसा सपना रैन का, ऐसा यह संसार ॥१५२॥

ऐ लोगो ! जागो, नींद से प्यार कर सोओ मत, यह संसार रैन का स्वप्न-सा है विचार दृष्टि से देख लो ॥ १५२ ॥

सब कोइ मरि जात है, काल कालकी फांस ।
राम नाम पुकारता, कोइक उबरा दांस ॥१५३॥

'आज नहीं काल करेंगे' इसकाल की फाँसी में सब कोई मरे जाते हैं इस फाँससे तो कोई एकदासही रामनामकी पुकारसे उबरता है ॥१५३॥

एक बुन्द के कारनै, रोता सब संसार।
(अ) नेक बुन्द खाली गये, तिनका नहीं विचार ॥१५४॥

आज्ञानी लोग एक बुन्द के रचित इस शरीर के मोह में पड़ के रोता फिरता है। अनेकों बुन्द व्यर्थ गये उसका कुछ भी विचार नहीं करता ॥ १५४ ॥

मरूं मरूं कबसो (इ) कहै, मेरी मरै बलाय।
मरना था सो मरि चुका, अब को मरनै जाय ॥१५५॥

'मरूँगा मर जाऊँगा' ऐसा सब कोई कहता है किन्तु मेरी बलाय मरे। मरने वाला तो मरी चुका अब उसके पीछे कौनमरने जाय॥१५५॥

मन मूआ माया मुई, संशय मुआ शरीर।
अविनाशी जो ना मरे, तो क्यों मरे कबीर ॥१५६॥

मन, माया मर गयी, शरीर का संशय भी जाता रहा अविनासी पुरुष तो मरता ही नहीं फिर कबीर मरने से क्यों डरे ? ॥ १५६ ॥

नर नारायन रूप है, तू मति जानै देह।
जो समझे तो समझ ले, खलक पलक में खेह ॥१५७॥

ऐ नर! तू साक्षात् परमेश्वर रूप है, अपने को देह मत समझ। होश कर जो तुझे जानता है तो जानदार सद्गुरु की शरण ले और समझ, संसार की आशा मत कर पलभर में खाक होने वाला है ॥१५७॥

अर्ध कपाले झूलता, सो दिन करले याद।
जठरा सेती राखिया, नाँहि पुरुष कर बाद ॥१५८॥

उस दिनको याद कर जिस दिन माताकी जठर ज्वालामें ऊर्ध्व मुख झूलता था होशकर उससे रक्षा करने वालेको व्यर्थ मत समझ ॥१५८॥

अहिरन की चोरी करै, करे सूई का दांक।
ऊँचा चढ़ि कर देखता, केतिक दूर विमान ॥१५९॥

कहो ! निहाय की चोरी कहाँ ? और कहाँ सुईका दान ? फिर भी बड़े हौसला से ऊँचा चढ़के देखता है स्वर्ग का विमानी कितन दूरी पर हैं ॥ १५९ ॥

आँखि न देखे बावरा, शब्द सुनै नहिं कान ।
सिरके केस उज्जल भये, अबहूँ निपट अजान ॥१६०॥
क्यौं खोवै नरतन वृथा, परि बिषयन के साथ ।
पाँव कुल्हाड़ी मारही, मूरख अपने हाथ ॥१६१॥

दिवाना संसार, शरीर की स्थिति न स्वयं आँख से देखता है न कान से गुरु मुख शब्द ही सुनता है, यहाँ तक कि शिरके बाल श्वेत हो गये तो भी अभी तक निरा मूर्ख ही है ॥ ऐ मूर्ख ! क्यों विषयों के साथ नरतन व्यर्थ में खोता है ! नादान अपने हाथ अपना गला घोटता है ॥ १६० ॥ १६१ ॥

चेत सबेरे बावरे, फिर पाछे पछताय ।
तुझको जाना दूर है, कहैं कबीर जगाय ॥१६२॥
मूरख शब्द न मानई, धर्म न सुनै विचार ।
सत्य शब्द नहिं खोजई, जावै जम के द्वार ॥१६३॥

ऐ दिवाने ! नर देहमें शीघ्र चेत ले नहीं तो पीछे पछतायगा । तुझे दूर जाना है, कबीर गुरु जगा कर कह रहे हैं ॥ तौ भी मूर्ख धर्म, विचार का शब्द न सुनता न मानता है । सार शब्द न खोजकर मृत्युके मुखमें जाता है ॥१६२॥१६३॥

राजपाट धन पायकर, क्यों करता अभिमान ।
पाड़ोसी की जो दशा, भइ सो अपनी जान ॥१६४॥

क्षण भंगुर राजपाट धन पा के गर्व क्यों करता है ? पड़ोसी की दशा नहीं देखता ? वैसेही अपनी क्यों न समझता ? ॥१६४॥

यह नर गर्व भुलाइया, देखी माया झौल ।
कहैं कबीर अब चेतहु, सुमिरि पाछलो कौल ॥१६५॥

सद्गुरु शरण बिना यह नर जीव मिथ्या माया मदमें पड़के निज स्वरूपको भूल गया इसीलिये मायाकी झँझट इसे देखनी पड़ी। कबीर गुरु कहते हैं अपनी पूर्व प्रतिज्ञाको यादकर अबहू चेतो ॥ 'अजहूँ लेऊँ छुड़ाय कालसे जो करे सुरति सँवारी' इत्यादि बीजक ॥१६५॥

समुझाये समुझे नहीं, धरे बहुत अभिमान।
गुरुका शब्द उछेह के, कहत सकल हम जान ॥१६६॥

समझाने पर भी नहीं समझता, गुरुके शब्दको तिरस्कार कर सकल ज्ञाताका अभिमान करता है ॥१६६॥

ज्ञानी होय सो मानही, बूझै शब्द हमार।
कहैं कबीर सो बाँचि है, और सकल जम धार ॥१६७॥

जो तत्त्वज्ञानी होंगे वेही हमारे सार शब्दको समझें और मानेंगे कबीर गुरु कहते हैं, वेही मृत्युसे भी बचेंगे और सब मृत्यु-मुखमें जायेंगे ॥१६७॥

इति श्री चितावनी को अंग ॥१७॥

अथ उपदेश को अंग ॥ १८ ॥
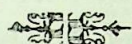
जीव दया चित्त राखिके, साखी कहैं कबीर।
भौसागर के जीव को, आनि लगावै तीर ॥ १ ॥
अन्तर याहि बिचारिया, साखी कहो कबीर।
भौसागर में जीव है, सुनि के लागे तीर ॥ २ ॥

जीव दया अर्थात् उस सर्वश्रेष्ठ अहिंसा धर्मको हृदयमें धारण कर कबीर गुरु साक्षी स्वरूपका उपदेश दिये व देते हैं जो भवसिन्धु के जीवोंको अवश्य किनारे लगा दिया व देता है॥ अन्तः सुख प्रत्येक चेतनाधिगमके लिये ही यह मनमें सोचा और साखी कही कि जिसके श्रवणसे भवसागरके जीव सब पार हो जायँ ॥१॥२॥

काल काल तत्काल है, बुरा न करिये कोय।
अनबोवै लुनता नहीं, बोवै लुनता होय ॥ ३ ॥
काल काम तत्काल है, बुरा न कीजै कोय।
भले भलाई पै लहै, बुरे बुराई होय ॥ ४ ॥

मृत्यु हरवक्त उपस्थित है, कोई अनिष्ट मत करो बिना बीज डाले कोई भी नहीं काटता जो बोता वही काटता है॥ ध्यान रक्खो भले कर्तव्य का फल भलाई (सुख) और बुरे की बुराई होती है ॥३॥४॥

जो तोको काँटा बुवै, ताको बो तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल ॥ ५ ॥

यद्यपि कोई तेरा अहित करे तो भी उसके लिये तुम सदा हितकी करो इस बात पर ध्यान रक्खो; परिणाममें वह तुम्हारे लिए हितकर होगा और उसे अनिष्ट ॥५॥

दुरबल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की साँस से, लोह भस्म ह्वै जाय ॥ ६ ॥

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुःख होय ॥ ७ ॥

उस दुखीको हर्गिज न सतावो जो दुःखोंके कारण दीर्घ श्वासले रहा है। ध्यान रक्खो ! निर्जीव भाथीकी फूंकसे लोहा भस्म हो जाता है॥ भले अपने ठगावो किन्तु किसी छल, बहाने से दूसरों को कदापि न ठगो। अपने ठगाने से सुख और दूसरों के ठगाने से सन्ताप उत्पन्न होता है॥ ६।७ ॥

या दुनिया में आय के, छाँड़ि देय तू ऐंठ।
लेना है सो लेय ले, उठी जात है पैंठ ॥ ८ ॥
खाय पकाय लुटायले, यह मनुवा मिजमान।
लेना है सो लेय ले, यही गोय मैदान ॥ ६ ॥

नर तन पाके तू कल्याणकारी विचारकर, धन कुलादिकी मिथ्या अक्कड़ छोड़ दे। सत्संग बाजार उठी जाती है लेने योग्य सौदा शीघ्र ले ले॥ नर तनमें मन मिजमानको खा खिलाके सत्कार कर ले, कौन जाने ! सत्संग मैदानमें यह नर तन गेंद फिर हाथ आया या नहीं, अतः लेने योग्य शीघ्र ले ॥८॥६॥

खाय पकाय लुटाय के, करि ले अपना काम।
चलती बिरिया रे नरा, संग न चलै छदाम ॥ १० ॥

लेना होय सो जल्द ले, कही सुनी मति मान।
कही सुनी जुग जुग चली, आवा गवन बँधाय ॥ ११ ॥

ऐ नर ! धन है तो खाओ खिलाओ, भूखे नंगेको तृप्त करो यही अपने धनका उपयोग है ध्यान रक्खो चलते समय संगमें टुकड़ा भी नहीं जायगा॥ जन्म-मरण मिटनेका ही कार्य करो कही सुनी किसीकी मत मानो, यह युगोंयुगकी कथा है इससे आवागमन नहीं छूटता ॥१०॥११॥

सत ही में सत बाँटई, रोटी में ते टूक।
कहैं कबीर ता दास को, कबहुँ न आवै चूक ॥ १२ ॥

देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देह सुदेह ॥ १३ ॥

यथा शक्ति जो सत्तू या आँटेमें से सत्तू व आँटा और रोटी में से टुकड़ा को विभाग कर अतिथि सत्कार करता है। कबीर गुरु कहते हैं वह सेवक कभी न भूल खाता ॥ भूँखे नंगेको कुछ देना, यह नरतन-धारीका शुभगुण है। क्योंकि वर्तमानका यह सुन्दर शरीर बार-बार नहीं मिलता ॥१२॥१३॥

कहैं कबीर पुकारि कै, दो बातें लिखि लेय।
कै साहिब की बन्दगी, भूखों को कछु देय ॥ १४ ॥
कहैं कबीरा देय तूं, जब लग तेरी देह।
देह खेह ह्वै जायगी, (फिर) कौन कहेगा देह ॥ १५ ॥
देह खेह ह्वै जायगी, (फिर) कौन कहेगा देह।
निश्चय कर उपकार ही, जीवन का फल येह ॥ १६ ॥

कबीर गुरु पुकार कर कहते हैं, मालिकका नाम और भूखोंको कुछ दान, इन दो बातोंको शिला लेख मान ॥ जब तक तेरा शरीर साबित है तब तक कुछ दे और नाम ले, देह खेह होने पर फिर कोई न देनेको कहेगा ? ॥ अतः जीवन पर्यन्त उपकार कर यही जीवनका निश्चय फल है ॥१४॥१५॥१६॥

हाड़ बड़ा हरि भजन करि, द्रव्य बड़ा कछु देह।
अकल बड़ी उपकार करि, जीवन का फल येह ॥ १७ ॥
गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सो देह।
आगे हाट न बानिया, लेना ह्वै सो लेह ॥ १८ ॥

तन मन दुरुस्त है तो प्रभुका नाम ले और धन बहुत है तो भूखोंको दान दे। एवं श्रेष्ठ ज्ञानसे अज्ञानियोंको उपकार कर यही नरजीवनका उत्तम फल है ॥ गाँठीका हाथमें ले और हाथका दे दे। इससे आगे न बाजार है न बनिया। यह लेना है सो ले ले ॥१७॥१८॥

यहाँ बिसाहन करि चलो, आगे बिसमी बाट ।
स्वर्ग बिसाहन ना मिले, ना वनिया नो हाट ।। १६ ।।

सौदा (ज्ञान) यहीं (सत्संग) से खरीदकर चलो, आगे बिकट मार्ग है । स्वर्गमें खरीदनेको नहीं मिलता क्योंकि वहाँ बनियाँ, दुकान नहीं है ।।१६।।

धर्म किये धन ना घटै, नदी न घट्टै नीर ।
अपनी आँखौं देख लो, यौं कथि कहै कबीर ।। २० ।।

कबीर गुरु कहते हैं प्रवाही नदीके जलके समान धर्म कार्य में धन खर्च से कभी नहीं घटता, न विश्वास होय तो करके अपनी आँखोंसे देख लो ।।२०।।

कबीर यह तन जात है, सको तो राखु बहोर ।
खाली हाथों वह गये, जिनके लाख करोर ।। २१ ।।

ऐ कबीर यह तन धन ब्यर्थमें जा रहा है । यदि शक्ति है तो उपकारार्थ लौटाओ और धर्ममें लगावो । वे लक्ष और करोड़पति भी छूछे हाथे गये जिनके लाख, करोड़का अभिमान था ।।२१।।

स्वामी ह्वै संग्रह करै, दूजै दिन का नीर ।
तरै न तारै और को, यों कथि कहैं कबीर ।। २२ ।।

आश्रितोंको दुःखी कर दूसरे दिनका जल संग्रह भी जो स्वामी होके करता है । कबीर गुरु कहते हैं वह न स्वयं संसृतिको तरता न औरोंको तार सकता है । अथवा विरक्तोंके लिये आत्म चिन्तनके अतिरिक्त जल संग्रहको भी मोक्षमें बाधक बतलाते हैं ।।२२।।

या दुनिया दो रोज की, मत कर यासें हेत ।
गुरु चरनन चित लाइये, जो पूरन सुख देत ।। २३ ।।

यह दुनिया दो दिनकी है इसमें आसक्ति मत बढ़ाओ पूर्ण सुखकारी गुरु चरण हैं, उसीमें चित्त लगाओ ।।२३।।

हस्ती चढ़िये ज्ञान का, सहज दुलीचा डार ।
स्वान रूप संसार है, भुँकन दे झक मार ।। २४ ।।

कबीर काहे को डरै, सिर पर सिरजन हार।
हस्ती चढ़ि डुरिये नहीं, कूकर भुसै हजार ॥ २५ ॥

सहजा[1] अवस्थारूपी कालीन डालकर ज्ञान हस्ती पर आरूढ़ हो जावो और श्वानरूप संसारको झक मारकर भूँकने दो। ऐ कबीर! क्यों डरते हो ? मालिक रक्षक हैं। ज्ञान हस्ती अरूढ़ होके छिपों मत भले हजारों कुत्ते भूँके, भूँकने दो ॥२४॥२५॥

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै, आपहु शीतल होय ॥ २६ ॥
जग में बैरी कोय नहिं, जो मन सीतल होय।
या आपा को डारि दे, दया करै सब कोय ॥ २७ ॥

ऐसा निरभिमान, स्व, पर शान्तिप्रद बचन बोलो। जिससे मनका अभिमान दूर हो जाय।। मन शान्त होने पर संसार में बैरी कोई नहीं रहता। अकड़ छोड़ दो सबही दया करेंगे ॥२६॥२७॥

कहते को कहि जान दे, गुरु की सिख तूँ लेय।
साकट जन औ स्वान को, फेर जबाब न देय ॥ २८ ॥

बुरा भला कहनेवालेको कहने दे तू गुरुकी शिक्षा ग्रहण कर। निगुरा और कुत्तेको उलट जवाब देना अच्छा नहीं है ॥२८॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहँ जो कुल को हेत।
साधुपनो जानै नहीं, नाम बाप को लेत ॥ २९ ॥
कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ सिद्ध को गाँव।
स्वामी कहै न बैठना, फिर फिर पूछै नाँव ॥ ३० ॥

कुल सम्बन्धी स्थान पर मत जावो। पूर्व सम्बन्धके कारण वे सन्त का रहस्य नहीं जानते केवल बाप का नाम लेते हैं॥ और सिद्धोंके यहाँ भी यही दशा है स्वामी, सत्कार बिना नाम पूछा करेंगे ॥२९॥३०॥

१—"दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना ॥" इत्यादि

इष्ट मिले अरु मन मिले, मिले सकल रस रीत।
कहैं कबिर तहाँ जाइये, यह संतन की प्रीत॥ ३१॥

जहाँ इष्ट और मन एवं भजनका रस्म रिवाज सब मिले वहाँ सत्संग के लिये अवश्य जाना चाहिये यही सन्तोंकी प्रीति है॥३१॥

कबीर संगी साधु का, दल आया भरपूर।
इन्द्रिन को तब बाँधिया, या तन कीया धूर॥ ३२॥

ऐ कबीर! सन्तोंके साथी विवेक, वैराग्य, शम दम आदि हैं इन्हीं से काम क्रोधादि फौजों के आने पर इन्द्रियों को दमन कर शरीर को धूर में मिलाते हैं॥ ३२॥

आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक।
कहैं कबिर नहिं उलटिये, वही एक ही एक॥ ३३॥
गारी मोटा ज्ञान, जो रंचक उरमें जरै।
कोटि संवारै काम, वैरि उलटि पाँयन परै॥ ३४॥
कोटि संवारै काम, बैरि उलटि पाँयन परै।
गारी सों क्या हानि, हिरदै जु यह ज्ञान धरै॥ ३५॥

प्रथम कोई गाली एक ही देता है किन्तु प्रत्युत्तर से वही एक अनेक हो जाते हैं कबीर गुरु कहते हैं जवाब मत दो एक की एक हो रहेगी॥ समझो तो गारी भारी ज्ञान है यदि किञ्चित भी हृदय में शमन हो तो वह अनेकों कार्य को सिद्ध करता और शत्रु तो उसके चरणों का दास बन जाता है॥ यदि गारी से हानि लाभकी ऐसी समझ हृदयमें हो तो गारी से हानि ही क्या है?॥ ३३॥ ३४॥ ३५॥

गारी ही से ऊपजै, कलह कष्ट औ मीच।
हारि चलै सो सन्त है, लागि मरै सो नीच॥ ३६॥

अर्थात्: विषयका त्याग, तत्व दर्शन और सहजावस्था यानी स्वरूपनिष्ठा सद्गुरु की कृपा बिना दुष्प्राप्य है।

हरिजन तो हारा भला, जीतन दे संसार।
हारा तो हरिसों मिले, जीता जम के द्वार ॥ ३७ ॥

गाली ही कलह, क्लेश और मृत्यु का कारण है। इससे हार कर अलग होता वही सन्त और मर मिटने वाला अधम है ॥ हरिजन हारे ही भले हैं संसार को जितने दो। हारे हरि सों मिलते और विजयी यम के द्वार जाते हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

जैसा घट तैसा मता, घट घट और सुभाव।
जा घट हार न जीत है, ता घट ब्रह्म समाव ॥ ३८ ॥

[1]'सत्त्वानुरूपा' इत्यादि वचन के अनुसार अन्तःकरण के समान ही ज्ञान होता है। वह अनेक होने से सुभाव (समझ प्रकृति) भी अनेक है। हार, जीत रहित अन्तःकरण में निर्दोष ब्रह्म ज्ञानका प्रवेश होता है ॥३८॥

जैसा भोजन खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय ॥ ३९ ॥

"अहार शुद्धी सत्त्व शुद्धि" इत्यादि प्रमाण से अहार के अनुसार ही अन्तःकरण होता है। और पानी (संगति) के अनुरूप ही बानी अर्थात् ज्ञान कथन होता है ॥ ३९ ॥

कथा कीरतन कलि विषे, भौ सागर की नाव।
कहैं कबिर जन तरन को, नाँही और उपाव ॥ ४० ॥

कथा कीरतन करन की, जाके निसदिन रीत।
कहैं कबीर वा दास सों, निश्चै कीजै प्रीत ॥ ४१ ॥

१—"सत्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" अ० १७ श्लो० ३ ॥

अर्थ—हे भारत ! सभी मनुष्य की श्रद्धा, उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धा मय है इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

इस कलह युक्त युगमें कथा कीर्त्तन ही संसार सागरकी भारी नौका है। कबीर गुरु कहते हैं पार जाने का और कोई उपाय नहीं है॥ अहोरात्र जिसका यही उत्तम है उससे अवश्य प्रीति करनी चाहिये ॥४०-४१।

कथा कीरतन छाँड़ि के, करै जु और उपाव।
कहैं कबिर ता साधु के, पास कोई मति जाव॥ ४२॥
कथा कीरतन रात दिन, जाके उद्यम येह।
कहैं कबिर ता साधु के, चरन कमल की खेह॥ ४३॥

प्रभु गुणानुवाद छोड़कर और यत्न करने वाले के पास हर्गिज न जावो॥ कबीर गुरु कहते हैं उनके कदम की खाक बनो जिनके प्रभु नामकी अहोरात्र लगन है॥ ४२॥ ४३॥

कथा करो करतार की, निसदिन सांझ सकार।
काम कथा को परिहरो, कहैं कबीर विचार॥ ४४॥
काम कथा सुनिये नहीं, सुनि कै उपजै काम।
कहैं कबीर विचार के, बिसरि जात है नाम॥ ४५॥

रात दिन सांझ सवेरे कर्त्ता पुरुष की कथा करो काम की कथा छोड़ दो कबीर गुरु विचार कर कहते हैं॥ काम की कथा सुनो भी नहीं सुनने से काम उत्पन्न होता है और नाम बिसर जाता है॥ ४४॥ ४५॥

कथा करो करतार की, सुनो कथा करतार।
आन कथा सुनिये नहीं, कहैं कबीर विचार॥ ४६॥
आन कथा अन्तर परै, ब्रह्म जीव में सोय।
कहैं कबिर यह दोष बड़, सुनी लीजे सब कोय॥ ४७॥

सिर्जनहार की ही कथा कहो और सुनो और की कथा कदापि न सुनो क्योंकि ओर की कथा ब्रह्म, जीव की एकता में भेद करेगा, अतः कबीर गुरु कहते हैं यह भारी दोष है सब कोई सुन लो॥ ४६॥ ४७॥

कथा कीरतन कलि विषे, तरबे को उपकार।
सुने सुनावै प्रेम सों, यह उपदेश हमार॥ ४८॥

कथा कीरतन सुननको, जो कोय करै सनेह ।
कहैं कबिर ता दास की, मुक्ति में नहिं संदेह ॥ ४९ ॥

कथा, कीर्त्तन कलियुग में संसार तरने की नाव और एक दूसरे का भारी उपकार है । अतः प्रेमसे सुनो और सुनाओ, कबीर गुरु कहते हैं यही हमारा उपदेश है ॥ जो कोई इससे प्रेम करता है उसके मोक्ष में कोई संशय नहीं रहता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

बहते को बहि जान दे, मत पकड़ावौ ठौर ।
समझाया समझै नहीं, देय धका दो और ॥ ५० ॥

बहते को मत बहन दो, कर गहि एंचहु ठौर ।
कह्यो सुन्यो मानै नहीं, शब्द कहो दुइ और ॥ ५१ ॥

अनधिकारियोंको मत सुनाओ । और अधिकारी है किन्तु समझाने पर प्रथम नहीं समझा तो दोबारा और समझाओ ॥ अनअधिकारीको भी कुमार्ग में मत जाने दो यथाशक्ति अधिकारी बनाकर ठेकाने लावो । यदि कहने पर सुनके नहीं माने तो भी सत् मिथ्या और परखने के लिये दोबारा और जोर देकर कहो ॥ ५० ॥ ५१ ॥

बंदे तूं कर बंदगी, तो पावै दीदार ।
औसर मानुष जनम का, बहुरि न बारंबार ॥ ५२ ॥

ऐ वन्दे ! तू साहिबकी बन्दगी कर तो दर्शन पावेगा । ध्यान रख, नर जन्मका शुभ अवसर फिर नहीं मिलेगा ॥ ५२ ॥

बार बार तोसों कहा, सुनरे मनुआ नीच ।
बनजारे का बैल ज्युं, पैंडा माहीं मीच ॥ ५३ ॥

ऐ मन अधम ! तू सुन तुझे बहुत बार समझाया यनि नीच गति नहीं छोड़ा तो बनजारे के बैल की तरस बीच मार्गमें मृत्यु होगी ॥५३॥

बनजारे को बैल ज्युं, टांड़ो उतर्यो आय ।
एकन के दूना भया, (एक) चालामूल गंवाय ॥ ५४ ॥

मन राजा नायक भया, टाँड़ा लादा जाय ।
है है है है ह्वै रही, पूंजी गई बिलाय ॥ ५५ ॥

जैसे व्यापारियोंके बैलोंका दल (गिरोह) आके उतरता है, तो किसीको एकका दूना लाभ होता और किसीको मूलही गायब हो जाता है॥ इसी प्रकार इन्द्रियोंका स्वामीमन व्यापारी बना है। सर्व विषयका व्यापार [भोग] कर रहा है किन्तु जिसमें लाभका है,है २ हो रहा है उसी में मोक्ष लाभकी पूंजी नरतन चला गया व जा रहा है ॥५४॥५५॥

बनजारे के बैल ज्युं, भरमि फिर्यो चहुंदेस।
खाँड़ लादि भुस खात है, बिन सतगुरु उपदेश ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार शक्कर लदे हुए और भुस खाते बनजारेका बैल चारों दिशामें फिरा करता है इसी प्रकार सद्गुरु उपदेश बिना खाँड़रूप चिदानन्दसे वञ्चित नर जीव तुच्छ विषय भोगरूप भुसके कारण चारों खानि में भ्रमण किया करता है ॥५६॥

जीवत कोय समुझै नहिं, मुवा न कह संदेस।
तन मन से परिचय नहीं, ताको क्या उपदेस ॥ ५७ ॥

गुरु सतसंग विमुख अपने आपको कोई समझता नहीं और मुर्दा सन्देशा कहता नहीं। "यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्" इत्यादि तन मनसे बेसुध को उपदेशही क्या करना? ॥५७॥

जो कोय समुझै सैन में, तासे कहिये बैन।
सैन बैन समुझै नहीं, तासों कछू न कैन ॥ ५८ ॥

इशारा समझनेवालेके प्रति सदुपदेश सार्थक है। सैन बैन समझ हीनको कुछ मत कहो, अनअधिकारी के प्रति उपदेश व्यर्थ है ॥५८॥

जिहि जिवरी ते जग बंधा, तूं जनि बंधै कबीर।
जासी आटा लौन ज्यौं, सोंन समान शरीर ॥ ५९ ॥

ऐ कबीर जिस भ्रम रज्जुसे संसार बंधा है इससे तूं मत बंधाय। नहीं तो ऐसा अमूल्य स्वर्ण मय नरतन बिना लवणके आटाकी तरह स्वाद रहित व्यर्थमें चला जायगा ॥५९॥

जिन गुरु जैसा जानिया, तिनको तैसा लाभ।
ओसे प्यास न भागसी, जब लगि धसै न आभ ॥ ६० ॥

जिसने जैसा गुरुकी शरण लियो तिसे तैसा ज्ञानका लाभ हुआ। ध्यान रहे सच्चा जल पिये बिना ओससे प्यास नहीं जाती ॥६०॥

जिन ढूंढ़ा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।
जो बौरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठि ॥ ६१ ॥

गोताखोरको मोती अवश्य मिला व मिलता है जो दिवाना डूबनेके डरसे किनारे बैठा रहा उसे क्या मिलेगा ? ॥६१।

चतुराई क्या कीजिये, जो नहिं सब्द समाय।
कोटिक गुन सूवा पढ़ै, अन्त बिलाई खाय ॥ ६२ ॥

जो सद्गुरुके सदुपदेशरूप शब्द हृदय नहीं समाता तो चतुराई क्या काम की ? करोड़ों गुणका सार भूत रामनाम तोता पढ़ा परन्तु बिलाई [मृत्यु] के पकड़ने पर आखीर टें टें ही बोला अर्थात् अपने चित्स्वरूप को नहीं संभाला ॥६२॥

(अल) मस्त फिरै क्या होत है, सुरति शब्दमें पोय।
चतुराई नहीं छूटसी, सुरति शब्द में पोय ॥ ६३ ॥

सार शब्दरूपी सुईमें वृत्तिरूपी डोरा पिरोये बिना अलमस्त फिरना किसी कामका नहीं। तबतक व्यावहारिक चतुराई वृत्ति नहीं छुटेगी जब तक कि सत्स्वरूपमें वृत्तिकी लगन न लगेगी ॥६३॥

पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो बात सहल्ल।
काम दहन मन बस करन, गगन चढ़न मुसकल्ल ॥ ६४ ॥

पढ़ गुनकर हरफन मौलाही क्यों न बन जाओ यह होना सरल है। मुश्किल तो बिना आधार आकाश चढ़नेके समान कामांकुरको जलाना और मन-वश में करना है ॥६४॥

पढ़ि पढ़िके पत्थर भये, लिखि लिखि भये जु ईंट।
कबीर अन्तर प्रेम की, लागी नेक न छींट ॥ ६५ ॥

ऐ कबीर ! यदि अन्तःकरणमें प्रेम लगनकी जरा छींट तक भी नहीं लगी तो पढ़, लिखकर मानो ईंट, पत्थर हो गये ॥६५॥

नाम भजो मन बसि करो, यही बात है तंत ।
काहे को पढ़ि पचि मरो, कोटिन ज्ञान गिरंथ ॥ ६६ ॥

गुरु-नामको सुमिरो और मनको वशमें करो, बस ! यही बात सार तत्त्व है । गुरु-नाम रहित करोड़ों ज्ञान ग्रन्थको क्यों पढ़कर पच-पच मरते हो ॥६६॥

करता था तो क्यौं रहा, अब करि क्यौं पछिताय ।
बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय ॥ ६७ ॥

अशुभ कार्य करता था तो सन्तोंके हटकने पर क्यों करता ही रहा, अब करके क्यों पछताता है, बबूल-बीज बोनेवाला आम फल कैसे पा सकता है ? ॥६७॥

मैं कथिकहिकहि कहिगये, ब्रह्मा बिस्नु महेश ।
राम नाम तत सार है, सब काहू उपदेस ॥ ६८ ॥
जिनमें जितनी बुद्धि है, तितनौ देय बताय ।
वाको बुरा न मानिये, और कहाँ ते लाय ॥ ६९ ॥

मैं कथन कर कहा और त्रिदेव भी कह गये, सबका यही उपदेश है कि सार तत्त्व रामनाम है ।। जिसमें जितनी समझ है तितनी बतलाय देता है । उसे बुरा मत मानो वह और लावेही कहाँसे ? ।६८॥६९॥

राम नाम सुमिरन करै, सतगुरु पद निज ध्यान ।
आतम पूजा जिब दया, लहै सो मुक्ति अमान ॥ ७० ॥

जो राम नाम का सुमिरन और सद्गुरु-पदकी सेवा तथा निज स्वरूपका ध्यान एवं प्राणीमात्र पर दयारूप आतम पूजा करता है वह अवश्य निर्बन्ध मोक्ष पद पाता है ॥७०॥

चातुर को चिंता घनी, नहिं मूरख को लाज ।
सर अवसर जानै नहीं, पेट भरन सूँ काज ॥ ७१ ॥

चतुर पुरुषोंको अनेक चिन्ता होती और मूर्खको कोई लाज नहीं, मौका गैर मौका समझता ही नहीं पेट पूरनसे मतलब है । ज्ञान-अधिकारी कहाँ है ॥७१॥

कंचन को कछु ना लगै, आग न कीड़ा खाय ।
बुरा भला होय वैश्नव, कदी न नरके जाय ॥ ७२ ॥

जैसे सोना को कोई विकार नहीं लगता, न आग जलाती न कीड़ा खाता है तैसेही नीच ऊंच कोई भी गुरुमुखी होय वह नरकमें नहीं जाता शुभ-कर्म का फल अवश्य पाता है ॥७२॥

माँगन को भल बोलनो, चोरन को भल चूप ।
माली को भल बरसनो, धोबी को भल धूप ॥ ७३ ॥

भिक्षुकको बोलनेसे, चोरोंको चूपसे, मालीको वर्षासे और धोबीको धूपसे कार्य सरता है ॥७३॥

तीन ताप में ताप है, तिनका अनँत उपाय ।
ताप आतम महाबली, संत बिना नहिं जाय ॥ ७४ ॥

दुःखोंमें दैहिक आदि तीन दुःखोंकी निवृत्तिकेमणि लिये, मंत्र,औषधि आदि अनेकों उपाय हैं किन्तु महाबली जो आतमताप अर्थात् चित्स्वरूप विषयक भ्रान्ति है वह सन्तगुरुके सत्संग बिना कदापि नहीं जाती ॥७४॥

हिय हीरा की कोठरी, बार बार मत खोल ।
मिले हिरा को जौहरी, तब हीरा का मोल ॥ ७५ ॥
जहाँ न जाको गुन लहै, तहाँ न ताको ठाँव ।
धोबी बस के क्या करे, दीगम्बर के गाँव ॥ ७६ ॥

स्वरूप ज्ञानरूप हीराकी अन्तःकरण रूपी कोठरीको अनधिकारीके पास बार२ मत खोलो, क्योंकि बिना जौहरी [अधिकारी] के उसकी कीमत न होगी ॥ जहाँ जिसके गुणकी चाह नहीं है, वहाँ उसे ठौर ऐसे नहीं मिलती जैसे दिगम्वरके ग्राम में धोबी को ॥७५॥७६॥

अति हठ मत कर बावरे, हठ से बात न होय ।
ज्यूँ ज्यूँ भींझे कामरी, त्यूँ त्यूँ भारी होय ॥ ७७ ॥

ऐ बावरे । अति दुराग्रही मत बन इससे कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा, सत्पुरुष की बात भी मान । ज्यों २ कम्बल भीजता है त्यों-त्यों भारी होता जाता है फिर कामका नहीं रहता ॥७७॥

सबसे हिलिये सबसे मिलिये, सबका लीजे नाम ।
हाँजी हाँजी सबसे कहिये, बसिये अपने ठाम ॥ ७८ ॥
बाद विवादां मति करे, करु नित अपना काम ।
गुरु चरनों चितलायके, भज ले केवल राम ॥ ७९ ॥

मिलने वालेके अनुसार सबसे मिलो किसोका दिल मत दुखाओ। हाँजीमें हाँजी सबको मिलाओ किन्तु अपनी स्थिति कदापि न भुलाओ ॥ किसीसे ब्यर्थ विवाद मत करो, अपने प्रयोजनसे मतलब रखो। गुरु-चरणोंमें चित्त लगाके केवल चित्स्वरूप रामका चिन्तन करो ॥७८-७९

बालू जैसी करकरी, ऊजल जैसी धूप ।
ऐसी मीठी कछु नहीं, जैसी मीठी चूप ॥ ८० ॥

बालू जैसी रूखरी और धूप जैसा प्रकाश एवं मौन ऐसा मधुर पदार्थ कोई भी नहीं है ॥८०॥

रितु बसंत याचक भया, हरखि दिया द्रुमपात ।
ताते नव पल्लव भया, दिपा दूर नहिं जात ॥ ८१ ॥

बसन्त ऋतु ने जब याचना करी तो बड़ी प्रसन्नतासे द्रुम, लताओंने सम्पूर्ण पात दे दिया। इसीसे पुनः नव पल्लवोंसे सुसज्जित हुई, दिया ब्यर्थ कदापि नहीं जाता ॥८१॥

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥ ८२ ॥

नावमें जल और घरमें द्रव्य अधिक हो जायँ तो सयानों को उचित है कि उसे दोनों हाथ से उलच [दानकर] डालें ॥८२॥

काम क्रोध तृष्णा तजै, तजै मान अपमान ।
सद्गुरु दाया जाहि पर, जम सिर मरदे मान ॥ ८३ ॥

जो काम, क्रोध, तृष्णा और मान-अपमानको त्यागता है और जिसपर सद्गुरुकी दया होती है वह यमराजका भी मान मर्दन करता है ॥८३॥

काया सों कारज करे, सकल काज की रीत।
कर्म भर्म सब मेट के, राम नाम सों प्रीत ॥ ८४ ॥

कायासे सकल कार्य करो और मनसे सर्व भर्म मिटा दो केवल राम नाम से प्रेम करो यही कामका नेम रखो ॥८४॥

गुरु मुख शब्द प्रतीतिकर, हर्ष सोक बिसराय।
दया क्षमा सत सील गहि, अमर लोक को जाय ॥ ८५ ॥

गुरु मुख शब्द पर विश्वास करके मनका धर्म हर्ष, शोकको भुला दो और दया, क्षमा, सत् शील ग्रहण कर अमर धामको चले चलो ॥८५॥

खाख लपेटे जो रहैं, उन्हें नीच मति लेख।
सांई के मन भावहीं, ज्यौं कीकी में रेख ॥ ८६ ॥

धूली धूसरको भी अपवित्र मत समझो प्रभुके मनके वे ऐसे प्रेमी हैं जैसे आँखके काले चिन्ह अर्थात् आँखकी पुतली जैसे पलकोंसे हमेशा रक्षा की जाती हैं ऐसे प्रभु उनकी रक्षा करते हैं ॥८६॥

मान अभिमान न कीजिये, कहैं कबीर पुकार।
जो सिर साधू ना नमै, सो सिर काटि उतार ॥ ८७ ॥

प्रतिष्ठा गर्व मत करो कबीर गुरु कहते हैं जो शिर सन्तोंके चरणों में न झुके उसे काट कर नीचे फेंक दो ॥८७॥

गुरु को पूजै गुरु मुखी, बाना पूज साध।
षट दरसन जो पूजहीं, ताका मता अगाध ॥ ८८ ॥

गुरुमुखी गुरुकी पूजा करते और सन्तों वेषकी किन्तु जो षड्दर्शन समुदायको पूजते हैं उनका मत अथाह है ॥८८॥

इति श्री उपदेश को अंग ॥१८॥
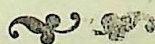
अथ शब्दको अंग ॥ १९ ॥

कबीर शब्द शरीर में, बिनु गुन बाजै ताँत ।
बाहर भीतर रमि रहा, ताते छूटी भ्रांत ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! चित्स्वरूप शब्दरूपसे शरीरमें बिना डोरी के आवाज कर रहा है और बिना पग बाहर, भीतर रम रहा है। ऐसा ज्ञान होते ही भ्रान्ति मिट जाती है ॥१॥

शब्द शब्द बहु अन्तरा, सार शब्द चित देह ।
जा सब्दै साहिब मिलै, सोई सब्द गहि लेह ॥ २ ॥

मारन, उच्चाटनादि रूपसे शब्दोंका बहुत भेद है। सत्स्वरूप बोधक शब्दमें चित्त लगावो। जिससे साहिब मिलते उसे सार शब्द कहते हैं ॥२॥

सब्द सब्द बहु अन्तरा, सब्द सार का सीर ।
सब्द सब्द का खोजना, सब्द सब्द का पीर ॥ ३ ॥

यद्यपि शब्दों में परस्पर बहुत भेद हैं तथापि सार शब्द सबके शिर मोर है। शब्दसे शब्दकी खोज होती है और शब्दही शब्दका गुरु है ॥३

सब्द बराबर धन नहीं, जो कोय जानै बोल ।
हीरा तो दामों मिलै, शब्दहि मोल न तोल ॥ ४ ॥

शब्दके समान कोई सम्पत्ति नहीं यदि कोई बोलना जाने। हीरा की तो कीमत होती है किन्तु शब्द अमूल्य और अतुल्य है।

सब्द कहै सो कीजिये, बहुतक गुरू लबार ।
अपने अपने लाभ को, ठौर ठौर बटपार ॥ ५ ॥

यथार्थ शब्दके अनुसार कार्य करो, बंचक गुरु बड़े प्रपंची हैं। निज स्वार्थ सिद्धिके लिये लोभवश ठाम ठाम बटमारी करते हैं ॥५॥

सब्द न करै मुलाहिजा, शब्द फिरै चहुँ धार ।
आपा पर जब चीन्हिया, तब गुरु सिष व्यवहार ॥ ६ ॥

शब्द किसीके मुँह देखी नहीं करता चहुँधारा फिरता है अपना पराया का परिचय होनेपर गुरु शिष्यका व्यवहार योग्य होता है ॥६॥

सब्द दुराया न दुरै, कहूं जु ढोल बजाय ।
जो जन होवै जौहरी, लेहैं सीस चढ़ाय ॥ ७ ॥

यथार्थ शब्द छिपाने से नहीं छिपता, मैं डंका बजाके कहता हूँ जो कोई शब्द पारखी होंगे वे मस्तक चढ़ावेगे ॥७॥

सब्द पाय सुरति राखहि, सो पहुंचै दरबार ।
कहैं कबीर तहाँ देखिये, बैठा पुरुष हमार ॥ ८ ॥

जो सार शब्द प्राप्त कर वृत्ति स्थिर करते हैं वेही साहेबके दरबार में पहुँचते हैं । कबीर गुरु कहते हैं वे ही हमारे स्थिर दर्शनीय पुरुषका दर्शन भी करते हैं ॥८॥

सब्द उपदेस जु मैं कहूं, जु कोय मानै संत ।
कहैं कबीर बिचारि के, ताहि मिलावौं कंत ॥ ९ ॥

वही शब्दका उपदेश मैं करता हूँ यदि कोई सन्त माने तो। उसे मैं उसके स्वामी से मिला सकता हूँ ॥९॥

शब्द भेद तब जानिये, रहै शब्द के माँहि ।
शब्दै शब्द परगट भया, दूजा दीखै नाँहि ॥ १० ॥

जब यथार्थ शब्दके विचारमें रहेगा तबही उसका मर्म जानेगा । शब्दसे ही शब्दका भेद खुलता है, दूसरेसे नहीं दीखता ॥१०॥

शब्द खोजि मन बस करु, सहज जोग है येह ।
सत्त शब्द निज सार है, यह तो झूठी देह ॥ ११ ॥

शब्द खोजीको चाहिये कि मन वश में करै, इसी का नाम सहज योग है। सत्स्वरूप बोधक सार शब्द है और यह शरीर तो मिथ्या है ॥ ११ ॥

शब्द गुरु का शब्द है, काया का गुरु काय।
भक्ति करै नित शब्द की, सतगुरु यौं समझाय ॥ १२ ॥

शब्दका भेद बतानेवाला गुरु शब्दही है और शरीरका गुरु शरीर है। इसलिये शब्दकी भक्ति (खोज) सदा करै ऐसा सद्गुरू समझाकर कहते हैं ॥१२॥

शब्द शब्द सब कोय कहै, शब्द का करो विचार।
एक शब्द शीतल करै, एक शब्द दे जार ॥ १३ ॥

शब्द शब्द सब कोई कहता है किन्तु शब्दका विचार करो शब्दमें ही शीतलता और उष्णता है ॥१३॥

एक शब्द सुख खानि है, एक शब्द दुख रासि।
एक शब्द बन्धन कटै, एक शब्द गल फाँसि ॥ १४ ॥

शब्द ही से सुख, दुख, मोक्ष और बन्धन होता है ॥१४॥

खोजी हूआ शब्द का, धन्य सन्त जन सोय।
कहैं कबीर गहि शब्द को, कबहु न जान वियोग ॥ १५ ॥

जो यथार्थ शब्द का तलाशी हुआ व है वही सन्त धन्य है। कबीर गुरु कहते हैं शब्द को ग्रहण करनेवाला निज पद से कभी नहीं बिचलता ॥ १५ ॥

दारु तो सब को (य) करै, वह सुभावकी नाँहिं।
जो दारू सतगुरु दई, वही शब्द के माँहिं ॥ १६ ॥

यद्यपि शब्दोपदेशरूपी दवाई सब कोई करते हैं तथापि वह स्वभाव परिवर्तनकी नहीं होती, जो शब्द औषधि सद्गुरु उसी शब्दमें दिये और देते हैं ॥१६॥

मता हमारा मंत्र है, हम सा है सो लेह।
शब्द हमारा कल्पतरु, जो चाहै सो देह ॥ १७ ॥

मत रहस्य ही हमारा मन्त्र है, जो हमारे जैसा होय वही ले सकता है। और हमारा शब्द कल्पवृक्ष है इच्छानुसार फल देता है ॥१७॥

सोइ शब्द निज सार है, जो गुरु दिया बताय ।

बलिहारी वा गुरुनकी, सीष बियोग न जाय ॥ १८ ॥

वही शब्द निज तत्त्व है जो सद्गुरुने बतलाया । उसी गुरुकी बलिहारी है जिसका उपदेश या शिष्य व्यर्थ नहीं जाता है ॥१८॥

यह तो मोती जानियो, पुहै पोत के साथ ।

यह तो मोती शब्द का, बेधि रहा सब गात ॥ १९ ॥

उसे केवल मोती समझो जो कण्ठमें पहिरनेकी कण्ठीके साथ गूँथा जाता है और यह शब्दका मोतीतो सम्पूर्ण शरीरको बेध रहा है ॥१९॥

सीखै सुनै विचारि ले, ताहि शब्द सुख देय ।

बिना समझै शब्द गहै, कछु न लाहा लेय ॥ २० ॥

सार शब्दभी उसीको सुख देता है जो विचार पूर्वक श्रवण, मनन करता है । बिना समझ ग्रहण करनेसे लाभ कुछभी नहीं ले सकता ॥२०

यही बड़ाई शब्द की, जैसे चुम्बक भाय ।

बिना शब्द नहिं ऊबरै, केता करै उपाय ॥ २१ ॥

शब्दकी बड़ी प्रशंसा यही है कि माया प्रपंचसे जीवको लोह चुम्बक की तरह खैंच लेता है । चाहे कितने उपाय करो सार शब्द के बिना उद्धार नहीं हो सकता ॥२१॥

सही टेक है तासु की, जाको सतगुरु टेक ।

टेक निबाहैं देह भरि, रहैं शब्द मिलि एक ॥ २२ ॥

जिसे एक सद्गुरुका प्रण है उसीकी सत्प्रतिज्ञा है । देह-भावसे शरीर पात पर्यन्त गुरु शिष्यकी मर्यादा पालन और स्वरूपसे एक रूप प्रणको निबाहता है ॥२२॥

काल फिरै सिर ऊपरै, जीवहि नजरि न आय ।

कहैं कबिर गुरु शब्द गहि, जमसे जीव बचाय ॥ २३ ॥

काल मस्तक पर मंड़रा रहा है अबोध जीवकी दृष्टिमें नहीं आता । कबीर गुरु कहते हैं सार शब्द ग्रहण कर मृत्युसे जीवको बचाओ ॥२३॥

ऐसा मारा शब्द का, मुआ न दीसै काय।
कहैं कबिर सो ऊबरै, धड़ पर सीस न होय ॥ २४ ॥

गुरुकी शब्द मार ऐसी है कि उससे मरा हुए को और कोई नहीं देखता। और निरभिमानीका उस मारसे उद्धार हो गया और हो जाता है। २४॥

सन्त सन्तोषी सर्वदा, शब्दहि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सील मत सार ॥ २५ ॥

शब्द रहस्यका विचारी सन्त सदा सन्तोषी होते हैं। सद्गुरु कृपासे सहज अवस्था और श्रेष्ठशील मत उन्हें प्राप्त है ॥२५॥

सारा बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और।
लागी चोट जो शब्द की, रहा कबीरा ठौर ॥ २६ ॥

यद्यपि कल्याणार्थ सार शब्द बहुत कुछ कहा गया है तथापि कुसंगी औरही को पुकार कर रहा है जिसे शब्द की चोट लगी वह अचल स्व-रूप में निश्चल हो गया ॥२६॥

लागी लागी क्या करै, लागत रही लगार।
लागी तबही जानिये, निकसी जाय दुसार ॥ २७ ॥

लागी लागी क्या करते हो? अभी तो लगातार लगही रही है। सार शब्द की चोट लगी तबही समझो जब दुसार (दुष्ट तत्त्व) निकल जाये ॥२७।

बिन सर और कमान बिन, मारा है जु कसीस।
बाहर घाव न दीसई, बेधा नख सिख सीस ॥ २८ ॥

बिना सर, कमानेके सद्गुरुने जो शब्दबाण खींचकर मारा है यद्यपि उसका घाव बाहर नहीं दीखता तथापि वह सारा शरीर में बेध गया है ॥ २८ ॥

मैं कलि का कोटवाल हूं, लेहू शब्द हमार।
जो या शब्दहिं मानि हैं, सो उतरै भौ पार ॥ २९ ॥

मैं कलियुगका इन्सपेक्टर हूँ हमारी शब्द पुकारको ग्रहण करो जो शब्द मानेगा वह संसार सागरके अवश्य पार होगा ॥२९॥

सबको सुख दे शब्द का, अपनी अपनी ठौर ।

जा घट में साहिब बसै, ताहि न चीन्है और ॥ ३० ॥

शब्दका रहस्य सबहीको अपनी अपनी जगह सुखदाई है जिस घटमें मालिकका निवास है उसे कुसंगी नहीं पहिचानता ॥३०॥

सीतल शब्द उचारिये, अहं आनिये नाँहि ।

तेरा प्रीतम तुझहि में, दुसमन भी तुझ माँहि ॥ ३१ ॥

अहंकार रहित शान्तिप्रद बचन बोलो, तेरा प्रीतम व दुश्मन तुझही में है ॥३१॥

हरिजन सोई जानिये, जिह्वा कहैं न मार ।

आठ पहर चितवत रहै, गुरु का ज्ञान विचार ॥ ३२ ॥

उसीको हरिजन समझो जिसकी बाणीमें मार शब्द नहीं है और सदा गुरुज्ञान विचारमें वृत्ति लगी रहती है ॥३२॥

टीला टीली ढाहि के, फोरि करै मैदान ।

समझ सफा करता चलै, सोई शब्द निरबान ॥ ३३ ॥

वर्णाश्रमका अहंकार रूपी ऊँचा नीचाको सम कर समता रूप मैदान कर दो और अन्तःकरण समझ रूप झाड़ूसे सफा करते रहो। वही निर्बन्ध शब्द है । ॥३३॥

कुबुधि कमानी चढ़ि रहै, कुटिल बचन के तीर ।

भरि भरि मारै कान में, सालै सकल सरीर ॥ ३४ ॥

अहंकारी लोग जो कुबुद्धि रूपी कमान पर कटु बचन रूप बाण बाण चढ़ाके कानमें मारते हैं वह सम्पूर्ण शरीरको छेदन करता है ॥३४

कुटिल वचन सब तें बुरा, जारि करै सब छार ।

साधु वचन जल रूप है, बरसै अमृत धार ॥ ३५ ॥

सबसे बुरा कटु बचन है, सबको दग्ध कर भसम कर देता है सन्तों

का शान्तिप्रद बचन जल रूप है, शान्ति अर्थ अमृत धारा बरसाती है ॥ ३५ ॥

करे गड़न दुरजन बचन, रहे सन्तजन टारि ।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकैगी जारि ॥ ३६ ॥

चुभनेवाले आराकी तरह दुर्जनोंके कटु बचनोंको शान्तिसे सन्तजन टाले रहते हैं । सागरमें बिजुली पड़के भी क्या जलायगी अर्थात् कुछ नहीं ॥३६॥

कुटिल बचन नहिं बोलिये, सीतल बैन ले चीन्हि ।
गंगाजल सीतल भया, परबत फोड़ा तीन्हि ॥ ३७ ॥

कटु बचन हर्गिज न बोलो सदा शीतल बचन बोलो । देखो शीतल गंगा जलकी महिमा । शीतल होनेहीसे पाषाणको फोड़ निकला ॥३७॥

सीतलता तब जानिये, समता रहै समाय ।
विष छोड़ै निरबिस रहै, सब दिन दूखा जाय ॥ ३८ ॥

सर्वत्र समता भावका नाम ही शीतल है । विष[1] रहते हुए भी उसे छोड़कर निर्विष रहे, भले सब दिन दुखाया जाये ॥३८॥

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराय ।
कुटिल वचन साधू सहै, 'औ' से सहा न जाय ॥ ३९ ॥

दुर्जनोंके उत्पात तो पृथ्वी, जंगल और सन्त ही सब सहन करते हैं दूसरे से नहीं सहा जा सकता ॥३९॥

जिह्वा में अमृत बसै, जो कोय जानै बोल ।
विष वासुकि का उतरै, जिह्वा तनै हिलोल ॥ ४० ॥

१—कहते हैं कि पूर्व संस्कार से कोई सर्प सन्तोंकी शरणमें आ गया । सन्तोंने उसे शान्ति के लिये निर्विष रहनेका उपदेश दिया । शान्ति धारण करने के कारण वह यद्यपि प्रतिदिन मनुष्योंसे दुखाया जाता था तथापि विष प्रयोग का सामर्थ्य होते हुए भी सन्तों के उपदेशानुसार निर्विष (बिना किसी कोकांटे) ही पड़ा रहता था ।

जिह्वामें अमृत रहता है, यदि कोई उसे बचनों से उपयोग करना जाने तो जहरी सर्पका विष भी उतर सकता है यानी गारुड़ी जीभ से सर्पका विष चूस लेता है ॥४०॥

जिह्वा सक्कर दूध जिमि, जिह्वा प्यारी जागि ।
जिह्वा साजन रलि मिले, जिह्वा लावै आगि ॥ ४१ ॥

शक्कर और दूध तथा जीती,जागती प्रियतमा भी जिह्वा[1] ही है वही (जिह्वा) प्रीतमसे प्रेम पूर्वक मिलाती और द्वेष अग्नि पैदा कर सताती भी है ॥४१॥

सहज तराजू आनि कै, सब रस देखा तोल ।
सब रस माँहीं जीभ रस, जु कोय जानै बोल ॥ ४२ ॥

१—जिह्वाकी अच्छी, बुरी होने में एक दृष्टान्त है । एक बादशाह था, वह बहुत ही दुष्ट था । अपने सब नौकरोंको गाली बकता था । नौकर सब उससे बहुत दुखी थे । एक दिन उस बादशाहने दरबार किया और कहा कि सब लोग जो चीज सबमें बुरी हो उसे यहां पर लाओ । कोई खून लाया, कोई विष्टा, और कोई और लाया । उनमेंसे एक नौकरने एक मुर्दे आदमीकी जीभ काटकर लायी, और उसे बादशाहके सामने रक्ख दी । बादशाहने सब चीजोंको देखा और उस जीभको देखकर उस जीभ लाने वाले से कहा कि और चीज तो सब खराब चीज है लेकिन जीभ का क्या खराब है; तू इसे क्यों लाया है; उसने कहा कि 'बादशाह सलामत ! यह जीभ ही सबसे बुरी चीज है, जब-जब यह हजारों मनुष्यों को बुरा कहती है तो हजारों का चित्त दुखाती है ।' कुछ दिनों बाद फिर बादशाह ने दरबार किया और कहा आज ऐसी चीज लाओ जो सबसे अच्छी चीज है । कोई कुछ लाया तो कोई कुछ लाया, लेकिन वह आदमी फिर एक मुर्दे की जीभ काटकर ले आया, और वहां पर उसे लाकर रख दिया । बादशाह ने आकर सब चीजोंको देखा, जीभ को देखकर उस लाने-वाले से बोला कि तू जब इस जीभको बुरी चीजों में ला चुका है तो अब इसे क्यों लाया है; वह बोला हुजूर ! इस जीभसे बढ़ कर और कोई अच्छी चीज भी नहीं है । देखिये यह हजारों मनुष्योंसे अच्छी-अच्छी बोली बोलकर हजारों को मित्र बना देती है । प्रभुका नाम जपकर उद्धार भी करा देती है ।

स्वभाव तराजू लाके सब रसोंको तौना तो सब रसोंमें जिह्वा रस का वजन अधिक प्रतीत हुआ, यदि कोई बोलने का उपयोग जाने ।।४२।।

मुख आवै सोई कहै, बोलै नहीं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तलवार ।। ४३ ।।

जो बिना बिचारे मन माना बोलता है वह मानो जिह्वामें तलवार बांधकर दूसरेकी आत्माकी हत्या करता है ।।४३।

बोलै बोल बिचारि के, बैठे ठौर सँभारि।
कहैं कबिर ता दास को, कबहु न आवै हारि ।। ४४ ।।

जो समय बिचार कर बोली बोलता और स्थान संभार कर बैठता है। गुरु कबीर कहते हैं उस दासकी हार कभी नहीं होती ।।४४।।

रैन तिमिर नाशत भयो, जबही भानु उगाय।
सार सब्द के जानते, करम भरम मिटि जाय ।। ४५ ।।

जिस प्रकार सूर्य उदयसे अन्धकार दूर हो जाता है इसी प्रकार सार शब्दके बोधसे सब कर्म भ्रम मिट जाते हैं ।।४५।।

जंत्र मंत्र सब झूठ है, मति भरमो जग कोय।
सार सब्द जानै बिना, कागा हंस न कोय ।। ४६ ।।

जंत्र मंत्र सब झूठे जगत्प्रपञ्च हैं इसमें कोई मत भूलो। सार शब्दके बोध बिना कागसे हंस नहीं हो सकता ।।४६।।

सार सब्द निज जानि के, जिन कीन्ही परतीति।
काग कुमत तजि हंस ह्वै, चले सु भौजल जीति ।। ४७ ।।

स्वरूप बोधक सार शब्दको जानकर जिसने विश्वास किया वह काग कुबुद्धि को त्यागकर हंस मार्गसे संसार-सिन्धु को तर चला ।।४७।।

सार शब्द जानै बिना, जिव परलै में जाय।
काया माया थिर नहीं, सब्द लेहु अरथाय ।। ४८ ।।

सार शब्दके ज्ञान बिना नर जीव प्रलय प्रवाहसे नहीं बचता काया और माया दोनों क्षणभंगुर हैं शब्द-द्वारा यथार्थ अर्थ समझ लो ।।४८।।

सार सब्द को खोजिये, सोई सब्द सुख रूप ।
अन समझ तो कुछ नहीं, वहतो दुख का रूप ॥ ४६ ॥
सारहि सब्द बिचारिये, सोई सब्द सुख देय ।
अन समझा सब्दै कहै, कछू न लाहा लेय ॥ ५० ॥

सार शब्दको खोजो वही सुखस्वरूप है । सार शब्दकी समझ बिना अन्य सब दुखरूप हैं ॥ सार शब्दकाही विचार करो वही शब्द सुख देता है।जो बिना समझ शब्द कहता है वह उससे लाभ कुछ नहीं लेता ।४६।५०।

कर्म फंद जग फंदिया, जप तप पूजा ध्यान ।
जाहि सब्द ते मुक्ति होय, सो न परा पहिचान ॥ ५१ ॥

कर्म फाँसमें सब फंसे और जप, तप, पूजा ध्यानमें लगे हैं जिस शब्द से मुक्ति होती है वह तो पहिचानमें आया ही नहीं ॥५१॥

सतजुग त्रेता द्वापरा, यह कलजुग अनुमान ।
सार सब्द एक साँच है, और झूठ सब ज्ञान ॥ ५२ ॥

सतयुगादि चार युगोंकी चौकड़ी कल्पना मात्रहै साँचा वो एक सार शब्द है उसके ज्ञान बिना सब मिथ्या प्रपंच है ॥५२॥

पृथिवी अपहु तेज नहीं, नहीं वायु आकास ।
अलल पच्छि तहाँ ह्वै रहै, सत्त शब्द परकास ॥ ५३ ॥

पृथ्वी आदि तत्त्वोंके आधार बिना अलख पक्षीवत् सत्य शब्दका प्रकाश (चैतन्य मात्र) निराधार ही रहता है ॥५३॥

ज्ञानी करहु विचार, सतगुरु ही से पाइये ।
सत्त शब्द निज सार, और सबै विस्तार है ॥ ५४ ॥

ए ज्ञानी लोगों ! विचार करो स्वस्वरूप बोधक सार शब्द सतगुरुसे ही प्राप्त होता है । और सब मायाका विस्तार है ॥५४॥

जग में बहु परपंच है, तामें जीव भुलान सब ।
नहिं पावै कोय संच, सार शब्द जानै बिना ॥ ५५ ॥

संसारमें मतभेदोंका प्रपंच बहुत है शब्दके यथार्थ ज्ञान बिना यद्यपि शन्ति नहीं मिलती तो भी जीव सब उसीमें भूले पड़े हैं ॥५५॥

शब्द हमारा आदि का, हमसे बली न कोय।
आगा पीछा सो करै, जो बल हीना होय ॥ ५६ ॥

प्रथम स्वरूपका बोधक हमारे शब्दसे वली कोई नहीं उस शब्दके ग्रहणमें वही आगा पीछा करता जो बलहीन है ॥५६॥

घर घर हम सबसे कहा, शब्द न सुनै हमार।
ते भवसागर बूड़हीं, लख चौरासी धार ॥ ५७ ॥

हमने घरों घर पुकार २ सबसे कह दिया जो सार शब्दको नहीं सुनेगा वह चौरासी लक्ष संसार प्रवाहमें अवश्य बूड़ेगा ॥५७॥

शब्द सम्हारे बोलिये, शब्द के हाथ न पाँव।
एक शब्द औषध करै, एक शब्द करै घाव ॥ ५८ ॥

शब्द सँभालकर बोलो यद्यपि शब्दको हाथ, पग नहीं है। तथापि सुख और दुख देनेमें शब्द शक्तिमान है ॥५८॥

एक शब्द सों प्यार है, एक शब्द कू प्यार।
एक शब्द सब दुश्मन, एक शब्द सब यार ॥ ५९ ॥

एक शब्द ऐसा है कि उससे सब लोग रुचि और एकसे अरुचि करते हैं। ध्यान रक्खो शब्दही सबसे दुश्मनी और यारी कराता है ॥५९॥

शब्द जु ऐसा बोलिये, तनका आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपन को सुख होय ॥ ६० ॥

शब्द इस प्रकार बोलो कि शरीरका अभिमान दूर हो जाये तथा औरोंको शान्ति कर अपनेको भी सुखी करे ॥६०॥

जिहि शब्द दुख ना लगे, सोई शब्द उचार।
तपत मिटी सीतल भया, सोइ शब्द ततसार ॥ ६१ ॥

जिससे किसीको भी दुख न हो उसी शब्दको उच्चारण करो। मनका सन्ताप दूरकर शान्ति करनेवाला ही सार शब्द कहलाता है ॥६१॥

कागा काको धन हरै, कोयल काको देत ।
मीठा शब्द सुनाय के, जग अपनो करी लेत ॥ ६२ ॥

देखो ! न तो कागा किसी का धन लेता है न कोयल किसी को कुछ देती है । केवल मीठे बचन सुनाकरही संसारको अपना लेती है ॥६२॥

जिभ्या जिन बस में करि, तिन बस कियो जहान ।
नहिं तो औगुन ऊपजे, कहि सब संत सुजान ॥ ६३ ॥

जिसने जिह्वाको वशमें कर ली मानो वह संसार को वशमें कर लिया । नहीं तो अवश मन अवश्य अवगुण पैदा करता है, यही सब विवेकी सन्तोंका कथन है ॥६३॥

शब्द गहै सो मरद है, मेहरी सब संसार ।
पढ़ि पंडित रंडिया भये, बिन भेटे भरतार ॥ ६४ ॥

जो शब्दको ग्रहण कर अमलमें लाता है वही मर्द है नहीं तो और सब संसार मेहरी है । प्रीतम पतिके दर्शन बिना केवल शास्त्र पढ़के पण्डित राँड बने हैं ॥६४॥

इति श्री शब्द को अंग ॥१९॥

अथ विश्वासको अंग ॥ २० ॥
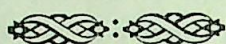
जाके मन विश्वास है, सदा गुरू हैं संग।
कोटि काल झक झोलहीं, तऊ न हो मन भंग ॥ १ ॥

गुरु उपदेश पर जिसके मनमें दृढ़ विश्वास है तो गुरु सदा उसके संग हैं। करोड़ों काल विघ्न करते हैं तो भी उसके मन-रंगमें भंग नहीं होता ॥१॥

राम नाम की लौ लगी, जग से दूर रहाय।
मोहि भरोसा नाम का, बंदा नरक न जाय ॥ २ ॥

जिसे रामनाम से लगन लगी और जो संसार झंझट से अलग रहता है। मेरे रामको पूर्ण विश्वास है कि वह बंदा नरक में कदापि नहीं जाता ॥ २ ॥

राम नाम से मन मिला, जम से परा दुराय।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरक न जाय ॥ ३ ॥

जिसका मन राम नामसे मिला वह मृत्युसे बहुत दूर हो गया। मुझे इष्ट देवका पूर्ण विश्वास है कि बन्दा नरक में नहीं जाता ॥३॥

रचनहार को चीन्हि ले, खाने को क्या रोय।
मन मन्दिर में पैठि के, तान पिछोरी सोय ॥ ४ ॥

सर्जनहारको परख ले क्यों भोजनकी चिन्ता करता है। मन मन्दिर में घुसकर बेगम चादर तान दे और निश्चिन्त निद्रा सो जा ॥ ४ ॥

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँड़ा घड़िया मुख दिया, सोही पूरन जोग ॥ ५ ॥

भूँखा भूँखा करके लोगोंको क्यों सुनाता है अरे! विश्वास कर जिसने पात्र बनाके मुख बनाया वही पूर्ण करने योग्य है ॥५॥

सिरजन हारे सिरजिया, आटा पानी लौंन।
देनेहारा देत है, मेटनहारा कौन ॥ ६ ॥

प्रारब्ध पर विश्वास कर, जब कर्त्ताने आटा, पानी लवण तैयार कर दिया और देनेवाला देता है तो फिर मिटानेवाला कौन है ॥६॥

साँइ इतता दीजिये, जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय ॥ ७ ॥

स्वामिन्! इतना ही दीजिये जितनासे मेरा तथा कुटुम्बका पोषण हो और आये सन्त भूंखे न जायँ ॥७॥

हरिजन गाँठि न बाँधहीं, उदर समाना लेय।
आगे पीछे हरि खड़े, जो माँगै सो देय ॥ ८ ॥

हरिजन संग्रह नहीं करते, क्षुधा निवृत्ति मात्र ग्रहण करते हैं क्योंकि मनोवांछित पूरा करनेके लिये हर वक्त हरि उनके आगे पीछे तैयार रहते हैं ॥८॥

कबीर चिन्ता क्या करे, चिन्ता सों क्या होय।
चिन्ता तो हरि ही करे, चिन्ता करो न कोय ॥ ९ ॥

ऐ कबीर! तू चिन्ता क्या करता है! चिन्ता से क्या होगा तेरी चिन्ता तो हरि करता है अतः तू और चिन्ता मत कर, किन्तुः—॥९॥

चिन्तामनि चित में बसै, सोई चित में आनि।
बिना प्रभु चिन्ता करै, यह मूरख का बानि ॥ १० ॥

जिस चिन्तामणिका निवास तेरे चित्त में है उसीको चित्त में ला चिन्तामनि प्रभुको चिन्तन छोड़कर जो अन्यकी चिन्ता करता है यह तो मूर्खों की आदत है ॥१०॥

चिन्ता छोड़ि अचिन्त रह, देनहार समरत्थ।
पसू परवेरू जन्तु जिव, तिनके गाँठि न हथ्थ ॥ ११ ॥

चिन्ता छोड़कर अचिन्त रह, देनहार प्रभु समर्थ है। छोटे बड़े पशु,

पक्षी जीव जन्तुओंको देख ले, न कुछ उनके हाथ में है न गाँठ में फिर भी भूखे नहीं रहते ॥११॥

अण्डा पालै काछुई, बिन थन राखै पोख ।
यौं करता सबकी करै, पालै तीनों लोक ॥ १२ ॥

जिस प्रकार काछवी बिना स्तन पानके अण्डेको पालती पोषती है इसी प्रकार तीनों लोकोंको कर्त्ता पालन करता है ।।१२।।

पौ फाटी पगरा भया, जागै जीवा जून ।
सब काहू को देत है, चोंच समाना चून ॥ १३ ॥

प्रातःकाल प्रकाश होते ही जीव जन्तु जाग उठे और शौर मचाने लगे। कर्ता सबको उदर पूर्ति हेतु अन्न देता है ॥१३॥

खोजि पकरि विश्वास गहु, धनी मिलेंगे आय ।
अजिया गज मस्तक चढ़ी, निरभय कोंपल खाय ॥ १४ ॥

मार्ग पकड़के विश्वास रक्खो; मालिक अवश्य मिलेंगे । देखो बकरी[1] सिंहके चरण प्रतापसे हाथीके मस्तक पर चढ़के निर्भय नयी पत्तियाँ खाने लगी ॥१४॥

पाँडर पिंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास ।
एक नाम सींचा अमी, फल लागा विश्वास ॥ १५ ॥

१—एक बकरी का बच्चा जो अपने परिवारों के गिरोहसे अलग हो गया था । भयंकर जँगलमें वह भपने परिवारोंको खोज रहा था न मिलनेसे उसे बड़ी चिन्ता हुई । सोचने लगा, क्या करना ? किधर जाया इस घोर जंगलमें किसकी शरण ले । इतनेमें उसे एक सिंहका पग चिन्ह मिल गया । उसी की शरण में अपनी रक्षाका विश्वास कर लिया और बैठ गया । इसी अरसामें एक मदमस्त हाथी आया और कहने लगा तू कौन ? यहां क्या करता है ? उसने जवाब दिया मैं बकरीका बच्चा हूँ । इस जंगलके राजाके पगचिन्हकी रखवारी करता हूँ ताकि राजाके पग पर और कोई पग न रक्खे । हाथीने बड़ेका शरणागत सोच उसे कन्धे पर बिठा लिया । बकरीका बच्चा उस दिनसे निर्भय हो ऊंचे स्थानसे सुन्दर नवीन पत्तियां खाने लगा । यह विश्वास का फल है ।

शरीररूप कुन्द पुष्प है, मन भँवरा है। उपमा रहित अर्थ (धन) शुभ वासना है। एक नामके सींचनेसे विश्वास रूप अमृत फल लगा व लगता है ॥१५॥

पद गावै लौलीन ह्वै, कटै न संसै फाँस।
सबै पछोरै थोथरा, एक बिना विश्वास ॥ १६ ॥

तल्लीन हो के पदको गानेहीसे संशय फाँसी नहीं कटती जबतक कि विश्वास नहीं है। एक विश्वास बिना गायन कथन सब केवल तूस पिछोरना है ॥१६॥

गाया जिन पाया नहीं, अनगाये ते दूर।
जिन गाया विश्वास गहि, ताके सदा हजूर ॥ १७ ॥

केवल गानेवाला मालिकको नहीं पाया और जो गाता नहीं उससे कोशों दूर हैं। सदा हजूर तो उसी के हैं जिसने विश्वास पकड़कर गाया ॥ १७ ॥

गावन ही में रोवना, रोवन ही में राग।
एक बनहि में घर करै, एक घरही बैराग ॥ १८ ॥

क्या अजब तमाशा है! गानेमें रोना और रोनेमें राग। एकजंगलमें जाके प्रपंचका घर बनाता और एक घरहीमें वैराग करता है ॥१८॥

घट में जोति अनूप है, रिजक मौत जिव साथ।
कहा सार है मनुष का, कलम धनी के हाथ ॥ १९ ॥

अन्तःकरणमें अनुपम आत्म ज्योति है और जीवन, मरण जीव के साथ है। मनुष्य बेचारेका क्या अखितयार जब कि कलम मालिक के हाथ है ॥१९॥

साँई दीया सहज में, सोई रिजक हलाल।
हैवाँ सबै हराम है, तजि संसै जिव साल ॥ २० ॥

जो स्वामी ने स्वाभाविक जीवन (रोजी) दिया वही पाक है और सब है वानी व हरामी जीवन को संशय शूल देनेवाली है उसे त्याग दो ॥ २० ॥

सब ते भली मधूकरी, भाँति भाँति का नाज।
दावा कीसी का नहीं, बिना बिलायत राज॥ २१॥

जीवन निर्वाह के लिये मधुकरी वृत्ति सबसे उत्तम है उसमें तरह-तरह का अन्न होता है और दावा किसी का नहीं यहबिना करका राज्य है॥ २१॥

जाके दिल में हरि बसै, सो जन कलपै काहि।
एकै लहरि समुद्र की, दुख दारिद्र बहि जाहि॥ २२॥

जिसके हृदयमें प्रभुका निवास और विश्वास है उसे क्या दुख है। सागर की एक ही लहर (प्रभु की मौज) से उसके दरिद्र दुख बह जाता॥ २२॥

आगे पीछे हरि खड़ा, आप सहारे भार।
जन को दुखी क्यों करे, समरथ सिरजनहार॥ २३॥

आगे पीछे खड़े होकर मालिक स्वयं भार सँभालता है। सिर्जनहार समर्थ है अपने सेवकको दुःखी कैसे कर सकता?॥२३॥

भक्त भरोसे राम के, निधड़क ऊँची दीठ।
तिनकूँ करम न लागई, राम ठकोरी पीठ॥ २४॥

सेवक मालिकके भरोसे बेफिक्र ऊँची निगाह रखता है। क्योंकि सर्व कर्म प्रभु समर्पण करसेसे उसे कर्म बन्धन नहीं होता और उसकी पीठ पर रामका सदा शुभ आशीर्वाद रहता है॥२४॥

सौदा कीजै राम सों, भरिये गून हलाय।
राम कबहुँ टाँड़ा लुटै, पूँजी बिलै न जाय॥ २५॥

लेन देन मालिक से करो और गोन हिला-हिलाकर माल भरो यदि कदाचित् बैलों की कतार लूट भी जाय तो भी पूंजी नहीं जायगी॥ २५॥

राखनहारा राम है, जाय जंगल में बैठ।
हरि कोपै नहिं ऊबरै, सात पताले पैठ॥ २६॥

राम रक्षक है चाहे जंगलमें जाके बैठो कोई हर्ज नहीं किन्तु उसके कोपसे उद्धार नहीं चाहे सात पाताल में क्यों न घुस जावो ॥२६॥

डोरी लागी भय मिटा, मन पाया बिसराम ।
चित्त चहूंटा राम सों, याही केवल धाम ॥ २७ ॥

मालिकसे लगन लगने पर भय नहीं रहता, मन भी शान्त हो जाता है । चित्त वृत्ति राम में चिपक गई बस । यही कैवल्य धाम है ॥२७॥

करम करीमा लिखिरहा, अब कछु लिखा न होय ।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर पटके कोय ॥ २८ ॥
करम करीमा लिख रहा, नर शिर भाग अभाग ।
जो कबहूँ चिन्ता करै, तऊ न आगै आग ॥ २९ ॥

जो कुछ प्रारब्ध बन गया है वही बस है, चाहे कोई लाख शिर मारे उसमें से न मासा भर घट सकता न तिल भर बढ़ही सकता । उसकी चिन्ता करो या न करो वह शुभाशुभ-भोग आगे-आगे उपस्थित रहेगा ।

जो साँचा बिसवास है, तौ दुख क्यौं ना जाय ।
कहैं कबीर बिचारि के, तन मन देहि जराय ॥ ३० ॥

जो सत संकल्प है तो दुःख अवश्य जायगा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं सत्की वेदी पर तन, मनको हवन कर दो ॥३०॥

विस्वासी ह्वै गुरु भजै, लोहा कंचन होय ।
नाम भजै अनुराग ते, हरष शोक नहिं दोय ॥ ३१ ॥

गुरुको पारसरूप विश्वास करके शरण ले तो लोहरूप जीव अवश्य स्वर्ण हो जाय । और प्रेम-पूर्वक नाम जपसे संसारिक हर्ष, शोक भी नहीं रहता ॥३१॥

काहे को तलफत फिरै, काहे पावै दूख ।
पहले रिजक बनाय के, पीछे दीनो मूख ॥ ३२ ॥

क्यों विलाप करके दुखी होता है, तेरा मालिक तो प्रथम जीविका बनाया और पीछे मूख बनाया है ॥३२॥

सब ते भली मधूकरी, भाँति भाँति का नाज ।

दावा कीसी का नहीं, बिना बिलायत राज ॥ २१ ॥

जीवन निर्वाह के लिये मधुकरी वृत्ति सबसे उत्तम है उसमें तरह-तरह का अन्न होता है और दावा किसी का नहीं यहबिना करका राज्य है ॥ २१ ॥

जाके दिल में हरि बसै, सो जन कलपै काहि ।

एकै लहरि समुद्र की, दुख दारिद्र बहि जाहि ॥ २२ ॥

जिसके हृदयमें प्रभुका निवास और विश्वास है उसे क्या दुख है। सागर की एक ही लहर (प्रभु की मौज) से उसके दरिद्र दुख बह जाता ॥ २२ ॥

आगे पीछे हरि खड़ा, आप सहारे भार ।

जन को दुखी क्यौं करै, समरथ सिरजनहार ॥ २३ ॥

आगे पीछे खड़े होकर मालिक स्वयं भार सँभालता है । सिर्जनहार समर्थ है अपने सेवकको दुःखी कैसे कर सकता ? ॥२३॥

भक्त भरोसे राम के, निधड़क ऊँची दीठ ।

तिनकूँ करम न लागई, राम ठकोरी पीठ ॥ २४ ॥

सेवक मालिकके भरोसे बेफिक्र ऊँची निगाह रखता है । क्योंकि सर्व कर्म प्रभु समर्पण करसेसे उसे कर्म बन्धन नहीं होता और उसकी पीठ पर रामका सदा शुभ आशीर्वाद रहता है ॥२४॥

सौदा कीजै राम सों, भरिये गून हलाय ।

राम कबहुँ टाँड़ा लुटै, पूँजी बिलै न जाय ॥ २५ ॥

लेन देन मालिक से करो और गोन हिला-हिलाकर माल भरो यदि कदाचित् बैलों की कतार :लूट भी जाय तो भी पूंजी नहीं जायगी ॥ २५ ॥

राखनहारा राम है, जाय जंगल में बैठ ।

हरि कोपै नहिं ऊबरै, सात पताले पैठ ॥ २६ ॥

राम रक्षक है चाहे जंगलमें जाके बैठो कोई हर्ज नहीं किन्तु उसके कोपसे उद्धार नहीं चाहे सात पाताल में क्यों न घुस जावो ॥२६॥

डोरी लागी भय मिटा, मन पाया बिसराम ।
चित्त चहूंटा राम सों, याही केवल धाम ॥ २७ ॥

मालिकसे लगन लगने पर भय नहीं रहता, मन भी शान्त हो जाता है । चित्त वृत्ति राम में चिपक गई बस ! यही कैवल्य धाम है ॥२७॥

करम करीमा लिखिरहा, अब कछु लिखा न होय ।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर पटके कोय ॥ २८ ॥
करम करीमा लिख रहा, नर शिर भाग अभाग ।
जो कबहूँ चिन्ता करै, तऊ न आगै आग ॥ २६ ॥

जो कुछ प्रारब्ध बन गया है वही बस है, चाहे कोई लाख शिर मारे उसमें से न मासा भर घट सकता न तिल भर बढ़ही सकता । उसकी चिन्ता करो या न करो वह शुभाशुभ-भोग आगे-आगे उपस्थित रहेगा ।

जो साँचा बिसवास है, तौ दुख क्यौं ना जाय ।
कहैं कबीर बिचारि के, तन मन देहि जराय ॥ ३० ॥

जो सत संकल्प है तो दुःख अवश्य जायगा कबीर गुरु विचार कर कहते हैं सत्‌की वेदी पर तन, मनको हवन कर दो ॥३०॥

विस्वासी ह्वै गुरु भजै, लोहा कंचन होय ।
नाम भजै अनुराग ते, हरष शोक नहिं दोय ॥ ३१ ॥

गुरुको पारसरूप विश्वास करके शरण ले तो लोहरूप जीव अवश्य स्वर्ण हो जाय । और प्रेम-पूर्वक नाम जपसे संसारिक हर्ष, शोक भी नहीं रहता ॥३१॥

काहे को तलफत फिरै, काहे पावै दूख ।
पहले रिजक बनाय के, पीछे दीनो मूख ॥ ३२ ॥

क्यों विलाप करके दुखी होता है, तेरा मालिक तो प्रथम जीविका बनाया और पीछे मूख बनाया है ॥३२॥

अब तूँ काहे को डर, सिर पर हरि का हाथ।
हस्ती चढ़कर डोलिये, कूकर भुसे जु लाख ॥ ३३ ॥

अब तूं क्यों डरता है? तेरे मस्तक पर मालिकका पंजा है। ज्ञान हस्ती पर आरूढ़ होके बिचरो, लाखों कूकरोंको भूँकने दो ॥३३॥

राम किया सोई हुआ, राम करै सो होय।
राम करै सो होयगा, काहे कल्पो कोय ॥ ३४ ॥

राम किया सो हुआ विश्वास रक्खो जो वह करता है वही होता है और जो करेगा सोई होगा क्यों कोई अन्यथा कल्पना करता है? ।३४।

ऐसा कौन अभागिया, जो विस्वासै और।
राम बिना पग धरन कूँ, कहौ कहाँ है ठौर ॥ ३५ ॥

ऐसा कौन अभागा है जो अन्यका विश्वास करता है। अरे! राम बिना तो कहीं पग रखनेकी भी जगह नहीं है ॥३५॥

किये बिना माँगे बिना, जान बिना सब आय।
काहे को मन कल्पिये, सहजे रहा समाय ॥ ३६ ॥
मुरदे को भी देत है, कपड़ा पानी आग।
जीवत नर चिंता करै, ताको बड़ा अभाग ॥ ३७ ॥

बिना किये बिना माँगे और बिना जाने स्वाभाविक सब घटमें रमा हुआ राम है। क्यों मनमें और कल्पना करता है? विश्वास रख और देख। कपड़ा, पानी और अग्नि वह मुर्देको भी देता है फिर जीवित नर जो चिन्ता करता है इससे बढ़कर और क्या अभाग्य है ॥३६॥३७॥

पीछे चाहै चाकरी, पहिले महिना देय।
ता साहिब सिर सौंपते, क्यूँ कसकता देह ॥ ३८ ॥

पहिले मुशाहरा देकर पीछे नौकरी लेता है ऐसे दयालु साहिब को शिर सौंपते क्यों मन हिचकिचाता है ॥३८॥

इति श्री विश्वासको अंग ॥ २० ॥

अथ सतीको अंग ॥ २१ ॥

अब तो ऐसी ह्वै परी, मन अति निरमल कीन्ह ।
मरने का भय छाँड़िके, हाथ सिंधोरा लीन्ह ॥ १ ॥

अबतो सतीको ऐसी बनि आई कि मरनेका भय छोड़कर मनको अत्यन्त स्वच्छ करना पड़ा और उसने सर्व श्रृङ्गार का साज सिन्दुर-दान हाथमें ले ही लिया ॥१॥

ढोल दममा बाजिया, शब्द सुना सब कोय ।
जो सर देखी सति भगै, दोउ कुल हाँसी होय ॥ २ ॥

ढोल और नगारे बजने लगे, सब कोई शब्द सुना यदि चिता देख कर कहीं सती भाग चली तो सासुर पीहर या लोक परलोक दोनों कुल में हँसी होती ॥२॥

सती जरन को नीकसी, चित धरि एक विवेक ।
तन मन सौंपा पीव को, अन्तर रही न रेख ॥ ३ ॥

जब सती जलनेको निकली तब मनमें एक ही विचार धारणकर स्वामीको तन मन अर्पण कर दिया, अन्तर भेद नहीं रहने दिया ॥३॥

सती सूर तन ताइया, तन मन कीया घान ।
नाम जपत चिंता मिटी, निकसा तन से प्रान ॥ ४ ॥

सती और शूर तन मनको घानी बनाके पेर डाला । नाम स्मरणसे चिन्ता मिट गई, बस ! तनसे प्राण निकल गया ॥४॥

सती बिचारी सत किया, काँटौं सेज बिछाय ।
सती ले पिय संग में, चहुँदिसि आग लगाय ॥ ५ ॥

सती विचारीने काँटोंकी शैया बिछाके सत किया और चारो ओरसे अग्नि लगाके स्वामीको संगमें लेकर सो गई ॥५॥

सती पुकारै सर चढ़ी, सुनरे मीत मसान।
लोग बटाऊ सब गये, हम तुम रहे निदान ॥ ६ ॥

सती चिता ऊपर चढ़के पुकारती है कि ए मेरे दोस्त ! मशान ! सुन, राही सब चले गये आखीर हम तुम रहे हैं ॥६॥

सती डिगै तो नीच घर, सूर डिगै तो कूर।
साधु डिगै तो सिखरते, गिरि भय चकनाचूर ॥ ७ ॥

सतसे पतित सती नीच योनिको प्राप्त होती है और शूर क्रूर होता है किन्तु साधुको तो कहीं ठिकाना भी नहीं लगता है ॥७॥

सती न पीसै पीसना, जो पीसै सो राँड़।
साधू भीख न माँगई, जो माँगै सो भाँड़ ॥ ८ ॥

सती पीसना पीसनेके लिये शरीरको नहीं रखती वह काम राँड़का है। एवं ऐंचा तानीका भीख भाँड़का है साधुका नहीं ॥८॥

ऐसी भांति जो सति है, सो निज मुक्ति परमान।
मुक्ति देत संसार को, सोइ सती तू जान ॥ ९ ॥

इस प्रकार जो सती है वह निज मुक्तिमें स्वयं प्रमाण भूत है एवं संसारको भी मुक्त करती है उसीको तू सती समझ ॥९॥

साध सती और सूरमा, इनका मता अगाध।
आशा छाँड़ै देह की, तिनमें अधिका साध ॥ १० ॥

सन्त, सती और सूरमा इनका मत अथाह है। ये शरीर की आशा प्रथम ही छोड़ देते हैं तिनमें श्रेष्ठ सन्त हैं ॥१०।

साध सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गजदंत।
ते निकसै नहिं बाहुरै, जो जुग जाहि अनन्त ॥ ११ ॥

साध सती औ सूरमा, कबहुँ न फेरै पीठ।
तीनों निकसी बाहुरै, तिनका मुख नहिं दीठ ॥ १२ ॥

सन्त, सती, सूरमा, ज्ञानी और हाथीका दाँत ये बाहर निकलके पुनः भीतर नही होते चाहे असंख्यों युग बीत जांय। ये कभी पीठ नहीं

दिखाते कदाचित साधु सती शूर निकलकर पीछे पग दें तो उनका मुख मत देखो ॥११॥१२॥

साध सती औ सूरमा, इन पटतर कोय नाँहि ।

अगम पंथ को पग धरै, गिरितो कहाँ समाहि ॥ १३ ॥

साधु, सती और सूरमा इनके समान और कोई नहीं है ये ही अगम (विकट) मार्गपर पग रखते हैं यदि ये गिरेंगे तो इनकी कहाँ स्थिति होगी ? कहीं भी नहीं ॥१३॥

कबीर सतियाँ कुसतियाँ, जरै मरे की लार ।

सतियाँ सोई जानिये, जरै सँभारि सँभारि ॥ १४ ॥

ऐ ! कबीर ! वह कुसती है जो मरेके संग जलती है सती तो उत्तम वह है जो जीवित पतिके संग आज्ञा संभाल२ कर जलती है ॥१४॥

सत तो तासों कीजिये, जहँवा मन पतियाय ।

ठाम ठाम के सत्त सों, कुल कलंक चढ़ि जाय ॥ १५ ॥

जहाँ मन प्रतीत करै वहाँ ही उसीसे सत करो। जगह बेजगह में सत्त करनेसे कुलमें कलंक लगता है ॥१५॥

सतिया सोई असतिया, जलती है इक बार ।

नित जलता है संत कूँ, नाम पुकार पुकार ॥ १६ ॥

वह असती है जो मरे पतिके संग एकही वक्त जलती है। मालिक के नाम पुकार २ कर सन्तको प्रतिदिन जलना होता है ॥१६॥

सतिया का सुख देखना, जले पीव के संग ।

आपै आग लगात है, तऊ न मोड़ै अङ्ग ॥ १७ ॥

अहो ! सतीका सुख देखो, स्वयं अग्नि लगाके पतिके संग जलने में भी जरा अङ्गको संकोच नहीं करती ॥१७॥

सती बिचारी सत किया, ले अपना वे भेष ।

एक एक जब है मिली, अंतर रही न रेख ॥ १८ ॥

सतीने सत्यको विचार किया और अपना वेषको अपना लिया। पतिके संग एक रूप होकर मिल गई अन्तर दो आकार नहीं रहने दिया ॥१८॥

सती चमकाकै अगनि सूँ, सूरा सीस डुलाय।
साधु जु चूकै टेकसों, तीन लोक अथड़ाय ॥ १९ ॥

कदाचित् सती अग्निको देखकर अङ्ग चमकाये और युद्धमें शूरा शिर फिरावें एवं सन्त नित्य नियमसे चूकें तो ये तीनों तीनोंलोकमें स्थिति विना डामाडोल होंगे ॥१९॥

ये तीनों उलटे बुरे, साधु सती औ सूर।
जग में हाँसी होयगी, मुख पर रहे न नूर ॥ २० ॥

साधु, सती और शूरको अपने सतसे विमुख होना बहुत बुरा है। क्योंकि ऐसा होने पर संसार में हंसी होती और चेहरे पर रौनक भी नहीं रहती ॥२०॥

इति श्री सती को अङ्ग ॥ २१ ॥
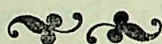
अथ पतिव्रताको अंग ॥ २२ ॥

पतिवरता के एक ह्वै, व्यभिचारिन के दोय ।
पतिबरता व्यभिचारिनी, कहु क्यों मेला होय ॥ १ ॥

पतिव्रताको एकही पति है और व्यभिचारिनको दो है, तो कहो भला दोनोंका मेल कैसे हो सकता है ? हर्गिज नहीं ॥१॥

पतिवरता को सुख घना, जाके पति ह्वै एक ।
मन मैली व्यभिचारिनी, ताके खसम अनेक ॥ २ ॥

जिसे एकही पतिदेव है ऐसी शुद्ध हृदय पतिव्रता को सुख अथाह है और मन मैली कुलटाको अनेकों खसम हैं अतः सुख नहीं ॥२॥

पतिवरता मैली भली, काली कुचल कुरूप ।
पतिवरता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप ॥ ३ ॥

काली कुरूप और फटे, मैले वस्त्रवाली क्यों न हो पतिव्रता ही पति को अच्छी लगती है । उसके रूप पर करोड़ों सुरूप निछावर हैं ॥३॥

पतिवरता मैली भली, गले काँच की पोत ।
सब सखियन में यौं दिपै, ज्यौं सूरज की जोत ॥ ४ ॥

पतिव्रत मैली कुचैली और उसके गलेमें काँचहीकी कण्ठमाला क्यों न हो ? किन्तु सब सखियोमें वह सूर्य तेजकी तरह चमकती है ॥४॥

पतिवरता पति को भजै, पति भजि धर विश्वास ।
आन दिसा चितवै नहीं, सदा पीव की आस ॥ ५ ॥
पतिवरता पति को भजै, और न आन सुहाय ।
सिंह बच्चा जो लँघना, तो भी घास न खाय ॥ ६ ॥

पतिव्रता पतिको सेवती है और भोग, मोक्षके लिये पतिमें ही पूर्ण विश्वास रखती है और तरफ देखती भी नहीं सदा पतिकी आशा करती

है ॥ और दूसरे उसे अच्छा नहीं लगता जैसे सिंहके बच्चे को कई लंघन होने पर भी वह घास नहीं खाता ॥५॥६॥

पतिबरता तब जानिये, रती न खण्डै नैन ।
अन्तर सो सूची रहै, बोलै मीठा बैन ॥ ७ ॥

पतिव्रत तब ही समझो जब कि उसका नेत्र पति से अन्यत्र रत्ती भर भी न डिगे, एवं अन्दर से पवित्र और मधुर वचन बोले ॥७॥

पतिबरता ऐसी रहै, जैसे चोली पान ।
जब सुख देखै पीव का, चित्त न आवै आन ॥ ८ ॥

पतिब्रता स्त्री चोली[1] पानकी तरह होती है, स्वामीके चित्त रंजन के वास्ते अपना अंग अर्पण किये रहती है, स्वामीके सुखमें किसी प्रकार बाधक नहीं होती ॥८॥

पतिबरता व्यभिचारिनी, इक मंदिर में बास ।
वह रंग राती पीव के, घर घर फिरै उदास ॥ ९ ॥

पतिव्रता और कुलटा यदि एकही महलमें निवास करै तो भी पतिव्रता निज पतिके प्रेम रंगमें रंगी रहती है और कुलटा घरोंघर उदास फिरती है ॥९॥

पतिबरता के एक तू, और न दूजा कोय ।
आठ पहर निरखत रहै, सोई सुहागिन होय ॥ १० ॥

हे स्वामिन् ! पतिव्रताको तुमही एक हो और दूसरा कोई नही । वही सौभाग्यवती है जो आठों पहर पति-मुख निरखती है ॥१०॥

पतिबरता तो पिव भजै, पिया पिया रट लाय ।
जीवन जस है जगत मैं, अन्त परम पद पाय ॥ ११ ॥

१—चोली या चोलीपानका अर्थ लाजवन्ती घासको भी कहते हैं । जैसे लाजवन्ती घास दूसरेके स्पर्शसे संकुचित होती है ऐसे पतिव्रता अन्य पुरुषसे और चोलीपानका अर्थ लोग पानदान या पानबटाभी करते हैं । कोई चोलेपान अर्थ करते हैं ।

जो पतिव्रता पतिको सेवती और उसीका नाम रटती है। उसकी जीते जी जगत्में कीर्ति और अन्तमें मुक्ति होती है ॥११॥

नैना अंतर आव तूँ, नैना झाँपि तुहि लेव।
ना मैं देखौं और को, ना तुहि देखन देव ॥ १२ ॥

ऐ स्वामिन् ! तू मेरे नेत्र में समा जा और मैं तुझे पलकोंसे झाँप लूं। न मैं औरों को देखूं न तुझे देखने दूं ॥१२॥

कबीर सीप समुद्र की, रटै पियास पियास।
और बुंद को ना गहे, स्वाति बुंद की आस ॥ १३ ॥

ऐ कबीर ! समुद्रकी सीप को देख, स्वाती बुन्दकी आशा में अन्य बुन्दको नहीं ग्रहण करती, तृषा विवश हो उसीको रटती है ॥१३॥

कबीर सीप समुद्र की, खारा जल नहिं लेय।
पानी पीवै स्वाति का, सोभा सागर देय ॥ १४ ॥

समुद्रकी सीप खारा जलको नहीं पीती जब पीती तब स्वाती का और मोतियों से सागर की शोभा बढ़ाती है ॥१४॥

कबीर भेरै बैठि के, सबसों कहूं पुकारि।
धरा धरै सो धरकुटी, अधर धरै सो नारि ॥ १५ ॥

ऐ कबीर ! मैं भेरै (जहाज) बैठके सबसे पुकारकर कहे देता हूं जो अकृत्रिमको छोड़कर धरा कृत्रिमको धरै यानी पूजेगी वह धरकुटी यानी व्यभिचारिणी होगी और अधर नाम अकृत्रिमको धरै—पूजेगी वही नारी पतिव्रता है व होगी ॥१५॥

धरिया कूँ धीजू नहीं, गहूँ अधर की बाँहि।
धरिया अधर पिछानिया, कछू धरावहि नाँहि ॥ १६ ॥

कृत्रिमको पूजने वाली पर विश्वास नही करता अकृत्रिम सेवीको चाहता हूं। जब धरिया अधरकी पिछान लेती तब कुछ नहीं धराती १६

नाम न रटा तो क्या हुआ, जो अन्तर है हेत।
पतिबरता पिव को भजै, मुख से नाम न लेत ॥ १७ ॥

नाम रटनेसे कोई मतलब नहीं, यदि अन्दर में प्रेम है। पति सेवी पतिव्रता पतिका नाम मुखसे कभी नहीं लेती ॥१७॥

सुरति समानी नाम में, नाम किया परकास।
पतिवरता पिवको मिली, पलक न छांड़ै पास ॥ १८ ॥

वृत्ति नाममें समा गई और नाम प्रकाश कर दिया, पतिव्रता पतिको मिल गई पल मात्र भी संग नही छोड़ती ॥१८॥

साँई मोर सुलच्छना, मैं पतिवरता नारि।
देहु दीदार दया करो, मेरे निज भरतार ॥ १९ ॥

ऐ मेरे शुभ लक्षण स्वामी ! मैं पतिव्रता नारी हूँ। ऐ मेरे पोषक ! दया करो और दर्शन दो ॥१९॥

प्रीत अड़ी है तुझसे, बहु गुनियाला कन्त।
जो हँसि बोलूँ और से, नील रँगाऊँ दन्त ॥ २० ॥

बस ! तेरेमें प्रेम लगा है। ऐ बहु गुणवन्त कन्त ! यदि तुझको छोड़ मैं औरसे हंसकर बोलूं भी तो नीलसे दाँत काला कर लूं ॥२०॥

साँई मेरा एक तूँ, और न दूजा कोय।
दूजा साँई क्या करूँ, तुझ सम और न कोय ॥ २१ ॥
साँई मेरा एक तूँ, और न दूजा कोय।
दूजा साँई जो करूँ, जो कुल दूजा होय ॥ २२ ॥

ऐ स्वामिन। मेरा तू एकही है और दूसरा कोई भी नहीं। दूसरा क्या और कहाँ से करूं तेरे समान कोई है ही नहीं॥ दूसरा तो तबही करू जब कुल दूसरा होवे ॥२१॥२२॥

मो चित पलहु न बीसरूँ, तुम परदेसहि जाय।
यह अंग और न भेलसी, जब तब तुम मिलि आय॥ २२ ॥

मैं अपने चित्तसे पलमात्र भी नहीं विसार सकती तुम भले परदे श जावो यह अङ्ग और से संग नहीं करेगा। जब करे तो तेरेही से ॥२३॥

कबीर रेख सींदूर अरु, काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय ॥ २४ ॥

शिरमें सिन्दूर और आँखमें काजल तक भी नहीं दिया जाता क्यों कि नयनोंमें तो प्रीतम रम रहा है दूसरे का अवकाश कहाँ ॥२४॥

आठ पहर चौसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माँहीं तूँ बसै, नींद ठौर नहिं होय ॥ २५ ॥

अहोरात्र सिवा तेरे मुझे और कोई नहीं। नेत्रोंमें भी तु ही निवास करता है नींद की भी जगह नहीं ॥२५॥

बार बार क्या आखिये, मेरे मन की सोय।
कलि तो उलटा होयगी, साँई और न होय ॥ २६ ॥

अपने मनकी राम कहानी बार २ मैं क्या कहूँ तूँ सब जानता है कलियुग भले पलटकर और हो जाये परन्तु स्वामी और नहीं होगा न मैं ही और हो सकती हूँ ॥२६॥

जो यह एक न जानिया, बहु जाने क्या होय।
एकै ते सब होत है, सब ते एक न होय ॥ २७ ॥
जो यह एकै जानिया, तो जानो सब जान।
जो यह एक न जानिया, सबही जान अजान ॥ २८ ॥

जो एकही मालिक नहीं जाना तो बहुत ज्ञानसे भी क्या? एक मालिक से सब होता है किन्तु सबसे एक कदापि नहीं॥ यदि एक को पहिचान लिया तो मानो सबको जान लिया। और यदि उससे अपरिचित है तो कुछ नहीं जाना ॥२७॥२८॥

सब आये उस एक में, डार पात फल फूल।
अब कहो पाछै क्या रहा, गहि पकड़ा जब मूल ॥ २९ ॥

उस एक मूल पुरुषमें शाखा, पत्र, फूल, फल सबही आ गये। कहो! जब मूलको पकड़ लिया फिर बाकी क्या रही ॥२९॥

एकै साधै सब सधै, सब साधै सब जाय।
माली सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥ ३० ॥

एककी सिद्धिसे सब सिद्ध हो जाता है। सबको साधना निरर्थक है। माली मूलही को सींचता है उसीसे फल फूल प्रफुल्लित होता है ॥३०॥

जो मन लागै एक सों, तो निरुवारा जाय।

तूरा दो मुख बाजता, घना तमाचा खाय॥ ३१॥

जब मन एकसे प्रीति करता है तब झट फैसला हो जाता है। दुबिधा दुखका घर है। देखो, दो मुखसे बोलनेवाला मृदंग, ढोल आदि अनेकों थप्पड़ खाता है॥३१॥

एक नाम को जानि कर, दूजा दिया बहाय।

जप तप तीरथ ब्रत नहीं, सतगुरु चरण समाय॥ ३२॥

अन्तर्यामी एक रामको जानकर दुतियाको दूर कर दे और जप-तप आदि जंजालको छोड़कर केवल सद्गुरुके चरणोंमें लग जाये॥३२॥

मैं अबला पिव पिव करूँ, निरगुन मेरा पीव।

सुन्न सनेही राम बिन, और न देखूँ जीव॥ ३३॥

मैं बलहीनी अपने स्वामीका नाम उच्चारण करती हूँ, वह निर्गुण है। सत्यका प्रेमी रामके बिना कल्याणार्थ जीवके लिये और कोई उपाय नही देखता है॥३३॥

मैं सेवक समरत्थ का, कबहु न होय अकाज।

पतिबरता नंगी रहै, वाही पति को लाज॥ ३४॥

मैं शक्तिमान् स्वामीका सेवक हूँ मेरा अकाज हर्गिज न होगा यदि पतिव्रता नंगी रहेगी तो भी उसकी लाज स्वामी ही को है॥३४॥

मैं सेवक समरत्थ का, कोई पुरबला भाग।

सूती जागी सुन्दरी, साँई दिया सुहाग॥ ३५॥

मैं समर्थका सेवक हूँ मेरा कोई संचित शुभकर्म था कि सोये से जाग गई और स्वामी सुहाग दे सुन्दरी बना लिया॥३५॥

सुन्दरि तो साँई भजै, तजै खलक की आस।

ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छाड़ै पास॥ ३६॥

जो सुन्दरी संसार की आशा छोड़कर स्वामी को सेवती है उसका साथ स्वामी पलमात्र भी कभी नहीं छोड़ता॥३६॥

चढ़ी अखाड़े सुन्दरी, माँड़ा पीव से खेल ।

दीपक जोया ज्ञान का, काम जलैं ज्यों तेल ॥ ३७ ॥

सुन्दरी अखाड़े चढ़ि आई और स्वामीसे धर्म युद्ध करने लगी। ज्ञानका दीपक जला दिया उसमें कामनाएं सब तेलकी तरह जलने लगीं ॥३७॥

सूरा के तो सिर नहीं, दाता के धन नाँहि ।

पतिबरता के तन नहीं, सुरति बसै पिव माँहि ॥ ३८ ॥

न तो शूराके शिर है न दाता के धन एवं न पतिव्रताके तन है क्यों कि इन तीनों की वृत्ति स्वामीमें लगी है ॥३८॥

भोरे भूलो खसम को, कबहूँ न किया विचार ।

सतगुरु आनि बताइया, पूरबला भरतार ॥ ३९ ॥

भूलमें स्वामीको भूल गई उनका चिन्तन कभी नही किया, सद्गुरुने दया की और आके उस पूर्व ध्रुव स्वामी को बतला दिया ॥३९॥

घर परमेश्वर पाहुना, सुनो सनेही दास ।

खटरस भोजन भक्ति करि, कबहूँ छाड़ै पास ॥ ४० ॥

ऐ प्रेमी भक्तो ! सुनो, तुम्हारे घर परमेश्वर पाहुना हैं यदि उसका सत्कार करना चाहते हो तो प्रेम भक्ति रूपी षड्रस भोजन करके जेमाओ कभी तुम्हारा साथ नही छोड़ेंगे ॥४०॥

एक जानि एकै समझ, एकै कै गुन गाय ।

एक निरख एकै परख, एकै सों चितलाय ॥ ४१ ॥

उसी एकको जानो, समझो और उसी एकका गुण गाओ इसी तरह एक ही को देखो, परखो और उसी एकमें चित्त को लगाओ ॥४१॥

ऊँची जाति पपीहरा, पिये न नीचा नीर ।

कै सुरपति को जाँचई, कै दुख सहै सरीर ॥ ४२ ॥

कुलीन चातक कूप, तालाव आदिका नीचा नीर नही पीता । स्वाती जलके लिये इन्द्रसे ही याचना करता है और नही तो शरीर पर कष्ट बरदास्त करता है ॥४२॥

पड़ा पपीहा सुरसरि, लागा बधिक का बान ।
मुख मूँदै सुरति गगन में, निकसि गये यूँ प्रान ॥ ४३ ॥

बधिकका बाण लगने से पपीहा गंगा में गिर पड़ा तो भी जल पिये बिना मुख मूँदकर ध्यान आकाशमें लगा दिया, और इसी तरह प्राण छूट गया ॥४३॥

पपिहा प । को ना तजै, तजै तो तन बेकाज ।
तन छाड़ै तो कुछ नहीं, पन छाड़ैं है लाज ॥ ४४ ॥

पपीहा प्रण नही छोड़ता यदि छोड़े तो शरीर ब्यर्थ है क्योंकि नाशमान शरीरके छूटने से कोई हर्ज नही और प्रण छूटनेसे इज्जत जाती है ॥४४॥

पपिहा का पन देख करि, धीरज रहै न रंच ।
मरते दम जल में पड़ा, तऊ न बोरी चंच ॥ ४५ ॥

पपीहा का प्रण देखकर जरा भी धैर्य नही रहता । देखो, मरते वक्त जलमें गिरा तो भी चोंच तक भी जलमें नही भिजाया ॥४५॥

चातक सुतहि पढ़ावहि, आन नीर मति लेय ।
मेरे कुल यहि रीत है, स्वाति बुन्द चित देय ॥ ४६ ॥

चातक अपने पुत्रको यही पाठ पढ़ाता है कि और जलका स्पर्श भी मत करो । मेरे कुलकी यही रीति है, स्वाती बूंदमें चित्त लगाओ ॥४६॥

चातक सुतहि पढ़ावहि, सुनो बात यह तात ।
आन नीर नहिं पीवना, यह सपूत यह तात ॥ ४७ ॥
चातक चित्तहि चुभिगई, सुत सपूत की बात ।
आन नीर परसौं नहीं, सुनो तात यह बात ॥ ४८ ॥

चातक पुत्रको पढ़ाता है कि ए तात ! यह बात सुन, स्वाती बूंदके सिवा और जल मत पीना यही सपूतकी बात (प्रण) है ।। बस ! पिताकी बात सपूत पुत्रके हृदयमें चुभ गई और प्रण कर कह दिया । पिताजी ! सुनिये प्राण जाय तो जाय और जलका स्पर्श भी नही करूंगा ।४७।४८।

दोजख हमहि अंगिजिया, या दुख नाहीं मुझ्झ ।
मेरे भिस्त न चाहिये, बांछि पियारे तुझ्झ ॥ ४६ ॥

हमें नरक स्वीकार है, मुझे वह दुःख दुःख नहीं। मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, ए प्रीतम प्यारे ! मुझे तो केवल तुम्हारी ही चाह ॥४६॥

इति श्री पतिव्रता को अङ्ग ॥ २२ ॥

अथ व्यभिचारिनको अंग ॥ २३ ॥

कबीर कलियुग आय के, कीया बहुत जमीत ।
जिन दिल बाधा एक से, ते सुख सोय निचिंत ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! जिसने कलियुगमें आके बहुतोंसे मित्रता की वह बड़ा ही बेचैन हुआ और जिसने एकसे दिल मिलाया वह सुख की नींद सोया तथा सोता है ॥१॥

गुरु मरजाद न भक्ति पन, नहिं पिवका अधिकार ।
कहैं कबिर बिभिचारिनी, नित्त नया भरतार ॥ २ ॥
बिभिचारिनि बिभिचार में, आठ पहर हुशियार ।
कहैं कबिर पतिबरत बिन, क्यों रीझे भरतार ॥ ३ ॥

कबीर गुरु कहते हैं, कुलटा स्त्री पर गुरुकी मर्यादा और भक्तिका प्रण एवं स्वामी का अधिकार भी नहीं रहता क्योंकि वह नित नूतन पति चाहती है ॥ और व्यभिचारमें हर वक्त हुशियार रहती है, कहो ! पति सेवा बिना उसका पति कैसे प्रसन्न होगा ? ॥२॥३॥

बिभिचारिन के बस नहीं, अपनो तन मन दोय ।
कहैं कबिर पतिबरत बिन, नारी गई बिगोय ॥ ४ ॥
नारि कहावे पीव की, रहै और सँग सोय ।
जार सदा मन में बसै, खसम खुशी क्यौं होय ॥ ५ ॥

व्यभिचारिनके तन मन अपने वशमें नहीं रहता, कबीर गुरु कहते हैं, पतिव्रता धर्म बिना नारी नष्ट हो गई । क्योंकि स्त्री कहलाती है अपने स्वामीकी और सो रहती दूसरेके संग यानी प्रेम करती है औरों के संग में । सदा उपपति का ध्यान मनमें रखती है, तो कहो ! उसका स्वामी खुश होय तो कैसे ? ॥४॥५॥

सेज बिछावै सुन्दरी, अन्तर परदा होय ।
तन सौंपे मन दे नहीं, सदा दुहागिन सोय ॥ ६ ॥

जो सुन्दरी अन्दरमें कपट रखके स्वामीके लिये शैया बिछाती यानी शरीरको अर्पण करती और मन नहीं मिलाती वह सदा पतिसे विमुख रहती है ॥६॥

कबीर मन दीया नहीं, तन कर डाला जेर ।
अन्तरजामी लखि गया, बात कहन का फेर ॥ ७ ॥

ऐ कबीर ! जिसने मनसे प्रेम न करके केवल शरीरको ही अधीन किया उसके अन्तर्भावको स्वामी समझ लेता सिर्फ बातें कहनेका फेर रहता है ॥७॥

मुख से नाम रटा कर, निस दिन साधुन संग ।
कहु धौं कौन कुफेर तें, नाहीं लागत रंग ॥ ८ ॥
कबीर पंथ निहारताँ, आनि पड़ी हैं साँझ ।
जन जन को मन राखताँ, बेस्या रहि गई बाँझ ॥ ९ ॥

रात-दिन सन्तों के संग में रहके मुखसे हरे ! राम ! रटन करने पर भी राम रंग नहीं लगता इसमें कहो क्या कुफेर है ? सुनो, कारण यह है कि वेश्या सब जनों के मन की करने से बन्ध्या रह गई और मार्ग (सुत, स्वामी का) देखते देखते ही सन्ध्या पड़ गई ॥ ८॥ ९ ॥

रात जगावै राँड़िया, गावै विषया गीत।
मारैं लौंदा लापसी, गुरु न आवै चीत ।।१० ॥

एक पर्व होता है जिसमें रात भर स्त्रियाँ जागती और विषय उत्पादक गीत गाती हैं ! रामको चित्तमें नहीं लाती पारणा (व्रत समाप्ति) के दिन उत्तम लौंदा, लापसी खाती है ॥१०॥

कबीर जो कोइ सुन्दरी, जानि करै बिभिचार।
ताहि न कबहूं आदरै, परम पुरुष भरतार ॥ ११ ॥

जो स्त्री जान बूझकर अनाचार करती है उसको परम पुरुष पतिदेव कभी भी आदर नहीं करता ॥११॥

राम नाम को छाँड़ि कर, करै और की आस।
कहैं कबिर ता नारि को, होय नरक में बास ॥ १२ ॥

जो हृदय निवासी रामको छोड़कर अन्य कल्पित राम रहीम की आशा करती है उस नारीको नरकमें निवास होता है ॥१२॥

नौ सत साजै सुन्दरी, तन मन रही सँजोय।
पिय के मन मानै नहीं, बिडँब किये क्या होय ॥ १३ ॥

जिससे स्वामी का मन राजी नहीं है उसे सोलह शृङ्गारोंसे शरीर को सुशोभित करना मानो पतिको अपमान करना है ॥१३॥

सौं बरसाँ भक्ति करै, एक दिन पूजै आन।
सो अपराधी आतमा, पड़ै चौरासी खान ॥ १४ ॥

सौ वर्ष सद्गुरुकी भक्ति करै और एक दिन उनके विरुद्ध करै तो उस अपराध से उसको चौरासी भोगना पड़ता है ॥१४॥

राम नाम को छाँड़ि कै, करै आन को जाप।
ताके मुँहड़े दीजिये, नौसादर को बाप ॥ १५ ॥

राम नाम को छाँड़ि कै, करै और को जाप ।
बेश्या केरा पूत ज्यौं, कहैं कौन को बाप ॥ १६ ॥

जो राम नामको छोड़कर और देवों की आराधना करता है उसके मुंह में मैला देना चाहिये ।। क्योंकि जो निज स्वामी को छोड़कर औरों को भजता है वह वेश्या के पुत्र की तरह निराधार होता है। वह बड़ा अपराधी है उसको कहीं शरण नहीं मिलती ॥१५॥१६॥

राम नाम को छाँड़ि कै, राखै करवा चौथि ।
सो तो ह्वैगी सूकरी, तिन्हैं राम सों कौथि ॥ १७ ॥

जो स्त्री राम चिन्तन रूप व्रत छोड़कर करवाचौथ नामक व्रत करती है उसे राम की कसम है कि वह अवश्य मर कर शूकरी होगी ॥१७॥

राम नाम को छाँड़ि कै, राति जगावन जाय ।
साँपिनि ह्वै करि औतरै, अपना जाया खाय ॥ १८ ॥

जो स्त्री उत्तम रामनाम जप व्रतछोड़ रात्रि जागरण अर्थात् रतजगा व्रत करती है वह मरकर सर्पिणी होकर अपने जाये पुत्रको ही खायेगी।

आन भजै सो आँधरा, राम भजै सो साध ।
तत्त भजै सो बैस्नवा, तिनका मता अगाध ॥ १९ ॥

जो मन अपने स्वरूप को छोड़कर दूसरे को भजता है वह अन्धा है। और जो अन्तर्यामी राम को भजता है वह साधु है और वे ही वैष्णव हैं जो सार तत्त्व को भजते हैं उनका सिद्धान्त अगम है ॥१९॥

करै सुहाली लापसी, जाय आन की जाति ।
ज्वारा हँसै मलकता, आई मेरी घाति ॥ २० ॥

जो सुहारी और लपसी बना के दूसरे की जाति (जमात) में खाने को जाती है वह जाति से भ्रष्ट हो जाती और उस पर खुश होकर जार पुरुष अपना दाव आया देखकर हंसता है ॥२०॥

कामी तरि क्रोधी तरै, लोभी तरै अनन्त ।
आन उपासी कृतघनी, तरै न गुरु कहन्त ॥ २१ ॥

सद्गुरु कहते हैं कि कामी, क्रोधी और लोभी भले अनेकों तर जाँय किन्तु वह कृतघ्नी कदापि न तरेगा जो इष्ट विरोधी उपासक है ॥२१॥

काम कनागत कारटा, आनदेव को खाय ।
कहैं कबिर समुझै नहीं, बाँधा जमपुर जाय ॥ २२ ॥

जो मृतक कर्म (श्राद्ध) करने व उसका भोज खानेवाला और पाप कर्म कराने वाला एवं अन्य देव का अर्पण खानेवाला है वह नासमझ मुश्क बँढ़ा हुआ नरक में जाता है ॥२२॥

देवि देव मानै सबै, अलख न मानै कोय ।
जा अलेखका सब किया, तासों बेमुख होय ॥ २३ ॥

देवी देव आदि दृश्य को सब कोई मानते किन्तु जो स्वयं अदृश्य और सबका द्रष्टा (साक्षी मात्र) हैं उससे विमुख हैं ॥२३॥

पन छूटै छूटो फिरै, ते नर भूत खवीस ।
भूतन पिंडा राख का, पड़ा पटकि के सीस ॥ २४ ॥

जो मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो जाता हैं वह मुर्दाखोर है, इसलिये भस्म का पिंडारूप भूत उसको पछार कर शीश पर सवार होता है, ॥२४॥

माइ मसानि सिढ़ि सितला, भैरू भूत हनुमंत ।
साहिब सों न्यारा रहै, जो इनको पूजन्त ॥ २५ ॥

सद्गुरु विमुख नर ही माई मशानी आदि देवियों को और भूत, भैरव आदि देवों को पूजते हैं ॥२५॥

इति श्री व्यभिचारिन को अंग ॥ २३ ॥

अथ सूरमाको अंग ॥२४॥

कबीर सोई सूरमा, मन सों माँड़ै जूझ ।
पांचौं इन्द्री पकड़ि के, दूरि करै सब दूझ ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! शूरमा वही हैं जो मन के साथ युद्ध करता है । और पाँचों इन्द्रियों को वश करके सन्तापको दूर भगाता है ॥१॥

कबीर सोई सूरमा, (जिन) पांचौ राखी चूर ।
जिनके पाँचौं मोकली, तिनसों साहब दूर ॥ २ ॥

वही वीर है जो भिन्न २ स्वादी पाँचोंको चूरकर निज वशमें रखता है । और जिनके पाँचों इच्छाचारी हैं उनसे साहब कोशों दूर हैं ॥२॥

कबीर सोई सूरमा, जाके पाँचौं हाथ ।
जाके पाँचौं बस नहीं, तो हरि सँग न साथ ॥ ३ ॥

ऐ कबीर ! वे ही शूर हैं जिनके हाथमें पाँचोंकी बागडोर है और जिनके ये पाँचों बसमें नहीं हैं उनके प्रभु साथी न हैं, न होते हैं ॥३॥

कबीर रन में आय के, पीछे रहै न सूर ।
सांई के सनमुख रहै, जूझैं सदा हजूर ॥ ४ ॥

रणक्षेत्रमें आके वीर पुरुष पीछे नहीं रहते सदा स्वामी के संमुख रहते और कामादि शत्रुओंसे युद्ध करते हैं ॥४॥

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतन चढ़ि असवार ।
ज्ञान खड्ग ले काल सिर, भली मचाई मार ॥ ५ ॥

ऐ कबीर ! प्रेम रूपी घोड़े पर जो गुरु उपदेश में चैतन्य है वही

पुरुष सवार होता है और ज्ञान तलवार लेकर कालके साथ भलीभाँति युद्ध करता है ॥५॥

कबीर तुरी पलानिया, चाबुक लीन्हा हाथ।
दिवस थका सांई मिले, पीछैं पड़ि है रात ॥ ६ ॥

ए कबीर ! लगाम, जीन और कोड़ा हाथमें लेकर जो दिन भरके युद्ध से थके हुए हैं वेही स्वामीसे मिलते हैं, पीछे तो रात पड़ेगी ॥६॥

कबीर हीरा बनजिया, महँगे मोल अपार।
हाड़ गली माटी मिला, सिर साटैं बेवहार ॥ ७ ॥

ए कबीर ! गुरु रूप हीरा खरीदना बहुत मुश्किल है वह इतना महँगा है कि उसकी कीमत बहुत बेशकीमती है शिर के बदले वह मिलता है और हाड़ गलाकर माटीमें मिलाना पड़ता हे यानी शरीर, सिरका अभिमान छोड़ना पड़ता है ॥७॥

कबीर तोड़ा मान गढ़, मारैं पांच गनीम।
सीस नँवाया धनी को, साधी बड़ी मुहीम ॥ ८ ॥

ए कबीर ! जिसने मान (अभिमान) गढ़को तोड़ा उसने ही पाँचों भारी शत्रुओंको मारा और भारी आक्रमणको साधकर स्वामीको शीश झुकाया अर्थात् प्रभुसे मिला ॥८॥

नाम कुल्हाड़ी कुबुधि बन, काटि किया मैदान।
कबीर जीते मान गढ़, मारैं पांचौ खान ॥ ९ ॥
कबीर तोड़ा मान गढ़, लूटा पांचौ खानि।
ज्ञान कुल्हाड़ी करम बन, काटि किया मैदान ॥ १० ॥

गुरू सत्संगी ज्ञान रूपी कुल्हाड़ी से कुबुद्धि व कुकर्म रूप जंगल को काट कर साफ चौगान बना देते और पाँचों इन्द्रियों को मारकर अभिमान गढ़ को जीत लेते हैं ॥९॥१०॥

गगन दमामा बाजिया, पड़त निशानै चोट।
कायर भागे कछु नहीं, सूरा भागै खोट ॥ ११ ॥

गगन दमामा बाजिया, पड़त निशानै घाव।
खेत पुकारै सूरमा, अब लड़ने का दाव॥ १२॥

जुझाउ बाजा बजनेसे गगन गूँज उठा, शूरमा लोग निज निज लक्ष्य को बेधने लगे, क्योंकि भीरुको तो भागना ही था। किन्तु उसमें शूरों को बड़ी हानि है॥ इसलिये शूर स्वयं लक्ष्यको बेधते हुये औरों को भी युद्ध क्षेत्रमें ललकारने लगे कि यही युद्ध का मौका है॥११॥१२॥

गगन दमामा बाजिया, हनहनिया के कान।
सूरा घरैं बधावना, कायर तजैं पिशान॥ १३॥
सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनी के हेत।
पुरजा पुरजा है पड़े, तऊ न छाड़ै खेत॥ १४॥

ऐसा युद्ध का नगारा बजा कि कायरों के कान बहरे हो गये, शूरों के घरोंमें महोत्सव और भीरु मरने लगे॥ प्रशंशाके पात्र वही शूर है जो निःस्वार्थ, मालिक के वास्ते लड़ता है। चाहे टुकड़ा २ हो जाय किन्तु संग्राम भूमिसे मुंह नहीं मोड़ता॥१३॥१४॥

सूरा सोइ सराहिये, अंग न पहिरै लोह।
जूझै सब बंद खोलिके, छाड़ै तन का मोह॥ १५॥
सूरा जूझै गिरद सों, इक दिस सूर न होय।
यों जूझै बिन बाहरा, भला न कह सो कोय॥ १६॥

बिना कवचका लड़नेवाला ही वीर है, जो जीनेकी आशा छोड़कर सर्वाङ्ग खुले हुए लड़ता है। और एक ओर से नहीं बल्कि चारों ओरसे लड़ता है, ऐसे युद्ध किये बिना बधिर हैं उसे भला कोईनहीं कहता १५-१६

सूरा सीस उतारिया, छांड़ी तन की आस।
आगे से गुरु हरषिया, आवत देखा दास॥ १७॥

शूर तो प्रथम ही धड़से शिर उतारकर शरीर की आशा छोड़ देता है। ऐसे माया प्रपंच (इन्द्रिय गण) से लड़ने वाला गुरु-भक्त (ज्ञान-वीर) को आगे देखते ही मालिक खुश हो जाता है॥ १७॥

सूरा के मैदान में, कायर फन्दा आय।
ना भाजै ना लड़ि सकै, मन ही मन पछिताय ॥ १८ ॥
सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
सूरा सों सूरा मिलै, तब पूरा संग्राम ॥ १९ ॥

शूरोंकी संग्राम भूमि में यदि कायर कदाचित् आ भी जाय तो भी क्या ? वह मन हीं मन बड़ा पश्चाताप करता है क्योंकि न तो वह लड़ सकता न वहाँसे भाग ही सकता है। इसलिये शूरोंके मैदानमें शूरों हीं का पूरा संग्राम होता है कायर वहाँ वेकाम है ॥ १८ ॥ १९ ॥

सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
कायर भाजै पीठ दै, सूर करै संग्राम ॥ २० ॥
सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
तीर तुपक बरछी बहै, बिगसि जायगा चाम ॥ २१ ॥

शूरों के मैदान में कायर का कोई काम नही है क्यों कि वह पीछे भागता और शूर संग्राम करता है। बात सच्ची यह है कि चामका प्रेमी वहाँ क्या काम करेगा ? वहाँ तो तीर, बन्दूक और भाले चलते हैं जिनसे चमड़ी ही खैंच ली जातीं है ॥ २० ॥ २१ ॥

तीर तुपक सों जो लड़ैं, सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ति करै, सूर कहावै सोय ॥ २२ ॥
तीर तुपक सों जो लड़ै, सो तो सूरा नाँहिं।
सूरा सोई सराहिये, बाँटि बाँटि धन खाँहि ॥ २३ ॥

केवल तीर बन्दूक से लड़ने वाले, वीर नहीं कहलाते बल्कि माया प्रपंचसे रहित आत्म-भक्ति परायण शूर कहलाते हैं और जो इन्द्रिय-गण शत्रु-संग्राम से उपार्जित आत्मज्ञान धन को वितरित कर स्व और परको तृप्त (सन्तुष्ट) करते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥

सूरा सनमुख बाहता, कोई न बाँधै धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर ॥ २४ ॥

सूरा नाम धराय करि, अब क्यौं डरपै वीर।
मँड़ि रहना मैदान में, सनमुख सहना तीर॥ २५॥

युद्धक्षेत्रमें शूरों के सामने गुरु सत्संग विमुख भीरु कोइ भी धैर्य नहीं धरता, संग्राममें निश्चल हो शत्रु-सेनाको हटाना ऐसा तो कोई गुरु-भक्ति परायण काया-वीर जिज्ञासुओंका काम है। ऐ वीर! शूरों का परवाना उठाके अब क्यों डरता है? अच्छा तो तब होता कि संग्राम भूमिमें डटे रहता और आमने सामने तीर खाता है॥ २४॥ २५॥

सूरा लड़ै कमन्द ह्वै, धड़ सों सीस उतारि।
कहैं कबिर मारा मुआ, सहै जू मारिहि मारि॥ २६॥
सूरा तो साँचै मतै, सहै जु सनमुख धार।
कायर अनी चुभाय के, पीछैं झखै अपार॥ २७॥

शूरा तो धड़से शिर उतार रुण्ड होके लड़ता है और मरके भी मार मार कहता है। क्योंकि शूराका सिद्धान्त सच्चा है, जो सामने वार करता और सहता है, यह कायरों का काम है कि पीछे से भाले की नोक चुभोना और बेहद्द झखना॥ २६॥ २७॥

सूरा थोड़ा ही भला, सत का रोपै पग्ग।
धनी मिला किहि काम का, सावन का सा बग्ग॥ २८॥
सूर चला संग्राम को, कबहूँ न देवें पीठ।
आगे चलि पाछे फिरे, ताको मुख नहिं दीठ॥ २९॥

सत् सिद्धान्त पर ठहरने वाला शूरा थोड़ा ही भला है, ज्ञान-घटाकी हवा लगतेही उड़ जाने वाले श्रावण की बग-पंक्तियों से क्या मतलब है रणभूमि में आके शूरा पीछा कभी न देखता, आगे चल के पीछे देखने-वाले का मुँह कभी मत देखो॥ २८॥ २९॥

सूर सनाह न पहिरई, जब रन बाजा तूर।
माथा काटै धड़ लड़ै, तब जानीजै सूर॥ ३०॥

सूर सनाह न पहिरई, मरता नहीं डराय।
कायर भाजें पीठ दे, सूर मुँहामुँह खाय ॥ ३१ ॥

रणक्षेत्रमें रणसिंहा बज जाने पर वीर बखतर पहिननेका वक्त नहीं लेता, वीर तब समझना जब रुण्ड मुण्ड होके लड़े ॥ क्योंकि वह मरने से डरताही नहीं, फिर बखतर क्यों पहिने? पीछे भागना भीरुओं का काम है वह तो तीरोंका कवर सन्मुख खाता खिलाता है ॥ ३० । ३१ ॥

सूर न सेरी ताकई, नेजा घालै घाव।
सब दल पाछा मोड़िके, मांझी सेती चाव ॥ ३२ ॥

सूरे सार सँवाहिया, पहरा सहज सँजोग।
ज्ञान गयंदहि चढ़ि चला, खेत परन का जोग ॥ ३३ ॥

शूर पीछे रास्ता नहीं खोजता, भाला का वार सामने चलाता हैं, सेनाओंको पीछे हटाके फिर भी युद्ध करने को उत्साह रखता है ॥ शूरा केवल धीरज, धर्मको सँभालता है, स्वाभाविक संयोगवश यही बखतर वह पहिनता है अर्थात् धर्म की रक्षामें अपनी रक्षा समझता है, समय आने पर ज्ञान हस्ती आरुढ़ होके चलता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

खेत न छाँड़ै सूरमा, जूझै दो दल माँहि।
आसा जीवन मरन की, मन मे राखै नांहि ॥ ३४ ॥

अब तो जूझै ही बनै, मुड़ि चालै घर दूर।
सिर साहिब को सोंपते, सोच न कीजै शूर ॥ ३५ ॥

दो दलके बीच में पड़ा हुआ भी वीर पुरुष संग्राम भूमि को नहीं छोड़ता बल्कि मन से जीवन, मरण की आशा छोड़के दोनों दलोंसे खूब लड़ता है। वह समझता है अब लड़नेही से घर पहुँचना है पीछे भागने में घर दूर पड़ जायगा, क्योंकि शूरमा को उचित है कि शिर मालिकको सौंप दे सोच हर्गिज न करै ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

भागै भला न होयगा, मुँह मोड़ै घर दूर।
सांई आगे सीस दे, सोच न कीजै सूर ॥ ३६ ॥

भागै भला न होयगा, कछु सूरातन सार।

भरम बकतर दूर करि, सुमिरन खेल सँभार ॥ ३६ ॥

शूरको इन्द्रिय संग्राम से भागने में भलाई हर्गिज न होगी एवं कामादि शत्रुओं को पीठ देनेमें घर (आतमदेश स्थिति) दूर पड़ जाएगा इसीलिये स्वामीको शीश समर्पण कर शूरों को कदापि न सोचना चाहिये ॥ भागने में भलाई नहीं है ऐसा समझकर यदि यत्किंचित् भी शूराओंके शरीरमें सार तत्त्व यानी धर्म की आन हैं तो भ्रम बक्तर को त्याग आत्मचिन्तन रूप भाले मो सँभालना चाहिये ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

भागै भला न होयगा, मुड़ि चाल्यैय घर दूर।

खड्ग ऊपाड़ै ना डरै, सो सांचा है सूर ॥ ३८ ॥

जाय पूछो उस घायलाँ, दिवस पीर निज जागि।

बाहनहारा जानि है, कै जानै जिस लागि। ३६ ॥

भागनेमें बुराई ओर मुँह मोड़ने में घर दूर होता है इस वड़ी हानि को समझकर जो शत्रुओंसे लड़ने को निडर हो युद्धका परवाना उठा के खड्ग बाँधता है वही सच्चा शूर है। उन घायलोंसे पूछ देखो जो ज्ञान खड्गके घाव से दिन रात जागते बिताते हैं। मारने और चोट खाने वाले के सिवा उनके दर्द को दूसरा नही जान सकता ॥ ३८ ॥ ३६ ॥

घायल तो घूमत फिरे- राखा रहै न ओट।

जतन करै जीवै नहीं, लगी मरम की चोट ॥ ४० ॥

साध सती औ सूरमा, राखा रहै न ओट।

सीस कटा धड़ से लड़ै, सुन जो पावै चोट ॥ ४१ ॥

जिसका शिर ज्ञान खड्गसे कट गया है वह रुण्ड पड़दा में रखने से नहीं रहता, घूमा करता है, यत्नोंसे भी वह पुनः सँसारके लिये जीवित नहीं होता क्योंकि उसके मर्म स्थानमें ज्ञानतीर बीध गया है। सन्त, सती और शूरमा ये किसीके रखनेसे आड़में नहीं रहते इन्हे भी जुभाऊ बाजा की चोट सुनने की देरी है ये तो शिर कटा के धड़ से ही लड़ते हैं ॥ ४० ॥ ४१ ॥

ओट लिया न उबरै, सुनरे मनुवा बूझ ।
निकसि रहो मैदान में, कर पाँचौं से जूझ ॥ ४२ ॥
घायल की गति और है, औरन की गति और ।
प्रेम बान हिरदै लगा, रहा कबीरा ठौर ॥ ४३ ॥

ऐ मन ! कामादि शत्रुओं के युद्ध में मुख मोड़ने से उद्धार कदापि न होगा इस बातको भली भाँति बूझकर समझ ले और मैदान में आकर पाँचो इन्द्रियोंसे युद्ध कर। प्रेम बाणके घायलों की गति (रहस्य) औरों से विलक्षण होती है जिसके हृदय में प्रेम बाण बिध गया बस! वह ठिकाने ठहर जाता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

चित चेतन ताजी करै, लौ की करै लगाम ।
शब्द गुरू का ताजना, पहुँचै संत सुठाम ॥ ४४ ॥
सिर राखै सिर जात है, सिर काटै सिर होय ।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय ॥ ४५ ॥

चित्तवृत्ति को घोड़ी बनाके ध्यान को लगाम लगावे इसी प्रकार स्वरूप बोधक गुरुके सार शब्द रूप ताजना यानी कोड़ा बनाके सन्त ही निज देशको पहुँचते हैं। सांसारिक प्रतिष्ठा में मनुष्य परमार्थको खो बैठता है, इसे तो त्यागमें परमार्थ सिद्ध होता है जैसे दीपक की बत्ती (शिखा) को काटने ही से प्रकाश होता हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

धड़ से सीस उतारिके, डारि देय ज्यौं ढेल ।
कोई सूर को सोहसी; घर जाने का खेल ॥ ४६ ॥
लड़ने को सब ही चले, सस्तर बाँधि अनेक ।
साहिब आगे आपने, जूझेगा कोय ऐक ॥ ४७ ॥

सांसारिक मिथ्या अभिमान रूप शिरको धड़ से उतार कर ढेला के माफिक डाल देना, यही निज घर जाने का कौतुक है लेकिन यह विनोद किसी शूर को शोभता हैं। यों तो युद्ध के अनेकों हथियार (साधु पक्ष में कौपीन, कमण्डलु आदि) बाँध के युद्ध के लिये बहुतेरे चले

जाते हैं किन्तु अपने मालिक के सामने कोई एक ही युद्ध किया और करेगा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

जूझेंगे तब कहेंगे, अब कुछ कहा न जाय ।
भीड़ पड़े मन मसखरा, लड़ै किधौं भगिजाय ॥ ४८ ॥
मेरे संशय कोय नहीं; गुरु सो लागा हेत ।
काम क्रोध सों जूझता; चौड़ै माड़ा खेत ॥ ४६ ॥

जब तक कामादि शत्रुओंसे युद्ध नहीं हुआ, तब तक साधु असाधु कुछ कहा नहीं जाता, जब वेषके अनुसार कार्य करेंगे तब कुछ कहाजायगा यों तो काम क्रोधादि शत्रुओं से युद्ध करने में गुरु-भक्ति परायण भक्तोंको कोई संशय ही नहीं होता वे तो चोड़े मैदानमें युद्धके लिये सदा सन्नद्ध ही रहते हैं किन्तु मन मसखरों पर विश्वास नहीं होता ॥४८॥४६॥

जब लग धड़ पर सीस है, सूर कहावै कोय ।
माथा टूटै धड़ लड़ै, कमँद कहावै सोय ॥ ५० ॥
रनहि धसा सो ऊबरा, आगै गिरह निवास ।
धरै बधावा बाजिया, और न दूजी आस ॥ ५१ ॥

जब तक धड़ पर शीश है कोई भी शूर कहला सकता है किन्तु बिना शिर रुण्ड हो लड़कर कमन्द कहलाना मुश्किल हैं। रणमें प्रवेश कर जो इस प्रकार लड़ा उसीका उद्धार हुआ और आगे परमार्थ रूप घरमें अन्य आशाओंसे रहित हो बड़ी बधाई के साथ निवास किया व करता है ॥५०॥५१॥

साँई सेति न पाइये, बातन मिलै न कोय ।
कबीर सौदा नाम का, सिर बिन कबहुँ न होय ॥ ५२ ॥
जेता तारा रैन का, येता वैरी मुझ्झ ।
धड़ सूली सिर कँगुरे, तउ न बिसारूँ तुझ्झ ॥ ५३ ॥

सेत-मेतमें मालिकको न किसीने पाया न कोई पा सकता है। ध्यान रहे, शिर दिये बिना यह सौदा कभी नहीं बनता। गुरु से लगन

ऐसी लगनी चाहिये कि चाहे शत्रु ताराओंकी तरह असंख्य क्यों न हो और धड़ शूली व शिर शिखर पर हो तौ भी ए मालिक! तुझे नहीं बिसारूँगा ॥५२॥५३॥

ऐसी मार कबीर की, मुआ न दीसै कोय।
कहैं कबिर सो ऊबरै, धड़ पर सीस न होय ॥ ५४ ॥
सीतलता सँजोय ले, सूर चढ़ै संग्राम।
अबकी भाजन सरत है, सिर साहिब के काम ॥ ५५ ॥

ज्ञान खड्गका घाव ऐसा है कि उसे कोई अज्ञानी नहीं देख सकता, गुरु कबीर कहते हैं कि उसीका निस्तार होता है जिसके धड़पर मिथ्या अभिमान नहीं है। शूर शान्ति को धारण कर रण भूमि में पग देता है। और यह कहता है कि अबकी बेर शिर मालिक के वास्ते समर्पण है ॥ ५४ ५५ ॥

जोग सुँ तो जौहर भला, घड़ी एक का काम।
आठ पहर का जूझना, बिन खाँड़ै संग्राम ॥ ५६ ॥
पँज असमाना जब लिया, तब रन धसिया सूर।
दिल सौंपा सिर ऊबरा, सुजश धनी हजूर ॥ ५७ ॥

जोगसे जौहर (सती होना) इस वास्ते अच्छा है कि जौहर होना घड़ी भरका काम है और योगमें इन्द्रिय गण शत्रु तथा मन माया से बिना हथियार आठो पहर युद्ध करना पड़ता है। इसी कारण प्रथम वीर पुरुष पाँच ज्ञान इन्द्रिय रूप शस्त्रको साधके पीछे रणभूमिमें प्रवेश करते हैं। तहाँ मन मालिकको सुपूर्द कर अपने आपको बचाते और स्वामीके हुजूरमें शिर झुकाते हैं ॥५६॥५७॥

कड़ा ह धारा राम को, काचा टिकै न होय।
सिर सौं पै सीधा लड़ै, सूरा कहिये सोय ॥ ५८ ॥
बाँकी तेग कबीर की, अनी पड़ै दो टूक।
मार मीर महाबली, ऐसी मूठ अचूक ॥ ५९ ॥

राम नदीकी धारा कठिन है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्यादि वचनके अनुसार वहाँ असिद्ध कोई पाँव नहीं टिका सकता वहाँ तो शूरों का काम है जो शिरका बलिदान कर सीधे लड़ै। कबीर गुरु की तलवार (ज्ञान रहस्य) बड़ी तिखी है अनी (नोक) मात्र लगते ही दो खण्ड हो जाते, ऐसी उनकी मूठ (निशान) अचूक है कि महापराक्रमी ही उनकी मारकी मीर यानी सीमा पर डटते हैं ॥५८॥५९॥

बाँका गढ़ बाँका मता, बाँकी गढ़ की पोल।
काछ कबीरा नीकसा, जम सिर घाली शेल ॥ ६० ॥
रकत बहै लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
अविनासी की फौज में, गूँजै दास कबीर ॥ ६१ ॥

मालिकका किला, मत और उसके दरबारकी राह सबही टेढ़ा है, कोई परम जिज्ञासु कमर कसके निकल कर यम शिर मर्दन करता और दरबार में पहुंचता है। जब हथियारों की वृष्टि और खूनकी नदी बहती है तब जंजीर जैसा कठिन प्रश्न हल होता है और जिज्ञासु अखण्डात्मा की फौजमें बिहार करते हैं ॥६०॥६१॥

सार बहै लोटा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
जम ऊपर साटै करी, चढ़िया दास कबीर ॥ ६२ ॥
ज्यों ज्यों गुरुगुन साँभलौ, त्यों त्यों लागै तीर।
साँटी साँटी झरि पड़ी, झलका रहा सरीर ॥ ६३ ॥

जिज्ञासु जब गुरु सत्संगमें कठिन प्रश्नको हलकर लेते तब यम शिर को भी मर्दन कर देते और मालिकके धाम पर पहुँच जाते हैं। ज्यों ज्यों गुरुका उपदेश श्रवण होता है त्यों त्यों मानो तीर चुभता है। हाड़ चाम सब गिर गये शरीर में भालाही भाला रह गया अर्थात् गुरु गुणके सिवा और कुछ न रहा ॥६२-६३॥

चौपड़ माँड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार।
सतगुरु सेती खेलताँ, कबहुँ न आवै हार ॥ ६४ ॥

जो हारौ तो सेव गुरु, जो जीतौं तो दाव ।
राम नाम सों खेलतां, सिर जावै तो जाव ॥ ६५ ॥

पिंड ब्रह्मांडकी हाटमें चित्त चौराहेपर ज्ञानका पासा डाला है, तहाँ सद्गुरुके साथ खेलनेमें हार हर्गिज नहीं सदा जीतही होती है। क्योंकि कदाचित् हार भी जाऊँ तो गुरुकी सेवा करूँ और ज्ञानदाव जीतूँ तो कृतकृत्य हूँ, राम नामके युद्धमें शिर कटे तो भले कोई हर्ज नहीं ॥६४-६५

खोजी को डर बहुत है, पल पल पड़ै बिजोग ।
प्रन राखत जो तन गिरै, सो तन साहिब जोग ॥ ६६ ॥
भाव भालका सुरतिसर, धरि धीरज कर तान ।
मन की मूठ जहाँ मुँड़ी, चोट तहाँ ही जान ॥ ६७ ॥

मालिकके खोजीको अनेको भय रहते हैं, क्षण क्षणमें उसने मन माया वियोग करती रहती है, तो भी मालिकसे मिलनेकी टेकमें जो शरीर छूटता है वही स्वामीके योग्य होता है अर्थात् आत्म अनुसधानमें शरीर पात होना, मुमुक्षुका लक्ष्य है। स्वरूप लक्ष्यको बेधनेके लिये भावरूप धनुष पर सुरतिके बाणको धैर्य रूपी गुनको तान रहैं फिर मनकी मूठ जहाँ मुंड़ेगी वहींचोट जान अर्थात् वहीं लक्ष्य बिंध जायगा ॥६६॥६७॥

धूजा फरकै सुन्न में, बाजै अनहद तूर ।
तकिया है मैदान में, पहुँचेगा कोय सूर ॥ ६८ ॥
कहै दरबारी बातरी, क्यों पावै वह धाम ।
सीस उतारे संचरै, नाहि और को काम ॥ ६९ ॥

फिर गगनमें झण्डा फहराता है और अनाहत शब्दकी तुरही बजती है, युद्ध भूमिमेंही एकान्त स्थान है कोई शूरमा वहाँ पहुंचता है। क्योंकि स्थानी कहते हैं, वह धाम बातोंसे नहीं पा सकता जो धड़से शिर उतारता हैं वही प्रवेश करता है औरोंका काम नही ॥६८॥६९॥

लालच लोभ न मोह मद, एकल भला अलीह।
हरिजन ऐसा चाहिये, जैसा बन का सिंह ॥ ७० ॥

रन रोनी अति ही हुआ, साजन मिला हजूर।
सूरा सूरा ठाहरा, भाजि गई भकभूर ॥ ७१ ॥

मायिक पदार्थ की लालच, लोभ बढ़ाके उसका मोह और गर्व नकर भला हर्गिज नहीं, हरिजनको तो ऐसे अकेला स्वतंत्र और निस्पृह रहना चाहिये जैसे बनका सिंह। कामादि शत्रुओं से जब अत्यन्त लड़ाई चढ़ाई हुई तब प्रेमी प्रभु मिले तहाँ वीर ही ठहरे भीरु सब भाग गये ॥ ७७-७१ ॥

सब ही साथी कलतरो, धीर न बँधै कोय।
भागा पीछै बाहुरैं, ठाठ गुसाँई सोय ॥ ७२ ॥
खाँड़ा तिसको बाहिये, फिर खाँड़े को देय।
कायर को क्या वाहिये, दाँतौं तिनका लेय ॥ ७३ ॥

जब मौका आया तब सबही साथके तमाशेगीर बन गये किसी को धैर्य न रहा, भागकर पीछे आनेपर वह केवल स्वामीका ठाठ यानी दृश्य-मात्र होता है। तलवारका वार उसीपर करो जो लौटती बार दे, ऐसे कायरों पर वार व्यर्थ है जो स्वयं पशु बन रहे हैं ॥७२॥७३।

कौनै परा न छूटि हैं, सुन रे जीव अबूझ।
कबीर मँड़ मैदान मैं, करि इन्द्रियन सों जूझ ॥ ७४ ॥
इक मरिबो इक मारिबो, येही विषमा सिद्धि।
ना वे कायर मरेंगे, चालै तरकस बिद्धि ॥ ७५ ॥

ऐ अज्ञानी ? सुन, किसी प्रकार छुटकारा नही पायगा। कबीर गुरु कहते हैं इन्द्रियोंसे युद्ध करके ज्ञान मैदानमें निर्भय स्थिर रहो। मारदेना या मर मिटना यही तो विकट सिद्धि है, वे कायर क्या मरेंगे, जो तरकस वेध मात्रसेही मर चुके हैं। भावार्थः—ज्ञानका काण्ड कृपाणकी धार है यहाँ शूराका काम है, क्रूरा का नहो, वह क्या करेगा ॥७४॥७५॥

कायर का घर फूस का, भभकी चहुँ पलीत।
सूरा के कछु डर नहीं, गज गीरी की भीत ॥ ७६ ॥

कायर बहुत पलापई, अधिक न बोलै सूर।
सार खलक कै जानिये, किहि के मुँहडै नूर ॥ ७७ ॥

कायरोंकी स्थिति फूँसकी झोपड़ी माफिक है जो कि चिनगारी लगते ही चारों ओरसे भभक उठती है लेकिन उस शूरको इसका कुछभी भय नही जिसकी दीवार हाथीके चढ़नेसे भी नही टूटती, भाव है कि शूरा साधनकी दृढ़ता से, निर्भय रहता है और साधनहीन कायर हर हालतमें डरता है ॥ कायर अधिक प्रलापी होता है और वीर मतलबसे ज्यादा कभी नहीं भी बोलता, संसारियोंका स्वभाव लोहेकी तरह जानो जब तक अग्निमें है तभी तक लाल, नही तो काला का काला ॥७६॥७७॥

कायर सेरी ताकवै, सूरा माँड़ै पाँव।
सीस जीव दोऊ दिया, पीठ न आया घाव ॥ ७८ ॥
कायर भागा पीठ दे, सूर रहा रन माँहि।
पटा लखाया गुरु पै, खरा खजीना खाँहि ॥ ७९ ॥

साधन संग्राम भूमिमें चढ़के भी कायर भागनेका रास्ता ताकता है और शूर दृढ़ पाँव अड़ाके शिर, प्राण दोनों प्रभुको अर्पण कर देता किन्तु पीठ पर घाव नही आने देता ॥ साधन संग्राम से कायर पीछे भागता है और वीर अड़ा रहता है तथा गुरुसे खरी कमाईके खुराक का पट्टा [टीका] लिखाया व लिखवा लेता है ॥७८॥७९॥

भागि कहाँ को जाइये, भय भारी घर दूर।
बहुरि कबीरा खेत रहु, दल आया भरपूर ॥ ८० ॥
भागे भली न होयगी, कहाँ धरोगे पाँव।
सिर सौंपौ सीधे लड़ौ, काहे करौ कुदाव ॥ ८१ ॥

ऐ पामर प्राणियों ! गुरुसे भागकर कहाँ जावोगे भागनेसे घर दूर और भय भारी होगा, कामादि शत्रु का दल आया तो आने दो लौटकर खेतमें डटे रहो। भागनेमें न भलाई है न स्थिति मालिकको शिर सौंप के निर्भय लड़ो कुदाव मत करो ॥८०॥८१॥

सति जो डरपै अगिन ते, सूरा सरहि डराय।
हरिजन भागै भक्ति सों, देस दुनी ते जाय॥ ८२॥
मानुस खोजत मैं फिरा, मानुष बड़ा सुकाल।
जाको देखत दिल घिरे, ताका पड़ा दुकाल॥ ८३॥

यहाँ समझ और विचारकी जरूरत है, देखो यदि सती अग्निसे शूरा बाणसे भय खाय और हरिजन भक्तिसे भागे तो इन्हें ठौर कहाँ है, इस हालतमें ये उभयतो भ्रष्ट हैं॥ इसलिये जैसे दिल मिलावो मनुष्य को मैं चाहता हूँ उसका बड़ा अभाव है यों तो मनुष्य बहुत हैं॥८२॥८३॥

सूर चढ़े संग्राम कूँ, पीछे पाँव न देह।
साहिब लाजै भाजताँ, दृष्टि पड़ा तोहि देह॥ ८४॥
सूर चढ़े संग्राम कूँ, पाँव न पीछा देह।
सिर के साटै जूझही, अगम ठौर कूँ लेह॥ ८५॥

शूर संग्रामको चढ़के पाँव पीछे कदापि नहीं देते वे भागनेमें अपनी और मालिककी लज्जा समझते हैं। मालिक तो दृष्टि मात्रसे रक्षा करते ही हैं, फिर वे पीछे क्यों हटें वे तो शिरके बलसे लड़ते और अविचल धाम को पाते हैं॥८४॥८५॥

सूरा सोई जानिये, पाँव न पीछे पेख।
आगे चलि पीछा फिरै, ताका मुख नहिं देख॥ ८६॥
देखा देखी सुर चढ़े, मर्म न जानै कोय।
सांई कारन सीस दे, सूरा जानौ सोय॥ ८७॥
सिर सांटै का खेल है, सो सूरन का काम।
पहिले मरना आग में, पीछै कहना राम॥ ८८॥

जो पाँव तक पीछे नहीं देखता उसीको शूर जानो और जो आगे चलके पीछे मुंड़ता है उसका मुंह हर्गिज न देखो। रहस्य समझे विना बहुतेरे शूरा में नाम लिखाते और साधन संग्राममें चढ़ते हैं परन्तु जो मालिक

के वास्ते शिर समर्पण करता है उसी को शूरा जानो ॥ शिरके बल लड़ना शूरोंका काम है, यहाँ पहिलेही साधन अग्निमें जलना होता है। राम कहना पीछे होता है अर्थात् शम दमादि पहिले साधो पीछे राम-राम जपो ॥८६॥८७॥८८॥

हरि का गुन अति कठिन है, ऊँचा बहुत अकथ्य।
सिर काटी पग तर धरै, तब जा पहुँचे हथ्थ ॥ ८९ ॥
ऊँचा तरवर गगन फल, पँखी मूआ झूर।
बहुत सयाने पचि गये, फल लागा पै दूर ॥ ९० ॥

प्रभुका गुण अति दुर्लभ एवं अगाध और अकथनीय है, जब शिर उतारके पग तर धरै तब हाथ वहाँ पहुँचता है ॥ गगनचुम्बी वृक्षमें परमार्थरूप फल लगा है किन्तु सांसारिक विषय फल भोगी मन पक्षी तो उससे सूखा ही, मर गया, गुरुसत्संग विमुखता के कारण बड़े २ सयाने अति दुर्लभ फल कह के मर मिटे प्राप्त नहीं किये ॥८९॥९०॥

दूर भया तो क्या भया, सिर दे नियरा होय।
जब लग सिर सौंपे नहीं, चाख सकै नहिं कोय ॥ ९१ ॥
दूर भया तो क्या भया, सतगुरु मेला होय।
सिर सौंपै उन चरण में, कारज सिद्धी होय ॥ ९२ ॥

दूर होनेमें तो कोई हर्ज नहीं, शिर समर्पणसे नजदीक हो सकता है किन्तु इसके बिना कोई चाख भी नहीं सकता है ॥ सद्गुरु से मिलकर उनके चरणों में शीश समर्पण किये बाद कोई कार्य असिद्ध नहीं रहता सर्व सुलभ हो जाता है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

कबीर साँचा सूरमा, कबू न पहिरे लोह।
जीवन के बन्ध खोल के, छांड़ै तन का मोह ॥ ९३ ॥
कठिनाई कछु है नहीं, जो सिर बदले लेह।
राम नाम नहिं छाँड़िये, जो सिर करवत देह ॥ ९४ ॥

ऐ कबीर ! सत्य सन्ध वीर पुरुष शरीर रक्षा निमित्त बखतर कदापि नहीं पहिनते किन्तु मालिक के वास्ते शरीर का मोह त्याग कर सर्वाङ्ग

खुले लड़ते हैं ॥ उन्हें कोई मुश्किल नहीं, यदि शिर के बदले भी प्रभु मिल जाय। चाहे शिर पर आरा क्यों न चले वे राम का नाम हर्गिज नहीं छोड़ सकते ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

मारग कठिन कबीर का, धरि न सकै पग कोय।

आय चले कोइ सूरमा, जा धड़ सीस न होय ॥ ६५ ॥

रन जँग बाजा बाजिया, सूरा आये धाय।

पूरा सो तो लड़त है, कायर भागे जाय ॥ ६६ ॥

यह विकट मार्ग पूर्ण जिज्ञासुओं का है इस पर दूसरा कोई पाँव भी नहीं दे सकता, जिसके धड़ पर शीश नहीं है ऐसा कोई शूरा आ चढ़ता है। ज्योंही जुझाऊ वाजा संग्राम भूमि में बजा त्यों ही शूर दौड़ि आये। जो पूरा है वह तो लड़ता है और भीरु भाग जाता है ॥ ६५ ॥ ९६ ॥

रग बग टोपी सब कसी, रन कूँ चलै बजाय।

फिरफिर भवन चितावई, बाना बिरद लजाय ॥ ६७ ॥

कायर का काचा मता, घड़ी पलक मन और।

आगा पीछा ह्वै रहै, जागि मिसै नहिं ठौर ॥ ६८ ॥

यौं तो सब ही सब अङ्ग में युद्ध का पोशाक पहिन लिये और रणसिंहा बजा के रण को चल पड़े किन्तु जो बार २ घर की ओर देखता है वह वेष के यश को शर्मिन्दा करता है।। कायरों की मिथ्या प्रतिज्ञा होती है, उनका दिल क्षण २ में और का ओर हुआ करता है इस वास्ते उन्हें कोई यशस्वी ठौर नहीं मिलती ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

कायर कचरी बैठि के, मूछाँ मरड़ै मरड़।

सूरा तब ही जानिये, निकसे सरड़ै सरड़ ॥ ६९ ॥

सूरा कायर दुइ भला, एक जीव इक प्रान।

सूर मचावै मामला, कायर देवै जान ॥१००॥

कायर घर बैठे केवल मूँछे मरोड़ते और प्रलाप करते हैं, शूरा तो तबही कहा जा सकता है जब कि घरसे निकल कर एकदम रणभूमि

में उतर पड़े। शूरा और क्रूरा ये दोनों इस प्रकार भले हैं कि रण पाके दोनों ही जान देते हैं, भेद इतना ही रहया है कि एक शूरों के साथ युद्ध करके और एक युद्ध को देखते ही कृष्ण और शुक्ल पक्ष के सदृश यश अपयश के भागी होते हैं ॥ ९९ ॥ १०० ॥

सूरा सबहि निकसिया, बाना पहिरि अनेक।
साहिब के सुख कारन, मूआ कोई एक ॥१०१॥
साधू सब ही सूरमा, अपनी अपनी ठौर।
जिन ये पाचौ चूरिया, सो माथे का मौर ॥१०२॥

शूर कहलाने के लिये अनेकों हथियार बाँधके सबही निकले किन्तु मालिकके हित के वास्ते कोई एक ही प्राण अर्पण किया व करता है। यद्यपि अपने २ स्थान पर साधु सबही बड़े हैं, तथापि सबमें श्रेष्ठ वे ही हैं जो पंचे इन्द्रिय रूप शत्रुओं को वश में किये व करते हैं ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

सूरा सो सनमुख लड़ै, देखि धनी की प्रीति।
जीता जानै जगत कूँ, जक्त जानै न रीति ॥१०३॥
कबीर चढ़ै सिकार को, हाथै लाल कमान।
मूरख नर सो रहि गये, मारे संत सुजान॥१०४॥

वही शूरा है जो मालिकके सुख देखकर संमुख लड़ता है। जीत-हार में पड़ा हुआ जगज्जीव इस भाव को नहीं समझता। परमार्थ रूप लक्ष्य बेधने के वास्ते जिज्ञासु जन ध्यान धनुष ज्ञान बाण हाथमें लेके चढ़ चले किन्तु मूर्ख नर सोचते ही रह गये, सन्त लक्ष्य वेध लिये ॥१०३॥१०४॥

कायर काम न आवई, ये सूर का खेत।
हाथ पाँव बिन जूझना, काया सीस समेत ॥१०५॥
जो मूआ गुरु हेतु सुँ, ताकूँ बूम न वार।
साधू साहिब ह्वै रहा, माया रही सिर मार ॥१०६॥

शूरों के मैदान में कायरों का कार्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि वहाँ बिना हथियार के धड़, शिर सहित युद्ध करना होता है॥ जो सन्त गुरु-

पदेश के वास्ते शिर समर्पण किये उनकी कुछ भी हानि नहीं हुई, बल्कि वे प्रभु रूप बन गये और माया झखमार के रह गई ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

जो मूआ हरि हेत में, कोई न बूझै सार।
हरिजन हरिसा ह्वै रहा, माया रहि सिर मार ॥१०७॥
सिर साटै का खेल है, छाँड़ि देय सब बान।
सिर साटै साहिब मिले, तोहु हानि मति जान ॥१०८॥

अज्ञानी कोई इस सार रहस्य को न किसी से बूझता न स्वयं समझता है, इसे तो जो प्रभु को शिर सौंपा वही प्रभु रूप होके जाना और माया झखमार के अलग रह गई ॥ ऐ जिज्ञासुओ! यह शिर बदले शूरमाओं की बाजी है, इस लिये कदर्य आदत सब छोड़ दे, अरे! शिर बदले भी मालिक मिलै तौ भी नुकसान मत समझो ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

धीरा ह्वै धमका सहै, ज्यों अहरन का घाव।
सिर के साटै जब लड़ै, कबहूँ काज न खाव ॥१०९॥
धनुष बानकी चोट है, पानी का परसंग।
जिनकूँ लागी होयसी, तिनकूँ औरहि रंग ॥११०॥

धैर्य पूर्वक गुरु दरबार में पड़ा रहे और निहाई की तरह गुरु-शासन की चोट खाया करे " सबसे सेवक धर्म कठोरा " ऐसा जानके जब शिर बल से लड़े तब वह अपने कार्य में धोखा कभी नहीं खा सकता है। गुरु-शासन रूप धनुष-बाण का निशाना मानो जल पर निशाने के समान है, यह निशाना जिन्हें लगा व लगता है, उनका और ही रंग हुआ व होता है ॥ १०९ ॥ ११० ॥

रन रहै सूरा भये, सूर भये जो सूर।
सूरा पूरा रहि गये भागि गये सब कूर ॥१११॥
सूरा खाँड़ा जो गहे, जब रन बाजै तूर।
सीस पड़ै तो धड़ लड़ै, तब तू साँचा सूर ॥११२॥

जो रणमें स्थिर रहे वे ही शूर भये जो शूर थे वेही शूर हुए हैं, पूरे शूर रह गये और अधूरे कूरे सब भाग गये। जो वास्तविक शूर हैं वे रण सिंहा बजते ही हथियार पकड़ते हैं, जिनके शिर कटने पर भी धड़ लड़े उसी को सच्चा शूर समझना ॥ १११ ॥ ११२ ॥

सबै कहावै लस्करी, सब लस्कर कूँ जाय।
सेल धमक्का जो सहै, खरा मुसारा खाय ॥११३॥
जूझै ते नर भागिया, लिया पीठ पर घाव।
जागीरी सब ऊतरी, धनी न कहसी आव ॥११४॥
जूझै ते नर जूझिया, लिया सीस पर घाव।
जागीरी दूनो भई, दिया सीस पर पाव ॥११५॥

सब ही लश्करी कहलाते और लश्कर में दाखिल होते हैं किन्तु जो तलवारका वार सहता है, वही सच्ची तनखवाह खाता है। और जो युद्ध होते ही भागकर पीठ पर घाव लेता है, उसकी जागीरी सब छिन जाती है और मालिक मुख से आनेको भी नहीं कहता। और जो लड़वइया से लड़के शीश पर घाव खाता है उसकी जागीरी (मुआफी) दूनी हो जाती ओर वह सबमें सरदार भी होता है ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

कोइ मारै तिर तोप सूँ, होत दुवादस घाव।
कबीर मारै शब्द सूँ, तल मूड़ी पर पाव ॥११६॥
मनतरकस तन तोपसी, सुरति पलीता लाय।
करो भड़का नामका, काल कुबुध उड़िजाय ॥११७॥

किसी के तीर तोप की मारसे वार पार घाव होता है और यहाँ कबीर गुरुकी शब्द मार ही से नख से शिखा पर्यन्त छिद जाता है। मनका माथा और शरीरकी तोप एवं ध्यानकी बत्ती जलाके प्रभु नामका भड़का फोड़ो जिससे कुबुद्धि रूपी काल उड़ जाय ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

सूर लड़ै गुरु दाव से, इक दिस जूझन होय।
जूझै बीना सूरमा, भला न कहसी कोय ॥११७॥

सूरा तो बहुतक मिले, घायल मिला न कोय।
घायल कूँ घायल मिले, राम भक्ति दृढ़ होय ॥११६॥

जो शूरमा है वह गुरु के दाव से लड़ता है, एक तरफी ही युद्ध होता है क्योंकि बिना युद्धके अच्छा वीर कौन कहेगा ? यों तो नाम मात्रका शूरा बहुतेरे मिले व मिलते हैं और घायल कोई नहीं, परन्तु राम भक्तिमें दृढ़ होकर मजा तो तब ही आता है जब घायल को घायल मिलता है ॥ ११८ ॥ ११६ ॥

बाहिर घाव दिसै नहीं, पड़ा कलेजे घाव।
वाकूँ औषध का करै, घायल जीवै नाहिं ॥१२०॥
बान तीरछा भेदिया, लागा भल्ल का सार।
भरम बकतर भेदिकर, निकसि गया भौ पार ॥१२१॥

शब्द भाले का घाव बाहर नहीं दीखता वह तो हृदय में सालता है उसका इलाज कोई क्या करेगा वह ऐसा घायल है कि संसारके लिये नहीं जा सकता। उसका हृदय ऐसा बाँका बाण और लोहे की बर्छी से छिदा है कि भ्रम रूपी कवच को भेद कर वार पार निकल गया है अतः वह संसार से अलग हो गया ॥ १२० ॥ १२१ ॥

लागा भलका नामका, रही गया उर माँहि।
लागा ताकूँ सालसी, औरों कूँ गम नाँहि ॥१२२॥

प्रभु-ज्ञानकी बर्छी लगी और हृदय में रह गई, वह जिसे लगी उसीको करकती है औरों को इसकी गति नहीं ॥ १२२ ॥

इति श्री सूरमा को अङ्ग ॥ २४ ॥

अथ स्वारथको अंग ॥२५॥

स्वारथ का सबको सगा, सारा ही जग जान।
बिन स्वारथ आदर करै, सो नर चतुर सुजान ॥ १ ॥
निज स्वारथ के कारनै, सेव करै संसार।
बिन स्वारथ भक्ति करै, सो भावै करतार ॥ २ ॥

सारा संसार अपने मतलबका सम्बन्धी हैं अर्थात् जगज्जीव सब मतलबी हैं, पर बिना स्वार्थ जो प्रेम करता है वह मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञानी कहलाता है ॥ यों तो सारा संसार अपने मतलब-पूर्ति सेवा करता है परन्तु प्रभु को वही सुहाता है जो बिना स्वार्थ भक्ति करता है ॥ १ ॥ २ ॥

स्वारथ कूँ स्वारथ मिले, पड़ि पड़ि लूँबा बूँब।
निस्प्रेही निराधार को, कोय न राखै झूँब ॥ ३ ॥
माया कूँ माया मिले, कर कर लम्बे हाथ।
निस्प्रेही निरधार को, गाहक दीनानाथ ॥ ४ ॥

मतलबी से मतलबी खूब झुक-झुकके मिलते हैं और निराधार निस्पृही को तो कोई वचन से भी सत्कार नहीं करता। मायाधारियों से मायाधारी हाथ फैला-फैला कर मिलते हैं और निस्पृही निराधार को तो केवल अनाथों के नाथ ही प्रेमी हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

माया कुँ माया मिले, लम्बी करके पाँख।
निरगुन को चीन्हैं नहीं, फूटी चारों आँख ॥ ५ ॥

संसारी से प्रीतड़ी, सरै न एकौ काम।
दुबिधा में दोनों गये, माया मिली न राम ॥ ६ ॥

मायावियों से मायावी दूर ही से अङ्कवार फैला फैलाकर भेंटते हैं, इन्हें त्रिगुण माया-रहित आतम तत्व का ज्ञान नहीं है ये विवेक-चक्षु रहित चौपट हैं। माया धारियोंसे प्रेम करने में कार्य एक भी सिद्ध नहीं होता, दो चित्त में व्यवहार परमार्थ दोनों का सत्यानाश होता है। अतः परम—प्रयोजन कार्य सिद्धि के लिये एक को पकड़ना चाहिये ॥ ५ ॥ ६ ॥

इति श्री स्वारथको अंग समाप्त ॥ २५ ॥

अथ परमारथको अंग ॥ २६ ॥

परमारथ पाको रतन, कबहुँ न दीजै पीठ।
स्वारथ सेंभल फूल है, कली अपूठी पीठ ॥ १ ॥
मरूँ पर मागूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारनै, मोहि न आवै लाज ॥ २ ॥

जिससे संसारका कल्याण हो ऐसे पर-उपकार को पक्का रतन समझो इससे विमुख हर्गिज न हो और जिससे फक्त अपना ही मतलब सिद्ध हो उसे देखने मात्र सुन्दर गन्ध रहित सेमर के पुष्प जानो जिसकी कली उल्टी अपनी तरफ को खिलता है॥ अपने शरीर निर्वाह के लिए याचने से मुझे मरना ही अच्छा प्रतीत होता है किन्तु परोपकारार्थं मुझे लज्जा नहीं आती ॥ १ ॥ २ ॥

प्रीत रीत सब अर्थ की, परमारथ की नाँहि।
कहैं कबिर परमारथी, बिरला को (य) कलि माँहि ॥ ३ ॥

सुख के संगी स्वारथी, दुख में रहते दूर।
कहें कबिर परमारथी, दुख सुख सदा हजूर ॥ ४ ॥

सांसारिक प्रीतिकी प्रथा सब स्वार्थ व द्रव्य की है परमार्थ की नहीं कबीर गुरु कहते हैं कलियुग में परमार्थी वहुत कम है! सुख का साथी सदा स्वार्थी होता है जो दुःख आते ही दूर हो जाता है, परमार्थी जीव हर हालतमें हाजिर रहता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

जो कोय करे सो स्वारथी, अरस परस गुन देत।
बिन किय करै सो सूरमा, परमारथ के हेत ॥ ५ ॥
आप स्वारथी मेदिनी, भक्ति स्वारथी दास।
कबीर जन परमार्थी, डारी तन की आस ॥ ६ ॥

जो परस्पर अन्योऽन्य उपकारी हैं वह स्वार्थी है परमार्थी वह है जो विना किये कुछ परमार्थी करता है उसीको शूरमा भी कहते हैं। जैसे पृथिवी स्वार्थवश अपनी ओर सबको खैचती हैं तैसे भक्ति के स्वार्थी सेवक अपनी ओर सबको झुकाते हैं किन्तु परमार्थी वे हैं जिसने अपने तन की भी आशा छोड़ दी है ॥ ५ ॥ ६ ॥

स्वारथ सूका लाकड़ा, छाँह बिहूना सूल।
पीपल परमारथ भजो, सुख सागर को मूल ॥ ७॥
धन रहै न जोबन रहै, रहै न गाँव न ठाँव।
कबीर जग में जस रहै, करदे किसिका काम ॥ ८ ॥

संसार में स्वार्थ छाँह-रहित सूखे लकड़े के सदृश कण्टक मात्र है, सदा बहार छायादार पीपल वृक्षके समान परोपकारकी शरण जो स्व, पर आनन्द सिन्धु वा कारण है। धन-धाम और यौवन-गाम ये सब नाशवान हैं, कबीर गुरु कहते हैं संसारमें एक स्थिर यशही, जो किसी का कार्य परमार्थ रूपसे सिद्ध कर दे ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति श्री परमारथ को अङ्ग ॥ २६ ॥

अथ विपर्ययको अंग ॥ २७ ॥

साँझ पड़ी दिन ढल गया, बाघन घेरी गाय।
गाय बिचारी ना मरै, बाघ न भूखा जाय ॥ १ ॥

यद्यपि जीवन रूप सूर्यके अस्त होने (वृद्धावस्था आने) पर मानो आयुः रूपी दिन पूर्ण सा हो गया, और इस हालत में काल रूप सिंह आत्म रूप गौको मारनेको मुस्तैद हो गया तो भी आत्मा रूप गौ अविनाशी होनेसे नहीं मरती और प्राण वियोग रूप खोराकसे कालरूप सिंह भी भूखा नहीं रहता। यही आश्चर्य है कि इस आश्चर्य लीलाका पात्र अज्ञानी लोग सदासे बने हैं ॥१॥

पापी को दोजख नहीं, धरमी दोजख जाय।
यह परमारथ बूझि के, मति कोय धरम कराय ॥ २ ॥
पाँच पचीशों मारिया, पापी कहिये सोय।
या परमारथ बूझि के, पाप करैं सब कोय ॥ ३ ॥

पापी नरकमें नहीं जाता और धर्मी नरकमें जाता है, इसका मतलब किसी विवेकी सन्तोंसे जानकर धर्मके बदले पाप ही सबको करना चाहिये। परन्तु पाप है क्या! सुनिये। पंच ज्ञानेन्द्रिय और पचीस प्रकृतियोंको विषयोंकी ओरसे मनको मारने (वश करने) को पाप तथा कर्त्ता को पापी कहते हैं यही इसका उत्तम अर्थ है, इस उलट मासी अर्थ को समझकर इस प्रकारका पाप कर्म सबको करना उचित है ॥२॥३॥

आपा मेटै हरि मिलै, हरि मेटै सब जाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कोई नहिं पतियाय ॥ ४ ॥

यद्यपि नश्वर देह, गेहादिमें जो अहन्ता, ममता रूप आपा है उसे त्यागनेसे प्रभु मिलते हैं और अविद्या अन्धकारहारी हरि (गुरु) से

विमुख होने पर कुछ भी नही रह जाता, तथापि इस अजब प्रेम कहानी पर कोई प्रतीत नहीं करता ॥४॥

घर जारैं घर ऊबरैं, घर राखै घर जाय।
एक अचंभा देखिया, मुआ काल को खाय ॥ ५ ॥

ज्ञान साधनमें उपाधी रूप मायावी घरको जलाने (असक्ति छोड़ने) से आत्म-स्थिति रूप घरका उद्धार होता है। और उसकी रक्षामें आत्म-ज्ञान स्थितिकी रक्षा नही होती। यह एक विचित्र आश्चर्य देखा गया है कि, मिथ्या वर्णाश्रमकी अहन्ता ममता रूप जीवनसे मुर्दा मन मृत्यु को भी मार डालता है ॥५॥

तिल समान तो गाय है, बछुड़ा नौ नौ हाथ।
मटकी भरि भरि दुहिलिया, पूंछ अठारह हाथ ॥ ६ ॥

गायत्री रूपी गाय तो अति सूक्ष्म तिलके सदृश है किन्तु अर्थ विस्तारक शब्द सिद्धिके लिये उसके व्याकरण रूप बछड़े नौ २ हाथके लम्बे हैं। जिससे अर्थ रूप दूध, काव्य कोषादिरूप मटकीमें यथेष्ट दूहा गया है और उसकी पूंछ पूजाके लिये अठारह पुराण रूप में आज भी प्रतिष्ठित है ॥६॥

झाल उठी झोली जली, खपरा फूटम फूत।
जोगी था सो रमि गया, आसन रही भभूत ॥ ७ ॥

विवेकी सन्तोंके मनोविकार रूप झोली सब ज्ञान अग्नि दीपक रूप झालके प्रदीप्त होते ही भस्म हो जाते। और प्रारब्ध भोगके क्षय होनेसे त्रय देह रूप खपरा भी छिन्न-भिन्न हो अपने २ तत्वोंमें मिल जाते हैं। और जाग्रत जीव रूप योगी जो था वह चित्स्वरूपमें विश्राम करने लगा। अब तो केवल उनका ज्ञान रहस्य रूप भभूत ही संसारी जीवोंके जन्मादि रोग दूर करनेके लिये संसार रूप आसन पर शेष है ॥७॥

आग जु लागी नीर में, कादौं जरिया झार।
उत्तर दिसिका पंडिता, रहा विचार विचार ॥ ८ ॥

अन्तःकरण रूप नीरमें ज्ञान पलीता लगते ही संचित कर्म रूप

कीचड़ सब क्षार हो गये। अनन्तर ज्ञानी पुरुष षड्विकार रूपी देह-रहित विदेह मुक्त हो गये। किन्तु उत्तरायण सूर्यकी उपासना करने वाले पण्डित लोग तो उसीके विचार ही में रह गये ॥८॥

धौं लागी सायर जले; पंखी बैठे आय।
दाधि देह न पालि है, सतगुरु गये लगाय ॥ ९ ॥

मुमुक्षुके हृदय-सागरमें ज्ञानाग्निके लग जानेसे मन पखेरू जो प्राण पिण्डके संयोगमें आ बैठा था वह जल मरा। जिसको सद्गुरुने यह ज्ञानाग्नि लगा दी वह अपने जले शरीरको प्रारब्ध भोगसे अधिक सांसारिक भोगोंसे पोषण हर्गिज नहीं करता ॥९॥

जलदाझा चीखल जला, बिरहा लागी आग।
तिनका बपुरा ऊबरा, गल पूला के लाग ॥ १० ॥

जब हृदय रूप जलमें ज्ञान विरह रूप अग्नि लगी तब मनोविकार रूप चीखल (कीचड़) सब भस्म हो गये। इस हालत में केवल गलपूला अर्थात् सद्गुरु की शरणमें आ जानेसे तिनका रूप जीव बेचारेका उद्धार हो गया ॥१०॥

आहेरी धौं लाइया, मिरग पुकारैं रोय।
जा बन में को लाकड़ी, दाझत है बन सोय ॥ ११ ॥

आहेरी अर्थात् सद्गुरुने जिज्ञासुओंके हृदय रूपी जंगल में ऐसी ज्ञानाग्नि लगाई कि इन्द्रिय रूप मृगी अपनी रक्षा निमित्त रो रोकर गोहार करने लगी तो भी न बच सकी बल्कि उक्त जंगलकी विकाररूपी लकड़ी सहित वह संसार रूप जंगल भी जल गया ॥११॥

पानी माहीं पर जली, हुई अपरबल आग।
बहती सरिता रह गई, मच्छ रहै जल त्यागि ॥ १२ ॥

जिज्ञासुके हृदयरूपी पानीमें सद्गुरुका उपदेश रूप ज्ञानाग्नि ऐसी अपरिमित प्रदीप्त हुई कि हद्द बेहद्द दोऊ पक्ष जल गये और विषयादि में बहती हुई सरिता रूपी वृत्ति भी एक दम रुक गई। तदन्तर मन रूप

मच्छ भी विषय रूप जलको त्यागकर सत्संग सागरका रस पान करने लगा ॥१२॥

नदिया जलि कोइला भई, समुँदर लागी आग।
मच्छी बिरछा चढ़ि गई, ऊठ कबीरा जागि ॥ १३ ॥

सद्गुरुका ज्ञान रूप अग्नि मुमुक्षुके हृदय सागरमें ऐसी प्रज्वलित हुई कि सांसारिक जीवनकी आशा रूपी नदी जलकर खाक हो गई। और उसकी वृत्ति रूप मच्छी सचेत होकर अखण्डातम रूप वृक्ष पर चढ़ गई ॥१३॥

पंछी उड़ानी गगन को, पिंड रहा परदेस।
पानी पोया चोंच बिन, भूलि गया वह देस॥ १४ ॥

जब अन्तःकरण की वृत्ति रूपी पक्षी पिण्ड को छोड़कर ब्रह्माण्ड (चेतन स्वरूप) को चढ़ी तब पिण्ड मानो परदेश हो गया और वहाँ बाह्य इन्द्रिय रूप चोंच बिना ही एकान्त स्थिति रूप रसामृतका ऐसा पान किया कि उसको पिण्ड देश बिल्कुल भूल ही गया ॥१४॥

आकासे औंधा कुवा, पाताले पनिहार।
जल हंसा कोय पीवई, बिरला आदि विचार ॥ १५ ॥

ब्रह्माण्डमें एक नीचे मुखका कूप है जिससे सदा अमृत झरता है। उस अमृत जलको भरने वाली कुण्डली शक्ति रूपी पनिहारी पाताले नाम नाभी स्थान में रहती है, और उस अमृत रसको पी लेती है। अनभिज्ञ इससे सदा विमुख रहता है, कोई बिरले गुरुमुखी हंस अखण्ड आदि स्वरूपके विचार से उस अमृत रसका पान करते हैं। १५॥

सिव सक्ति मुख को जुवै, पच्छिम दिसि उठै धूर।
जल में सिंघ जो घर करै मछरी चढ़ै खजूर ॥ १६ ॥

सत्संगियों के मन रूप शिव और मनसा रूपी शक्ति तब मुखको जुवैं अर्थात् लय (अन्तर्मुख) को प्राप्त होती है, जब पच्छिम दिशि उठे धूर नाम पृष्ठ भाग (मेरुदण्ड) में नाभी से उठके प्राणोंका प्रवेश होता है या आतमा की ओर ध्यान होता है। और जीव रूप सिंह तब

ही जलमें यानी सद्गुरु ज्ञान रूप रसामृत कुण्डमें घर (स्थिति) करता है जब कि इसकी वृत्तिरूपी मछली खजूर सदृश्य ऊंचा सद्गुरु के देशमें पहुंच जाता है ॥१६॥

जिहि सर घड़ा न डूबता, मैंगल मलिमलि न्हाय ।
देवल बूड़ा कलस सों, पंछि पियासा जाय ॥ १७ ॥

सद्गुरु के सत्संग बिना प्रथम जिस स्वरूपानन्द सिन्धु में मनरूप घड़ा तनिक भी प्रवेश नहीं करता था अब सद्गुरुकी कृपा से वही मन हस्तीकी तरह ऐसा विलासासक्त हुआ अर्थात् ऐसी डुबकी लगाई कि उससे निकलना मुश्किल हो गया। और देह या संसार रूप देवल भी कलस भर जलसे ही सम्पूर्ण सराबोर हो गया, परन्तु विषय लम्पट मन रूप पक्षी तो पियासा ही रह गया वह आनन्द का लाभ कुछ भी न लिया ॥१७॥

चोर भरोसैं साहु के, लाया वस्तु चोराय ।
पहिले बाँधो साहु को, चोर आप बँधि जाय ॥ १८ ॥

मनरूप चोर शरीररूप साहुकी सहायतासे दूसरे की वस्तु चोरा लाता है अर्थात् शरीर के ही सहारे मन भला बुरा कर्म करता है इस वास्ते प्रथम शरीररूप साहुको ही निग्रह करना चाहिये। फिर तो मन-रूप चोर आपही पकड़ में आ जायगा ॥१८॥

चोर भरोसै साहु के, वस्तु पराई लेय ।
जब लग साह न बाँधई, चोर वस्तु नहिं देय ॥ १९ ॥

शरीर साहुके उपभोगके वास्ते मनरूप चोर मायिक पदार्थ का संग्रह करता है। अतएव जब तक शरीरको कब्जा में नहीं किया जायगा तब तक मन-चोर स्ववश नहीं होगा ॥१९॥

भँवरा बारी परिहरी, मेवा बिलँमा जाय ।
बावन चन्दन घर किया, भूलि गया बनराय ॥ २० ॥

सद्गुरु सत्संगसे मन भ्रमर ने अब तुच्छ विषय बाग के बिहारको छोड़कर मेवारूप अखण्ड स्वरूपानन्दमें स्थिर हो गया। और बावन

नाम सब तरफसे वृत्ति संकुचित व सूक्ष्म करके शीतल चन्दनके समान शान्त चित्स्वरूपहीमें निवास स्थान बना लिया और संसार महाबन को बिसार दिया ॥२०॥

एक दोस्त हमहू किया, जिहि गल लाल कवाय ।
सब जग धोवी धोय मरे, तो भी रंग न जाय ॥ २१ ॥

हमने एक ऐसा सुहृद मित्र बनाया जिसके कण्ठमें अखण्ड मित्रता की लाली झलक रही है। उसको मिटाने के लिये जगज्जीव सब धोबी बने और बहुतेरे कोशिश किये तो भी उसका स्नेह रंग नहीं गया। अर्थात् निग्रह मन जब चित्स्वरूपसे प्रीति कर स्थिर हो जाता तब वह किसी तरह भी अलग नहीं होता, चाहे कोई कुछ करे ॥२१॥

बगुली नीर बिटारिया, सायर चढ़ा कलंक ।
और पखेरु पीविइया, हंस न बोरै चंच ॥ २२ ॥

यद्यपि पामर जीवोंकी बकवृत्तिने निर्मल चेतन ज्ञानरूप नीरको बिगाड़ दिया इसी कारण साधनरूप सब रत्नोंके खानकी तरह नरदेहरूप पामर भी कलंकित हो गया तथापि बकवृत्ति वाला विषयी पामर भले तुच्छ विषय रसको पान करें परन्तु जो नीर-क्षीर के निर्णय करनेवाले सन्त हंस हैं ये तो उसमें कदापि न वृत्तिरूप चंचुको डुबोवेंगे ॥२२॥

जल में अँन जो ना चुरै, घृत में पाक न होय ।
कहैं कबिर या साखि को, अर्थ करै सब कोय ॥ २३ ॥

मायारूप जल में अविकारी आतम रूप अन्न विकृति भावको प्राप्त हर्गिज न होता तथा मायाके गुणरूप घृतमें भी किसी प्रकार का विकार नहीं होता। कबीर गुरु कहते हैं कि इस साखीका अर्थ सरल है सब कोई कर सकते हैं ॥२३॥

तीन गुनन की बादरी, ज्यों तरुवर की छाँहिं ।
बाहर रहै सो ऊबरै, भींजै मन्दिर माँहि ॥ २४ ॥

त्रिगुणात्मक मायारूपी बदली की छाया ऐसे स्थिर नहीं रहती है जैसे वृक्षोंमें बड़ा वृक्ष ताड़की छाया। जो इस मायाकी छायासे अलग

रहते हैं वे तो मायारूपी वृष्टि से बच जाते और जो अन्दर रहते हैं वे अवश्य भींजते हैं। पहले २३ वीं साखी में यह कह आये हैं कि माया और माया के गुणों से जीवात्मा विकार भाव को प्राप्त नहीं होता अब इससे विकारी ठहराते हैं ऐसा प्रतीत होता हैं तहाँ भाव यह है कि यद्यपि चिदात्मा अविकारी अखण्ड है तथापि मायाके संग आसक्त होने और अखण्ड स्वरूपको विस्मृत होनेसे निर्भय नहीं रहता यथा :—

"जीव सोई जो जुग २ जीवे। उत्पति परलय माहीं।
देह धरे भुगुते चौरासी। निर्भय कतहुँ नाहीं ॥२४॥

ऐसी ब्याई सो तुई, बेस्या सों रहि पेट।
सगो ससुर पाँयन पर्यो, भइ सतगुरु सों भेट॥ २५॥

सुमतिरूपी ब्याही स्त्रीका सो तुई नाम गर्भ चू जाने से ज्ञानरूप सन्तान का नाश हो जाता है और कुमतिरूपी वेश्या के गर्भ टिकने से अनेक अनर्थों का कारण अज्ञानरूप पुत्र उत्पन्न होता है, परन्तु जब सद्-गुरु से मिलाप होता है तब अहंकाररूप श्वसुर और अज्ञानरूप पुत्र दोनों ही चरणों में आ गिरते हैं। अतः सद्गुरुसत्संग अवश्य कर्त्तव्य है ॥२५॥

सूम सदा ही उद्धरै, दाता जाय नरक्क।
कहैं कबिर यह साखिसुनि, मति कोय जाव सरक्क॥ २६॥

वीर्य संचय करनेवाले वशी पुरुष सन्तोंको संसारसे उद्धार होता है और अनिग्रहीदाता कामी पुरुषको वीर्यदानसे नरक होता है। कबीरगुरु कहते हैं इस साखीको सुनकर दृढ़ सम बनो दाता मत कोई बनो ॥२६॥

दाता नरक सूम बैकुंठे, मच्छर अजर जरै।
कबीर साखी कठिन है, हिरदै रसै तब अर्थ करै॥ २७॥

जो वीर्यका दाता कामी पुरुष है वह नारकयानी अधोगतिको जाता है और सूम अर्थात् वीर्य का संरक्षक ब्रह्मचारी सन्त बैकुण्ठ ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है अब कि वह मच्छर अजर नाम नहीं जलनेवाला कुढ़न स्वभावको जला देता है। कबीर गुरु कहते हैं यह साखी कठिन है जब इसका अर्थ हृदयमें प्रवेश होता है तबही वह अर्थ करता है अर्थात् मत्सरंताको जलाकर ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे अलभ्य गतिको प्राप्त होता है ॥२७॥

बैसन्दर जाड़ै मरै, पानी मरै पियास।
भोजन तो भूखा मरै, पाथर मरै हगास॥ २८ ॥

कामनारूप बैसन्दर (अग्नि) का दमन क्षमा रूप जाड़से और तृष्णा-रूपी पियासका शमन निर्मल ज्ञानरूप पानी से होता है। एवं इन्द्रिय भोगरूप भोजन की उपरामता स्वरूप ज्ञानकी जिज्ञासारूप भूखसे और जड़ बुद्धिवाले अन समझोंका निग्रह ताड़नरूप हगाससे होता है ॥२८॥

नलिनी सायर घर किया, दौ लागी बहु तन्न।
जल ही माँही जलि मुई, पूरब जन्म लखन्न ॥ २९ ॥

जैसे चन्द्रविकाशी नलिनी सूर्य तापसे प्रसन्न नहीं होती तैसेही जीवा-त्माको शरीररूप सायरमें घर-नाम आसक्ति होनेसे शरीर जन्य त्रिविध तापरूप दौ (दावाग्नि) से संतापित होना पड़ता है यद्यपि वह अग्नि शरीररूप जलसे उत्पन्न हो शरीरके साथही नाशको प्राप्त होती है ही तथापि सद्गुरु सत्संग बिना इस रहस्यको अज्ञानी लोग नहीं लखते इस वास्ते पूर्व जन्मके संस्कारसे बारम्बार ऊँच-नीच सकाम कर्मसे शरीर निर्माण किया करते हैं, वासना बीजको ज्ञानसे नष्ट नहीं करते ॥२९॥

रैनि पुरै वासर घटै, बन अँधियारा होय।
लागि रहा फूला फला, पथ नहिं काटा कोय॥ ३० ॥

अज्ञान अन्धकारमें बाल कुमार अवस्थारूपी रात्रि पूरी हो गई एवं ज्ञान योग्य युवावस्था रूप वासर (दिन) भी खतम हो चला, इन्द्रिय ज्ञानके अयोग्य होने से अन्धकारमय अब पुनः वृद्धावस्था आ गई "तीनों पन ऐसेही गमायो आयुष सब अपनी" इत्यादि मूर्ख लोग स्त्री पुत्रादिके मिथ्या अभिमानमें आसक्त होके मोक्षधामका मार्ग कुछ भी तैं नहीं कर सके ॥३०॥

ऊलटा ज्ञान विचार के, देखो अपना देस।
हरदी चून मिलाय के, रहै न दूजी लेस॥ ३१ ॥

जिज्ञासुओं ! बाह्य वृत्तिको अन्तर्मुख करके ज्ञान दृष्टिसे विवेक द्वारा स्वात्म देशको देखो और चित्स्वरूपमें वृत्ति ऐसे एकमेक चिन्मय

कर दो कि दूसरा भाव न रहने पावे जैसे हरदी चूना के मिलनेसे पृथक् रंग प्रतीत होता ॥३१॥

कबीर उलटा ज्ञान का, कैसे करूँ विचार।
अस्थिर बैठा पथ कटै, चला चली नहिं पार ॥ ३२ ॥

ऐ कबीर ! इस संसार से विपरीत ज्ञानका विचार बड़ा विचित्र है, वर्णन कैसे किया जाय ? देखो ! जो प्रपंच मार्गसे उपराम होकर आत्म-चिन्तन में स्थिर हो बैठते हैं सो तो चौरासी के चौमु खे रास्ते को तै कर जाते हैं और जो उस पर चलते यानी आसक्त होते हैं वे पार कदापि नहीं पाते ॥३२॥

सायर माँही सर गया, मच्छी खाया सोय।
सो मच्छी तरुवर चढ़ी, बूझै बिरला कोय ॥ ३३ ॥

जिन जिज्ञासुओंके हृदयरूप सागरमें सद्गुरुका शब्दरूप सर (बाण) प्रवेश कर गया उसकी वृत्तिरूपी मच्छी तो उसे पकड़ ली और उसी शव्दके सहारे सर्वोन्नत आत्मवृक्ष पर चढ़ गई। किन्तु इस रहस्यको कोई बिरलाही सत्संगी समझता है ॥३३॥

हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी, बासक पीठि पलान।
चाँद सुरज दुइ पाथडा, चढ़सी सन्त सुजान ॥ ३४ ॥

आत्मपथगामी सन्त संहार मार्गको इस प्रकार तैं करते हैं, हर-तमोगुणके घोड़ा बनाके ब्रह्मारूप रजोगुणकी कड़ीसे बासक नाम सर्पिणी कुण्डलिनीके पीठ पर पलान डालके कसते यानी वशमें करते हैं फिर चाँद सूरजके पाथड़ा (रिकाव) बनाके यानी साधुके सुषुमणमें वृत्ति द्वारा चढ़ जाते हैं ॥३४॥

घटी बढ़ी जानै नहीं, मन में राखै जीत।
गाड़र लड़ै गयन्द सों, देखो उलटी रीत ॥ ३५ ॥

जिन जिज्ञासुओंको सद्गुरु सत्संगसे स्वरूपका पूर्ण बोध हो जाता है वे शरीरका निर्वाह प्रारब्ध पर छोड़ देते। कम, अधिक जीनेकी तृष्णा नहीं बढ़ाते अथवा उसकी घटी-बढ़ी अर्थात् उत्तम मध्यमादि

भोगमें आसक्त न होकर सदा मन पर विजय पानेका विचार किया करते हैं। इसी प्रकार शरीरसंयमसे मनपर भी विजय पा लेते हैं। देखिये यही उलटी रीत है जो देह रूप भेड़ मदमस्त मन रूप हस्ती से लड़ती है अर्थात् शरीर संयम से मनको निग्रह करना मानों हस्तीसे भेड़ का लड़ना है। अथवा गरीबी रूपी गाड़र गर्व रूप गयन्दसे लड़ती है यही उल्टी रीति हैं ॥३५॥

कूकरहु बहु जुरि मुआ, सलसै चढ़ी सियार।
रोवत आवै गदहरा, बोधत आय बिलार ॥ ३६ ॥

कामादिक कुत्तोंका समूह ज्ञानी पुरुषोंकी ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते और संशयरूप सियार भी जीते जो सलसै नाम चिता पर चढ़ जाता है। अनन्तर गर्व रूप गदहा को रोते देखकर बाद रूप बिलार उसे प्रबोध करता है। भावार्थः—ज्ञानके प्रताप से ज्ञानीको सब सहायक बन जाते हैं ॥३६॥

मा मारी धी घर करै, गौ सो बच्छा खाय।
ब्राह्मन मारै मद पिये, तो अमरापुर जाय ॥ ३७ ॥

जो जिज्ञासु ममता रूपी माताको मारके आतम निश्चयकी बुद्धिरूपी लड़कीको हृदयरूप घरकी घरणी बनाता है। एवं स्वातम ज्ञानरूप गौके विवेक रूप बछड़ेको सदा खाता है और बाद रूप ब्राह्मणको मारके सद्गुरुके सार सिद्धान्त रूप मदिराको पीता है वह निःसन्देह अमर धामको चला जाता है ॥३७॥

माता मूये एक फल, पिता मुये फल चार।
भाई मूये हानि है, कहैं कबीर विचार ॥ ३८ ॥

ममतारूप माताके मरनेसे निर्ममता निर्भयता रूप एक श्रेष्ठ फल पाता है। और अहंकार वा पित्त[1] रूप पिताके मरनेसे अर्थ, धर्म, काम्य

---

[1]—पित्त हृदयको जलाया करता है मोक्षका साधन जो विवेक आदि ज्ञान है उसे नहीं होने देता "क्रोध पित्त नित छाती जारा" इसलिये पित्त रूप पिताका मरना अर्थात् फलके वास्ते आवश्यक है।

और मोक्ष रूप चारों फलकी सिद्धि होती है, किन्तु भाव रूप भाईके मरनेसे सद्गतिमें हानि होती है अतः भाव रूप भाईकी रक्षा करना, यह कबीर गुरु अच्छी तरह विचार कर कहते हैं ॥३८॥

अचर चर चर परिहरै, मरै न चारै जाय ।
बारह मास बिलोघना, घूमै एकै माय ॥ ३९ ॥

चार नाम विषयादिमें चंचल वृत्तियोंको परिहरे नाम निग्रह करे और अचर नाम निश्चल आत्म स्वरूपमें चरैं यानी लगावे तथा विषयों की ओरसे मरी हुई वृत्ति पुनः विषयमें चारैं न जाय अर्थात् प्रवृत्त न होय। इस प्रकार बारह मास विलोघना यानी सदा साधना करै और वृत्तिको एक आत्म भावहो में फिराया करै ॥३९॥

ऊनै आई बादरी, बरसन लगा अंगार ।
ऊठि कबीरा धाह दै, दाझत है संसार ॥ ४० ॥

जब मायारूपी बादरी अज्ञानियोंके अन्तःकरणमें ओरम आई व आती है तब त्रिविध ताप रूप अंगार बरसने (सताने) लगा व लगता है अतः ऐ कबीरा ! जिस अंगार वृष्टि से संसार जल रहा है उससे तू उठकर धाह दै अर्थात् भाग चल ॥४०॥

बेटि को भाटो ले गई, बेटाको (ले गइ) भंगार ।
माताको लोइ ले गइ, कबीर सिरजनहार ॥ ४१ ॥

विकार बुराई रूपी बेटीको भलाई रूपी भाटी लील गई। और विवाद रूप वेटाको भजन रूप भंगार लय कर दिया एवं ममता रूपी माताको प्रभुसे लगन रूपी लोई और जीव रूप कबीर को मालिक ने निजस्वरूपमें मिला दिया ॥४१॥

अब तो ऐसी ह्वै पड़ो, ना तुम्बरी ना बेलि ।
जारन आनी लाकड़ी, ऊठी कोंपल मेलि ॥ ४२ ॥

सद्गुरु कृपासे अब तो ऐसी बनि आई कि न मायारूपी बेलि रही न तृष्णारूपी तितलौकी। दोनोंके दोनों सत्यानाश। जो कि तीनों लोक तो तीनों लोक; पर ज्ञानीको भी बाँध रक्खी थी यथा :—

"बेलि एक त्रिभुवन लपटानी । बाँधते छूटे नहिं ज्ञानी" इत्यादि फिर तो आरन नाम चित्त-वृत्ति निरोध रूप योगाग्नि शरीर रूप लकड़ी में लगाते ही ज्ञानीकी कोंपल निकल आई ।।४२।।

बिन पाँवन का पंथ है, मंझ सहर अस्थान ।
बिकट घाट औघट घना, पहुँचै संत सुजान ।। ४३ ।।

मंझ शहर स्थान नाम चित्स्वरूपका मुख्य निवासस्थल हृदय कमल है तहाँ बिना पाँवका पंथ है यानी फलकी आसक्ति बिना केवल सद्गुरुकी सेवासे ही जाया जाता है। उस औघट घाट यानी दुर्लभ देशकी यही बिकट कठिनता है। इसी कारण कोई बिरले ही सन्त वहाँ तक पहुंचते हैं ।।४३।।

ऊँचा चढ़ि असमानको, मेरु उलंघे ऊड़ि ।
पसु पंछी जिवजन्तु सब, रहा मेरु में गूड़ि ।। ४४ ।।

पारख जिज्ञासुओंको चाहिये कि "उथले रहहु परहु जनि गहिरे" । सद्गुरुके इस उपदेशके अनुसार अभ्यास-वैराग्य द्वारा मेरु दण्डको पारकर ऊँचा आसमान नाम असंग और सबसे उन्नत निर्मल चित्स्वरूप में ही वृत्तिको चढ़ावै क्योंकि मेरु यानी मूलाधार चक्रसे लेकर सहस्रदल कमल तक मन प्रपंची निरंजनका निवास है जहाँ "गाड़े जाय न उमगे काहुँ" इस बचनके अनुसार राग-द्वेषमें पशु-पक्षी जीव-जन्तु सब गड़े जा रहे हैं, बाहर नहीं होते ।।४४।।

धरति समानी अधर में, अधर धरा के माँहि ।
अधर धरा जब देखिया, दीसै दूसर नाँहि ।। ४५ ।।

धरतीनाम अन्तःकरणकी वृत्ति जब अधर नाम निरालम्ब चित्स्वरूप में लीन हो गई फिर "रही लटापटि जुटि तेहि माहीं। होंहि अटल तब कतहुं न जाहीं ।।" इस बचनके अनुसार अधर, धराके परस्पर एक-मेव होनेसे अर्थात् अधरने धराको एवं धराने अधरको भली-भाँति देख लिया तब मायिक दृश्यके अभाव होनेसे द्रष्टाकी स्थिति स्वरूपमें हो गई। इस अवस्थाको योगदर्शनमें ऐसा कहा है "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इत्यादि। अब दूसरा कुछ नहीं दीखता ।।४५।।

या देखा वा देखिया, वा देखा या थीर।
यह वह दो एकै भया, सतगुरु मिलै कबीर ॥ ४६ ॥

"अपनी कहे मेरी सुने, सुनि मिलि एकै होय" सद्गुरुके इस उपदेश के अनुसार मुमुक्षुओं की या नाम अन्तःकरण की वृत्ति जब प्रभुकी ओर झुकी और प्रभुने इसको अपनाया तब वा देखा या थीर अर्थात् फिर क्या! प्रभुके दर्शन होतेही स्थिर हो गई। और यह, वह द्वैत मिटकर एक स्वरूप हो गया। परन्तु ऐसी स्थिति कबीरको तबही होती है जब सद्गुरु मिलते हैं ॥४६॥

पुहुप बास ते पातला, सूक्षम जाको रंग।
कबीर तासें मिलि रहा, कबहुँ न छाड़ै संग ॥ ४७ ॥

जो स्वयं पुष्पकी महकसे भी महीन है और जिसका आकार इतना सूक्ष्म है कि सर्वसाधारण यथा तथ्या पहिचान भी नहीं सकता। ऐसे दुर्निग्रह मन से यह जीव मिला-जुला रहता है उसका साथ कभी नहीं छोड़ता ॥४७॥

पहिले माँ का खसम भया, पिछै भया है पूत।
अन्तर गत की समुझि के, छोड़ि चले अवधूत ॥ ४८ ॥
खसम उलटि बेटा भया, माता मिहरी होय।
मूरख मन समुझै नहीं, बड़ा अचंभा सोय ॥ ४९ ॥

"भग भोगी के पुरुष कहाया। भौ बालक भग द्वारे आया।" स्त्री समागमके समय प्रथम पुरुष अपनी माँका पति बनता है और उत्पत्तिके पीछे वही उसका पुत्र बन जाता है। इसी बिचित्र सम्बन्धको अभ्यन्तर ज्ञानकी समझसे ज्ञानी पुरुष तो स्त्री-संग छोड़कर विरागी असंग हो जाते हैं। यद्यपि इस बारीक, बातको अज्ञानी लोग अपने मनमें नहीं समझते कि पुत्रोत्पत्तिके समय खसम ही उलटकर अपनी जोरुका लड़का बन जाता है और मेहरारूको ही माँ कहने लगता है और वही माता फिर भोग के समय उसकी मिहरी बनी है, तथापि मुज्ञ समजदारोंको तो यह बड़ा आश्चर्य लगता है ॥४८॥४९॥

पानी में की माछली, चढ़ि सो परवत गई।
अग्नी पीया पुष्ट भई, जल पीया मर गई ॥ ५० ॥

संसार धारा में रहनेवाली संसारियोंकी वृत्ति रूपी एक अजब मछली है, जो कि मायिक भोग रूप अग्निको ही पीकर ताजी जवानी बनी हुई है। परन्तु सद्‌गुरु की कृपा से जब वही अभ्यास, वैराग्य द्वारा निजात्म रूप शैल शिखर पर चढ़ गई तब वहाँ निर्मल ज्ञान रूप जलके पान करते ही बेतरह मर गई, संसार के लिये पुनः जीवित न हुई ॥५०॥

कफ काया चित चकमका, झाली बारम्बार।
तीन बार धूँवा उठे, चौथे पड़े अँगार ॥ ५१ ॥

अभ्यासियोंको चाहिये कि काया रूपी कफ[1] यानी कपड़ेमें बार-बार चित्त चकमक (चित्त वृत्ति) को झाड़ा (लगाया) करें। सम्भव है कि ऐसे बार-बार वृत्ति के निरोधसे प्रकाश रोधक त्रिगुण माया रूप धुँवाका अभाव हो जाने पर चतुर्थ ज्ञानाग्नि के प्रकट होनेसे आत्म साक्षात् हो जायगा। यथा :—

"तनसे मनको खैंच कर, निर्विकल्प निष्काम।
करैं आतमा माहि लय, तब दर्शे उर राम" ॥ ५१ ॥

गुरु दाझ्या चेला जल्या, बिरला लागी आग।
तिनका बपुरा ऊबरा, लग पूरी के लाग ॥ ५२ ॥

ज्ञान विरह की अग्नि लगने से ज्ञानियों को एकातम रूप समान दृष्टि हो जाती है और गुरु, शिष्य अर्थात् गुरुता तथा लघुता भाव मिट जाता है। ऐसे सत्‌गुरु के शरणागत होने से तिनका के सदृश तुच्छ जो अज्ञानी लोग हैं उनका भी उद्धार हो जाता है ॥५२॥

बहनी से बेटा भई, बेटी से भई नार।
नारी से माता भई, मनसा लहर पसार ॥ ५३ ॥

---

१. कमीजकी आस्तीनके अग्र भागका नाम है जहाँ बटन लगाये जाते हैं। यहाँ पर कपड़े से मतलब है।

प्रथम अन्तःकरणकी वृत्ति रूपी बहिनीसे विकार वासना रूप बेटीका पैदायश हुआ और उसी बेटीसे भोग इच्छारूप नारी का अवतार हुआ फिर उस नारी से यानी उसके साथ प्रवृत्ति होनेसे ममता रूपी माताकी उत्पत्ति हुई, इस प्रकार मनोरथकी तरंगोंका विस्तार हुआ और होता है ॥५३॥

चार चरन नौ पंख है, दो मस्तक है ताहि।
इक मुख सीप सँवारहीं, इक मुख भोजन खाहि ॥ ५४ ॥

इस शरीर रूप पिञ्जड़े में एक ऐसा प्राण पखेरू है जिसके चलनेके लिये मन आदि चतुष्टय अन्तःकरणरूप चार चरण हैं और शुभाशुभ कर्म रूप दोनों पाँखों से विहरने (उड़ने) के लिये मुख नासिका आदि नव द्वार हैं यथा :—

"दस द्वारे का पिंजड़ा, तामें पंछी पौन।
रहिबे को अचरज है, जात अचम्भो कौन" ॥ बीजक

इसी प्रकार प्रवृत्ति निवृत्ति रूप उसे दो शिर हैं,जिनमें से एक निवृत्ति मुख से तो कल्याणहित ज्ञानरूप सीपका संचय करता है और दूसरे प्रवृत्ति मुखसे सांसारिक भोगोंको भोगता है ॥५४॥

माता का सिर मूँड़िये, पिता कुँ दीजै मार।
बन्धु मारि डारै कुआ, पंडित करो विचार ॥ ५५ ॥

ऐ पण्डितों ! यदि मोक्ष चाहिये तो प्रथम असंग शस्त्रसे ममतारूपी माताका शिर छेदन करो और ज्ञान खड्गसे अहंकार रूप पिताको मार डालो, इसी तरह विषय-भोग सहायक इन्द्रियोंको भी अभ्यास, वैरागसे मारकर संसार कूप में फेंक दो फिर निर्विघ्न चिदात्मका चिन्तन रूप विचार करो, जिससे कल्याण हो ॥

कबीर कोठी काठ की, चहुँ दिस लागी लार।
माहीं पड़े सो ऊबरे, दाझे देखन हार ॥ ५६ ॥

ऐ कबीर ! यह कायारूपी कोठी कर्मरूप काठसे बनी है, इसे अनित्य समझ कर ज्ञानी पुरुष इसमें चारों ओर से ज्ञान की अग्नि लगा के जलाया करते हैं जैसे कबीर गुरु का कथन है यथा :—

"काया मध्ये धुनि धकावै, रमिता राम रमै ।
कर्म काठ कोयला करि डारै, जगते न्यारा ह्वै" ॥ इत्यादि

इस प्रकार जो जगतसे अलग होकर ज्ञानाग्निमें पड़ता है सो तो काया कोठीके कैदसे बच जाता है और जो देखदेख ललचता है वह बार-बार जलता है अर्थात् माताके गर्भाशय रूप कोठीकी जठराग्निमें तपता है ॥५६॥

दव लागी दरियाव सें, नदियाँ कुइला होय ।
मच्छो परबत चढ़ि गई, बूझै बिरला कोय ॥ ५७ ॥

सत्संगियोंके हृदयसागरमें सद्गुरुकी ज्ञानाग्निके लगतेही आशारूपी नदी जलकर कोयला हो गई । और उनकी निरोध वृत्तिरूपी मछली सर्वोच्च आतमरूप शैल शिखर पर चढ़के विहार करने लगी । परन्तु इस गूढ़ तत्त्वको कोई विरले पुरुष बूझकर समझते हैं ॥५७॥

दव लागी दरियाव सें, ऊठी अपरबल आग ।
सरिता बहती रहि गई, मीन दिया जल त्याग ॥ ५८ ॥

सत्संगियोंके हृदयसागरमें ज्ञानरूप दावाग्नि के लगतेही उसकी विकराल ज्वाला सब तरफ फैल गई । बस उनकी वासनारूपी सरिताका प्रवाह भी बन्द हो गया और उनकी वृत्तिरूपी मत्स्य भी संसार सागर का विहार त्याग कर आतमाराममें रमने लगी । यथा :—

"विरहा आया दरद सो, कड़ुवा लागा काम ।
काया लागी काल ह्वै, मीठा लागा राम" ॥ इत्यादि ५८

कीड़ी चली जु सासरे, नौ मन काजल लाय ।
हस्ती लीन्हा गोद में, ऊँट लपेटे जाय ॥ ५९ ॥

सद्गुरु सत्संगके प्रभावसे संसारी लोगोंकी वृत्तिरूपी कीड़ी (चींटी) जब संसार पीहरको त्यागकर सद्गुरूपदिष्ट धामरूप सासुरेको चली तब उसने अपने विवेकरूप नयनमें नौधा भक्तिरूप काजल लगा लिया । और माँगलिक वस्तु यव, तिलादिक स्थानापन्न गोद (आँचल) में मनरूप हाथीको भर लिया यानी मनको वशमें कर लिया एवं अहंकाररूप ऊँटको

मारकर पतिका सौभाग्य चिह्न कर कंगन बनाके पहिन लिया। मालिक से मनोवृत्ति को मिलानेका यही एक औव्वल तरीका है ॥५९॥

रपट भैंस पीपल चढ़ी, पड़ि भाँगे दो ऊँट।
गदहे दोनी आँचकी, भये भैंस दो टूट ॥ ६० ॥

संसारियोंकी भोग वृत्तिरुपी भैंस एकदम रपट मार कर और क्षण भंगुर संसाररूप पीपल वृक्ष पर चढ़ गई और दो ऊँट नाम रजोगुण, सतोगुण जन्य कटु, मिष्ठ दो फलको तोड़ ले आई परन्तु तमोगुण रूप गदहेने ऐसी औचक लात मारी कि राजस सात्विक भोग वृत्तिरूप भैंस दो टुकड़े हो गई अर्थात् दोनों वृत्तियाँ क्रिया शून्य हो मोहको प्राप्त हो गई और किंकर्त्तव्य विमूढ़ बन गई 'पूरी किनहु न भोगिया, इसका यही वियोग' इत्यादि ॥६०॥

भेर लगि सांयर तरी, सुरी नेह बिन नीर।
प्रीतम कूँ प्यारी मिली, यौं कहि दास कबीर ॥ ६१ ॥
तत्त समाना तत्त में, अनहद समाना जाप।
ब्रह्म समाना ब्रह्म में, आप समाना आप ॥ ६२ ॥

विवेकियोंकी विवेक वृत्ति असंग चिदात्म चिन्तनरूपी नौका में बैठके संसार सिन्धुको तर गई क्योंकि स्नेहरूप पानी के बिनाही यह संसार सागर है, इसी कारण मुमुक्षु असंग वृत्ति से पार जाते हैं और प्रीतम प्यारी वृत्तिको प्रभु से मिला देते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि इस प्रकार विवेकी पुरुषोंकी वृत्ति आत्मामें लय होने पर अर्थात् मुक्त होने पर उनके मायिक भौतिक शरीरकी तत्व प्रकृति आदि आप आपमें मिल जाती है। और उनका स्वरूप अपनी महिमा में स्थिर हो जाता है। इसीको असंग विदेह मुक्ति कहते हैं ॥६१॥६२॥

हम जाये ते भी मुआ, हम भी बाँधा भार।
हमरे पीछे पूँगरा, तिन भी बाँधा भार ॥ ६३ ॥
साथी हमरे चलि गये, हम भी चलनहार।
कागद में बाकी रही, ताते लागी वार ॥ ६४ ॥

संसार चला चली का मेला है, जो आया है वह अवश्य जायगा। देखिये इस बात को सब कोई समझ रहे हैं कि हमारेसे जो उत्पन्न हुआ वह भी मर गया और हम भी चलने की तैयारी में हैं। और हमारे पीछे पौत्र आदि भी कमर कसके तैयार हैं। यद्यपि हमारे साथी सब चल पड़े और हम भी तैयारी में ही थे। लेकिन पास मिलनेकी देरीसे कुछ देरी हो गई। भाव यह है कि:—आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर। कोई सिंहासन चढ़ि चले, कोई बाँधे जंजीर" ॥ इति ॥६३॥६४।

इति श्री विपर्ययको अङ्ग ॥ २७ ॥
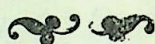
अथ रसको अंग ॥ २८ ॥
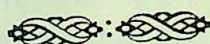
कबीर हरि रस जिन पिया, अन्तरगत लौ लाय।
रोम रोम में रमि रहै, और अमल क्या खाय ॥ १ ॥
कबीर हरि रस भरि पिया, कोय न पावै नीर।
भाग बड़ा सो पीवसी, भरि भरि पीवैं कबीर ॥ २ ॥

ऐ कबीर! जिसने एकवार भी चिदानन्द रसका अन्तर्मुख वृत्तिसे लौ लगाके पानकर लिया। बस उसके प्रत्यंग में ऐसी आनन्द मस्ती छा गई कि उसे और अमलकी चाहें मिट गई। क्योंकि जो नित्य गुप्त आत्मरस का पान कर लेता है उसे और नीर नहीं भाता है। इस रस का पान भाग्यशाली जिज्ञासु करते हैं ॥१॥२॥

कबीर हरि रस बटत है, सरवन दोना औंड़ि।
राम चरन काँठा गहो, मति कबहू धौं छोड़ि॥ ३॥
कबीर हरिरस जिनपिया, माँगै सीस कलाल।
दिल ओछा जिव दूबला, बहुत बिगूचैं माल॥ ४॥

ऐ कबीर! सद्गुरु सत्संगमें हरि-रस बँटता है यदि चाहियेतो सावधानीके साथ कान रूप पात्र (प्याला) से थाम लो। और "राम चरण चित्त सन्त उदासी" के अनुसार राम चरणकी समीपता ऐसे दृढ़ पकड़ो कि कभी किसी हालतमें भी न छुटे। परन्तु इसकी कीमत पहिले समझ लो। हरि रस पान करने वालेसे कलाल शिर दक्षिणा माँगता है। यदि इसमें किसी तरह कमी होगी तो माल सब बरबाद हो जायगा यानी दिल में और तरहकी भावना होनेसे आतम रस पान का आनन्द नहीं आ सकता ॥३॥४॥

हरि रस महँगा जन पिये, देवै सीश कलाल।
घट ओछा दिन दूबला, बँछेगा बहु काल॥ ५॥
हरिरस पीया जानिये, उतरै नांहि खुमार।
मतवाला घूमत फिरै, नांहि तो तनकी सारि॥ ६॥

बहुमूल्य आतमरसका पान तो शिरके बदले हरिजन ही पीते हैं और जिसका हृदय छिछोरा तुच्छ है, उसे काल मनमाना दुख देगा। उसीको जानोकि हरिरस पिया है जिसकी नशेकी मस्ती नहीं उतरती। और मस्त हो ऐसा गश्त लगाया करता है कि उसे शरीरकी सुधि भी नहीं रहती॥

हरिरस महँगा पीजिये, छांड़ि जीवकी बानि।
सिरके साटै हरि मिले, तब लग सुहँगा जानि॥ ७॥
सिर दीये जो पाइये, देत न कीजै कानि।
सिर साटै हरि मिले, तबलग सुहँगा जानि॥ ८॥

ऐ हरिजनो! मनकी बुरी आदत छोड़कर बहुमूल्य हरिरसका अवश्य पान करो। शिरके बदले जो प्रभु मिले तो भी सस्ता समझो। यदि शिर

अर्पणसे प्रभु मिले तो आनाकानी मत करो। माल सस्ता है ऐसा समझ कर शिर देई डालो ॥७॥८॥

पिया पियाला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम में राम रहा, दूजा रस क्या प्याय ॥ ९ ॥
प्रेम पियाला भरि पिया, जरा न किया जतंन।
आवै छकि तब जानिये, रंका घड़ा रतंन ॥ १० ॥

हरिजनोंने प्रेमरसका प्याला ऐसे अन्दर ठुँस-ठुँसकर भरा कि रोम-रोममें प्रवेश कर गया फिर दूसरे रसकी जरूरत ही न रही। प्रेम रसका पान खूबही किया, यहाँ तककि शरीरकी भी सुधि न रही। हृदयमेंऐसी पूर्णतृप्ति होनी चाहिये कि मानो जन्मका दरिद्र रत्नपूर्ण घड़ा पा गया ॥

थोरे ही से छाकिया, भाँड़ा पीया धोय।
फूल पियाला जिन पिया, रहै कलालाँ सोय ॥ ११ ॥
राता माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय ॥ १२ ॥

जो जिज्ञासु अन्तःकरण पात्रको शुद्ध करके प्रेमरस का पान किया वह थोड़े ही में मस्त हो गया और जिन्हें पूर्ण तृप्ति हो गई बस। उनके लिये सद्गुरु रूप कलालाँ भी शान्त चित्त हो रहे। जो प्रभु नामका अनुरागी है वही प्रेमरसका पान कर पूर्ण तृप्त होता है। और वह फक्त दर्शनका ही दिवाना है, मुक्ति नहीं चाहता ॥११॥१२॥

राता माता नाम का, मदका माता नाँहि।
मदका माता जो फिरै, सो मतवाला काहि ॥ १३ ॥
मतवाला घूमत फिरै, रोम रोम रस पूर।
छाँड़ै आस सरीर की, देखै राम हजूर ॥ १४ ॥

प्रेमीजन प्रभु नामके दिवाने होते हैं, मद्यके नहीं, और जो मद्यकी मस्तीमें फिरता है वह मतवाला नहीं उन्मत्त है। जिसे प्रेमरस प्रत्यंगमें पूर्ण हो गया है, वह मतवाला प्रभुको संमुख दर्शन कर ऐसा घूमता फिरता है कि उसे शरीरकी भी सुधि नहीं है ॥१३॥१४॥

महमंता अविगत रता, आसा अकल अजीत।
नाम अमल माते रहे, जीवन मुक्त अतीत ॥ १५ ॥
महमंता नहिं त्रिन चरै, सालै चित्त सनेह।
दारिजु बँधा कलाल के, डारि रहा सिर खेह ॥ १६ ॥

आशा और अकलसे अजीत ऐसे अविचल आत्मस्वरूपमें जिसकी वृत्ति लीन है वह मतवाला प्रभु नामके नशेसे मस्त रहता है, वही जीवन्मुक्त फकीर है। उसके अन्तःकरणमें प्रभु की लगन ऐसी लगी है कि वह मस्ताना त्रिण नहीं चर सकता अर्थात् वह प्रभु के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, प्रभु रसपानके लिये सद्गुरु कलालकी शरणमें खाक छान रहा है ॥१५॥१६॥

आठ गाँठि कोपीन के, साधु न मानै संक।
माम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक ॥ १७ ॥
दावै दाझन होत है, निरदावै निहसंक।
जो जन निरदावै रहै, कहैं इन्द्र को रंक ॥ १८ ॥

प्रभु अनुरक्त विरक्त सन्तोंके कौपीनमें आठ गाँठ क्यों न पड़ी हो तो भी उसकी परवाह नहीं करते। और राम अमल में ऐसे मस्त रहते कि अपने सामने इन्द्रको भी दरिद्र गिनते हैं। क्योंकि मायिक अधिकार में अनेकों चिन्ता जल होती है और इस अधिकार से जो रहित है वह सदा निर्भय रहता है अतः अधिकारमें चिन्तित इन्द्रको भी दरिद्र कहता है ॥१७॥१८॥

इति श्री रसको अङ्ग ॥ २८ ॥

अथ मनको अंग ॥ २६ ॥

कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाय ।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय ॥ १ ॥
कबीर यह मन मसखरा, कहूँ तो मानै रोस ।
जा मारग साहिब मिले, तहाँ न चालै कोस ॥ २ ॥

ऐ कबीर ! मन एक है चाहे तू उसे सद्गुरु-भक्तिमें लगा चाहे विषय कमा । यह मन ऐसा मनमौजी है कि इसे सच्ची कहूँ तो दुःखी हो जाता है । जिस रास्ते मालिक मिलते हैं देखो ! वहाँ तनिक भी नहीं चलना चाहता है ॥१॥२॥

कबीर मन परबत भया, अब मैं पाया जान ।
टाँकी लागी प्रेम की, निकसी कंचन खान ॥ ३ ॥
कबीर मन गाफिल भया, सुमिरन लागे नाँहिं ।
घनी सहेगा सासना, जम की दरगह माँहि ॥ ४ ॥

ऐ जिज्ञासुओं ! मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि मन मोम नहीं किन्तु महान् पाषाण है । जब इसमें प्रेमकी टाँकी लगती है, तबही स्वर्णकी खान निकलती है यानी आतम परायण होता है । विमुख होने से तो मालिक को याद तक भी नहीं करता । इसी कारण यमके दरबार में अनेकों दण्ड सहता है और सहेगा ॥३॥४॥

कबीर यह मन लालची, समझै नहीं गँवार ।
भजन करन को आलसी, खाने को तैयार ॥ ५ ॥
कबीर मनहि गयंद है, आंकुश दे दे राखु ।
विष की बेली परिहरो, अमृत का फल चाखु ॥ ६ ॥

ऐ कबीर ! यह मन लोभी और मूर्ख है, यों हित-अहित नहीं समझता। आत्मचिन्तनमें तो सुस्ती और विषय गटकनेको तैयार रहता है। इस वास्ते मतवाला मन गयन्दको विचार रूप अंकुश देके वशमें करो जिससे विषयरूपी विष लताको छोड़कर आत्मचिन्तनरूप अमृत फल चाखे ॥५॥६॥

कबीर मन मरकट भया, नेक न कहुँ ठहराय।
राम नाम बाँधै बिना, जित भावै तित जाय ॥ ७ ॥
कबीर सेरी साँकरी, चंचल मनुवा चोर।
गुन गावै लौलीन ह्वै, कछु इक मन में और ॥ ८ ॥

"स्वर्ग पताल जाय इक पल में, कपि सम अति निर्भीत।
गण गन्धर्व असुर सुर किन्नर, सबको लीन्हों जीत" ॥ इत्यादि इस मन बन्दरकी कोइ प्रतीत मत करो यह राम नामकी डोरीमें बाँधे बिना क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता, जहाँ तहाँ भटकता फिरता है। प्रेम का मार्ग बहुत संकीर्ण है और यह मन बड़ा चपल चोर है। तल्लीन हो प्रभु गुण गाते हुए भी मनमें कुछका कुछ विचार कर बैठता है ॥७॥८॥

कबीर वैरी सबल है, एक जीव रिपु पांच।
अपने अपने स्वाद को, बहुत नचावै नाच ॥ ९ ॥
कबीर वह मन कित गया, जो मन होता काल।
डुँगर बूड़ा मेंह ज्यौं, गया निवाना चाल ॥१०॥

ऐ कबीर ! हुशियार रह एक जीवके पीछे पंचेन्द्रिय रूप महान् बलिष्ट शत्रु हैं। जो कि अपने अपने विषयके लिये तुझे अनेकों नाच (कृत्य) नचाया करते हैं। देखो ! वह मन कहाँ गया जो सद्गुरुके ज्ञानोपदेश कालमें प्रेम-सागरमें ऐसे डूबा था जैसे वर्षाकालमें बड़ा पर्वत वर्षासे डूबा प्रतीत होता है और जब पानी नीचे तालाब आदिमें चला आता है तब फिर ज्योंका त्यों हो जाता है ऐसीही मनकी दशा है ॥९॥१०॥

कबीर मन का माहिला, अवला वहै असोस।
देखत ही दह में परै, देय किसी को दोस ॥११॥

कबीर लहरि समुद्र की, केती आवै जाँहि ।
बलिहारी वा दास की, उलटि समावै माँहि ॥१२॥

ऐ कबीर ! मनकी वृत्तिरूपी माँहिला ऐसा असोस नाम निर्भय है कि सदा अबला यानी उलटी चलती है। इसी वजह प्रत्यक्षही खड्ढे में पड़ती है। कहो ! अब किसको दोष देती ? सिन्धुकी तरंगके सदृश मनोवृत्तियाँ अनेकों आती जाती रहती हैं। धन्य है वह साधक जो उसे उलट जर आत्मस्वरूपमें लय करता है।॥११॥१२॥

कबीर यह गत अटपटी, चटपट लखी न जाय ।
जो मन की खटपट मिटै, अधर भये ठहराय ॥१३॥
अघट भया खटपट मिटै, एक निरन्तर होय ।
कहैं कबिर तब जानिये, अन्तरपट नहिं दोय ॥१४॥

ऐ कबीर ! यह ज्ञान स्थिति बड़ी अटपटी है एकाएक नहीं होती। जब मनकी खटपट मिट जाती यानी मन वशमें हो जाता है तब निरालम्ब स्वरूप-स्थिति होती है। मनकी खटपट मिटनेसे वृत्ति पड़दा बिना अघट (अचल) स्वरूपमें एक हो जाती है। पड़दा न रहनेही का नाम एक स्थिति है ॥१३॥१४॥

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है, सो साधू को एक ॥१५॥
मन के मते न चालिये, छाँड़ि जीव की बानि ।
कतवारी के सूत ज्यौं, उलटि अपूठा आनि ॥ १६ ॥

मनके अनेकों रास्ते हैं उसके पीछे मत चलो। ऐसे कोई बिरले संत है जो मनको वशमें रखते हैं। मनके पीछे मत जाओ बल्कि उसकी बुरी आदतको ऐसे छुड़ाओ जैसे सूतकातनेवाली सूतको उलटा लाकर पीउनी में लपेट देती है। इस प्रकार अन्तर्मुख कर आत्मामें लगाओ ॥१५॥१६॥

मन पाँचों के बस पड़ा, मन के बस नहिं पांच ।
जित देखूँ तित दौं लगी, जित मांगू तित आँच ॥ १७ ॥

मन के मारे बन गये, बन तजि बस्ती मांहि।
कहैं कबिर क्या कीजिये, यह मन ठहरै नांहि ॥ १८ ॥

मनके वशमें पंचेन्द्रिय नहीं है बल्कि मनही उसके अधीन हो रहा है। यही कारण है कि सब तरफ विषय ज्वाला प्रज्वलित है, कहीं शरण नहीं। इसके मारे जंगलमें गये वहाँ भी यही दशा फिर गाँवमें लौट आना पड़ा। कबीर गुरु कहते हैं क्या किया जाय ? विचार अंकुश बिना मन स्थिर नहीं होता ।।१७।।१८।।

मन मुरीद संसार है, गुरु मुरीद कोय साध।
जो माने गुरु बचन को, ताका मता अगाध ॥ १९ ॥
मन को मारूँ पटकि के, टूक टूक है जाय।
विष की क्यारी बोयके, लुनता क्यों पछिताय ॥ २० ॥

सारे संसार मनके दास हैं गुरु के बिरले कोई सन्त शिष्य हैं, जो गुरूपदेशको मानते हैं उनका सिद्धान्त अगम्य है। मनको पछाड़ के ऐसी मार मारूं कि इसे होश हवास न रह जाय। विषकी बारी लगा के अब फल खाते क्यों कलपता है। 'जस कियउ तस पायऊ हो रमैया राम' इत्यादि ॥१९॥२०॥

मन ही को परबोधिये, मन ही को उपदेस।
जो यह मन को बसि करै, सीप होय सब देस ॥ २१ ॥
मन गोरख मन गोविंद, मन ही औघड़ सोय।
जो मन राखै जतन करि, आपै करता होय ॥ २२ ॥

मनही को शिष्य बनाके उपदेश दो। ध्यान रक्खो, जो इस मनको मूड़ लेता है उसका सारा मण्डल चेला बन जाता है। कभी गोरख कभी गोविन्द और कभी औघड़ भी समय समय पर मनही बना करता है। जो मनको वशमें करता है वह स्वयं सबका कर्ता होता है ॥२१॥२२॥

मन मोटा मन पातरा, मन पानी मन लाय।
मन के जैसी ऊपजै, तैसी ही है जाय ॥ २३ ॥

मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक ।
जो यह मन गुरुसो मिलै, तो गुरु मिले निसंक ॥ २४ ॥

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

स्थूल, सूक्ष्म और शीतल तथा अग्नि स्वरूप ये सब कुछ अपनी भावनाके अनुसार मनही हुआ करता है। दानी, लोभी, अमीर, गरीब होना यह मन का स्वभाव है। जो यह मन कहीं सद्गुरु मिलनेका संकल्प करले तो निःसन्देह सद्गुरु भी मिल जायँगे ॥२३॥२४॥

मनके बहुतक रंग हैं, छिन-छिन बदले सोय ।
एक रंग में जो रहे, ऐसा बिरला कोय ॥ २५ ॥
मनुवाँ तो पंछी भया, उड़िके चला अकास ।
ऊपर ही ते गिरि पड़ा, मन माया के पास ॥ २६ ॥

यह मन बहुरुपिया है, क्षण २ में वेष बदला करता है। बिरले कोई हैं जो एक स्थिति पर इसे रखते और रहते हैं। यही मन कभी पक्षी स्वरूप धारण कर खूब ऊंचा गगन मण्डलमें चढ़ जाता है और कभी वहाँ से गिरकर मायामें लिपट जाता है ॥२५॥२६॥

मन पंछी तब लगि उडै, विषय बासना माँहि ।
ज्ञान बाज की झपट में, जब लगि आवै नाहिं ॥२७॥
मन कुंजर महमन्त था, फिरता गहिर गँभीर ।
दुहरी तिहरी चौहरी, परि गइ प्रेम जँजीर ॥२८॥

मन पक्षी विषय-बाग में तबही तक उड़ता फिरता है जब तक कि ज्ञान बाजकी झपटमें नहीं आता। मदमस्त हस्तीके समान मन कुञ्जर तब तक घोर जंगलमें फिरा करता है जब तक कि दुहरी, तिहरी और चौहरी जंजीर के प्रेम बन्धनमें नहीं फंसता ॥२७॥२८॥

मन के हारै हार है, मन के जीतै जीत ।
कहैं कबिर गुरु पाइये, मन ही के परतीत ॥२९॥

मन नहिं छाड़ै विषय रस, विषय न मनको छाड़ि।

इनका यही स्वभाव है, पूरी लागी आड़ि ॥३०॥

मनके हारमें हार और जीतमें जीत है। कबीर गुरु कहते हैं मनमें दृढ़ विश्वास रखो सद्गुरु अवश्य मिलेंगे। मन और विषयका परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है एक दूसरे से अलग होना नहीं चाहता। यह उनकी पूरी टेक है ॥२९॥३०॥

मन से मन मिलता नहीं, तन को करता भंग।

मन अब भया जु कामरी, चढ़ै न दूजा रंग ॥३१॥

मन दीजै मन पाइये, मन बिन मान न होय।

मन उनमुनता अंड ज्यौं, अलल अकासा जोय ॥३२॥

जब तक मन अपने आपमें नहीं मिलता तबतक देहेन्द्रिय को खण्डित किया करता है। और जब स्वरूपमें मिलकर एक रंग काली कामरीकी तरह हो जाता है फिर उसका रंग किसी हालतमें भंग नहीं होता। ध्यान रहे, अपना मन अर्पण किये बिना दूसरेके मनसे मान नहीं मिल सकता। देखो, जैसे अलल पक्षीका अण्डा जगतसे मनको उदासीन कर आकाश ही की ओर देखता है ॥३१॥३२॥

मन जो गया तो जान दे, दृढ़ करि राख सरीर।

बिना चढ़ाय कमान के, कैसे लागे तीर ॥३३॥

मनुवा तो फूला फिरै, कहै जा करूँ धरम।

कोटि करम सिर पर चढ़े, चेति न देखै मरम ॥३४॥

मन विषयमें चला गया तो जाने दो शरीरको दृढ़ स्थिर रखो। कमानको खेंचे बिना तीर कैसे लगेगा ? कदापि नहीं। मन मस्ताना है मस्ती में कहता फिरता है कि धर्म करूं। और इस रहस्य को मनमें चेतकर नही देखता कि करोड़ों कर्मों के बोझसे दबा जाता है उसीको उतारना मुश्किल हो रहा है ॥३३॥३४॥

मन नहिं मारा करि सका, न मन पाँच प्रहारि।

सील साँच सरधा नहीं, अजहूँ इन्द्रि उघारि ॥३५॥

मन की घाली हूं गई, मन को घालो जाउँ ।
सँग जो परी कुसंग के, हाटै हाट बिकाउँ ॥३६॥

तबतक मनको मनसे मारकर पंच विषयोंको नहीं जीत सकता, जब तक कि शील स्वभाव और सच्ची श्रद्धा नहीं है, इसी कारण अभी भी इन्द्रियाँ अवश हैं। मनके बहकाने से इन्द्रियाँ जहाँ-तहाँ विषयों में दौड़ा करती हैं। जो नर कुसंगमें पड़ता है वह अवश्य चौरासी द्वार का भिखारी बनता है ॥३५॥३६॥

मन चलताँ तन भी चलै, ताते मन को घेर ।
तन मन दोऊ बसिकरै होय राइ सूँ मेर ॥३७॥
मना मनोरथ छाँडि दे, तेरा किया न होय ।
पानी में घी नीकसै, रूखा खाय न कोय ॥३८॥

मन की चंचलतासे तन भी चलायमान हो जाता है, इसलिये तनमें मनको रोकना जरूरी है। तन और मन दोनोंको वशमें करलें तब ही सर्वोच्च मेरु समान चिदात्म देशको पहुँच सकता है। मनको समझा दो कि ऐ मन! मनोरथ (बहुसंकल्प) को त्याग दे इससे तेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यदि पानी से घी निकलता तो सूखा कौन खाता। भावार्थः- बिना कर्तव्य, मनोराज्यसे कुछ नहीं हो सकता ॥३७॥३८।

मनुवाँ तो अंतर बसा, बहुतक झीना होय ।
अमरलोक शुचि पाइया, कबहु न न्यारा होय ॥३९॥
मन निरमल गुरुनाम सों, कै साधन के भाय ।
कोइला दूनो कालिमा, सौ मन साबुन लाय ॥४०॥

जब मनोवृत्ति विषयोंसे उनमुन हो अन्तर्मुख होती है, तब अति सूक्ष्म होके पवित्र अमर धामको पहुँच जाती है। जहाँसे फिर कभी नहीं लौटती। 'जहाँ जाय फिर हंस न आवे भवसागरकी धारा। सन्तों! सो निज देश हमारा' इत्यादि। सद्गुरु ज्ञान और विवेकादि साधन के अतिरिक्त और कोई उपाय मन शुद्धिके लिये नहीं है। जैसे कोयले में

जितने साबुन लगाओ उतनी ही कालिमा चढ़ती जायगी। तैसे सकाम कर्मादि को जानो ॥३९॥४०॥

मन जानै सब बात, जानि बूझि औगुन करै।
काहे की कुशलात, ले दीपक कूँये परै ॥४१॥

मन सबका साक्षी है, उसके समक्ष में जो जान बूझकर बुराई करता है, तो कहो भला ! उसे भलाई कैसे होगी ? जब कि ज्ञानरूप दीपक करमें लेके कूपमें पड़ता हैं ॥४१॥

महमंता मन मारि ले, घट ही माँहीं घेर।
जब ही चालै पीठ दे, आंकुश दे दे फेर ॥४२॥
मनमनसा को मारिले, घट ही माँहीं घेर।
जब ही चालै पीठ दे, आंकुश दे दे फेर ॥ ४३ ॥

तन ही में मस्ताना मनको चौतरफसे घेर कर वश करो। ज्योंही आत्म विमुख होय त्योंही विचार अंकुश देके संमुख करो। इसी प्रकार मन और मनोरथको भी बाहर मत होने दो उन्हें भी तन ही में विचार रूप अंकुशसे दमन करो ॥४२॥४३॥

मन मनसाको मारिकरि नन्हा करि ले पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी, पदुमा झलकै सीस ॥४४॥
मन मनसा जब जायगी, तब आवैगी और।
जब ही निहचल होयगा, तब पावैगा ठौर ॥४५॥

जब मन और मनोरथको मारकर अति सूक्ष्म कर लिया जायगा तब ही सुन्दरी (वृत्ति) सुख पायगी और उसके चेहरे पर सौभाग्यका नूर झलकेगा। क्योंकि मन, मनसा जब दूर होयगी तब ही मन में और प्रेम-भक्ति आयगी। और जब मन स्थिर होयगा तब निज ठहर भूमिको पायगा ॥४४॥४५॥

यह मन फटकि पछोरिलो, सब आपा मिटिजाय।
पिंगुला है पिवपिव करै, ताको काल न खाय ॥४६॥

यह मनको बिसमिल करूँ, दीठा करूँ अदीठ।
जो सिर राखूँ आपना, पर सिर जलौं अँगीठ ॥४७॥

इस मनको फटक पछोर कर ऐसा शुद्ध करो कि किसी प्रकारकी अहंता ममता न रह जाय। जो विषय वासना रूप पगसे रहित पंगुल हो प्रभुकी पुकार करता है उसे काल कदापि नहीं खाता है। इस मन को मूड़कर माया से भी विमुख कर दूँ। यदि ऐसा न कर अपना शिर ऊंचा रक्खूंगा तो दूसरे की जलती हुई अंगेठी में अवश्य जलना होगा ॥४६-४७॥

यह मन तो मिरगा भया, खेत बिराना खाय।
सूला करि करि सेकसी, धनी पहुँचै आय ॥ ४८ ॥
यह मन तो मैला भया, यामें बहुत विकार।
या मन कैसे धोइये, सन्तों करो बिचार ॥ ४६ ॥

अपना विवेकादि नष्ट करके यह मन रूप मृगा अब बिराना विषयादि खेतको खाता है। मोहके कारण यह नहीं समझता कि जब मालिक आय पहुंचेगा तब लोहेके कांटे पर चढ़ाके मांसकी तरह भूंजेगा। हे सन्तो! इस बात को विचार कीजिये कि मनका विकाररूप मैल कैसे और किससे धोआयगा ॥४८॥४६॥

यह मन मेवासी भया, वसि करि सकै न कोय।
सनकादिक रिसि सारिखे, तिनके गया बिगोय ॥ ५० ॥
यह मन बीकारै पड़ा, गया स्वाद के साथ।
गटका खाया बरजताँ, तब क्यौं आवै हाथ ॥ ५१ ॥

यह मन ऐसा डाकू है कि इसे कोई पकड़ भी नहीं पाता। देखो! जन्मके विरागी सनकादिक ऐसे ऋषियोंको भी चक्कर खिलाया है। विषय विकारमें प्रवृत्त मन विषय स्वादके संग भागा फिरता है। जब कि रोकते हुए भी विषयरूप गटका (मिठाई) गटकता रहा तो वशमें फिर कैसे होये ॥५०॥५१॥

यह मन साधू ले मिलो, नहिं तो लेगा जान ।
मन मुनसिफ को पूछि ले, नीको ह्वै तो मान ॥ ५२ ॥
यह मन नीचा मूल है, नीचा करम सुहाय ।
अमृत छाड़ै मान करि, विषहि प्रीत करि खाय ॥ ५३ ॥

ए मनमतियो ! इस मनको लेकर साधुसे मिलो नहीं तो यह तेरी जान ले लेगा । इस बातको मन इन्साफी से पूछ देखो और सच्ची है तो मान लो । क्योंकि यह मन स्वभावसेही नीचा है इसी कारण नीच कर्मको पसन्द करता है । और सत्कारसे प्राप्त अमृतको त्यागकर विषय-रूप विषको प्रेम से खाता है ॥५२॥५३॥

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड़ ।
सहजै हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर ॥ ५४ ॥
दौड़त दौड़त दौड़िया, जेती मन की दौर ।
दौड़ि थके मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर ॥ ५५ ॥

समुद्रकी तरंगके समानही मनका बेग भी है । जो कहीं मन ठिकाने आ जाय तो आत्मरूप हीरा बिना परिश्रमही मिल जाय । जहाँ तक मनकी दौड़ है, वस्तुकी खोजमें दौड़ता है । और थककर जब स्थिर होता है तब आत्मरूपी वस्तु ठौरही मिल जाती है ॥५४॥५५॥

खैचूँ तो आवै नहीं, जो छाड़ूँ तो जाय ।
कबीर मन को पूछरे, प्रान टटीबा खाय ॥ ५६ ॥
पहिले यह मन काग था, करता जीवन घात ।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुनि चुनि खात ॥ ५७ ॥

सद्गुरु सत्संग डोरी बिना यों रोकनेसे तो मन रुकता नहीं और छोड़नेसे विषयमें दौड़ जाता है । इसी तरह मनके पीछे जीवका प्राण चक्कर खाया करता है । यही मन प्रथम निग्रह होनेसे कागकी तरह कुचेष्टासे जीवोंको घात करता था । अब सद्गुरु शरणमें आके हंस होने से विवेक-द्वारा निर्मल ज्ञानरूप मोतीको ग्रहण करता है ॥५६॥५७॥

अपने उरझै सुरझिया, दीखै सब संसार।
अपने सुरझै सुरझिया, यह गुरु ज्ञान विचार ॥ ५८ ॥
चंचल मनुवाँ चेतरे, सोवै कहा अनजान।
जम घर जब ले जायगा, पड़ा रहेगा म्यान ॥ ५९ ॥

यह प्रत्यक्षमें दीख रहा है कि सारा संसार अपने बन्धनों में आप बँधाये हैं। और अपने उपायसे आप छूटेंगे भी। दूसरे से कदापि नहीं यह विवेक ज्ञान सद्गुरुका है। इसलिये ऐ चंचल मन! शीघ्र चेत, क्यों अचेत हो अचिन्त निद्रा ले रहा है। अरे! जब तुझे मृत्यु पकड़ ले जायगी तब यह म्यान (शरीर) यों ही पड़ा रह जायगा ॥५ ॥५९॥

चिन्ता चित्त बिसारिये, फिर बुझिये नहिं आन।
इन्द्री पसारा मेटिये, सहज मिलै भगवान ॥ ६० ॥
तन माहीं जो मन धरै, मन धरि ऊजल होय।
साहिब सों सनमुख रहै, तो अमरापुर जोय ॥ ६१ ॥

सांसारिक चिन्ता को बिलकुल भुला दो इन विषय में किसी से कुछ भी मत पूछो। केवल इन्द्रियों को विषयों से समेट लो बस! प्रभु अवश्य मिल जायंगे। जो तन में मनको वश करता है तो मन भी शुद्ध हो जाता है। और जो सदा सद्गुरु की शरण में रहता है सो अमर धाम को भी पहुँच जाता है ॥६०॥६१॥

पय पानी की प्रीतड़ी, पड़ा जु कपटी लोन।
खंड खंड न्यारे भये, ताहि मिलावै कौन ॥ ६२ ॥
कबहुँक मन गगनहि चढ़ै, कबहूं गिरै पताल।
कबहुँक मन उनमुनि लगै, कबहूं जावै चाल ॥ ६३ ॥

यद्यपि दूध और जल का परस्पर बड़ा प्रेम है तथापि उसमें नमक पड़ने से छिन्न-भिन्न हो जाता है फिर उसे कोई नहीं मिला सकता है। इसी प्रकार मन और मालिक के अखण्ड प्रेम को लौन रूपी कुटनी माया ने खण्डित कर दिया है। अब उसे कौन मिलावे? "धरती फाटे

मेघ जल, कपड़ा फाटे डोर। तन फाटे की औषधि, मन फाटे नहिं ठौर" इत्यादि। कभी तो मन खूब ऊँचा स्वर्ग में पहुँच जाता और कभी ऐसा अधोमुख गिरता है कि रसातल को पहुँच जाता है। और कभी जगत से उदास हो ध्यान मग्न होता है और कभी विषय में भी दौड़ जाता है ऐसा विचित्र मन है ॥६२॥६३॥

कोटि करमकर पलक में, या मन विषया स्वाद।
सतगुरु शब्द न मानहीं, जनम गँवाया वाद ॥ ६४ ॥
कागद केरी नावरी, पानी केरी गंग।
कहैं कबिर कैसे तिरै, पाँच कुसंगी संग ॥ ६५ ॥

यह मन ऐसा शैतान है कि विषय-चाटमें पड़के अनेकों अयोग्य कर्म पल भरमें कर बैठता है। और कल्याणकारी सद्गुरु शब्द की ओर जरा भी ध्यान नहीं देता व्यर्थमें नर-जन्म गमाया व गमाता है। मन रूपी कागज की नौका पर बैठके मायारूपी गंगा प्रवाह में पड़ा है। खेने वाले का ठिकाना नहीं, फिर भी पंच विषय रूपी कुसंगीको बैठा रखा है, कबीर गुरु कहते हैं कि कहो भला यह कैसे पार होगा ? ॥६४॥६५॥

इन पाँचौं से बंधिया, फिर फिर धरै शरीर।
जो यह पाँचौ बसि करै, सोई लागै तीर ॥ ६६ ॥
निहचिन्त ह्वै करि गुरु भजै, मन में राखै साँच।
इन पाँचौं को बसि करै, ताहि न आवै आँच॥ ६७ ॥

इन्हीं पंच विषय रूप कुसंगी के वश में होकर बारंबार शरीर को धारण करता है। जो इन पाँचों को जीतेगा वही संसार सिन्धु के तीर लगेगा। संसार-चिन्ताको त्यागकर एक ही सद्गुरुका चिन्तन करै तथा हृदय में सत्यको धारण करे। और जो पंचेन्द्रियों को वश करता है उसे माया का सन्ताप कहीं भी नहीं होता ॥६६॥६७॥

पाँचौं बैरी जीव के, दलै इनै इक चित्त।
एक देखै एक ध्यावही, औगुन बहुत अमित्त ॥ ६८ ॥

पाँच सहाई जीव के, जो गुरु पूरा होय।
कोय ध्यान कोय नामरत, काज न बिगड़ै सोय ॥ ६९ ॥

विषय प्रवृत्त पाँचों इन्द्रियाँ जीवके शत्रु हैं इन्हें एक मन को प्रथम बश करके फिर दमन करै। क्योंकि एक तो रूपमें आसक्त होता है और एक विषय को ध्यान करता है। इसी प्रकार इनके अवगुणों का कोई हिसाब नहीं है। परन्तु जब पूरे सदगुरु मिल जाते हैं और मन बश में हो जाता है तब वेही पाँचों जीवके मददगार बन जाते हैं। मन प्रभु के ध्यानमें और चित्त नाम-चिन्तनमें मग्न होके नरजीवके मोक्ष कार्यको सम्पादन कर देते हैं ॥६८॥६९॥

इन्द्री पोषत चाह सूँ, मन में संका नांहि।
भाव भक्ति को यों कहै, निहकरमा के मांहि ॥ ७० ॥
काटी कूटी माछरी, छीजै धरी चहोरि।
कोय इक औगुन मन बसा, दह में परी बहोरि ॥ ७१ ॥

विषयासक्त नरजीव सब निर्भय होकर बड़ी चावके साथ इन्द्रियोंको पुष्ट करते हैं। और सद्गुरु प्रेम, भक्ति के विषय में ऐसे बोलते हैं कि यह काम निकम्मे का है। भाइयो ! इस मनका विश्वास मत करो यह तो जरा-सा में उस मुई मछलीके समान विषय रूप दरियामें फिर से एक दम कूद पड़ता है जो कि काट-कूट और मसाले लगा कर सिकहर पर धरी थी ॥७०॥७१॥

काया कजरी बन अहै, मन कुन्जर महमन्त।
अंकुस ज्ञान रतन है, फेरैं साधू सन्त ॥ ७२ ॥
काया देवल मन धजा, विषय लहर फहराय।
मन चलते देवल चले, ताका सरबस जाय ॥ ७३ ॥

इस कार्यरूप केलेके बन में बिहार करनेवाला मनरूप मस्ताना हस्ती है इसे कोई साधु सन्तही ज्ञानरूप अंकुशसे फिराते हैं। देह देवालय के ऊपर मनरूप पताका विषय लहर (पवन) से फड़फड़ा रहा है।

जिसके देह देवालय मनके चलने पर उसके पीछे चलता है तो उसका सर्वस्व सत्यानाश हो जाता है ॥७२॥७३॥

काया कसो कमान ज्यौं, पाँच तत्त्व कर बान।
मारो तो मन मिरगला, नहिं तो मिथ्या जान ॥ ७४ ॥
बिना सीख का मिरग है, चहुँ दिस चरने जाय।
बाँधि लाओ गुरु ज्ञान सूँ; राखो तत्त्व लगाय ॥ ७५ ॥

कमानकी तरह कायाको कसो और पाँच तत्वको बाण बना लो। फिर मनरूप मिरगाको मारो, वश करो और नहीं तो शिकारीपनेका मिथ्या अभिमानको जाने दो। मनरूप मिरगा यद्यपि चारो ओर विषय में बिचरा करता है तो भी उसे शिर न होनेसे सब कोई नहीं पहिचानते। इसे तो कोई बिरले गुरुज्ञानी गुरु-ज्ञान डोरीसे बाँध लाते और आत्मतत्त्वमें लगा रखते हैं ॥७४॥७५॥

अपने अपने चोर को, सब कोय डारै मार।
मेरा चोर मुझको मिलै, सरबस डारूँ वार ॥ ७६ ॥

अपने अपने चोरोंको सब कोई मार डारते हैं। लेकिन कहीं मेरा मनरूप चोर मुझे हाथ लग जाय तब तो मैं उसे सर्वस्व ही निछावर कर दूँ अर्थात् उसे प्रेम पिंजड़ेमें बन्द कर दूँ ॥७६॥

तन तुरंग असवार मन, करम पियादा साथ।
तृष्णा चली सिकार को, विषय बान लिये हाथ ॥ ७७ ॥
जहाँ बाज बासा करै, पंछी रहै न और।
जा घट प्रेम परगट भया, नहीं करम को ठौर ॥ ७८ ॥

शरीररूप घोड़े पर मनरूप असवार कर्मरूप सिपाहीको साथमें लेके बैठा है। और तृष्णारूपी शिकारी विषयरूपी बाज को हाथ में लेकर शिकार करने को चली है। जहाँ पर विषयरूप बाज पक्षी निवास करता है वहाँ इतर निरोध, निर्विषय मनरूप पक्षी नहीं रहने पाता। और जिस हृदय में प्रभु विषयक लगन लगी है वहाँ कर्म की जगह नहीं है ॥७७॥७८॥

कहत सुनत सब दिन गये, उरझि न सुरझा मन्न ।
कहैं कबीर चेता नहीं, अजहूं पहला दिन्न ॥ ७९ ॥

इसी प्रकार कहते सुनतेमें नर-जन्म के शुभ दिन सब चले गये मन विषय उलझनसे सुलझनेके प्रत्युत और उलझता ही गया। कबीर गुरु कहते हैं ऐ नरजीव ! क्यों नहीं चेतता ? अभी भी नर-जन्म का पहला शुभ दिन है ॥७९॥

पंडित मूल बिनासिया, कह क्यौं विग्रह कीज ।
ज्यौ जल में प्रतिबिंब है, सकल राम जानीज ॥ ८० ॥

पोथाधारी पण्डितोंने ही ज्ञान रहस्यका मूल जड़से उखाड़कर फेंक दिया है, अब यह कहके उनसे व्यर्थका विग्रह (युद्ध) कोई क्यों करते हो। जैसे जलमें प्रतिबिम्ब है वैसेही सब घट रामको समझ लो ॥८०॥

सो मन सोनो सो विषय, त्रिभुवन पति कहुकस ।
कहैं कबिर बंदा नरा, सकल परा जल रस ॥ ८१ ॥

कबीर गुरु कहते हैं ऐ बंदा नर ! अज्ञानी लोग ! इस मनका चरित तुमसे किस तरह कहा जाय ? अरे यह तो तीनों भुवनका स्वामी और सान सिल्लीके समान आकर्षक है। जेसे जलमें सम्पूर्ण रस भरे हैं वैसेहीं मनमें भी सर्व विषय भरे पड़े हैं ॥८१॥

अकथ कथा या मनहि की, कहैं कबिर समुझाय ।
जो याको समझा परै, ताको काल न खाय ॥ ८२ ॥
समुद्र लहरि जो थोरिया, मन लहरै घनियाय ।
केती आय समाय है, केति जाय बिसराय ॥ ८३ ॥

कबीर गुरु समझाकर कहते हैं कि इस मनकी कथा अकथनीय है। जो इसे अच्छी तरह समझ लेता है उसे काल भी नहीं खाता है। समुद्र की तरंग से मनकी तरंग अधिक है। इसको कोई संखया नहीं है न जाने कितनी आई और बिला गई ऐसे कितनी भूल भी गई कौन गिने ॥ ८२-८३ ॥

यह तो गति है अटपटी, सटपट लखै न कोय।
जो मनकी खटपट मिटै, चटपट दरसन होय ॥ ८४ ॥
चञ्चल मन निहचल करै, फिरफिर नाम लगाय।
तन मन दोउ वसि करै, ताका कछु नहिं जाय ॥ ८५ ॥

इस ज्ञानको समुझ लेना बहुत मुश्किल है एकदम कोई नहीं समझता। जब मनकी चंचलता मिट जाती है तब सहजे ही शीघ्र दर्शन ज्ञान हो जाता है। अभ्यासीको उचित है कि चपल मनको हठपूर्वक पुनः पुनः प्रभु नाममें लगाके निश्चल करे। क्योंकि जिसके तन और मन दोनों वशमें हो जाते हैं उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं होता ॥८४॥८५॥

मेरा मन मकरन्द था, करता बहुत बिगार।
सूधा ह्वै मारग चला, हरि आगे हम लार ॥ ८६ ॥
सुर नर मुनि सबको ठगै, मनहि लिया औतार।
जो कोई याते बचे, तीन लोक ते न्यार ॥ ८७ ॥

प्रथम मेरा मनरूप हस्ती अवश होनेसे बहुत कुछ भजनमें विघ्न किया करता था। अब वशमें होनेसे प्रभुकी प्राप्तिका रास्ता पकड़ लिया तो मैं भी प्रभुके साथ हो लिया। किसीको नहीं छोड़ता सुर, नर, मुनि आदि सब ही को ठगा व ठगता है, मन ही के वश होके तो सब बार २ जन्म लेते हैं। जो कोई इससे बचता है वह तीनों भुवन से अलग (आत्मनिष्ठ) रहता है ॥८६॥८७॥

कुंभै बाँधा जल रहै, जल बिनु कुंभ न होय।
ज्ञानै बाँधा मन रहै, मन बिनु ज्ञान न होय ॥ ८८ ॥

ज्ञान और मनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध है जैसे जल और मृत्तिका का। देखिये जब मिट्टीका घड़ा बनता है तब उसमें जल बँधाता (रहता) है और जब जल मिट्टी में पड़ता है तब बंधाने से कुम्भ बनता है। इसी प्रकार मन शैतानको ज्ञानसे बाँधा जाता है तब मनमें ज्ञान होता है ।८८

धरती फाटै मेघ मिलै, कपड़ा फाटै डोर।
तन फाटै को औषधि, मन फाटै नहिं ठौर ॥ ८९ ॥

मेरे मन में परि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक पषान ज्यूँ, मिलै न दूजी बार ॥ ९० ॥

फटी हुई जमीन वर्षा-जलसे मिल जाती है, और कपड़ा फटनेपर डोरे से। इसी प्रकार शरीर का घाव औषधिसे पूर जाता है परन्तु मन को मन या आत्मा से फटने (विमुख होने) पर कहीं भी स्थिति नहीं होती। क्योंकि मन फटनेसे एक ऐसी दरार हो जाती हैं कि वह दूसरी बार ऐसे नहीं मिलती जैसे पाषाण का चट्टान ॥८९॥९०॥

मन फाटै बायक बुरै, मिटै सगाई साक।
जैसे दूध तिवास को, उलटि हुआ जो आक ॥ ९१ ॥

जिससे मन फट जाता है उससे सारे मुहब्बती सम्बन्ध मिट जाते हैं। और तो और उसके बचन तो ऐसे कडुवे लगते हैं जैसे फटे हुए तिवासी दूध। तिवास नाम है थूहर का, कहते हैं कि थूहर का दूध फटने पर आक के समान कडुआ हो जाता हैं ॥९१॥

चंदन भाँगा गुन करै, जैसे चोली पान।
दुइ जो भाँगा ना मिलै, इक मोती इक मान ॥ ९२ ॥
मोती भाँग्यो बेधताँ, मन भाँग्यो कूबोल।
बहुत सयाना पचिगया, परि गई गाँठी गोल ॥ ९३ ॥

चन्दनके लकड़े टूटे हुएभी ऐसे गुणदायक होते हैं जैसे चोली पान। परन्तु मोती और मन ये दोनों भङ्ग होने पर नहीं मिलते। बेधनेसे मोती और कटुक बचनसे मन भङ्ग हो जाता हैं। यद्यपि इन्हें बड़े-बड़े सयाने जोड़ने चले तो भी गोल गाँठ बीच में खटकती ही रही ॥९२॥९३॥

बात बनाई जग ठग्यो, मन परमोधा नाँहि।
कहैं कबीर मन लै गया, लख चौरासी माँहि ॥ ९४ ॥

जो रोचक भयानक बातों को बना २ संसार को ठगा और निज मनका प्रबोध नहीं किया। कबीर गुरु कहते हैं उसका अनिग्रह मन उसे ही खुद चौरासी में ले गया व ले जायगा ॥९४॥

मनुवा तूँ क्यौं बावरा, तेरी सुध क्यों खोय ।
मौत आय सिर पर खड़ी, ढलते बेर न होय ॥ ९५ ॥

ऐ मन दिवाने ! अपनी सुधि तू आप क्यों गमाता हैं । तोश कर मौत आके जब शिर पर सवार होगी तब तेरी शान उतरते देरी न लगेगी ॥९५॥

मन अपना समुझाय ले, आया गाफिल होय ।
बिन समुझे उठि जायगा, फोकट फेरा तोय ॥ ९६ ॥

अपने मनको अच्छी तरह समझाले, ऐ नरजीव ! यदि नर देह में आके भी गफलत (भूल) करेगा और समझे विना इसे छोड़ चल धरेगा तो ध्यान रखो व्यर्थमें तू चौरासी चक्कर खायगा ॥९६॥

मनुवाँ तो पंखा भया, जहाँ तहाँ उड़ि जाय ।
जहँ जैसी संगति करै, तहँ तैसा फल खाय ॥ ९७ ॥

यह मन पक्षी समझे बिना जहाँ-तहाँ विषयोंमें उड़ा करता है । संग कुसंगके अनुसार कटु मिष्ट फल भी भोगा करता है ॥९७॥

मन पंखी बिन पंख का, जहाँ तहाँ उड़ि जाय ।
मन भावे ताको मिले, घट में आन समाय ॥ ९८ ॥

बिना पंखका यह मन रूप पक्षी ऐसा बेग वाला है कि क्षण भरमें लाखों योजनकी खबर लेता है और जो चाहे सो मिल के फिर घटमें आ घुसता है ॥९८॥

सात समुद्र की एक लहर, मन की लहर अनेक ।
कोइ एक हरिजन ऊबरा, डूबी नाव अनेक ॥ ९९ ॥

सातों सागरोंमें एक ही प्रकार की तरंगें उठती हैं परन्तु इस एक लहरी मनको तरंगें अनेक हैं। इसकी तरंगमें अनेकों नाव डूब गई बिरला कोई एक हरिजनका उद्धार हुआ व होता है ॥९९॥

मन सब पर असवार है, पैंड़ा करे अनन्त ।
मनही पर असवार रहे, कोइक बिरला सन्त ॥१००॥

यह मन पिशाच सबके ऊपर सवार है और अपने आने जाने का यह अनेकों मार्ग बना लेता है। इसके ऊपर तो कोई एक बिरला सन्त सवारी (वशमें) करता है ॥१००॥

कबीर मन मिरतक भया, दुर्लभ भया शरीर।
पीछे लागा हरि फिरे, यूँ कहि दास कबीर ॥१०१॥

कबीर गुरु ऐसे कहते हैं कि जब यह मन मृतक दशा धारण कर शरीरको भी अभाव कर देता है तब उसके पीछे रक्षा निमित्त हरि स्वयं फिरा करते हैं ॥१०१॥

मन चाले तो चलन दे, फिरि फिरि नाम लगाय।
मन चलते तन थंभ है, ताका कछू न जाय ॥१०२॥

मन जाय तो जाने दो तनको संभाल रक्खो और मनको बारम्बार फिराके गुरु ज्ञानमें लगाया करो। क्योंकि मन चलते हुए भी जिसका तन स्थिर है उसको कुछ बिगाड़ नहीं होता ॥१०२॥

यह मन अटक्या बावरों, राख्यो घट सें घेर।
मन ममता में गलि चले, अंकुस दै दै फेर ॥१०३॥

यह दिवाना मन कदाचित विषयमें जाके अटक जाय तो उसे घेर कर तनमें ऐसे रक्खो कि निकलने ही न पावे। और जो मोह ममतामें अरुझाय तो विचार रूप अंकुश दे देके सुरझाया करो ॥१०३॥

मन मारी मैदा करूँ, तन की काढ़ूँ खाल।
जिभ्या का टुकड़ा करूँ, हरिबिन काढ़े ख्याल ॥१०४॥

यदि मन आत्मचिन्तन के सिवा और कुछ संकल्प करे तो उसे ऐसी मार मारो कि मैदा हो जाय, और तनकी खाल खैंच कर भूसा भर दो। और प्रभु-चर्चा के अतिरिक्त जिह्वा कोई और बात चलावे तो बस! उसे एक दम दो टुकड़ा कर दो, देर मत लगाओ ॥१०४॥

तनका बैरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होय।
तूँ आपा को डारि दे, दया करे सब कोय ॥१०५॥

शरीर का शत्रु कोई भी नहीं है, यदि मन कहीं शान्त हो। इसका मजा तो नख से शिखा पर्यन्त अभिमान को छोड़कर देख लो एक दो नहीं सारे संसार दया करने लग जायँगे ॥१०५॥

मन राजा मन रंक है, मन कायर मन सूर।
शून्य शिखर पर मन रहै, मस्तक पावै नूर ॥१०६॥

धनी गरीब और कायर वीर होना तो मनराम के लिये बाँये हाथ का खेल है। अभ्यासियों का मन तो सर्वोच्च निरालम्ब आत्म देश को पहुंच जाता और वहाँ से बिजली के समान चेहरे पर अपना प्रकाश फेंकता है ॥१०६॥

तेरि जोति में मन धरा, मन धरि होहु पतंग।
आपा खोवे हरि मिलै, तुझ लागा रहे रंग ॥१०७॥

अपने मनको पकड़ कर अपनी आत्म ज्योति का पतंग बना दो। और मिथ्या अभिमान को छोड़ देने पर प्रभु जरूर मिल जायँगे फिर तुम पर प्रभु का अमिट रंग चढ़ जायगा ॥१०७॥

यह मन हरि चरणो चला, माया मोह से छूट।
बेहद माहीं घर किया, काल रहा शिर कूट ॥१०८॥

माया-मोह से छूट कर यह मन सर्व अज्ञानहारा रूपगुरु हरि की शरण में चला। और जब वहाँ सद्गुरु कृपा से अखण्डात्मस्वरूप में स्थिर हो गया तब काल स्वयं शिर कूट २ कर रह गया कुछ भी न चला ॥१०८॥

मिरतक को धीजौं नहीं, मेरा मन बीवै।
बाजैं बाय विकार की, मूवा भी जीवै ॥१०९॥

मरे हुए मन को भी मेरा मन विश्वास नहीं करता कि मर गया है बल्कि उससे भी डरता है। क्योंकि विषय विकार रूप वायु के लगते ही यह मुर्दा भी जी उठता है। भाइयो! ऐसे मन से सदा होशियार रहो ॥१०९॥

इति श्री मनको अङ्ग ॥ २९ ॥

अथ मायाको अंग ॥ ३० ॥

कबीर माया मोहिनी, माँगी मिलै न हाथ।
मना उतारी जूठ करु, लागी डोलै साथ ॥ १ ॥

ऐ कबीर! यह कनक और कामिनीरूप माया बड़ी मोहिनी है, यहाँ तो सबको मोहती फिरती है और चाहे तो हाथ नहीं आती। और उच्छिष्ट समझकर मनसे अभाव कर दो तो पीछे लगती है। 'माँगे तो भागे त्यागे तो आगे' यह सूक्ति ठीक है ॥१॥

कबीर माया पापिनी, फँद ले बैठी हाट।
सब जग तो फंदै पड़ा, गया कबीरा काट ॥ २ ॥

यह माया बड़ी हरामखोरी है फन्दाओंके मानों बाजार लगा बैठी है। गुरु सत्संग-विमुख जग जीव सब उसके फन्देमें पड़े व पड़ रहे हैं। कोई एक सत्संगी जीव उसे काटकर निकला व निकलता है ॥२॥

कबीर माया पापिनी, लोभ भुलाया लोग।
पूरी किनहुँ न भोगिया, इसका यही विजोग ॥ ३ ॥
कबीर माया पापिनी, हरि सों करै हराम।
मुख कड़ियाली कुबुधि की, कहन न देई राम ॥ ४ ॥

ऐ कबीर! इस पापिनी माया से हुशियार रहो, इसकी लालचने सब लोगोंको आत्मपथसे गिराया है। और इसे भी कोई पूरी तरह भोगने नहीं पाया क्योंकि इसका यही (अधबीचमें) वियोग है। यह दुर्बुद्धिरूपी माया ऐसी जहरीली है कि हरि सो हराम करके मुखसे राम भी कहने नहीं देती ॥३॥४॥

कबीर माया बेसवा, दोनूँ की इक जात।
आँवत को आदर करैं, जात न बूझै बात॥ ५॥
कबीर माया मोहिनी, मोहै जान सुजान।
भागैं हू छूटै नहीं, भरि भरि मारै बान॥ ६॥

ऐ कबीर! माया और वेश्या ये दोनोंकी एकही जात जानों आतेही समय आदर करती हैं और जाते वक्त तो बात भी नहीं पूछतीं। ऐसी मोहिनी माया है कि ज्ञानी-अज्ञानी सबही को मोहती है। उसकी विलासी तिरछी नजर रूप बाण ऐसे तीक्ष्ण हैं कि भागने पर भी नहीं छूटने पाता ॥५।६॥

कबीर, माया मोहिनी, जैसी मीठी खाँड़।
सतगुरु की किरपा भई, नातर करती भाँड़॥ ७॥
कबीर माया मोहिनी, सब जग घाला घानि।
कोइ एक साधू ऊबरा, तोड़ी कुल की कानि॥ ८॥

ऐसी मोहिनी माया मीठी है जैसो खाँड। सद्गुरु की कृपा हुई बच गये नहीं तो भाँड़ कर देती, किसी दीनका नहीं रह जाते। इसने अपने मोहरूप कोल्हूमें घालकर सबको घानी बना ली। जिसने कुल मर्यादा छोड़ी ऐसे कोई एक सन्त इससे बच चले ॥७॥८॥

कबीर माया मोहिनी, भइ अँधियारी लोय।
जो सोये सो मुसि गये, रहे वस्तु को रोय॥ ९॥
कबीर माया डाकिनी, सब काहू को खाय।
दाँत उपारूँ पापिनी, सन्तो नियरै जाय॥ १०॥

इस मोहिनी माया के पीछे सब लोग अन्धे हो गये। जो मोह-नींद में सोये वे ठगे गये और वस्तु के लिये रोते रह गये अथवा सोये हुयेको यह माया चोर बत्ती बनके ठगती है। यह ऐसी खाऊँ माया है कि सबको खाती है। ऐ पापिनी! खबरदार! कहीं सन्तोंके नजदीक गई तो दाँत उखाड़ डालूंगा ॥९॥१०॥

कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार।
खावत खरचत मुक्ति भय, संचत नरक दुवार ॥ ११ ॥
कबीर माया सूम की, देखन ही का लाड़।
जो वामें कौडी घटै, तो हरि तोड़ै हाड़ ॥ १२ ॥

ऐ कबीर! सम्पत्तिरूपी माया वृक्षमें दो फल लगे हैं। जो अनासक्त हो खाने खर्चनेमें इसे उपयोग करते हैं सो तो मुक्त होते हैं और आसक्ति वश संग्रह करनेवाले नरकमें जाते हैं। सूमकी सम्पत्ति देखनेही को प्यारी है। जो कहीं उसमेंसे कौड़ी भी घट जायगी तो मालिक उसकी हड्डी २ तोड़ डालेंगे ॥११॥१२॥

कबीर माया जात है, सुनो शब्द निज मोर।
सखियों के घर साध जन, सूमौं के घर चोर ॥ १३ ॥
कबीर या संसार की, झूठी माया मोह।
जिहि घर जिता बधावना, तिहि घर तेता दोह ॥ १४ ॥

ऐ कबीर! माया जाती हुई कहती है कि मेरा शब्द सुन लो। मैं दानियोंके घरसे सन्तोंके सत्कार द्वारे और सूमोंके घरसे चोरों की चोरी द्वारे जाती हूँ। सांसारिक सम्पत्तिकी मोह-माया झूठो है। जहाँ जितनी सम्पत्तिकी वृद्धि व उत्सव वहाँ उतनी ही विपत्ति भी है, इसके संग्रह में सुख हर्गिज नहीं ॥१३॥१४॥

कबीर माया यौं कहै, तू मति देई पीठि।
और हमारै बसि पड़ा, रहा कबीरा रूठि ॥ १५ ॥
माया आगे जाव सब, ठाढ़ि रहे कर जोरि।
जिन सिरजै जल बुन्द सों, तासों बैठा तोरि ॥ १६ ॥

माया लोगोंसे इस प्रकार कहती है कि तू मुझसे विमुख मत हो। सब तो हमारे वश में हुई ही है केवल सत्संगी जन हमसे उदासीन रहते हैं। माया के आगे मायाधारी लोग सब हाथ जोड़ें खड़े रहते हैं। और जिसने जल बुन्दसे पैदा किया उससे प्रीति तोड़ बैठे हैं ॥१५॥१६॥

माया करक कदीम है, या भौसागर माँहि ।
जंबुक रूपी जीव है, खैंचत ही मरि जाँहि ॥ १७॥
माया झोला मारिया, नाभि न बैठे साँस ।
जिवरा तो संसै गला, राम कहन की आस ॥ १८ ॥

संसार-सागरमें माया सदासे हड्डियोंका जखीरा बनी है और विषयी, पामर जीव सब श्रृगालरूप हैं ज्योंही उसे खैंचनेको चाहते त्योंही मर जाते हैं। सद्गुरु विमुख लोगोंको मायाने ऐसा झपाटा लगाया है कि उन्हें ऊर्ध्व श्वांस हो गया नाभिमें नहीं बैठता। जीव संशयमें खिन्न हो गया राम कहनेकी आशा रह गई ॥१७॥१८॥

माया सेती मति मिलो, जो सोबरिया देहि ।
नारद से मुनिवर गले, क्याहि भरोसा तेहि ॥ १९ ॥
माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि माँहि परन्त ।
कोई एक गुरु ज्ञान ते, उबरे साधू सन्त ॥ २० ॥

मायासे मत मिलो चाहे स्वर्ण सा शरीर क्यों न हो। क्या उसका विश्वास ? जबकि नारद ऐसे मुनिश्रेष्ठ उसमें पिघल गये॥ माया दीपक की शिखा है और नर जीव पतंग हो उसमें पड़ते और मरते हैं। कोई बिरले सन्त सद्गुरु ज्ञान महिमा से बचे और बचते हैं ॥१९॥२०॥

माया दोय प्रकार की, जो कोय जानै खाय ।
एक मिलावै राम को, एक नरक ले जाय ॥ २१ ॥
माया मेरे राम की, मोदी सब संसार ।
जाकी चीठी ऊतरी, सोई खरचन हार ॥ २२ ॥

माया दो प्रकारकी है यदि कोई इसे सदुपयोग करना जाने तो यही परमार्थ-द्वारे रामसे मिलाती और दुरुपयोगसे नरकमें ले जाती है। सम्पूर्ण संसार सम्पत्ति मेरे रामकी माया है और संसारी लोग सब दुकानदार हैं, जिसके नामके हुक्मनामा आता वही खर्च (भोग) करता है अन्य सब संरक्षक हैं ॥२१॥२२॥

माया संचै संग्रहै, वह दिन जानै नाँहि ।
सहस बरस की सब करै, मरैं मुहूरत माँहि ॥ २३ ॥
माया छाया एक सी, बिरला जानै कोय ।
भगता के पाछै फिरै, सनमुख भाजै सोय ॥ २४ ॥

मायाको जोड़-जोड़ संग्रह करते हैं मौतका दिन नहीं जानते एकही मुहूर्तमें क्यों न मर जायँ । लेकिन जीनेकी आशा सबको हजार वर्ष की है । रामकी माया और वृक्ष की छाया का एकही स्वभाव हैं इसे कोई बिरले ही जानते हैं । यह भगने वाले भक्तोंके पीछे पड़तीं है और सामने जाने वाले से कोशों दूर भागतीं है ॥२३॥२४॥

माया मन की मोहिनी, सुर नर रहे लुभाय ।
इन माया सब खाइया, माया कोय न खाय ॥ २५ ॥
माया दासी साधु की, ऊभी देइ असीस ।
बिलसि और लाते छरी, सुमिरि सुमिरि जगदीस ॥ २६ ॥

मन मोहिनीं मायाके मोहमें सुर नर सब हीं लुभा रहे हैं । मायाने सबको भोग लिया और मायाको किसीने भी नहीं । माया सन्तोंकी चेरी है, सदा खड़ी हो आशीर्वाद किया करती है । सन्तजन प्रभु नामके प्रतापसे लाते और छड़ीके हाथे इसे परमार्थमें लगाते हैं ॥२५॥२६॥

माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस ।
जा ठगने ठगनी ठगी, ता ठग को आदेस ॥ २७ ॥
माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गया शरीर ।
आशा तृष्णा ना मुई, यौं कथि कहैं कबीर ॥ २८ ॥

विचित्र ठगिनी माया बनी है सब देशको ठगती फिरती हैं । परन्तु इस ठगिनीको जिसने ठगा उस ठगको धन्यवाद सह नमस्कार है । माया और मन दोनों अमर हैं बारम्बार शरीरही मरता हैं । इसी प्रकार आशा तृष्णा भी नहीं मरती ऐसा कथन सद्गुरु कबीरका है ॥२७॥२८॥

माया मरि मन मारिया, राख्या अमर शरीर।
आशा तृष्णा मारि के, थिर ह्वै रहैं कबीर ॥ २९ ॥
माया कालकी खानि है, धरै त्रिगुण विपरीत।
जहाँ जाय तहाँ सुख नहीं, या माया की रीत ॥ ३० ॥

जिन मुमुक्षुओंने जीतेजी माया, मनको मारके शरीरको अमर बना लियाहैं वेही आशा, तृष्णाको भी मारके स्थिर ज्ञानारूढ़ जीवन्मुक्तिका आनन्द लेते है। माया मृत्युकी खानि है आत्म विमुखों को त्रिगुण माया मय शरीर धराया करती है। ये जीव माया वश जहाँ २ जिस २ योनि में जाता है कहीं भी सुख नहीं पाता है यही माया को विचित्र चाल है ॥२९॥३०॥

माया तरुवर त्रिविध का, शोक दुःख संताप।
शीतलता सुपनै नहीं, फल फीका तन ताप ॥ ३१ ॥
जग हटवारा स्वाद ठग, माया वेश्या लाय।
रामनाम गाढ़ा गहो, जनि जहु जनम गँवाय ॥ ३२ ॥

माया वृक्षमें शोक, दुःख और सन्ताप ये तीन प्रकार के फल लगे हैं। इसकी छाया में शान्ति तो स्वप्न में भी नहीं है और इसका फलभी रसहीन तथा शरीर सन्तापक है। संसार बाजार में इन्द्रियों का स्वाद यही ठग है माया वेश्या विषय भोग फैला रक्खी है। राम नाम को दृढ़-कर पकड़ लो उसमें नर जन्म को मत गमाओ ॥३१॥३२॥

मैं जानूँ हरिसूँ मिलूँ, मो मन मोटी आस।
हरि बिच डारै अन्तरा, माया बड़ी पिचास ॥ ३३ ॥
मोटी माया सब तजै, झीनी तजो न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय ॥ ३४ ॥
झीनी माया जिन तजी, मोटी गई बिलाय।
ऐसे जन के निकट से, सब दुख गये हिराय ॥ ३५ ॥

मैं जानता कि प्रभु से मिलूँगा मेरे मन में वड़ा हौसला था। लेकिन ई माया ऐसी पिशाचनी है कि बीच २ में विघ्न किया करती है। वासना रूपी झीनी माया दुस्तर है। पीर पैगम्बर आदि सबको खा गई। जिसने वासना रूपी झीनी माया को त्यागा उसकी मोटी स्वयं नष्ट हो गई। ऐसे महात्मा के नजदीक से जन्मादि सब ही दुख भाग जाते हैं ॥३३॥३४॥३५॥

खान खरच बहु अन्तरा, मन में देखु विचार।
एक खवावै साधु को, एक मिलावै छार ॥ ३६ ॥
आँधी आई प्रेम की, ढही भरम की भीत।
माया टाटी उड़ि गई, लगी नाम सों प्रीत ॥ ३७ ॥

मनमें विचार देखो, खाने व खर्चने में भी बड़ा भेद है। एक तो सन्तों के भोजन सत्कार में खर्चता है और एक वेश्या को निछावर कर छार में मिलता है। प्रेम रूपी बवण्डर को आते ही भ्रम रूप कोट जमीन दोज हो गया। और जब सद्‌गुरु ज्ञान में प्रीति हुई तब माया का परदा भी फट गया ॥३६॥३७॥

मीठा सब कोय खात है, विष ह्वै लागै धाय।
नीम न कोई पावसी, सबै रोग मिटि जाय ॥ ३८ ॥
रामहि थोरा जानि के, दुनिया आगे दीन।
जीवन को राजा कहै, माया के आधीन ॥ ३९ ॥

विषय सुखको मीठा समझकर सब कोई खाता है जिसका परिणाम फल विष होता है। परन्तु कड़ुवा नीमकी तरह विवेक-वैराग्यादि को आँखें बन्द कर कोई नहीं पीता जिससे कि जन्मादि सब ही रोग निवृत्त हो जायँ। थोड़ा 'राम-राम' कहना सीख लिया साधु के वेष बनाके संसारी लोगों के आगे लाचार हो रहे हैं। माया के लिए माया धारी नरजीवों को महाराजा ! अन्नदाता ! इत्यादि कहते फिरते हैं ॥३८॥३९॥

या माया के कारनै, हरि सों बैठा तोरि।
माया करक कदीम है, केता गया चंचोरि ॥ ४० ॥

अज्ञानी लोग इस तुच्छ माया ही के वास्ते सर्वात्मरूप हरि से भी हेत तोड़ बैठे और यह माया ऐसी अनादि अस्थि पंजर है कि इसे कितने कूकर, सियार बनके नोच-नोच कर चले गये। कोई कार्य सिद्ध नहीं हुआ ।।४०॥

पूत पियारा बाप को, गोहन लागा धाय।
लोभ मिठाई हाथ दे, आपन गया भुलाय ॥ ४१ ॥
दीन्हीं खाँड़ पटकि कर, मन में रोस उपाय।
रोवत रोवत मिल गया, पिता पियारे जाय ॥ ४२ ॥

पिता का पुत्र प्रिय होता है, मारे प्रेम के साथे साथ दौड़ा करता है। क्षण सुख मिठाईकी लालच में हाथ दे के अपने आपको भूल गया। फिर खाँड़ के दोना फेंक कर मनमें रुष्ट हो गया। और रोते रोते प्रिय पिता से जा मिला ।।४१।।४२।।

मोती उपजे सीप में, सीप समुन्दर होय।
रंचक संचर रहि गया, ना कछु हुआ न होय ॥ ४३ ॥
भूले थे संसार में, माया के संग आय।
सतगुरु राह बताइया, फेरि मिलै तिहि जाय ॥ ४४ ॥

संसार सिन्धुके सीपरूप नरदेहमें इन्द्रियोंके निरोधसे आत्मज्ञान रूप मोती उत्पन्न होता है। लेकिन जैसे सीपमें जराभी संचर' नाम छिद्र रह जाय तो कुछ भी नहीं होने पाता तैसेही मनमें विकार होनेसे गुरुज्ञान नहीं ठहरता। संसारमें आके मायाके संगमें भूल गये थे। सद्गुरुकी कृपा हुई रास्ता मिल गया फिर अपने आपमें जा मिले ।।४३।।४४।।

जिनको साँई रंग दिया, कबहुँ न होय कुरंग।
दिन दिन बानी आगरी, चढ़ै सवाया रंग ॥ ४५ ॥

जिन जिज्ञासुओंको सद्गुरु स्वामी ने अपने ज्ञान रंगमें रंग दिया उनका रंग कभी बदरंग नहीं होता। प्रति दिन चातुर्य पूर्ण ज्ञान वाणी होती है और सवाया ज्ञानरंग चढ़ता जाता है ।।४५।।

सौ पापन को मूल है, एक रुपैया रोक।
साधूजन संग्रह करै, हारै हरि सों थोक ॥ ४६ ॥
साधू ऐसा चाहिये, आई देई चलाय।
दोस न लागै तासु को, शिर की टरै बलाय ॥ ४७ ॥

सैकड़ों पापोंका कारण एक रुपया है जो विरक्त होके आसक्ति पूर्वक संग्रह करते हैं। इसी कारण हरिसे थोक (थैला) हारते अर्थात् आत्म-विमुख होते हैं। साधु को तो ऐसा चाहिये कि 'ज्यों आवे त्यों फेरी हो' इसमें कोई दोष नहीं लगता और शिरकी वला भी टल जाती है ॥४६-४७ ॥

सन्तों खाई रहत है, चोरा लीन्ही जाय।
कहैं कबीर विचारि के, दरगह मिलि है आय ॥ ४८ ॥
सुकृत लागै साधु का, बादि विमुख की जाय।
कै तो तल गाड़ी रहै, कै कोय औरै खाय ॥ ४९ ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि सन्तोंके खाया हुआ द्रव्य जमा रहता है जब चाहे तब मालिकके दरबारमें मिल जाता है और जो चोर चुरा ले जाता है वह तो नष्ट ही हो जाता है। परोपकारी साधुका धन शुभ कर्ममें लग जाता है परन्तु सन्त गुरु विमुखोंका संचित द्रव्य यों ही व्यर्थमें चला जाता है या तो जमीनमें गाड़े या चोरके द्वारे ॥४८॥४९॥

या मारा जग भरमिया, सबको लगो उपाध।
यहि तारन के कारनै, जग में आये साध ॥ ५० ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि "द्रव्यकी चोट कठिन कै मारा" इत्यादि द्रव्य रूपी मायाकी मारसे जगज्जीव सब भ्रममें पड़े हैं उनके पीछे कठिन उपाधि लगी है। इन्हें इस उपाधिसे उद्धारके लिए संसारमें सन्त आये हैं ॥५०॥

कबीर माया साँपिनी, जनता ही को खाय।
ऐसा मिला न गारुड़ी, पकड़ि पिटारे बाँय ॥ ५१ ॥

ऐ कबीर ! सर्पिणीरूप माया जन समूहोंको को काट खाई व खाती है। ऐसा कोई गारुड़ी (विष उतारनेवाला) नहीं मिला कि उसे पकड़ कर पिटारेमें बन्द कर दे ॥५१॥

माया का सुख चार दिन, कहँ तूँ गहे गमार।
सपने पायो राज धन, जात न लागे बार॥ ५२॥

मायाका सुख बहुत थोड़ा चार दिनका है "अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता" ऐ मूर्ख ! उसे क्यों पकड़ता है। अरे ! स्वप्नकी राज्य सम्पत्तिके समान इसे जाते देरी नहीं लगती ॥५२॥

करँक पड़ा मैदान में, कुकुर मिले लख कोट।
दावा कर कर लड़ि मुए, अन्त चले सब छोड़॥ ५३॥

मैदानमें अस्थिपंजर पड़ा देखकर लाखों करोड़ों कुत्ते जुट गये। और अपना अपना दावा करके लड़ मरे और अन्तमें छोड़ चले। यही हाल मायाके पीछे अज्ञानियों का है ॥५३॥

माया माथै सींगड़ाँ, लम्बे नौ नौ हात।
आगे मारे सींगड़ाँ, पाछे मारे लात॥ ५४॥

मायाके मस्तक पर पड़े लम्बे नव-नव हाथकी सींग है। आती समय तो सीने में सींग मारती है जिससे अहंकार के मारे सीना तन जाता है और जाते वक्त पीछे से लात मारती है जिससे कूबड़ा बन जाता हैं और नीचा देखता हुआ लकड़ी के सहारे चलता है। भावार्थ—मायाका स्वभाव है आते समय अहंकारी और जाते समय नर जीवको दीन लाचार बना के चली जाती है ॥५४॥

गुरु को चेला वीष दे, जो गाँठी होय दाम।
पूत पिता को मारसी, ये माया के काम॥ ५५॥

गुरुको शिष्य और पिताको पुत्र विष तबही खिलाता है जब कि गुरु, पिताके पास द्रव्य होता है और खर्चने को नहीं देता। ये सब उपद्रव द्रव्यका है ॥५५॥

ऊँची डाली प्रेम की, हरिजन बैठा खाय।
नीचे बैठी बाघिनी, गीर पड़े तिहि खाय ॥ ५६ ॥

प्रेमरूपी ऊँची शाखा पर बैठके हरिजन निवृत्तिरूप आनन्द फल को खाते हैं। जो निवृत्तिसे प्रावृत्ति मार्ग में गिरते हैं उन्हें नीचे बैठी हुई माया रूपी बाघिनी खा लेती है ॥५६॥

माया दासी संत की, साकट की शिर ताज।
साकुट की शिर मानिनी, सन्तों सहेलि लाज ॥ ५७ ॥

माया-सन्तोंकी दासी और साकटोंके शिर मुकुट है। यही कारण है कि साकटोंसे मान चाहती और सन्तोंसे लाज करती है ॥५७॥

माया माया सब कहै, माया लखे न कोय।
जो मन से ना ऊतरे, माया कहिये सोय ॥ ५८ ॥

माया-माया सब कोई कहते हैं लेकिन मायाका स्वरूप नहीं पहचानते माया उसी का नाम है जो मन में अति आसक्ति है ॥५८॥

माया छोरन सब कहै, माया छोरि न जाय।
छोड़न की जो बात करु, बहुत तमाचा खाय ॥ ५९ ॥

माया त्यागनेको सब आचार्य कहते हैं और त्यागा नहीं जाता तो त्यागकी बात करना व्यर्थ है। इस हालतमें मायाकी मार खूब खायेंगे।

मन मते माया तजो, यूँ, करि निकस बहार।
लागी रहि जानी नहीं, भटकी भयो खुवार ॥ ६० ॥

मनमती लोग मायाको त्यागकर घर से निकल पड़े, और विरक्त वेष बना लिये। न मन, मायाकी आसक्ति छूटी न ज्ञान हुआ योंहीं भटक २ खराब हो गये ॥६०॥

माया सम नहिं मोहिनी, मन समान नहिं चोर।
हरिजन सम नहिं पारखी, कोई न दीसे ओर ॥ ६१ ॥

मायाके समान मोहिनी और मनके सदृश चोर तथा हरिजन के बराबर पारखी और कोई संसार में नहीं दीखता है ॥६१॥

छाड़ै बिन छूटै नहीं, छोड़न हारा राम।
जीव जतन बहुतहि करे, सरे न एकौ काम ॥ ६२ ॥

रमैया राम छोड़ने वाला स्वयं है, माया-आसक्ति जबतक यह नहीं छोड़ेगा तब तक नहीं छूट सकती। और आसक्ति छूटे बिना नरजीवका प्रयत्न भी व्यर्थ जाता है एक भी कार्य सिद्ध नहीं होता ॥६२॥

कबीर माया डाकिनी, खाया सब संसार।
खाइ न सके कबीर को, जाके नाम अपार ॥ ६३ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ई खाऊ माया सब संसारको खा गई। केवल उसीको न खा सकी जो जीव सद्‌गुरु नाम (ज्ञान)के आश्रय हैं ॥६३॥

माया चार प्रकार की, इक बिलसै इक खाय।
एक मिलावै नाम को, एक नरक लै जाय ॥ ६४ ॥

माया चार प्रकारकी है, एक सुख भोगाती है, दूसरी खा जाती है, तीसरी रामसे मिलाती और चौथी नरकमें ले जाती है ॥६४॥

माया जुगवै कौन गुन, अंत न आवै काज।
सोई नाम जोगावहु, भय परमारथ साज ॥ ६५ ॥
माया संखा पदुम लौं, भक्ति बिहुन जो होय।
जम लै ग्रासैं सो तेहि, नरक पड़े पुनि सोय ॥ ६६ ॥

जो अन्तके साथी नहीं हैं ऐसी मायाके संचय और रक्षा में क्या फायदा। जिससे परमार्थका साज सुधरे उसी रामनाम की रक्षा करो। सद्‌गुरु-भक्ति विमुख चाहे माया (द्रव्य) पद्म, और संख संखया पर्यन्त क्यों न हो वह मृत्यु-मुखसे बचाकर नरकसे कदापि नहीं उबार सकती।

मन ते माया उपजैं, माया तिरगुन रूप।
पाँच तत्त्व के मेल में, बाँधे सकल सरूप ॥ ६७ ॥

त्रिगुण रूप मायाकी उत्पत्ति केवल मनसे है। और पाँच तत्वके संघातमें उसने सकल जीवों को बाँध रक्खा है ॥६७॥

इति श्री मायाको अङ्ग समाप्त ॥ ३० ॥

अथ कनक-कामिनीको अंग ॥ ३१ ॥

चलो चलो सबको कहै, पहुँचै बिरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय ॥ १ ॥

मालिक से मिलनेके लिये सब कोई चला-चली कर रहे हैं लेकिन वहाँ तक बिरले कोई पहुँचते हैं। क्योंकि कनक और कामिनीरूपी घाटी का बड़ा कठिन चढ़ाव है, इन दोनों को पार करना बहुत मुश्किल है ॥१॥

एक कनक अरु कामिनी, ये लम्बी तरवार।
चाले थे हरि मिलन को, बीचहि लीन्हा मार ॥ २ ॥

कनक और कामिनीरूपी तलवार बड़ी लम्बी है। चले तो थे प्रभु से मिलने के लिये। परन्तु इन्होंने अधबीचे में मार डाला। नहीं पहुंचने पाये ॥२॥

एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगिन की झाल।
देखत ही ते पर जरै, परसि करै पैमाल ॥ ३ ॥

कनक और कामिनी ये दोनों अग्नि की ज्वाला हैं। दर्शन मात्र से वे जलाती हैं और स्पर्श करने पर तो सत्यानाश कर डालती है ॥३॥

एक कनक अरु कामिनी, विष फल लिया उपाय।
देखत ही ते विष चढ़ै, चाखत ही मरि जाय ॥ ४ ॥

कनक और कामिनी ये दोनों ऐसे विष फल हैं कि देखते ही नखसे शिखा पर्यन्त विष व्याप जाता है और जो खाता वह तो मरही जाता है।४

एक कनक अरु कामिनी, तजिये भजिये दूर।
गुरु बिच पाड़ै अन्तरा, जम देसी मुख धूर ॥ ५ ॥

कनक और कामिनी को त्याग कर दूर भाग चलो क्योंकि ये सद्-गुरु सत्संग ज्ञान में भेद डालने वाली है और इसी के कारण मृत्युमुखमें खाक भीं डालती है ॥५॥

जो या घाटी लंघहीं, सो जन उतरै पार।
या घाटी तें आखड़े, ताको वार न पार॥ ६॥

जो पुरुष इस दुर्गम घाटी को उल्लंघन करते हैं वेही पार उतरते हैं। और जो इस चढ़ाव पर से जरा भी फिसले कि गये रसातल ॥६॥

अविनाशी बिच धार तिन, कुल कंचन अरु नारि।
जो कोइ इनते बचि चलै, सोई उतरै पार॥ ७॥

अविनाशी पुरुषके मार्गमें कुल मर्यादा, कंचन और स्त्री येही मध्य-प्रवाह हैं। जो कोई इनके बहावसे बचता है वही पार उतरता है ॥७॥

नारी की झाँई पड़त, अन्धा होत भुजंग।
कबीर तिनकी कौन गति, नित नारी के संग॥ ८॥

स्त्री की छाया पड़ने से सर्प भी अन्धा हो जाता है। कबीर जाने उनकी कौनसी दशा होगी जो सदा स्त्री के ही साथ में हैं ॥८॥

नारि पराई आपनी भोगै नरकै जाय।
आग आग सब एक सी, हाथ दिये जरि जाय॥ ९॥
जहर पराया आपना, खाये से मरि जाय।
अपनी रक्षा ना करै, कहैं कबिर समुझाय॥ १०॥

नारी घर की हो या परकी उसमें भोगासक्ति बुद्धिसे अवश्य अधोगति होती है। क्योंकि अग्नि कहींकी भी हो हवन या मशानको जलाना उसका स्वभाव है। हाथ डालकर देख लो। इसी प्रकार जहरको भी समझ लो, कबीर गुरु समझाकर कहते हैं इससे रक्षाकी आशा मत करो यह अपना पराया नहीं जानता ॥९॥१०॥

कूप पराया आपना, गिरे डूबि सो जाय।
ऐसा भेद विचार के, तूँ मति गोता खाय॥ ११॥

छुरी पराई आपनी, मारै दर्द जु होय।
बहुबिध कहूँ पुकारि के, कर छूवो मति कोय ॥ १२ ॥

कूँआ अपना हो या बिराना जो उसमें गिरेगा वह अवश्य डूबेगा। ऐसा भेद का तत्व निर्णय कर तू गोता कभी भूलकर भी मत लगाना। बहुत प्रकार समझा कर कह रहा हूँ कि छूरो किसी की भी हो मारने पर जरूर घाव लगेगा अतएव भला चाहे तो उसे कोई स्पर्श भी मत करो ॥११॥१२॥

नारि निरखि न देखिये, निरखि न कीजै दौर।
देखत ही ते विष चढ़ै, मन आवै कछु और ॥ १३ ॥
नारि नसावै तीन गुण, जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में, पैठि न सकहीं कोय ॥ १४ ॥

आँख से आँख मिलाकर स्त्रीको कभी नहीं देखना, न देखकर मनमें चिन्तन करना। क्योंकि इसको देखतेही विष व्याप जाता है और मनमें भावना और प्रकारकी होती है। अतः जो मनुष्य इसके संग रहते हैं उनके तीनों गुण नष्ट हो जाते हैं। वे भक्ति मुक्ति आत्मचिन्तन रूप ध्यान में कभी प्रवेश नहीं कर सकते हैं ॥१३॥१४॥

नारी कहूँ कि नाहरी, नख सिख से यह खाय।
जल बूड़ा तो ऊबरै, भग बूड़ा बहि जाय ॥ १५ ॥

इसे नारी कहना या बाघिनी यह तो नख और शिख (नखजावक नेत्र का कटाक्ष, या केश पास) दोनों से मारती हैं। जल में डूबने वाला कभी बच भी जाता है परन्तु भग में डूबने वाला कदापि नहीं ॥१५॥

नारी नाहीं नाहरी, करै नैन की चोट।
कोइ कोइ साधू ऊबरै, ले सतगुरु की ओट ॥ १६ ॥

स्त्री नहीं यह सिंहनी है ऐसा कटाक्ष करती है कि इससे कोई एक साधु ही उबरते हैं जो सद्गुरु की शरण लेते हैं ॥१६॥

नारी नाहीं जम अहै, तूँ मति राचै जाय।
मंजारी ज्यौं बोलि के, काढ़ि करेजा खाय ॥ १७ ॥
स्त्री नहीं यह खास यमराज है इसे तू अपने मन में जगह मत दे यह बिल्लीकी तरह म्युं-म्युं बोलके हृदयको काढ़के खा लेती है ॥१७॥

नारी नदिया सारखी, बहै अपरबल पूर।
साहिब सो न्यारा रहै, अन्त परै मुख धूर ॥ १८ ॥
नारी और नदी ये दोनों की धारा समान अगम्य बहती है। जो सद्गुरु साहिबसे विमुख रहते हैं अन्तमें उनके मुखमें धूर पड़ती है ॥१८

नारि पुरुष की इस्तरी, पुरुष नारि का पूत।
याही ज्ञान विचारि के, छाड़ि चला अवधूत ॥ १९ ॥
स्त्री पहिले पुरुषकी जोरू बनती है फिर उलटकर पुरुष उसका पुत्र और वह माता बन जाती है। यही विपरीत सम्बन्ध को सोचकर ज्ञानियोंने उसे त्याग दिया ॥१९॥

नारि नजरि न जोरिये, अंसहि खिस ह्वै जाय।
जाके चित नारी बसै, चारि अंस ले जाय ॥ २० ॥
नारीसे नेत्र मत मिलाओ तुम्हारे सारे शरीरका अंश (वीर्य) खिसक (गिर) जायगा। जिसके मनमें नारी का ध्यान होता है उसके शुभ कर्म, धर्म, ज्ञान और मोक्ष चारों नष्ट हो जाते हैं ॥२०॥

नारी कुंडी नरक की, बिरला थामै बाग।
कोइ साधू जन ऊबरा, सब जग मूआ लाग ॥ २१ ॥
नारी नरकका कुण्ड है उसमें गिरके सब लोग रसातलको चले गये। कोई बिरले साधु मन घोड़ेको विवेक लगामसे रोक कर बच गये ॥२१॥

नारि पुरुष सबही सुनो, यह सतगुरु की साख।
विष फल फले अनेक हैं, मति कोइ देखो चाख ॥२२ ॥
जिन खाया सोई मुआ, गन गंधर्व बड़ भूप।
सतगुरु कहैं कबीर सों, जग में जुगति अनूप ॥ २३ ॥

सद्गुरुकी इस शिक्षाको नारी और पुरुष सबही मिलकर सुनो। संसार वृक्षमें जो अनेकों विषफल फले हैं उसे कोई चाख कर मत देखो। इसीमें कुशल है। इसे जिन गण, गन्धर्व और बड़े-बड़े राजाओं ने खाया वे सब मर गये। कबीरको बचनेकी अनुपम युक्ति सद्गुरु बतला रहे हैं इससे बचो ॥२२॥२३॥

नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरै।
कहा गँवावै देह, कारज कोई ना सरै ॥ २४ ॥

स्त्री विषयक जो प्रीति है वह विवेक बुद्धिको नष्ट कर देती है। ऐ नरजीव ! क्यों व्यर्थ में शरीर खो रहा है, उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता ॥२४॥

कामिनी काली नागिनी, तीनों लोक मँझार।
नाम सनेही उबरे, विषयी खाये झार ॥ २५ ॥
कामिनी सुन्दर सर्पिनी, जो छेड़ै तिहिं खाय।
जो गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥ २६ ॥

तीनों लोकमें काली नागिनीके सदृश कामिनीको समझो। फक्त इससे रामके प्रेमीही बचते हैं। यह विषयी,पामरोंको तो मार खाती है। ये ऐसी विचित्र सर्पिणी है कि जो इसे छेड़ता है उसीको खाती है। और जो इससे विमुख हो सद्गुरु चरणमें प्रेम करता है उससे नजदीक नहीं जाती ॥

इक नारी इक नागिनी, अपना जाया खाय।
कबहूँ सरपट नीकसे, उपजे नाग बलाय ॥ २७ ॥

नारी और सर्पिणी ये अपनी सन्ततिको खाती है। कभी इसके कुण्डालासे जो उछलकर निकल जाता है वही बला से बचकर नाग होता है ॥२७॥

नैनों काजर देय के, गाढ़ै बाँधें केस।
हाथों मेंहदी लाय के, बाघिनि खाया देस ॥ २८ ॥

नेत्रों में काजल और शिर पर केश पाश को खूब बाँध के इसी तरह

हाथों में मेहँदी लगा के बाघिनीरूपी कामिनी ने सारे देश को खा लिया ॥२८॥

पर नारी पैनी छुरी, मति कोइ करो प्रसंग ।
रावन के दस सिर गये, पर नारी के संग ॥ २९ ॥
पर नारी पैनी छुरी, बिरला बाँचै कोय ।
कबहूँ छेड़ि न देखिये, हँसि हँसि खावे रोय ॥ ३० ॥

पराई स्त्री तीक्ष्ण छुरी है इसे कोई स्पर्श मत करो। देखलो परनारीके संगसे लंका का सरदार दश मस्तक का रावण भी धूल में मिल गया। इससे कोई बिरले बचते हैं, इसे कभी मत छेड़ो। ये हँसके और रोके दोनों प्रकारसे खाती है ॥२९॥३०॥

पर नारी पैनी छुरी, बिरला बाँचै कोय ।
ना वह पेट संचारिये, जो सोना की होय ॥ ३१ ॥

दूसरेकी स्त्री बड़ी तीक्ष्ण छुरी है इससे बिरले कोई बचते हैं। जो कहीं सोनेकी होवे तो भी पेटमें मत घुसाओ ॥३१॥

पर नारी का राचना, ज्यूँ लहसुन की खान ।
कोने बैठे खाइये, परगट होय निदान ॥ ३२ ॥

पराई स्त्री से प्रेम मानों लहसुन का खाना है। चाहे खंदकमें जाके खाओ वह अन्तमें प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा ॥३२॥

छोटी मोटी कामिनी, सबही विष की बेल ।
बैरी मारै दाव से, यह मारै हँसि खेल ॥ ३३ ॥
देखत ही दह में परै, कनक कामिनी भाय ।
कहैं कबिर कौतुक भया, मन को रहा समाय ॥ ३४ ॥

छोटी हो या बड़ी कामिनी सब विषकी लता है। शत्रु तो दाव-पेचसे मारता है और यह तो हँसते, खेलते मार डालती है। कबीर गुरु कहते हैं कि हे भाईयो ! कनक-कामिनी मनमें ऐसे घुस जाती है कि उसे देखते ही लोग गढेमें गिर जाते हैं। अतः इससे सचेत रहो ॥३३॥३४॥

जो कबहूँ के देखिये, बीर बहिन के भाय।
आठ पहर अलगा रहै, ताको काल न खाय ॥ ३५ ॥

जो कभी इसे देख भी लो तो स्त्री रूपमें मत खयाल करो किन्तु समान उमरवालीको भाई, बहिन की निगाह से देखो। और अधिक उमरवाली को माता-दृष्टिसे देखकर अहो रात्र इससे अलग रहो। जो इस प्रकारका व्यवहार उससे रखता है उसे काल नहीं ग्रासता ॥३५॥

सरब सोने की सुन्दरी, आवै बास सुवास।
जो जननी ह्वै आपनी, तऊ न बैठे पास ॥ ३६ ॥
गाय रोय हँसि खेलि के, हरत सबन के प्रान।
कहैं कबिर या घात को, समझै संत सुजान ॥ ३७ ॥

चाहे सुरभि और स्वर्णमयी सुन्दरी हो या खास अपनी माता ही क्यों न हो तो भी एकाकी एकान्त स्थानमें उसके पास न बैठे। कबीर गुरु कहते हैं कि गायके, रोके और हँस खेलके यह सबके प्राण हरती है। इसकी चालबाजी तो कोइँ बिरले सुज्ञ सन्त समझते हैं ॥३६॥३७॥

जग में भक्त कहाबई, चुटकी चून न देय।
सिष जोरू का ह्वै रहा, नाम गुरू का लेय ॥ ३८ ॥
सेवक अपना करि लिया, आज्ञा मेटै नाँहि।
भग मंतर दे गुरु भई, सिष ह्वै सबै कमाँहि ॥ ३९ ॥

लोकमें दानी भक्त कहलाते हैं, लेकिन परमार्थ के अर्थ चुटकी भर चून तक नहीं देते। दास कामिनी-कनक के बने रहते और नाम गुरुका लेकर बदनाम करते हैं। कामीको कामिनी ऐसा अपना शिष्य बना लेती है कि उसकी आज्ञा वह कभी नहीं टालता। मल-मूत्र की थैली रूप मंत्र देके गुरु वन जाती और ये चेला बनके बैलकी तरह सब दिन कमाते मरते हैं ॥३८?॥३९॥

कबिर नारिकी प्रीति से, केते गये गड़न्त।
केते औरौ जाहिंगे, नरक हसन्त हसन्त ॥ ४० ॥

जोरू जूठनि जगत की, भले बुरे के बीच।
उत्तम सो अलगा रहै, मिलि खेलै सो नीच ॥ ४१ ॥

ऐ कबीर! नारी के प्रेम से कितने रसातलको चले गये और कितने अभी और हंसते २ जायंगे। इस वास्ते संसारकी भोगी हुई स्त्री भले, बुरेके मध्यमें जूठी है। इस उच्छिष्ट को जो त्यागता है वही श्रेष्ठ है और साथ रमनेवाला नीच है ॥४०॥४१॥

सुन्दरी ते सूली भली, बिरला बांचै कोय।
लोह लुहालै अगिनि में, जरि बरि कुइला होय ॥ ४२ ॥
रज बीरज की कोठरी, अपर साज्यौं रूप।
एक नाम बिन बूडसी, कनक कामिनी कूप ॥ ४३ ॥

सुन्दरीके संग विषयासक्ति करके मरनेसे सूली पर चढ़के एकदम मर जाना अच्छा है। इससे कोई बिरले बचते हैं। लोहे से छिन्न-भिन्न होके अग्निमें जलके खाक हो जाते हैं। रजोवीर्य की कोठरी ऊपर हड्डी चर्मादि साजोंसे स्वरूप बनाके खड़ा किया है। एक प्रभुके नाम बिना सब कनक-कामिनी रूप अन्धकूप में डूब मरे व मरेंगे ॥४२॥४३॥

जहाँ जराई सुन्दरी, जनि जाय कबीर।
उड़िके भसम जो लागसी, सूना होय शरीर ॥ ४४ ॥

ऐ कबीर! उस श्मशान भूमि पर भी तू मत जा, जहाँ सुन्दरी जलायी गई हो। उसकी खाक (स्मरण) जो कहीं उड़के लगेगी तो भी शरीर शून्य हो जायगा ॥४४॥

नागिन के तो दोय फन, नारी के फन बीस।
जाका डसा न फिर जियै, मरिहै बिसवा बीस ॥ ४५ ॥

सर्पिणीके दोही फन होते हैं और नारी के बीस अँगुलियाँ रूप बीस फन हैं। इसके अभिनय कटाक्ष रूप डंकसे जो डसे जाते हैं वे अवश्य मरते हैं ॥४५॥

जग में डोड़ी कामिनी, पीवै सब संसार।
सोफी है करि जो पिये, ताहि उतारूँ पार ॥ ४६ ॥

संसारमें कामिनी एक ऐसी डोड़ी (पोस्तेका छूँतरा, लता विशेष) है कि इसका रस सब कोई पीते हैं। परन्तु जो सोफियाना (हलका नशा, अनासक्त भोग) पान करते हैं उन्हें शनैः शनैः पार उतार सकता है।४६।

दीपक झोला पवन का, नर का झोला नारि।
साधू झोला शब्द का, बोलै नाँहि विचारि ॥ ४७ ॥

दीपक को वायु का झोला (झपाटा) और नरको भय नारी रूप झोला का है। इसी प्रकार जो बिना विचारे शब्द बोला जाता है उस शब्दका झोला सन्तों को भी शान्ति पद से गिरा देता है ॥४७॥

केता बहाया बहि गया, केता बहि बहि जाय।
ऐसा भेद बिचारि के, तूँ मति गोता खाय ॥ ४८ ॥

स्त्री रूपी धारा प्रवाह में कितने तो बह गये और अभी कितने भटके जायँगे। इसका कोई हिसाब नहीं है ऐसा मर्म समझकर तू मत गोता लगा ॥४८॥

कपास बिनूठा कापड़ा, कदे सुरंग न होय।
कबीर त्यागी ज्ञान करि, कनक कामिनी दोय ॥ ४९ ॥

जैसे खराब कपासका बना हुआ कपड़ा सुन्दर कभी नहीं होता तैसे ही कनक-कामिनी के सम्बन्ध से निर्मल ज्ञान कभी नहीं हो सकता ऐसा समझ विचार कर उन दोनों ही को त्याग दो ॥४९॥

नारी मदन तलावड़ी, भवसागर की पाल।
नर मच्छा के कारने, जीवत माँड़ी जाल ॥ ५० ॥

संसार सागर के किनारे स्त्री रूप एक कामदेवका कुण्ड है अथवा संसार सागर की रक्षाके लिये स्त्री एक कामदेवकी बावली है। उसमें पड़े हुए नर-मत्स्यको जीवित पकड़नेके लिये सन्तगुरु दयालु कृपा रूपी डोरी और प्रेम रूपी चारा सहित अपने चरणरूप जाल डाले हैं। अर्थात् जीवोंके उद्धारके लिये सन्त संसारमें अवतार लिये व लेते हैं ॥५०॥

नारी नरक न जानिये, सब संतन की खान।
जामें हरिजन ऊपजे, सोई रतन की खान ॥ ५१ ॥

सब नारी को नरक मत समझो बड़े २ जो महात्मा हो गये उन रत्नों का आगार भी वही है। जहाँ से हरिजन रत्न उत्पन्न होते हैं वही रत्नकी खानि कहलाती है ॥५१॥

कबीर मन मिरतक भया, इन्द्री अपने हाथ।

तो भी कबहु न कीजिये, कनक कामिनी साथ ॥ ५२ ॥

ऐ कबीर ! यद्यपि मनके मरने पर इन्द्रियाँ कब्जे में आ जाती हैं। तथापि कनक, कामिनी का संग भूलकर भी नहीं करना ॥५२॥

माँस माँस सब एक है, क्या हरिनी क्या गाय।

नारि नारि सब एक है, क्या मेहरी क्या माय॥ ५३ ॥

चाहे हरिनीका हो या गायका, मांस जैसे दोनोंके एक से हैं। तैसे ही माँ हो या मेहरी, स्त्री सब एक सी जानो ॥५३॥

त्रिया कृतघ्नी पापिनी, तासों प्रीति न जोड़।

पैड़ी चढ़िया आखड़ै, लागे मोटी खोड़ ॥ ५४ ॥

स्त्री बड़ी कृतघ्नी और पापिनी होती है इसे विश्वासका पात्र समझ कर प्रीति कभी मत करो। इसके रस्ते लगते ही अखड़ने लगती है और भारी शिरपर कलंक लग जाता है ॥५४॥

सात द्वीप नव खंड में, सबसे फगुवा लीन।

ठाढ़ी कहैं कबीर सों, तुमने कछू न दीन ॥ ५५ ॥

कनक और कामिनी ने संपूर्ण भूमण्डल मे सबसे भोग-विलास रूप फगुआ चुका लिया। परन्तु कबीर से खड़ी हो कहते रह गईं कि आपने कुछ नहीं दिया ॥५५॥

इति श्री कनक-कामिनीको अङ्ग ॥ ३१ ॥

अथ कालको अंग ॥ ३२ ॥
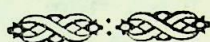
काल जीव को ग्रासई, बहुत कह्यो समुझाय।
कहैं कबिर मैं क्या करूँ, कोई नहिं पतियाय ॥ १ ॥

कबीर गुरु कहते हैं मैं क्या करूं बहुत कुछ समझा-समझा कर कहा कि ऐ नरजीव ! काल तुझे ग्रासता है और तू प्रति दिन काल कवल बनता जाता है तौ भी कोई विश्वास नहीं करता ॥१॥

काल हमारे संग है, कस जीवन की आस।
दस दिन नाम सँभार ले, जब लगि पिंजर साँस ॥ २ ॥

"जीवनकी जनि आशा राखो, काल धरे हैं श्वास।" बीजक। जीने की आशा कैसे हो सकती है ? जब कि काल हमारे संगमें उपस्थित है कदापि नहीं। ऐसा समझकर जब तक प्राग पिण्डका संयोग है तब तक जो कुछ बनि आवे दश दिन प्रभुका नाम याद करले ॥२॥

काल चिचाना है खड़ा, जाग पियारे मीत।
नाम सनेही बाहिरा, क्यौं सोवै निह चींत ॥ ३ ॥

ऐ प्रिय मित्र ! जागो, कालरूप बाज झपटने के लिये तैयार है। ऐ रामका प्रेमी ! क्यों रामसे विमुख हो बेखबर सोया है ? होश करो ॥३॥

झूठा सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कछु मूठी कछु गोद ॥ ४ ॥

सांसारिक मिथ्या ही सुखको सुख मानके मनमें बड़ा हर्षित हो रहा है। जगज्जीव यह नहीं जानता कि कुछ गोद और कुछ मूठीमें लेकर काल कलेवा कर रहा है ॥४॥

आज काल पल छिनक में, मारग मेला हित्त ।
काल चिचाना नर चिड़ा, औजड़ औ अवचित्त ॥ ५ ॥

एक दिन आगे या पीछे क्षण पलमें इस मेलाका मार्ग छोड़ना पड़ेगा। क्योंकि कालरूप बाज नर पखेरूको अचानक झपाटा लगाता है ॥५॥

सब जग सूता नींद भरि, मोहि न आवै निन्द ।
काल खड़ा है बारनै, (ज्यौं) तोरन आया बिन्द ॥ ६ ॥

सब संसार अचिन्त निद्रा ले रहा है पर मुझे नींद नहीं आती। दुलहा नगरमें आया नहीं कि काल-द्वार खड़ा है ॥६॥

टालै टूलै दिन गयो, ब्याज बढ़न्ता जाय ।
ना हरि भजा न खत कटा, काल पहुँचा आय ॥ ७ ॥

बहाने बाजी में समय निकलता गया और ब्याज बढ़ता गया न प्रभु का नाम लिया न फारखती मिली इतने में काल आके खेल समाप्त कर दिया ॥७॥

कबीर टुग टुग चोवताँ, पल पल गई बिहाय ।
जिव जंजालै पड़ि रहा, दिया दमामा आय ॥ ८ ॥

ऐ कबीर ! टुकुर टुकुर देखते में नर-जन्म समयका क्षग-क्षण योंही खतम हो गया और जीव संसार उलझन में फंसाही रह गया इतने में काल आकर कूचका नगारा बजा दिया। कुछ भी करने न पाया ॥८॥

मैं अकेल वह दो जना, सेरी नाहीं कोय ।
जो जम आगे ऊबरो, तो जरा बैरी होय ॥ ९ ॥

मैं अकेला और काल दो जने हैं इनसे बचनेका कोई मार्ग नहीं। जो कहीं मृत्युसे बचे तो जरावस्थारूप शत्रु तैयार है ॥९॥

जरा आय जोरा किया, पिय अपना पहिचान ।
अन्त कछू पल्ले पड़े, ऊठत रे खलिहान ॥ १० ॥

जरा आय जोरा किया, नैनन दीन्हीं पीठ ।
आँखौ ऊपरि आँगुली, बीष भरै पछ नीठ ॥ ११ ॥

जरा आके जबरदस्ती कर रही है। अपने स्वामीको पहिचानो आखिर जो कुछ पल्ले (गोला) में पड़े हैं उठालो खलिहान उठ रहा है। जराने ऐसा जोर दिया कि नेत्र बिलकुल विमुख हो गया भौं आगे अँगुलियोंकी छाया करने पर भी 'विष भरे पछनीठ' यानी मुश्किलसे एक विस्वा तक देखने में आता है ॥१०॥११॥

जोबन सिकदारी तजी, चला निशान बजाय।
सिर पर सेत सिरायचा, दिया बुढ़ापै आय ॥ १२ ॥

जब युवावस्था ने अपनी सरदारी त्यागकर कूचका डंका बजा के चलती भयी तब बुढ़ापा ने धीरे से आके उजला ताज शिरपर रख दिया ॥ १२ ॥

कान लगा सुनहा कहै, कालै मानो हार।
राज बिराजा होत है, सकै तो नाम सम्हार ॥ १३ ॥

जरारूपी कुत्ती कान लगके कह रही है कि ऐ लोगो ! क्या लेकर थक बैठा, अरे ! नरदेहका राज विराज हो रहा है यदि कुछ शक्ति है तो सद्गुरु ज्ञानको सँभाल ले ॥१३॥

बिरिया बीती बल घटा, केस पलटि भये और।
बिगरा काज सँभारि लै, करि छूटन की ठौर ॥ १४ ॥

युवाका समय बीतनेपर शरीरकी शक्ति घट जाती है केशभी कालेसे धौले हो गये। बिगड़े कार्यको सुधारकर छूटनेकी युक्ति कर लो ॥१४॥

बिरिया बीती बल घटा, औरो बुरा कमाय।
हरिजन छाँड़ा हाथ ते, दिन नीरा हो आय ॥ १५ ॥

समय बीतनेपर बल घट गया तिसपर भलेके बदले बुराही करते जाते हो। विपत्तिमें हाथ बटानेवाले हरिजनोंकी संगति हाथसे छोड़ दिया और मरनेका समय एकदम नजदीक आ गया फिर क्या हो सकता है? ॥१५॥

जरा कुत्ता जोबन ससा, काल अहेरी नित्त।
दो बैरी बिच झोंपड़ा, कुशल कहाँसों मित्त ॥ १६ ॥

ज्वानीरूपी खरहे पर जरा रूप कुत्ते को काल शिकारने प्रतिदिन

आखेटको छोड़ा है। ऐ मित्र! जिसकी झोपड़ी काल और कुत्ता ये दो बैरीके मध्यमें है उसे कुशल कहाँ से हो सकता? ॥१६॥

कुशल २ जो पूछता, जग में रहा न कोय।
जरा मुई ना भय मुआ, कुशल कहाँ ते होय ॥ १७ ॥

जो कुशल-क्षेम पूछता था वह भी कोई जगतमें नहीं रह गया और न जरा मरीं, न डर मिटा कुशल कहाँ से होय? ॥१७॥

घड़ि जो बजै राज दर, सुनता है सब कोय।
आयु घटै जोबन खिसै, कुसल कहाँ ते होय ॥ १८ ॥

राजद्वारे जो घण्टा बजता है उसे सब कोई सुनते हैं। उसीसे उमर घटती और ज्वानी खसकती जाती है फिर कुशल होय तो कहाँसे? ॥१८॥

कै कुशल अनजान को, अथवा नाम जपन्त।
जनम मरन होता नहीं, तो बूझो कुसलंत ॥ १९ ॥

अविद्या अन्धकारमें पड़े हुए को तथा प्रभु-नाममें लीन को जन्म-मरणका गम नहीं होता इसीसे उन्हींका कुशल समझो ॥१९॥

कुसल जो पूछो असल की, आसा लागी होय।
नाम बिहूना जग मुआ, कुसल कहाँ ते होय ॥ २० ॥

असलमें कुशल पूछो तो प्रभु नामके बिना जहाँ तक आशा लगी है तहाँ तक कुशल नहीं है, सब लोग मुर्देके पीछे मरे व मर रहे हैं ॥२०॥

माली आवत देखि के, कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुनि लई, काल हमारी बार ॥ २१ ॥

कालरूप मालीको आते देखकर प्राणरूप कलियाँ गोहार करती हैं जो कलियाँ खिली थीं वह तो चुन गई काल हमारी पारी है ॥२१॥

बढ़ही आवत पेखि के, तरुवर रुदन कराय।
मैं अपंग संसै नहीं, पच्छी बसते आय ॥ २२ ॥

बढ़ईको आते देखकर वृक्ष रोता है कि मुझ अपंगको नष्ट होनेमें तो कोई शोक नहीं परन्तु पक्षी जो आकर बसते थे उनकी चिन्ता है ॥२२॥

फागुन आवत देखि के, बन रोता मन माँहि ।
ऊंचो डारी पात था, पियरा ह्वै ह्वै जाँहि ॥ २३ ॥

फाल्गुन मास अर्थात् पतझड़के समयको देखकर जंगल मनमें रोता है कि ऊँची डालियोंमें पत्ते थे वे पीले होके झड़ रहे हैं ॥२३॥

पात जो तरुवर सों कहै, बिलंब न मानै मोर ।
आय रितु जो बसंत की, जहँ जाओ तहँ तोर ॥ २४ ॥

झड़ते हुए पत्ते वृक्षको सांत्वना देते हैं कि मेरे आनेमें बिलम्ब मत समझो । बसन्त ऋतु के आतेही जहाँ जाओ तहाँ इच्छानुसार पत्तोंको तोड़ लो ॥२४॥

तरुवर पात सों यों कहै, सुनो पात इक बात ।
या घर याही रीति है, इक आवत इक जात ॥ २५ ॥

वृक्ष कहता है कि ऐ पत्र ! मेरी बात भी सुन लो । इस संसारकी यही पद्धति है कि एक आता एक जाता है ॥२५॥

पात झरन्ता यों कहैं, सुन तरुवर बन राय ।
अबके बिछुड़े ना मिले, दूर पड़ैंगे जाय ॥ २६ ॥

झड़ते हुए पत्र यों कहते हैं कि ऐ महाबन का श्रेष्ठ वृक्ष ! सुनो, इस बार का वियोग बड़ा बिकट है फिर मिलना कठिन है बहुत दूर जाकर पड़ेंगे । यह दशा मानव शरीर वियोगकी है ॥२६॥

जो ऊगै सो आथपे, फूलै सो कुम्हिलाय ।
जो चूनै सो ढहि पड़ै, जामें सो मरि जाय ॥ २७ ॥

जिसका उदय उसका अस्त भी होता है इसी प्रकार जो फूलता है वह जरूर कुम्हिलाता है । जो इमारत चुनी जाती है वह काल पाकर अवश्य ढहती है ऐसेही जो जन्म लिया वह निश्चय मरेगा इसकी चिंता व्यर्थ है ।

निश्चय काल गरास हो, बहुत कहा समुझाय ।
कहैं कबीर मैं का कहूँ, देखत ना पतियाय ॥ २८ ॥

काल परिणामी पदार्थ को अवश्य आक्रमण करता है इसके विषे

मैंने बहुत कुछ समझाकर कह दिया अब क्या कहूँ जिसे देखते हुए विश्वास नहीं होता ॥२८॥

कबीर जीवन कुछ नहीं, खिन खारा खिन मीठ ।
कालिह अलहजा मारिया, आज मसाना दीठ ॥ २९ ॥

ऐ कबीर ! प्राणियों का जीवन सुख-दुःख पूर्ण तुच्छ है, क्षण २ में बदला करता है । जो कल बड़े २ आलीजा (वीर) रणमें शत्रुको मारते थे वे भी आज श्मशानमें देखे गये ॥२९॥

कबीर मंदिर आपने, नित उठि करता आल ।
मरघट देखी डरपता, चौड़े दीया डाल ॥ ३० ॥

ऐ कबीर ! जिस मन्दिर में स्वयं प्रतिदिन आनन्द विहार करता, और श्मशान को देखकर भय खाता था कालने आज उसी चौड़े मदान में डाल दिया ॥३०॥

कबीर पगरा दूरि है, बीच पड़ी है रात ।
ना जानौं क्या होयगा, ऊगन्ता परभात ॥ ३१ ॥
कबीर गाफिल क्यौं फिरै, क्या सोता घन घोर ।
तेरे सिराने जम खड़ा, ज्यूँ अँधियारे चोर ॥ ३२ ॥

ऐ कबीर ! अभी चलनेका मार्ग बहुत दूर है और बीचही रात हो गई और यह भी कहाँ खबर है कि कल सूर्य उदय होते क्या होयगा ? फिर क्यों बेखबर घूमते और घोर निद्रा में सोते हो ? अरे ! तेरे शिर पर काल तो ऐसे खड़ा है जैसे अन्धेरे में चोर ॥३१॥३२॥

कबीर हरिसों हेतकर, कोरै चित्त न लाय ।
बाँध्यो बाँरि खटीक के, ता पसु केतिक आय ॥ ३३ ॥

ऐ कबीर ! प्रभुसे प्रेम जोड़ और कुछ मनमें मत आने दे । अरे ! कसाईके दरवाजे जो पशु बंधा है उसकी आयु क्या अर्थात् कुछ नहीं ।३३

कबीर सब सुख राम है, औरहि दुखकी रासि ।
सुरनर मुनि अरु असुर सुर, पड़े कालकी फाँसि ॥ ३४ ॥

सुख स्वरूप रामके अतिरिक्त सर्व दुःख रूप है। राम विमुख सुर-असुर सब कालके गाल में हैं ॥३४॥

धमन धमती रहि गई, बुझि गया अंगार।
अहरन का ठमका रहा, जब उठि चला लुहार॥ ३५ ॥

श्वासा रूपी धूंधती धूंकरी ही रह गई और इन्द्रिय रूपी अग्नि सब शान्त हो गई। इसी प्रकार प्राण रूप लोहार जब चल दिया तब जिह्वा रूपी निहाईका वाग्विलास रूप ठमका भी बन्द हो गया ॥३५॥

पंथी ऊभा पंथ सिर, बगुचा बाँधा पूँठ।
मरना मुँह आगे खड़ा, जीवन का सब झूठ॥ ३६ ॥

गठरी पीठ पर बाँधके राहीं रास्ते पर खड़ा है। मौत सामने खड़ी है ऐसी दशामें जीनेका सुख सब झूठा है ॥३६॥

यह जीव आया दूर ते, जाना है बहु दूर।
बिच के वासै बसिगया, काल रहा सिर पूर॥ ३७ ॥

जीव रूपी मुसाफिर बहुत दूरसे आया और दूर अभी जाना है। परंतु प्रासंगिक संसार व्यवहारमें रह जानेसे काल कलेवा बन गया ॥३७

काची काया मन अथिर, थिर थिर करम करन्त।
ज्यौं ज्यौं नर निधड़क फिरै, त्यौं त्यौं काल हसन्त॥३८॥

नश्वर शरीरमें आसक्त हुआ चंचल मन अनेकों स्थायी कर्म कर रहा है। जैसे २ नरजीव निःसन्देह भटकता है तैसे २ काल प्रसन्न होता है ॥३८॥

हम जाने थे खाहिंगे, बहुत जिमीं बहु माल।
ज्यौं का त्यौंही रहि गया, पकड़ि ले गया काल॥ ३९ ॥

हम जानते थे कि ये जगह जिमींदारी और माल खजाना सब भोगेंगे। परन्तु सब ज्योंका त्योंही रहा और काल पकड़ ले गया ॥३९॥

चहुँदिस पाका कोट था, मन्दिर नगर मँझार।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बँधा दरबार॥ ४० ॥

चहुँदिस ठाढ़े सूरमा, हाथ लिये हथियार।
सबही यह तन देखताँ, काल ले गया मार॥ ४१॥

यद्यपि किलाके चारों ओर पायेदार कोट और निवास-स्थान शहरके मध्यमें था। प्रत्येक खिड़कीपर पहरेदार और दरवाजेपर हाथी बँधे थे। और चारों दिशामें योद्धा हथियार लिये खड़े थे। तौ भी सबके सामनेसे इस शरीरको काल पकड़ कर ले गया किसीका कुछ न चला ॥४०-४१॥

आस पास जोधा खड़े, सबै बजावै गाल।
मंझ महल ते ले चला, ऐसा परबल काल॥ ४२॥

सब तरफ योद्धा लोग खड़े २ वीरता की डींग हाँक रहे थे। किन्तु मध्य महलसे काल बली जब ले चला तब किसीका कुछ न चला ॥४२॥

धरती करते एक पग, करते समुँद्र फाल।
हाथों परबत तोलते, ते भी खाये काल॥ ४३॥
हाथों परबत फाड़ते, समुँदर घूँट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, का कोय गरब कराय॥ ४४॥

जिन बामन, हनुमान और कृष्णजी सिद्धि के बलसे धरती नापते, समुद्र उलंघते और पर्वत हाथोंसे तौलते थे। तिन्हें भी काल कलेवा कर गया। और भी पर्वतको फाड़नेवाला रावण ऐसा वीर तथा समुद्र को आचमन करनेवाला अगस्त ऐसे मुनि श्रेष्ठ भी मिट्टी में मिल गये तो इतर कोई क्या अहंकार करेगा ॥४३॥४४॥

ताजी छूटा सहरते, कसबै पड़ी पुकार।
दरवाजा जड़ाहि रहा, निकस गया असवार॥ ४५॥

ज्योंही शरीर रूप शहरसे प्राण रूप ताजी प्रस्थान किया त्योंही इन्द्रिय रूप कसबा में हा हा कार मच गयी। इसी तरह आँख कानादि ज्योंके त्यों बने रहे और जीव रूप सवार निकल गया, 'काहू न लखा देख सब ठाढ़े' ॥४५॥

बेटा जाये क्या हुआ, कहा बजावै थाल।
आवन जावन ह्वै रहा, ज्यौं कीड़ी का नाल॥ ४६॥

ऐ मूर्ख ! पुत्र उत्पन्न हुआ तो थाली क्या ठोंकता है ? अरे ! यह तो चींटीकी कतारके समान आना-जाना हो ही रहा है ॥४६॥

जाया जाया सब कहै, आया कहै न कोय ।
जाया नाम जनम का, रहन कहाँ ते होय ॥ ४७ ॥
बालपना भोले गया, और जुवा महमंत ।
वृद्धपने आलस भयो, चला जरन्ते अन्त ॥ ४८ ॥

जाया २ सब कोई कहते हैं आया कोई नहीं कहता, जाया जन्मको कहते हैं तो रहना कैसे हो सकता है । अज्ञान दशामें बाल्यावस्था और मस्तीमें जवानी । इसी तरह आलसमें वृदावस्था और अन्त में चली चला हो गया ॥४७॥४८॥

संस काल शरीर में, विषम काल है दूर ।
जाको कोइ जाने नहीं, जारि करै सब धूर ॥ ४९ ॥
जारि वारि मिस्सी करै, मिस्सी करिहै छार ।
कहैं कबिर कोइला करै, फिर दे दै औतार ॥ ५० ॥

विषम (मृत्यु) काल तो बहुत दूर है परन्तु जिसे सद्गुरु सत्संग बिना कोई नहीं जानता और जो जलाकर सबको खाक कर देता है वह संशय रूप काल शरीरमें है । कबीर गुरु कहते हैं कि जलाकर भस्म ही करके नहीं छोड़ता किन्तु बारम्बार अवतार भी देता है । उससे बचो ॥४९॥५०॥

ऐसे साँच न मानई, तिल ही देखो जोय ।
जारि बारि कोइला करै, जमता देखा सोय ॥ ५१ ॥

इदि ऐसे विश्वास न हो तो तिलई काष्ठको देख लो । उसे जलाकर कोइला करने पर भी उससे अंकुर निकलते देखा गया है ॥५१॥

संसै काल शरीर में, जारि करै सब धूर ।
कालसे बांचै दास जन; जिन पै द्याल हजूर ॥ ५२ ॥

संशय रुप काल शरीरमें रहके सबको खाक में मिलाता है । इससे वेही दास बचते हैं जिनपर दीन दयाल सद्गुरु मिहरवान हैं ॥५२॥

जिनके नाम निशान है, तिन अटकावै कौन।
पुरुष खजाना पाइया, मिटि गया आवा गौन ॥ ५३ ॥

जिनके ऊपर सद्गुरु ज्ञानका झण्डा फहराता है उन्हें कौन रोक सकता है। वे तो परम पुरुष आत्म धनको प्राप्तकर जन्म-मरण से रहित हुए व होते हैं ॥५३॥

घाट जगाती धर्मराय, गुरुमुख ले पहिचान।
छाप बिना गुरुनाम के, साकट रहा निदान ॥ ५४ ॥

चुङ्गी उगाहने वाला धर्मराय गुरुमुखको पहिचान कर छोड़ देता है। और जो गुरुमुख छाप (निशान) से रहित साकट हैं उसे अन्त में गिरफ्तार कर लेता है ॥५४॥

गुरु जहाज हम पावना, गुरुमुख पारि पड़ै।
गुरु जहाज जानै बिना, रोवै घाट खड़ै ॥ ५५ ॥

गुरु जहाज और हम पार जवैया हैं। जो गुरुमुख होता है वही पार उतरता है। गुरु की शरण रूप जहाज को बिना जाने घाट पर खड़े रो रहे हैं ॥५५॥

खुलि खैलो संसार में, बांधि न सक्कै कोय।
घाट जगाती क्या करै, सिरपर पोट न होय ॥ ५६ ॥

संसार में मोह बन्धन से खुल्ले विचरो कोई नहीं बाँध सकता। शिरपर बोझ ही नहीं है तो महसूल वसूल करने वाला क्या करेगा ? कुछ नहीं ॥५६॥

जम्मन जाय पुकारिया, डंडा दीया डार।
संत मवासी ह्वै रहा, फाँसि न पड़े हमार ॥ ५७ ॥

यमदूत यमराज के पास डण्डा पटक के कह दिया कि सन्त लोग विद्रोही हो रहे हैं वे हमारी फाँसी में नहीं पड़ते हैं ॥५७॥

जाता है जिस जान दे, तेरी देसी न जाय।
केवटिया की नाव ज्यों, घना चढ़ेगा आय ॥ ५८ ॥

यम ने कहा जो जाता है उसे जाने दे तेरे फन्दे में न पड़े तो उसे मत पकड़ो। यह तो केवट की नौका है बहुतेरे आके चढ़ेंगे ॥५८॥

चाकी चली गुपाल की, सब जग पीसा झार।
रूड़ा शब्द कबीर का, डारा पाट उघार ॥ ५९ ॥

गुपालजी की ऐसी माया चक्की चल रही है कि सारे संसार इसमें पिसा रहे हैं। केवल कबीर गुरु का ही ज्ञान रोड़ा चक्की पाट को उखाड़ कर साबूत निकल जाता है ॥५९॥

चलती चाकी देखि के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन बिच आय के, साबुत गया न कोय ॥ ६० ॥

माया चक्की को चलती देखकर कबीर ने रो दिया कि इस दो पाट के अन्दर आके सद्गुरु विमुख कोई भी साबूत नहीं निकला ॥६०॥

आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला सों लागा रहै, ताको विघन न होय ॥ ६१ ॥

जो संसार चक्की के आस-पासमें फिरत हैं वे तो खूब अच्छी तरह पिसाते कदापि बचने नहीं पाते। निर्विघ्न तो वे ही बचते हैं जो सद्गुरु कीला से लगे रहते है ॥६१॥

सब जग डरपै कालसों, ब्रह्मा विश्नु महेस।
सुरनर मुनि औ लोक सब, सात रसातल सेस ॥ ६२ ॥

कालकी हाँकसे सबही डरते हैं। क्या ब्रह्मा, विष्णु और महेश यहाँ तक कि सुर, नर, मुनि और सर्वलोक सहित सात लोक के तले रहनेवाले शेषनाग भी उसकी हाँकसे काँपते हैं ॥६२॥

मूसा डरपे काल सूँ, कठिन काल का जोर।
स्वर्ग भूमि पाताल में, जहाँ जाव तहँ गोर ॥ ६३ ॥

मूसा पैगम्बर भी काल बली के कठोर जोर से डरते थे तो औरों की क्या कथा? स्वर्गादि तीनों लोक में भी जहाँ जाओ तहाँ कबर ही कबर देखनेमें आती है ॥६३॥

फागुन आवत देखि के, मन झूरे बनराय।
जिन डाली हम केलि किय, सोही ब्यारे जाय ॥ ६४ ॥

पतझड़ का समय फाल्गुन माहको आते देखकर झाड़खंडों का मुख मुरझा गया कि जिन शाखाओं पर हम आनन्द करते थे वे ही व्यारसे बिखरे जा रहे हैं ॥६४॥

पात झरन्ता देखि के, हँसती कूपलियाँ।
हम चाले तुम चालियो, धीरी बापलियाँ ॥ ६५ ॥

झड़ते हुए पत्तोंको देखकर नूतन पत्तियाँ हँसती हैं। इस पर वे जवाब देते हैं कि ए बपुरी! तूँ क्या हँसती है ? धीरज धर हमारे पीछे तुझे भी आना होगा ॥६५॥

काल पाय जग ऊपजो, काल पाय सब जाय।
काल पाय सब बिनसिहैं, काल काल कहँ खाय ॥ ६६ ॥

सारे पदार्थं काल पाके उत्पन्न होते और कालान्तर में नाश भी हो जाते हैं। ऐसे कालिक पदार्थंको कालसे अवश्य नाश होता है ॥६६॥

काल काल सब कोई कहे, काल न चीन्हे कोय।
जेती मन की कल्पना, काल कहावे सोय ॥ ६७ ॥

जितनी मनकी कल्पना है वही काल है। इसे कहते सब कोई हैं पर पहचानते बिरले हैं ॥६७॥

काल फिरै सिर ऊपरे, हाथों धरी कमान।
कहैं कबिर गहु नाम को, छोड़ सकल अभिमान ॥ ६८ ॥

हाथमें धनुष-बाण लेके काल सबके शिर पर सवार है। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि सर्वमिथ्या अभिमान छोड़कर सद्गुरुकी शरण लो ॥६८

जाय झरोखे सेवता, फूलन सेज बिछाय।
सो अब कहूँ दीखै नहीं, छिन में गयो बिलाय ॥ ६९ ॥

जो जाली जंगलादार महल में फूलों की सेज पर सोते थे वे सब भी क्षणमें नष्ट हो गये अब कहीं देखने में नहीं आते ॥६९॥

कबीर पगरा दूर है, आय पहूँची साँझ ।
जन जनको मन राखताँ, वेश्या रहि गई बाँझ ॥ ७० ॥

ऐ कबीर ! चलने का मार्ग अभी बहुत दूर है और सन्ध्या हो चली। देखो ! सबके मन रखनेसे वेश्या बन्ध्या रह गई। अतः एक सत्यकी शरण लो ॥७०॥

इति श्री कालको अङ्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

अथ समरथको अंग ॥ ३३ ॥

साहिब सो सब होत है, बंदे से कुछ नाँहि ।
राई से परबत करै, परबत राई माँहि ॥ १ ॥

साहिब समर्थ हैं चाहें तो राईको पर्वत और पर्वतको राई क्षण भर में कर सकते हैं। लाचार तो बन्दा है जिससे कुछ नहीं हो सकता ॥१॥

साहिब सम समरथ नहीं, गरुआ गहरि गँभीर ।
औगुन छाड़ै गुन गहै, छिनक उतारै तीर ॥ २ ॥

साहिब सर्व शक्तिमान् हैं उनके सदृश और कोई श्रेष्ठ गम्भीर नहीं

है। शरणागतों के अवगुण नहीं देखकर गुणही ग्रहण करते और पल भर में संसार-सागर से पार उतार देते हैं ॥२॥

बहन बहन्ता थल करै, थल कर बहन बहोय।
साहिब हाथ बड़ाइया, जस भावै तस होय ॥ ३ ॥

चाहें तो प्रवाही नदी को सूखी भूमि और सूखी जमीन को जलधारा दरिया बना दें। सब बड़ाई साहिबकी है जैसा चाहे चाहे कर सकते हैं ॥ ३ ॥

बहन बहन्ता थिर करै, थिरता करै बहैन।
साहिब हाथ बड़ाइया, जिस भावै तिस दैन ॥ ४ ॥

इसी प्रकार प्रवाही वेगको भी चाहे तो रोक सकते हैं और स्थिरको बहा सकते हैं। सब बड़ाई उन्हींके हाथ है चाहे जिसे दे सकते हैं ॥४॥

ना कछु किया न करि सका, (नहिं)करने जोगे शरीर।
जो कछु किय साहिब किये, ताते भये कबीर ॥ ५ ॥

सेवक तो न कुछ किया न कर सकता है न करने योग्य उसका शरीर ही है। सब कुछ साहिब किये इसी कारण साहिब कबीर समर्थ कहलाये।

जो कुछ किया सो तुम किया, मैं कछु कीया नाँहि।
कहूँ कहीं जो मैं किया, तुमहीं थे मुझ माँहि ॥ ६ ॥

हे प्रभु! आपने सब कुछ किया मैं कुछ नहीं। यदि मैं कुछ किया ऐसा कहूँ तो भी आपही मुझमें समर्थ रुप से थे ॥६॥

कीया कछू न होत है, अन कीया ही होय।
कीया जो कछु होत तो, करता औरै कोय ॥ ७ ॥

कर्तापनेके अहंकारसे कुछ नहीं होता प्रकृतिके अनुसार हुआ करता है। जो किसीके करने ही से होता तो सब कोई सब कुछ कर लेते ॥७॥

ना कछु किया न करि सका, ना कछु करने जोग।
मैं मेरी जो ठानि के, दूजा थापै लोग ॥ ८ ॥

सद्गुरु सामर्थकी सहायता विना न कोइ कुछ किया न कर सकता

है, न योग्य ही है। अज्ञानी लोग हठसे मैं मेरी ठानिके दूसरो भावना की स्थापना कर रहे हैं ॥८॥

इत कूवा उत बावड़ी, इत उत थाह अथाह।
दहूँ दिसा फान फन कढ़ै, समरथ पार लगाह ॥ ९ ॥

हे समर्थ प्रभु ! यह मेरी तेरी रुप अगाध इधर कूप और उधर तालाब है। ओर सब तरफ फनी (सर्प माया-मोह) फन काढ़े तैयार हैं इससे आपही पार लगाइये ॥९॥

घट समुद्र लखि ना परै, ऊठै लहरि अपार।
दिल दरिया समरथ बिना, कौन लगावै पार ॥ १० ॥

हृदय सागरमें जो निरन्तर लहर उठ रही है वह देखनेमें नहीं आती। हे प्रभु ! आपके बिना मन सिन्धुसे पार कौन लगा सकता है ॥१०॥

धन धन साँई तूँ बड़ा, तेरी अनुपम रीत।
सकल भुवन पति साँइया, ह्वै करि रहे अतीत ॥ ११ ॥

हे स्वामिन् ! तू सबसे बड़ा और धन्य है। तेरी चाल भी निराली है। सकल भुवनोंका स्वामी होते हुयेभी गरीब होकर रहता है ॥११॥

साँई मैं तुझ बाहरा, कौड़ी हू नहिं पाउँ।
जो सिर ऊपर तुम धनी, महँगे मोल बिकाउँ ॥ १२ ॥

हे प्रभु ! आपसे विमुख होकर कौड़ी कीमतका भी नहीं हूँ यदि तू सहायता करे तो मेरी बड़ी कीमत हो जाये। यानी संसार आदर दृष्टि से देखने लग जाये ॥१२॥

साँई मेरा बानिया, सहज करै व्यौपार।
बिन डाँड़ी बिन पालड़े, तौले सब संसार ॥ १३ ॥

ऐ मेरे स्वामी ! तू ऐसा वणिक है और ऐसा तेरा स्वाभाविक व्यापार है कि कोई पार नहीं पाता तू बिना तुलाके सारे संसार को तौलता है ॥१३॥

साँई केरा बहुत गुन, औगुन कोई नांहि।
जो दिल खोजूँ आपना, सब औगुन मुझ मांहि ॥ १४ ॥

हे प्रभु ! तेरेमें सब गुणही गुण हैं, अवगुण एक भी नहीं। यदि अपने दिलमें खोजता हूँ तो सर्व दोषोंका कोष मैं ही हूँ ॥१४॥

तेरे बिन जोर जुल्म है, मेरा होय अकाज।
बिरद तुम्हारे नाम की, सरन पड़े की लाज ॥ १५ ॥

तेरी शरण बिना मुझ पर सब कोई जोर जुल्म कर रहे हैं, जिससे मेरा अकाज हो रहा है। तेरे नामकी शरण में पड़ा हूँ आप अपनी यश कीर्ति की लज्जा रक्खो ॥१५॥

बाटरिया दूभर भई, मति कोय कायर होय।
जिन यह भार उठाइया, निरबाहेगा सोय ॥ १६ ॥

राहियो ! यद्यपि प्रभु मार्ग पर चलनेमें कठिनाइयाँ होती हैं तथापि कादर मत बनो। अरे ! जिसने पार करनेका बीड़ा उठाया है वही पार लगायगा साहस रक्खो ॥१६॥

हाथी अटक्यो कीच में, काढ़ै को समरथ्थ।
कीचल निकलै आपनै, की सांई पसारै हथ्थ ॥ १७ ॥

कीचड़में फंसा हुआ हाथीको प्रभुके सिवा और कौन काढ़ सकता है? या तो स्वयं पुरषार्थ करे या धनि समर्थ अपने हाथका सहारा दे ॥१७॥

जिस नहीं कोय तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब होय।
दरगह तेरी साँइया, मेटि न सक्कै कोय ॥ १८ ॥

हे प्रभु ! निरालम्ब का आलम्ब तूही है जिसे तू सहारा दे उसे सब कोई होता है। तेरे दरबारका हुक्म कौन मेटा सकता है ॥१८॥

मेरा क्रिया न कछु भया, तेरा कीया होय।
तूँ करता सब कुछ करै, करता और न कोय ॥ १९ ॥

ऐ प्रभु ! मेरा किया न कुछ हुआ न हो सकता है। तेराही किया सब कुछ है। तू मालिक है चाहे जो करे तुझपर दूसरा कोई नहीं ? ॥१९

औगुन हारा गुन नहीं, मन का बड़ा कठोर।
ऐसे समरथ सांइया, ताहि लगावे ठौर ॥ २० ॥

ऐ स्वामिन् ! तू ऐसा समर्थ है कि जो सद्गुण रहित दुर्गुणी और मनका बड़ा कठोर है। तिसे भी तू ठौर लगा देता है तो औरों की क्या कथा ? ॥२०॥

तुम तो समरथ सांईया, गहि करि पकड़ो बाँह।
धूरहि ले पहुँचाइयो, मत छोड़ो मग माँहि ॥ २१ ॥

ऐ स्वामिन् ! तू प्रभु है मेरी बाँह भी दृढ़ कर पकड़ ले और तू निज धाम पर पहुँचा दे, रास्ता में मत छोड़ ॥२१॥

बालक रूपी साँइया, खेलैं सब घट माँहि।
जो चाहै सो करत है, भय काहू का नाँहि ॥ २२ ॥

ऐ स्वामिन् ! तू बाल स्वरूपसे सबके हृदय कुंजमें क्रीड़ा कर रहा है। जो चाहे सोई करता है भय किसीका नहीं है ॥२२॥

एक खड़ा ही ना लहै, एक ऊभा बिलगाय।
समरथ मेरा साँइयाँ, सूता देय जगाय ॥ २३ ॥

एक तो दरबार में हर वक्त हाजिर रहता हुआ भी मनोरथ को सिद्ध नहीं करने पाता और एक खड़ा रोता हुआ धक्का खा रहा है। ऐ मेरे स्वामी ! तो भी तेरी मिहरबानी बिना कुछ नहीं पाता और जिसे तू चाहता है उसे बेफिक्र निद्रालु को जगाकर भी मालामाल कर देता है, इस तेरी निराली चालको कोई नहीं समझता ॥२३॥

समरथ धोरी कंध दै, रथ को दे पहुँचाय।
मारग मांहि न छाँड़िये, पिय बिन बिरद लजाय॥ २४ ॥

अतः ऐ समर्थ ! धुरन्धर कधा दैके मेरे शरीर रूप रथको सीधे मुकाम पर पहुंचा दे अधबीच मत छोड़ क्योंकि प्रभु बिना वेष की लज्जा कोई रखनेवाला नहीं हैं ॥२४॥

वारी हरि के नाम पर, कीया राई लौन।
जिसै चलावै पंथ तूँ, तिसे भुलावै कौन ॥ २५ ॥

उस प्रभु नामकी बलिहारी है जिसने पलभरमें पर्वतको राई और

राईको पर्वत कर दिया व कर देता है। ऐ समर्थ जिसे तू मुक्तिकी राह चलावे किसकी मजाल है कि उसे भुला दे ॥२५॥

मुझमें औगुन तुझहि गुन, तुझ गुन औगुन मझ्झ।
जो मैं विसरूँ तुझ्झको, तू मति विसरै मुझ्झ ॥ २६ ॥

मेरे में अवगुण और तेरे में गुण है यदि मैं निज अवगुणसे तुझे भूल भी जाऊँ तो भी अपने गुण और मेरे अवगुणको विचार कर तू मुझको मत भूलो ॥२६॥

साहिब तुम जनि बीसरो, लाख लोग मिलि जांहि।
हमसे तुमको बहुत हैं, तुम सम हमको नांहि ॥ २७ ॥

ऐ मालिक ! चाहे तुम्हें लाख लोग मिलें तो भी मुझे मत भूलना। क्योंकि हमारे ऐसे तुम्हारे बहुत हैं पर मेरे तुम्हारे समान कोई भी नही ॥ २७॥

तुम्हे बिसारै क्या बनै; किसके सरणै जाय।
सिव विरंचि मुनि नारदा, हिरदे नांहि समाय ॥ २८ ॥

यदि तुम बिसार दोगे तो मेरा क्या चलेगा और मैं किसकी शरण लूँगा ? शिव, ब्रह्मा और मुनि नारदादि तो मेरे हृदयमें आतेही नहीं।

मेरा मन जो तुझ्झ से, तेरा मन कहिं और।
कहैं कविर कैसे बने, एक चित्त दुइ ठौर।

कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ नरजीव ! जो मेरा मन तुझ तरफ होय और तेरा किसी और तरफ, फिर कहो चित्त दो तरफ होने में कैसे बनेगा ? कदापि नहीं ॥२९॥

जो मैं भूल बिगाड़िया, ना करु मैला चित्त।
साहिब गरुआ चाहिये, नफर बिगाड़ नित्त ॥ ३० ॥

ऐ स्वामी ! यदि मैं भूलसे बिगाड़ भी करुं तो भी आप अपने चित्त में मलीनता न लावें क्योंकि स्वामीको श्रेष्ठ होना चाहिये सेवक तो नित प्रति बिगाड़ करता ही है ॥३०।

कबीर भूल बिगाड़िया, करि करि मैला चित्त।
नफर तो दीन अधीन है, साहिब राखै हित्त॥ ३१ ॥

प्राकृत जीव तो अन्तःकरणकी मलिनतासे बार-बार भूल, बिगाड़ किया करता है। इसी कारण गरीब गुलाम अधीन हो रहा है। साहिब! आप तो अवश्य प्रेम रखें ॥३१॥

मुझमें गुन एको नहीं, सुनो सन्त सिर मौर।
तेरे नाम प्रताप से, पाऊँ आदर ठौर॥ ३२ ॥

हे सन्त शिरोमणि! सुनिये मेरेमें गुण तो एक भी नहीं है परन्तु तेरे नामके प्रतापसे सत्कार ओर ठोर पा जाता हूँ ॥३२॥

अन्तरजामी एक तूँ, आतम के आधार।
जो तुम छाँड़ो हाथ तें, कौन उतारे पार॥ ३३ ॥

तुमही एक अन्तर्यामी मेरी आत्मा का आधार हो। यदि आप बाँह छोड़ दें तो कहिये भला पार कौन उतारे ॥३३॥

भौसागर भारी भया, गहिरा अगम अथाह।
तुम दयाल दाया करो, तब पाऊँ कुछ थाह॥ ३४ ॥

संसार सिन्धु भारी गहिरा और अगम अथाह हो रहा है। हे दयालो! आप कृपा करो तो कुछ थाह पा सकता हूँ ॥३४॥

सतगुरु बड़े दयाल हैं, सन्तन के आधार।
भौसागर अथाह सो, खेइ उतारै पार॥ ३५ ॥

सन्तोंके आधार सद्गुरु बड़े दयाल हैं। अपनी दयाकी डाँड़ से खेकर संसार अथाह सागरसे पार कर सकते हैं ॥३५॥

साहिब तुमहि दयाल हो, तुम लग मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को, सूझै और न ठौर॥ ३६ ॥

बस! हे सद्गुरो आप दयालु हैं मेरी पहुँच भी आपही तक है। जैसे जहाजके कौवेको जहाज के सिवा और कोई स्थिति नहीं दीखती ऐसे मुझे भी ॥३६॥

मेरा मन जो तोहि सूँ, यौं जो तेरा होय।
अहरन ताना लोह ज्यौं, संधि लखै नहिं कोय॥ ३७॥

जैसे मेरा मन तेरेसे राजी है तैसेही यदि तेरा हो जाय तो ऐसे संधि न दीखे जैसे निहाई पर पीटा हुआ लोहा। एकमेक हो जाता है पृथक नहीं दीखता॥३७॥

कबीर करत है बिनती, भौसागर के ताँई।
बन्दे जोरा होत है, जम को बरजु गुसाँई॥ ३८॥

सेवक संसार-सागर से पार जाने के लिये सद्गुरुसे विनय करता है कि हे प्रभो! आपके सेवकों पर जमकी जबरदस्ती हो रही है, उसे हटक दीजिये॥३८॥

धर्मराय दरबार में, दई कबीर तलाक।
भूले चूके हंस को, मति कोई रोको चाक॥ ३९॥

तब सद्गुरु कबीरने यमराजके दरबारमें जाके सौगन्ध दिला दी कि हमारे हंस भूले-चूके भी हों उसे भी कोई न रोके॥३९॥

बोले पुरुष कबीर से, धर्मराय कर जोर।
तुम्हरे हंस न चांपि हो, दुहाह लाख करोर॥ ४०॥

यमराजने हाथ जोड़कर कबीर गुरु से कहा कि अब तेरे हंसको हर्गिज न दलेंगे। इसके लिये लाख और करोड़ गोहार है॥४०॥

जो जाकी शरनै गहै, ताको ताकी लाज।
ऊलटि मीन जल चढ़त है, बह्यो जात गजराज॥ ४१॥

ठीक है, जो जिसकी शरणे जाता है उसकी लज्जा उसीके हाथ रहती है। देखो! मछली को, जिस धारा प्रवाह में बड़े २ गजराज बहे जाते हैं उसमें वह उलटी बहाव के विरुद्ध चढ़ती है॥४१॥

और पुरुष सब कूप है, तूँ है सिंधु समान।
मोहि टेक तुव नाम की, सुनिये कृपानिधान॥ ४२॥

ऐ कृपानिधे! सुनिये इतर पुरुष सब कूप के सदृश हैं और आप सागर तुल्य हैं इसलिये मुझे आपके नामकी टेक है॥४२॥

अजगर करै न चाकरी, पंखी करै न काम।
दास कबीरा यूँ कहैं, सबके दाता राम ॥ ४३ ॥

न तो अजगर नौकरी करता है न पक्षी काम। दास कबीर इस प्रकार कहता है कि ऐ राम ! तूं सबके दाता है ॥४३॥

यद्यपि हम कायर कुटिल, खैर चाकरी चोर।
तद्यपि कृपा न छाँड़िये, चितै आपनी ओर ॥ ४४ ॥

यद्यपि हम कादर, कुटिल सेवकाई में मुंह चोराने वाले हैं सही तो भी हे प्रभु ! आप अपने गुण की ओर देखिये और कृपा न छोड़िये ॥४४॥

जाको राखै साँइया, मारि सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सके, जो जग वैरी होय ॥ ४५ ॥

जिसे प्रभु रक्षा करता है उसे कोई नहीं मार सकता चाहे ससार दुश्मन क्यों न हो एक बाल तक भी टेढ़ा नहीं कर सकता है ॥४५॥

सांई केरे बहुत गुन, लिखे जु हिरदे मांहि।
पिउँ न पानी डरपता, मत वे धोये जांहि ॥ ४६ ॥

ऐ स्वामिन् ! तेरे असंख्य गुण जो मेरे हृदयमें अङ्कित हैं। उसे धो जानेके भयसे मैं जल तक भी नहीं पीता अर्थात् तेरे सिवा और किसीकी कुछ नहीं सुनना चाहता ॥४६॥

अनेक बंध से बांधिया, एक बिचारा जीव।
अपने बल छूटे नहीं, जोन छुड़ावे पीव ॥ ४७ ॥

अनेकों बन्धनमें जकड़ा हुआ एक बेचारा जीव है। जो उसे सद्गुरु की ज्ञान सहायता न हो तो स्वयं बलसे छूटना असम्भव है ॥४७॥

तनकी जानै मनकी जानै, जानै चितकी चोरी।
वह साहिब से क्या छिपावै, जिनके हाथ में डोरी ॥ ४८ ॥

जो तन, मन और चित्तकी सारी बुराइयाँ जानता है। उस प्रभु से क्या छिपाया जाय जिसके हाथमें सबकी बाग डोर है ॥४८॥

जो जाकी बांही लगी, ताही के सिर भार।
हलकी . कड़वी तूँबरी, लेई उतारै पार ॥ ४९॥

जो जिसकी शरण लय जाता है उस शरणागतका रक्षा भार सब स्वामीको होता है। देखो ! हलकी और कड़वी तितलौकी को, वह भी अपने शरणागतको लेकर पार लगाई ही देती है ॥४९॥

इति श्री समरथको अङ्ग ॥ ३३ ॥

अथ चानकको अंग ॥३४॥

कबीरा तृस्ना टोकना, लीये डोलै स्वाद।
रामनाम जाना नहीं, जनम गंवाया बाद ॥ १ ॥

स्वाद के मारे अज्ञानी लोग तृष्णा रूपी हण्डा लिये फिरते हैं। और नित्य तृप्त रमैया राम को नहीं जानते योंही व्यर्थ में नर-जन्म गमाये व गमाते हैं ॥१॥

कबीर कलियुग कठिन है, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनका आदर होय ॥ २ ॥

ऐ कबीर ! कलियुग का जमाना बड़ा बुरा है, वहाँ तो कामी, क्रोधी और मस खरे के आगे संतों का सत्कार ही उठ गया ॥२॥

नाचै गावै पद कहै, नाँहीं गुरु सों हेत।
कहैं कबीर क्यौं नीपजै, बीज बिहूना खेत ॥ ३ ॥

नाचते, गाते और सद्गुरु का पद भी कहते हैं परन्तु सद्गुरु से प्रेम नहीं करते। कबीर गुरु कहते हैं बिना बीज का खेत कैसे उपजेगा! कदापि नहीं ॥३॥

कै खाना कै सोवना, और न कोई चित्त।
हरि सा प्रीतम वीसरा, बालापन का मित्त ॥ ४ ॥

सत्संग विमुखों को खाने को सुन्दर भोजन और सोने को सुन्दर पलंग के सिवा और मन में नहीं आता। बालापने के रक्षक प्रभु जैसा प्रीतम को भी भुलाय बैठे हैं तो और की कथा ही क्या ? ॥४॥

इस उदर के कारनै, जग जाँच्यो निसिजाम।
स्वामिपनो सिरपर चढ्यो, सर्यो न एको काम ॥ ५ ॥

केवल एक पेट पोषण के वास्ते इतने दीन हो रहे हैं कि अहोरात्र संसारियोंसे माँगते बिताते हैं और स्वामीपने का अहंकार भी ऐसे शिर पर धरे हैं जिससे एक भी कार्य सिद्ध न हुआ न होता है ॥५॥

कालिका स्वामी लोभिया, पीतल धरे खटाय।
राज दुवारे यौं फिरै, ज्यौं हरियाई गाय ॥ ६ ॥

कलियुग के स्वामी ऐसे लोभी होते हैं कि पीतल की मूर्तियाँ बनाकर धर रखते और दूसरों के खेत चरने वाली हरियाई गाय की तरह राजद्वारे भटकते फिरते हैं ॥६॥

राज दुवारे राम जन, तीन वस्तु को जाय।
कै मीठा कै मान को, कै माया को चाय ॥ ७ ॥
हरि सुमिरन साँचो कथा, कोल न सुनि है कान।
कलिजुग पूजा दंभ की, बाजारी का मान ॥ ८ ॥

मिष्ठान्न, मान और माया ये ही तीन वस्तु के लिये रामजन राज द्वारे जाते हैं। प्रभुका नाम स्मरण और उनकी सच्ची वार्ता कोई भी

ध्यान से नहीं सुनता। कलियुग में केवल दंभी, आडम्बरी की सत्कार पूजा है ॥७॥८॥

तारा मण्डल बैठि के, चाँद बड़ाई खाय।
उदै भया जब सूर का, तब तारा छिपि जाय॥ ९॥
देखन का सब कोय भलो, जैसे सित का कोट।
रवि के उदय न दीसही, बँधे न जल की पोट॥ १०॥

तारामण्डलमें बैठिके चन्द्र तबही तक मान पाता है जब तक कि सूर्य उदय नहीं हुआ है उसके उदय होतेही तारे छिप जाते हैं। ऐसेही दंभी, बाजारी देखनेको सुहाना ओस कणके कोटकी तरह सबही हैं परन्तु सूर्य-के उदय होनेपर सब रफूचक्कर हो जाते उन्हें कोई नहीं पकड़ पाते॥

पद गावै मन हरषि के, साखी कहै अनंद।
राम नाम नहिं जानिया, गल में परिगा फन्द॥ ११॥

बड़ी खुशीके साथ पद गाते और साखी बोलते हैं। परन्तु रामका वास्तविक नाम जाने बिना उनके गले में फन्दा पड़ ही गया ॥११॥

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि दंभ।
जानै बूझै कछु नहीं, यौंही अंधा खंभ॥ १२॥

सब आडम्बर ऊंचा करके जो कीर्तन करते हैं यही उनके कर्त्तापने का दृश्य दीखता है। और आन्तरिक कुछ ज्ञान तो है नहीं यों ही अन्धा के आगे अपना आरम्भ किया करते हैं ॥१२॥

स्वामी होना सेत का, पैसे केर पचास।
राम नाम न बेंच के, करै सीप की आस॥ १३॥

ऐसे सेत मेतके स्वामी पैसेके पचासों मिलते हैं। जो अमूल्य राम नाम धनको वेचके शिष्यों की आशा करते हैं कि कुछ देगा ॥१३॥

राम नाम जाना नहीं, जपा न अजपा जाप।
स्वामिपना माथे पड़ा, कोइ पुरबले पाप॥ १४॥

सद्‌गुरु सत्संगसे न तो वास्तविक रामका नाम ही जाना न अजपा

जाप ही जपा। कोई संचित पापसे स्वामीपनेका अहंकार शिरपर सवार हो गया जिससे नरजन्म खो बैठा ॥१४॥

कबीर स्वामी कोय नहिं, स्वामी सिरजन हार।
स्वामी ह्वै करि बैठही, बहुत सहेगा मार ॥ १५ ॥

ऐ कबीर! एक मालिक के सिवा दूसरा कोई स्वामी नहीं है जो स्वामी होकर बैठेगा वह बहुत मार सहेगा ॥१५॥

जो मन लागा एक सो, तो निरुवारा जाय।
तूरा दो मुख बाजता, न्याय तमाचा खाय ॥ १६ ॥

जो एकसे मन लगेगा तो निर्णय होगा। नहीं तो तूरे (बाजा विशेष) की तरह दो मुख बोलनेसे न्यायका तमाचा जरूर खायगा ॥१६॥

कबीर बंटा टोकनी, लीया फिरै सुभाय।
राम राम चीन्हें नहीं, पीतल ही का चाय ॥ १७ ॥

ऐ कबीर! कलियुग के बहुतेरे वेशधारी ऐसे हैं जो बाँटा नाम शालग्राम और टोकनी यानी घंटी यही सुन्दर बनाय लिये फिरते हैं। राम क्या वस्तु हैं यह तो पहिचान है नहीं केवल पीतल (द्रव्य) की चाह है ॥१७॥

कबीर व्यास कथा कहैं, भीतर भेदे नांहि।
औरों कूँ परमोधतां, गये मुहर का मांहि ॥ १८ ॥

देखो! व्यासजी कथा कहके औरोंको सुनाते हैं लेकिन खुद उन्हींको हृदयमें नहीं धँसता। अतः औरोंको प्रबोध करते ही कनक कालके मुख में स्वयं चले गये ॥१८॥

कबीर कहहिं पीर को, समझावै सब कोय।
संसय पड़ेगा आपकूँ, और कहै का होय ॥ १९ ॥

कबीर गुरु कहते हैं, जो कि पूरे मुरीद भावमें भी नहीं उतरे और पीर बनके सबको समझावते हैं। जब उन्हें स्वयं संशय जन्य जन्मादि मार पड़ेगी तब और को समझानेसे उन्हें क्या फायदा हुआ ॥१९॥

कबिर सुनावत दिन गये, उलझि न सुलझा मन ।
कहैं कबिर चेता नहीं, अजहूँ पहला दिन ॥ २० ॥

औरोंको उपदेश करते सब दिन बीत गये उलझनमें पड़ा हुआ निज मन नहीं सुलझा । कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ नरजीव ! क्यों नहीं चेत करता ? अब भी चेतनेका मुख्य दिन है ॥२०॥

अमरापुर को जात हौं, सबसे कहौं पुकार ।
आवन होय तो आइयो, सूरी ऊपर यार ॥ २१ ॥

अमर धामको जाते २ सबसे पुकार कर कहे देता हूँ । यदि इच्छा होय तो आ जाओ, पर ध्यान रखना यारका आसन सूली (शम दमादि साधन) ऊपर है ॥२१॥

चित चटकी लागी नहीं, क्यों पावै करतार ।
कीट भिरंगी होत है, नर को केतिक बार ॥ २२ ॥

जबकि मन शीघ्रतापूर्वक मालिक में नहीं लगा तो फिर वह कैसे उसे पा सकता है । अरे ! मन लगानेसे तो कीट भृङ्गी बन जाता है, तो कहो भला मनुष्यको कितनी देरी ? ॥ २२ ॥

नर नारायण होत है, जो गुरु करि बुझै कोय ।
कीट भिरंगी होत है, गुरु बलिहारी तोय ॥ २३ ॥

यही नर नारायण बन जाता है यदि विश्वास न होय तो कोई मन लगाके देखलो ! कीट तक भृङ्गी बन जाता है, सद्गुरो ! तेरी बलिहारी है ॥२३॥

इन्द्री एकौ बस नहीं, छोड़ चले परिवार ।
दुनिया पीछे यों फिरै, जैसे चाक कुम्हार ॥ २४ ॥

संसार परिवारको छोड़कर चल दिये और इन्द्रियाँ एकभी वश में नहीं तो फिर दुनियाँके पीछे ऐसे फिरते हैं जैसे कुम्हारका चाक ॥२४॥

इति श्री चानकको अंग ॥ ३४ ॥

अथ आतम अनुभवको अंग ॥३५॥

आतम अनुभव सूख को, जो कोई बूझै बात।
कै जो कोई जानई, कै अपनो ही गात ॥ १ ॥

यदि कोई स्वरूपोपलब्धि का आनन्द पूछे तो उस स्वसंवेद्य आनन्द को कोई कैसे कह सकता है ? कदापि नहीं। इसे स्वयं जाननेका साधन ज्ञाता कह सकता है और कुछ नहीं ॥१॥

आतम अनुभव जब भयो, तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्र दीप सम ह्वै रहे, तजि करि वाद विवाद ॥ २ ॥

स्वरूपका यथार्थ बोध होने पर मन हर्ष, शोक, वाद, विवादको छोड़ कर ऐसे स्थिर हो जाता है जैसे चित्रपट पर चित्र दीपक ॥२॥

आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोय पूछै बात।
सो गूँगा गुड़ खाय के, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ३ ॥
ज्यौं गूँगा के सैन को, गूँगा ही पहिचान।
त्यौं ज्ञानी के सूख को, ज्ञानी ह्वै सो जान ॥ ४ ॥

स्वरुपानन्दकी वार्ता किसी दूसरे से ऐसे नहीं कही जाती जैसे गूँगा गुड़का मिठास। यद्यपि उसे खानेको मुख है तो भी स्वाद कहनेको नहीं, हाँ जैसे गूँगाके इशाराको गूँगा समझता है तैसेही जो ज्ञानी होता है वह ज्ञानीके सुखको अनुभव करता है। भावार्थः—जब तक भौंरे फूलों पर नहीं बैठते हैं तब तक भन-भन आवाज करते हैं जब फूलों पर बैठकर मधुका पान करना शुरु किया, तब चुप हो जाते हैं। मधुका पान कर लेनेके बाद मतवाले होकर फिर कभी कभी वे गुनगुनाते हैं इसी प्रकार अनुभवी पुरुष को समझना चाहिये ॥३॥४॥

नर नारी के सुख को, खसी नहीं पहिचान।
त्यौं ज्ञानी के सुख को, अज्ञानी नहिं ज्ञान॥ ५॥

जैसे स्त्री पुरुष समागमजन्य सुखको हिजड़ा अनुभव नहीं कर सकता तैसेही अज्ञानी ज्ञानीके सुखको नहीं जान सकता ॥५।

ताको लच्छन को कहै, जाको अनुभव ज्ञान।
साध असाध न देखिये, क्यौं करि करूँ बखान॥ ६॥

जिसे अनुभव ज्ञान हुआ है वही अनुभूत आत्माका लक्षण कह सकता है। और वह भी साथ असाध न अर्थात् विवेकादि साधन रहितों के प्रति कैसे वर्णन कर सकूँ? अथवा उसका लक्षण कौन कह सकता? अर्थात् कोई नहीं। क्योंकि जिसको अनुभव ज्ञान है उसकी एकात्म दृष्टि में साधु और असाधु कोई है नहीं फिर द्वैत दृष्टि बिना कैसे वर्णन कर सकता? इत्यादि ॥६॥

कागद लिखै सो कागदी, की व्यौहारी जीव।
आतम दृष्टि कहाँ लिखे, जित देखै तित पीव॥ ७॥

कागद लिखने वालेको लोग कागदी या व्यापारी जीव कहते हैं। परन्तु जब सर्वत्र प्रभुमय दृष्टि हो गई तब कहाँ और क्या लिखा जाय?

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिलि गये, फीका पड़ी बरात॥ ८॥

दर्शगम्य वार्ता को लिखा लिखी की ऐसे जरूरत नहीं रहती जैसे दुलहा और दुलहिन के मिलाप से बारात की। वृत्तिरुपी दुलहिन को आत्मरूप दुलहा में लीन होनेपर कर्तव्य कार्य कुछ नहीं रह जाता ॥८॥

श्याम सब्ज विधि पंच जे, पीत अरुन अरु सेत।
चक्षूमान अचक्षु को, ज्यौं नहिं उपमा देत॥ ९॥

यदि कोई उसका रंगरूप भी पूछे तो वह भी कोई किसी प्रकार ऐसे नहीं कह सकता जैसे कोई नेत्रवाला अन्धा को रूपका ज्ञान नहीं करा सकता है क्योंकि काला, हरा, पीला, लाल और सुफेद ये पाँच प्रकारके रंग पंच तत्वों के हैं चिदात्म के नहीं ॥९॥

ज्ञान भक्ति वैराग सुख, पीव ब्रह्म लौं धाय।
आतम अनुभव सेज सुख, तहाँ न दूजा जाय॥ १० ॥

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, ईश्वर और ब्रह्म सुख तक लोगों की दृष्टि पहुंच जाती है। परन्तु चिति मात्र अनुभव सुख शैया पर जाने की गति सिवा सद्गुरु सत्संगी के और की नहीं। "निर्भय भये तहाँ गुरुकी नगरिया। सुख सोवे दास कबीरा हो" इति ॥१०॥

ज्ञानी जुक्ति सुनाइया, को सुनि करै विचार।
सूरदास की इस्तरी, कापर करै सिंगार ॥ ११ ॥

संसारियोंके कल्याणार्थ ज्ञानी पुरुष बहुत कुछ युक्ति सुनाते हैं। परन्तु इसे कौन सुनता और विचार करता है अर्थात् कोई नहीं, तो इनका ज्ञान कथन ऐसे व्यर्थ होता है जैसे सूरदास की स्त्री का शृङ्गार। अथवा सूरदास की स्त्री किसके वास्ते शृङ्गार करे जबकि उसका पति उसके शृङ्गार को देखता ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी ज्ञान किसे सुनावें जबकि श्रोता ध्यानमें लेता ही नहीं ॥११॥

ज्ञानी भूले ज्ञान कथि, निकट रहा निज रूप।
बाहिर खोजै बापुरै, भीतर वस्तु अनूप ॥ १२ ॥

केवल शास्त्र के ज्ञानी लोग कथन ज्ञान में भूल गये, अति सन्निकट अनूप। निजात्म स्वरूप अन्दर को छोड़ के बाहिर ढूँढ़ने चले गये। यथाः—"ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते हैं दूर। जाने ताको निकट है, रहा सकल घट पूर ॥" इति ॥१२॥

भीतर तो भेदा नहीं, बाहर कथै अनेक।
जो पै भीतर लखि परै, भीतर बाहिर एक ॥ १३ ॥

भीतर तो प्रवेश किया नहीं, बाहर बहुतेरे कथन करते हैं। जो कहीं अभ्यन्तर आत्म स्वरूप लखने में आ जाय तो बस। बाहिर भीतर एक हो जाय ॥१३॥

नैन समाने नैन में, वैन समाने वैन।
जीव समाने बूझ में, रहै ऐन के ऐन ॥ १४ ॥

रूप नेत्र में और बचन बागिन्द्रिय में लीन हो गया। इसी प्रकार जीव निज ज्ञान स्वरूप में समा गया बस! "है जैसा रहे तैसा, कहहि कबीर विचार" एक दो का झगड़ा मिट गया। फारसी में 'ऐन' अक्षरके मस्तक पर एक बिन्दु लगाने से वह 'गैन' हो जाता है, पुनः बिन्दु रहित करने पर ऐनका ऐन ज्योंका त्यों रह जाता है। मुसलमानी तन्त्रोंमें 'ऐन' को शुभ अक्षर और सबसे प्रेम बढ़ाने वाला माना है। उसी 'ऐन' के शीश पर बिन्दु लगाने से वह 'गैन' अशुभ अक्षर मारन उच्चाटन वैर विरोध इत्यादि अमंगल करनेवाला हो जाता है। सब का प्रेमास्पद शुभ मांगलिक ऐन अक्षर में अमंगलकर एक बिन्दु ही कारण है। अनर्थभूत बिन्दुके त्यागसे विशुद्ध मांगलिक ऐन अक्षर रह जाता है। सद्‌गुरु कबीर साहेब कहते हैं 'ऐन' रूप विशुद्ध सबका प्रेमास्पद अखण्डात्म स्व स्वरूप है। उसीमें विषय वासनारूप बिन्दु लगनेसे वह अशुद्ध अमंगल सबको दुःखद व दुःखरूप बन गया, फिर तो वह देहेन्द्रिये प्राप्तकर नयनों से बाहिरी मायिक पापको देखने और वाणीसे बाह्य शब्दोंकी रचना में प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार स्वयं जीव संसारी बनके निज बूझ-ज्ञान स्वरूप को त्यागकर अज्ञानके पड़देमें मनमाना कार्य करने लगा और वासना बिन्दुके प्रभाव से ज्ञानी अज्ञानी, त्यागी रागी, योगी भोगी इत्यादि नाम धराने लगा। परन्तु सद्‌गुरु की कृपासे जब नरजीव पुनः वासना बिन्दु से रहित हो नयनको नयनमें बैनको बयनमें लीन करके जीवको विशुद्ध ज्ञान स्वरूप में लगा दिया तो फिर वही ऐनकी ऐन ज्योंका त्यों शुद्ध स्वरूप मंगलमय गुरु कृपासे रह गया इत्यादि ॥१४॥

झारी फाँसी कूप में, भभकी पानी माँहि।
भरै भभक सब मिटि गई, अब कछु कहनी नाँहि ॥ १५ ॥

खाली कमण्डल कूपमें डालने पर पानी भरते समय भभक ऐसी आवाज होती है और भर जाने पर आवाज मिट जाती है। इसी प्रकार आत्म अनुभव होने पर कथनी मिट जाती है। यदि किसीको शंका होय कि:—क्या आत्मनिष्ठ बात-चीत नहीं करते? समाधान = चिदात्म दर्शन होने पर ज्ञानी पुरुष "चित्र दीप सम होत थिर, त्यागि वृथा

बकवाद" स्थिर हो जाते हैं। क्योंकि जब तक स्वरूप दर्शन नहीं होता तब ही तक विचार-प्रवाह चलता है। जैसे घी के कच्चा रहने तक कल-कल आवाज सुनाई देती है। पक जाने पर आवाज नहीं रहती। किन्तु पके हुए घी में फिर जब कच्ची पूरी पड़ती है तब फिर एक बार घी कड़कड़ करता है। जब कच्ची पूरी पक गई तब घी भी चुप हो जाता है। इसी प्रकार जब आतमनिष्ठ ज्ञानी पुरुष के पास जिज्ञासु आते हैं तब उन लोगों को शिक्षा देने के ही लिये पुनः वृत्ति को पलट कर बात-चीत करते हैं। अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

भरा होय तो रीतई, रीता होय भराय।
रीता भरा न पाइये, अनुभव सोय कहाय ॥ १६ ॥

भरे हुएको खाली होना जरूरी है यदि ऐसा न हो तो खाली भरेगा कैसे? भाव यह है कि पूर्ण ज्ञानी का ज्ञान शिष्य के प्रति उपयोग होने से उनके स्वातम अनुभव ज्ञान में कमी नहीं होती। इसी मतलब से कहते हैं कि जिसमें खाली भरती न हो उसी का नाम अनुभव है। शंका:—क्या दूसरे के प्रति उपदेश करने में उस अनुभव में विक्षेप नहीं होता? समाधान:—विक्षेप यों नहीं होता। जैसे तालाब से जल कलश में भरते समय भक्-भक् आवाज होती है। भर जाने पर फिर आवाज नहीं रहती, लेकिन वही जल यदि दूसरे कलश में ढाला जाय, तो फिर आवाज जरूर होती है। किन्तु जल में, विकार होनेका कोई कारण नहीं रहता। ऐसे ज्ञानी का ज्ञान प्राप्ति और प्रदान के समय ज्यों का त्योंही रहता है, विक्षेप की कोई संभावना नहीं ॥ १६ ॥

कहा सिखापन देत हो, समुझि देख मन माँहि।
सबै हरफ है द्वात महँ, द्वात न हरफन माँहि ॥ १७ ॥

विशेष शिक्षा देने की कोई जरूरत नहीं, मन में समझ देखो। द्वैत रूप द्वात में सब कहना-सुनना है। आतम अनुभव रूप द्वात वर्ण से वर्णन नहीं होता ॥ १७ ॥

सुखवत माँहीं सब गले, मन बुधि चित परकास।
छिनक माँहि परलै भया, को ठाकुर को दास ॥ १८ ॥

सुषुप्ति अवस्था होते ही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब लीन हो जाते। स्वामी और सेवक-भाव भी नहीं रह जाता। क्षण भर में प्रलय हो गया ॥ १८ ॥

जागृत जागृत साँच है, सोवन सपना साँच।
देह गये दोऊ गये, ज्यौं भगली का नाच ॥ १९ ॥

जैसे जाग्रतावस्था का पदार्थ जाग्रत में सत्य प्रतीत होता है तैसे स्वप्न का स्वप्न में। शरीर के अभाव होने पर जादूगरी के नृत्य समान दोनों मिथ्या हो जाते हैं ॥ १९ ॥

अँधेरे को हाथी ज्यौं, सब काहू को ज्ञान।
अपनी अपनी कहत है, काको धरिये ध्यान ॥ २० ॥
अन्धे मिलि हाथी छुआ, अपने अपने ज्ञान।
अपनी अपनी सब कहैं, किसको दीजै कान ॥ २१ ॥
अन्धरन को हाथी सही, हैं साँचे सघरे।
हाथन की टोई कहैं, आँखिन के अँधरे ॥ २२ ॥
अँधों का हाथी सही, हाथ टटोल टटोल।
आँखों से नहिं देखिया, ताते भिन भिन बोल ॥ २३ ॥
दूजा ह्वै तो बोलिये, दूजा झगरा सोहि।
दा अँधों के नाच में, कापै काको मोहि ॥ २४ ॥
निरजानीसों कहिये कहा, कहत कबीर लजाय।
अन्धे आगे नाचते, कला अकारथ जाय ॥ २५ ॥

अन्धे के हस्ती के समान सबको ज्ञान है। अपनी २ सब कहते हैं, किसको २ ध्यान देना। हाथी को सबने स्पर्श किया है उसके अनुसार कहता है। नहीं किसको कहना। उनके हाथी, ज्ञान और वे अन्धे सब सच्चे हैं। क्योंकि उन्हें आँखें तो हैं नहीं हाथ की टोई कहते हैं। आँखसे तो वे देखे नहीं केवल हाथसे स्पर्श किया है। इस लिये पृथक २ बतलाते हैं। दूसरा कोई आँख वाला होय, तो उसके झगड़ेमें कुछ कहना शोभता

है। और यहाँ तो अन्धों का नाच है। कौन किस पर आशिक होय ? ऐ कबीर ! अज्ञानी के प्रति कहने में ज्ञानी पुरुष शर्माते हैं। क्योंकि जैसे अन्धों के आगे नाचने की कला सब व्यर्थ जाती हैं। ऐसे ज्ञानी को ज्ञान समझो ॥ २०-२५ ॥

वचन बेद अनुभव जुगति, आनंद की परछाँहि।
बोध रूप पुरुष अखंडित, कहबे में कछु नाँहि ॥ २६ ॥
बूझ सरीखी बात है, कहन सरीखी नाँहि।
जेते ज्ञानी देखिये, तेते संसै माँहि ॥ २७ ॥

वाक्य, ज्ञान और अनुभव, युक्तिसे सब वाग्विलास सत्संग का आनंद प्रतिबिम्ब रूप है। और जो ज्ञान स्वरूप अखण्ड पुरुष है वह वागिन्द्रिय का विषय नहीं, कोई कैसे कह सकता है। यह तो समझने की वस्तु है, कहने की नहीं। जो केवल पुस्तक के ज्ञानी देखने में आते हैं वे सब उन बोध स्वरूप से वंचित भ्रम भूल में पड़े रहते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

ज्ञानी तो निरभय भया, मानै नाहीं संक।
इन्द्रिन केरे बसि पड़ा, भुगते नरक निसंक ॥ २८ ॥
ज्ञानी मूल गँवाइया, आप भये करता।
ताते संसारी भला, जो सदा रहै डरता ॥ २९ ॥

जो ज्ञानी पाप, पुण्य की शंका से निःशंक विचरते हैं। और इन्द्रिय एक भी वश में नहीं किन्तु उसी के वश में स्वयं पड़े हैं। तो वे अवश्य नरक में जायंगे। क्योंकि स्वयं स्वतन्त्र ज्ञानी बन के स्वरूप ज्ञान का साधन जो सद्गुरु सत्संग विवेकादि है उसे गमा बैठे हैं। इनसे तो वे संसारी लोग अच्छे हैं जो पापके भय से पुण्य जनक शुभ कर्म, और सन्त गुरु के सेवा सत्संग करते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

इति श्री आतम अनुभवको अङ्ग ॥ ३५ ॥
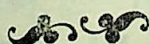
अथ सहजको अंग ॥ ३६ ॥

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय।
जा सहजै साहिब मिलै, सहज कहावै सोय ॥ १ ॥
सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय।
पाँचौ राखै पसरतो, सहज कहावै सोय ॥ २ ॥

सहज सहज सब कोई कहते जरूर हैं परन्तु पहिचानता कोई भी नहीं क्योंकि सहजावस्था उसे कहते हैं जिससे अपने मालिक साहेब की प्राप्ति हो। सहज समझने का एक यह भी तरीका है कि पाँचों इन्द्रियाँ निज-निज विषयों में बरतती हुईं भी मनोवृत्ति 'तन तजि अन्त न जावे' आतम चिन्तन को छोड़कर बाह्य न होय इसी का नाम सहजावस्था या सहज समाधि है ॥ १ ॥ २ ॥

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्है कोय।
जा सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोय ॥ ३ ॥

सहजावस्था उसी को कहते हैं जिसको प्राप्त होने पर उभय लोककी सम्पूर्ण भोगवासना का परित्याग हो जाय ॥ ३ ॥

सहजै सहजै सब भया, मन इन्द्री का नाश।
निहकामी सों मन मिला, कटी करम की फाँस ॥ ४ ॥

सहजावस्था प्राप्त होने पर सहज़ही मन, इन्द्रिय सबका सत्यानाश हो जाता है। फिर मन कामना-रहित नित्य तृप्ति आतमदेव से जा मिला और कर्म की फांस कट गई ॥ ४ ॥

सहजै सहजै सब गया, सुत बित काम निकाम।
एकमेक ह्वै मिलि रहा, दास कबीरा राम ॥ ५ ॥

"सुत वित लोक ईषणा तीनी। कहु किहि मन ई कोन्हि मलीनो" कभी सहजावस्था प्राप्त होपे ही पुत्र वासना, धन वासना और लोक वासना स्वाभाविक रफूचक्कर हो जाती हैं। और जिज्ञासु-जन अपने राम से मिलके एकमेक हो रहते हैं ॥ ५ ॥

काहे को कलपत फिर, दुखो होत बेकाम।
सहजै सहजै होयगा, जो कछु रचिया राम ॥ ६ ॥

व्यर्थ में दुखी होकर क्यों विलखता फिरता है। अरे! जो राम के रचे हुए प्रारब्ध भोग हैं वे किसी के रोके नहीं रुकेंगे वह सहज ही होयगा ॥ ६ ॥

जो कलपै तो दूरि है, अनकलपै ह्वै सोय।
सतगुरु मेटी कलपना, सहज होय सो होय ॥ ७ ॥

देखो! जिसके लिये कल्पना करता है उसके विपरीत अनकल्पे होता है। सद्गुरु की शरण लो, सब कल्पना मेंट देंगे, स्वाभाविक होनहार हुआ करेगा ॥ ७ ॥

जो कछु आवै सहज में, सोई मीठा जान।
कड़ुवा लागै नीम सा, जामें ऐंचा तान ॥ ८ ॥

सहजावस्था में जो कुछ मिल जाय, उसी को मिष्ठान्न समझो। और वह नीम जैसा कड़ुवा है जिसमें खैंच तान है ॥ ८ ॥

इति श्री सहज को अङ्ग ॥ ३६ ॥

अथ मध्यको अंग ॥ ३७॥
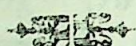
मध्य अँग लागा रहै, तरन न लागै बार।
दो दो अंग सो लागता, यों बूड़ा संसार॥ १॥

"वर्त्तमान में वर्तो भाई। भूत भविष्य सब देहु बहाई" निर्णयसार। लोक, परलोक और भूत भविष्य की कल्पना छोड़ कर मध्य अंग नाम वर्त्तमान शरीर उससे सद्गुरु की शरण में लगे रहे तो भवसिन्धु तरते देर न लगेगी। और दुविधा में पड़के अज्ञानी लोग यों ही गोता खा रहे हैं॥ १॥

कबीर दुविधा दूरि कर, एक अंग ह्वै लाग।
वा सीतल वा तपत है, दोऊ कहिये आग॥ २॥

ऐ कबीर! दुविधा को छोड़ के "दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम" अतः एक अंग होके सद्गुरु की शरण ले। और "कहहिं कबीर ये दोनों बेड़ी। एक सोना एक लोहा केरी" शीतल स्वर्गादि का भोग और तप्त मृत्युलोक के भोग ये दोनों ही अग्नि रूप हैं। दोनों को बन्धन समझो॥ २॥

अनल अकासै घर किया, मध्य निरन्तर बास।
बसुधा बास विरक्त रहै, बिना ठौर विस्वास॥ ३॥
अनलपंख आवै नहीं, सुत अपने को लैन।
वह अलीन यह लीन है, उलटि मिलै ते चैन॥ ४॥

अनल पक्षी का घर आकाश में है, हमेशा मध्य में रहता है। और पृथ्वीसे सदा उदास होकर केवल विश्वास पर बिना स्थिति के आकाश में वास किया है। वह अपने बच्चाको भी लेने नहीं आता, वह उससे

विरक्त है और यह (बच्चा) ऐसे उसमें अनुरक्त है कि उलटकर उससे मिलने ही में शान्ति मानता है ॥ ३ ॥ ४ ॥

अनलपंख का चेटवा, गिरते किया विचार।
सुरति बाँधि चेतन भया, जाय मिला परिवार ॥ ५ ॥

अनल पक्षी का बच्चा गिरते २ विचार कर लिया। और वृत्तिको सुधार के सचेतन हो परिवार में जा मिला ॥ ५ ॥

वासर गम नहिं रैन गम, नहिं सपनेतर गाम।
तहाँ कबीर बिलंबिया, जहाँ छाँह नहिं घाम ॥ ६ ॥

"न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि जहाँ दिन, रात, धूप, छाया, और स्वप्न आदि कोई अवस्था का भी गम और गाम नहीं है। वहाँ सद्गुरु संतसगी अपना आसन जमया है ॥ ६ ॥

नर्क स्वर्ग ते मैं रहा, सतगुरु के परसादि।
चरन कमल की मौज में, रहसी अंतरु आदि ॥ ७ ॥

सद्गुरु की कृपा हुई नरक, स्वर्ग से अलग हो रहा। अब सद्गुरुके चरणारविन्द की लहर में आदि से अन्त तक रहेंगे ॥ ७ ॥

काबा फिर कासी भया, राम जु भया रहीम।
मोटा चुन मैदा भया, बैठ कबीरा जीम ॥ ८ ॥

काबा, काशी और राम, रहीम अब एक हो गया। मोटा चून भी मैदा बन गया। ऐ कबीर! बैठकर जेम लो। भावः—मन गुरु बोध में लगने से दुविधा नहीं रहती ॥ ८ ॥

दास कबिर काढ़ी भली, दोउ राह बिच राह।
अंधे लोग अचरज करैं, सारैं करैं सराह ॥ ९ ॥

जिज्ञासुओंने हिन्दू, तुर्कादि या द्वैत-अद्वैत ये दोनों रास्ते के मध्य में एक निराली राह निकाल ली। अविवेकी लोग आश्चर्य करते हैं और समझदार शाबाशी देते हैं ॥ ९ ॥

धरती और अकास में, दो तूँबरी अबद्ध।
षट दरसन धोखै पड़ें, औ चौरासी सिद्ध ॥ १० ॥

जमीन आसमान के बीच में दो तूँवरी यानी सन्त, गुरु ये दोनों निर्बन्ध हैं ये किसी के फन्दे में नहीं आते और जोगी, जंगमादि षट्-दर्शन एवं चौरासी सिद्ध ये मिथ्या अभिमानी धोखेमें पड़े हैं ॥ १० ॥

सुरति निरति दो तुंबरी, आवा गवन अबद्ध ।
अन समझा धोखै पड़ा, समझा सोई सिद्ध ॥ ११ ॥

सुरति निरति अर्थात् मन, मनसा ये ही दो तितलौकी हैं ये जिसके वश में हो गये वे वशी मानों आवागमन से रहित हो गये। इसे जो समझ लिया वे ही सिद्ध नहीं और असिद्ध, धोखे में पड़े हैं ॥ ११ ॥

प्रगट गुप्त की संधि में, जो यह अस्थिर होय ।
ज्यौं देहल का दीवला, अन्दर बाहर सोय ॥ १२ ॥

स्थूल, सूक्ष्म के मध्य में जो यह चंचल मन स्थिर हो जाय। तो यह बाहर, भीतर ऐसे प्रकाश करे जैसे देहली पर रखा हुआ दीपक ॥१२॥

पाया कहैं ते बावरे, खोया कहैं ते कूर ।
पाया खोया कछु नहीं, ज्यौं का त्यौं भरपूर ॥ १३ ॥

जो लोग कहते हैं कि उन्होंने परमात्मा को पा लिया बस ! वे दिवाने हैं और जो कहते हैं कि खो गया बस ! उन्हें बेवकूफ समझो। देखो, समझ की बात है, एक समय एक चींटी चीनी के पहाड़ पर गई थी। एक ही दाना खाकर पेट भर गया। दूसरा एक दाना लेकर घरको जाने लगी। जाते समय उसने सोचा कि फिर आकर सारा पहाड़ ही ले जाऊंगी। बस ! गुरु सत्संग विमुख क्षुद्र मनुष्य इसी प्रकार सोचते हैं। वे नहीं जानते कि ज्यौं का त्यौं परिपूर्ण आत्म-वस्तु में पाया और खोया नहीं बनता ॥ १३ ॥

भजूँ तो को है भजन को, तजूँ तो को है आन ।
भजन तजन के मध्य में, सो कबीर मन मान ॥ १४ ॥

अहो चैतन्य देव ! भजन करूँ तो प्रश्न होता है कि भजन का विषय कौन ? और यदि छोड़ दूँ तो कहो त्यागने योग्य दूसरा पदार्थ कौन है ? धन्य हो सद्गुरो ! तेरी कृपा से मेरी मनसा भजन, तजन के मध्य मार्ग में ही पूरी हो गई ॥ १४ ॥

लेऊँ तो महा प्रतिग्रह, देऊँ तो भोगन्त।
लेन देन के मध्य में, सो कबीर निज सन्त ॥ १५ ॥

यदि कुछ ग्रहण करूँ तो महा प्रतिग्रह यानी दान लेना कहलाता है, और देऊँ तो भोगने पड़ेगे। अतः दान और प्रतिग्रह से रहित जो लेन देन के मध्यमें रहते हैं वही शान्तचित्त परम विवेकी सन्त हैं ॥१५॥

दुआ देऊँ तो दोजख जाऊँ, बद दूआ भी नाँहि।
दुआ बददुआ किसको देऊँ, साहिब है सब माँहि ॥ १६ ॥

जब सब घटमें साहिब विराजमान हैं तो फिर अनुग्रह और शापका अवकाश कहाँ ? कि कोई किसी को दे ॥ १६ ॥

मँडि रहना मैदान में, सनमुख सहना तीर।
जमरा औ जगदीस के, मधि में बसै कबीर ॥ १७ ॥

मैदान में डटे रहना, गुरुका ज्ञान बाण सामने सहना। यम और प्रभु के बीच में वसना परम गुरु भक्त कबीर ही का काम है ॥१७॥

गुरू नहीं चेला नहीं, मुरीद हू नहिं पीर।
एक नहीं दूजा नहीं, विलमै दास कबीर ॥ १८ ॥

ऐ कबीर ! विमल जिज्ञासु वहाँ विलम्बते हैं जहाँ गुरु, शिष्य, पीर, मुरीद और द्वैत-अद्वैत का पक्ष नहीं है ॥१८॥

हिन्दू ध्यावै देहरा, मूसलमान मसीत।
दास कबिर तहँ ध्यावही, दोनों की परतीत ॥ १९ ॥

हिन्दू देहरा और मुसलमान दरगाह को पूजते हैं और दास कबीर उन दोनों के विश्वास स्थान को ध्यान करते हैं ॥१९॥

हिन्दू तुरक के बीच में, मेरा नाम कबीर।
जिव मुक्तावन कारनै, अविगत धरा शरीर ॥ २० ॥
हिन्दू तुरक के बीच में, शब्द कहूँ निरवान।
बंधन काटूँ जगत का, मैं रहिता रहमान ॥ २१ ॥

हिन्दू और तुरक के मध्य में मैं कबीर नाम से प्रकट हूँ। दो दीन में

फँसे हुए जीवों को मुक्त करने के लिये ही शरीर धारण किया हूँ। इसी-लिए दोनों के मध्य में निर्बन्ध पद कहके जगज्जीव का बन्धन काटता हूँ मैं दयालु, दया करना मेरा स्वभाव है ॥२०। २१॥

हिन्दू मूआ राम कहि, मूसलमान खुदाय।
कहैं कबिर सो जीवता, दोउ के संग न जाय॥ २२॥

मिथ्या राम, व रहीम के पक्ष करके हिन्दू मुसलमान दोनों मर मिटे। कबीर गुरु कहते हैं, जो दोनों का दुराग्रह छोड़कर जाग्रत स्वरूप में रहा वही जीवित रहा और है ॥२२॥

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाँहि।
पाँच तत्त्व का पूतला, गैबी खेलै माँहि॥ २३॥

मैं तो न हिन्दू हूँ न मुसलमान, मैं तो वह हूँ जो पाँच तत्त्व का पुतला रचके और स्वयं अदृश्य हो सूत्रधार की तरह कठपुतली का खेल खेल रहा है ॥२३॥

गैबी आया गैब ते, इहाँ लगाया ऐब।
उलटि समाना गैब में, (तब) कहाँ रहेगा ऐब॥ २४॥

गैबी गैबसे आकर यहाँ हिन्दू, तुरुकका दुराग्रह रूप ऐब लगा लिया है। पुनः उलटकर गैब (चितिस्वरूप) में समा गया ऐब सब छूट गया।

गैबी तो गलियाँ फिरैं, अजगैबी कोय एक।
अजगैबी हू जो लखै, जाके हिये विवेक॥ २५॥

यों तो बहुनेरे गैबी देह के अभ्यास में पड़के इन्द्रियाँ रूपी गलियों में भटक रहे हैं, अजगैबी ऐब-रहित तो कोई एक है। और उसे वही पहिचानता है जिसके हृदय में विवेक है।

आगे खोजी पचि मुआ, पीछे रहा भुलाय।
मध्य माँहीं बासा करे, ताको काल न खाय॥ २६॥

सद्गुरु-सत्संग बिमुख लोग निजस्वरूप से भूले हुए आगे पीछे की खोज में मर मिटे और मर रहे हैं। कल्पना काल से तो वे ही बचे व बचते हैं जो मध्य मार्ग को अवलम्बन किये व करते हैं ॥२६॥

अतिका भला न बोलना, अतिकी भली न चूप।
अतिका भला न बरसना, अतिकी भली न धूप ॥ २७ ॥

"अति सर्वत्र वर्जयेत" प्रयोजन से अधिक बोलना तथा बोलने के प्रयोजन में मौन रहना भला नहीं है। इसी प्रकार अति वृष्टि और अनावृष्टि भी ये सब दुःख रूप हैं ॥२७॥

सबही भूमि बनारसी, सब निर गंगा तोय।
ज्ञानी आतम राम है, जो निर्मल घट होय ॥ २८ ॥

निर्मल अन्तःकरण वाले ज्ञानी जो आत्माराममें रमते हैं उनके लिये सर्व भूमि काशी और सर्व जल गंगाजल रूप ही है ॥२८॥

इति श्री मध्यको अङ्ग ॥ ३७ ॥

अथ भेदको अंग ॥ ३८ ॥

कबीर भेदी भक्त सों, मेरा मन पतियाय।
सेरी पावै शब्द की, निरभय आवै जाय ॥ १ ॥

ऐ कबीर। जो मर्मी भक्त हैं उनपर मेरा मन विश्वास करता है। क्योंकि वे सार शब्दके मार्ग (रहस्य) को प्राप्तकर निर्भय विचरते हैं ॥१

भेदी जाने सर्ब गुन, अनभेदी क्या जान।
कै जानै गुरु पारखी, कै जिन लागा बान ॥ २ ॥

जो मर्मी पुरुष हैं वेही गुणके रहस्य सब जानते हैं अनमर्मज्ञ क्या जाने। सार शब्दको तो पारखी सद्गुरु जानते हैं या जिसे शब्द बाण लगा हो ॥२॥

भेद ज्ञान तौं लौं भलो, जौं लौं मुक्ति न होय।
परम जोति प्रगटै जहाँ, तहँ विकल्प नहिं कोय ॥ ३ ॥

जब तक विदेह मुक्ति नहीं हुई है तब तक भेद ज्ञान अच्छा है। और जहाँ अखण्डात्म स्वरूप परम प्रकाश के प्रत्यक्ष हुआ तहाँ भेदभाव स्वतः ही भग जाता है ॥३॥

भेद ज्ञान साबुन भया, सुमिरन निरमल नीर।
अन्तर धोई आतमा, धोया निरगुन चीर ॥ ४ ॥

भेद ज्ञान साबुन है और नाम स्मरण स्वच्छ जल है। अन्तःकरण निर्मल होनेसे त्रिगुण माया रहित निर्गुण आत्म पट भी धोया गया है और धोया जाता है ॥४॥

समझे को सेरी घनी, अन समझे को नाँहि।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिर गोता खाँहि ॥ ५ ॥

समझदारोंके लिये अनेक मार्ग हैं अनसमझेको कोई नहीं। अनभिज्ञ लोग शब्द द्वार नहीं पाते इसीलिये अन्धोंकी तरह गोता खाया करते हैं।

समझा समझा एक है, अन समझे सब एक।
समझा सोई जानिये, जाके हिये विवेक ॥ ६ ॥

जैसे सब समझदारोंका एक मत होता है तैसे सब अनसमझोंका भी एकही मत होता है। समझदार उसीको समझो जिसके हृदयमें विवेक है।

समझा समझा एक है, अन समझे सों मौन।
बातें बहुत मिलावई, तासों झीखै कौन ॥ ७ ॥

समझदारोंका मत समझदारोंसे मिलता है, अनसमझेसे वे मौन

रहते हैं। क्योंकि अनसमझ लोग बातें बहुत बेतरह बनाया करते हैं अतः उनसे कौन खीजे खिजावे ? ॥७॥

समझा सोई जानिये, समझ समानी माँहि ।
जब लग कछू न आवही, तब लग समझा नाँहि ॥ ८ ॥

समझ ज्ञान उसीको कहते हैं जो अन्दर में प्रवेश किया हो। और जब तक कि भीतर असलियत को नहीं पाया है तब तक कुछ भी नहीं समझा है ॥८॥

कोटि सयाने पचि मुये, कथै विचारै लोय ।
समझा घट तब जानिये, रहित विचार जु होय ॥ ९ ॥

ग्रन्थके ज्ञान कथन करते और विचारते अनेकों सयाने लोग मर मिटे ओर समझ न आई। समझा घट तो तबही कहलाता है जब ग्रन्थ विचार से रहित चिदात्मविचारी हो ॥९॥

भारी कहूँ तो बहु डरूँ, हलका कहूँ तो झीठ ।
मैं क्या जानूँ राम को, नैना कछू न दीठ ॥ १० ॥

उस ज्ञान मात्र स्वरूप विषय न तो भारी कहा जा सकता न हल्का। क्योंकि, नेत्र का अविषय होनेसे रमैया रामको कोई इन्द्रिय क्या जानें। "रूप निरूप जाय नहीं बोली। हलुका गरुवा जाय न तोली॥" इति बीजक ॥१०॥

दीठा है तो कस कहूँ, कहूँ तो को पतियाय ।
हरि जैसा तैसा रहै, हरषि हरषि गुन गाय ॥ ११ ॥

उस स्वसंवेद्य वस्तु को यदि विवेक दृष्टि से देखा भी तो कहूँ किस प्रकार और उसे सुनकर विश्वास भी कौन करे। बस। वह जैसा है तैसाही रहै मुझे तो उसके गुणही स्मरण में आनन्द है ॥११॥

ऐसी अद्भुत मति कथो, कथो तो धरो छिपाय।
बेद कुराना नहिं लिखा, कहूँ तो को पतियाय ॥ १२ ॥

ऐसी आश्चर्यजनक बार्ता मत कहो यदि कहो भी तो जिज्ञासु प्रति

गुप्त रीति से। जो हिन्दू, मुसलमान के ग्रन्थों में नहीं लिखी है उसे कहूँ तो कौन प्रतीत करेगा ? कोई नहीं ॥१२॥

जो देखै सो कहै नहिं, कहै सो देखै नाँहि ।
सुनै सो समुझावै नहिं, रसन स्रवन द्रिग काहि ॥ १३ ॥

वस्तुको देखनेवाला नेत्र है पर वह जिह्वाके अभावसे कह नहीं सकता। जीभ कहती है परन्तु वह नेत्र के अभावसे देख नहीं सकती। ऐसे ही कान सुनता है किन्तु समझा नहीं सकता है। क्योंकि समझ अन्तःकरण में होती है। तात्पर्य यह है कि वह वस्तु किसी इन्द्रिय का विषयनहीं है यथा :—"पारख सबको परखतु हैं पुनि पारखको कौन ? परखन हारा।" इति ॥१३॥

जो पकरै सो चलै नहिं, चलै सो पकरै नांहि ।
कहैं कबिर या साखि को, अरथ समुझ मन मांहि ॥ १४ ॥
जो पकरै सो चलै नहिं, चलै सो पकरै नांहि ।
कर पद को तुम कहत हो, समुझि लीन मन मांहि ॥ १५ ॥

जो हस्त ग्रहण करता है वह पगके न होनेसे चल नहीं सकता और जो चलता है उसे हाथ न होने से पकड़ नहीं सकता। कबीर गुरु कहते हैं कि इन साखियों का अर्थ मनमें समझना चाहिये। श्रोता कहता है कि यह तो मैं समझ लिया हाथ पगके बारेमें आप कहते हो कि जो पकड़ता वह चलता नहीं और जो चलता वह पकड़ता नहीं ॥१४॥१५॥

जानिके अनजान हुआ, तत्त्व लिया पहिचानि ।
गुरू किये तो लाभ है, चेला किये न हानि ॥ १६ ॥

"जानन्नपीह मेधावी जडवल्लोक माचरेत्" इस मनु बचन के अनुसार जो पुरुष तत्वको समझ कर जन संसदिमें अज्ञातसा बना है उसे गुरु करने में तो लाभ अवश्य है किन्तु शिष्य करने में भी कोई हानि नहीं है। भावार्थ :—सर्वथा अहंकार से रहित और लोक से उदासीन रहना सन्तोंके श्रेष्ठ लक्षण हैं ॥१६॥

वाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाधि ।
मौन गहि हरि सुमिरिये, जो कोय जानै साध ॥ १७ ॥

वाद विवाद तो विष रूप ही है किन्तु न्याय बोलने में भी बड़ी उपाधि है। अतः यदि कोई सन्त समझें तो मौन ग्रहण कर आत्मचिन्तन में आराम है ॥१७॥

पंडित सेती कहि रहा, कहा न मानै कोय।
वह अगाध ये क्यों कहैं, भारी अचरज होय ॥ १८ ॥

यहि कहा नहीं मानता तो पण्डितजी व्यर्थ में बक रहे हैं। मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि उस अथाह तत्त्वको ये कैसे कहते हैं। तात्पर्यः—कोई कितने क्यों न पढ़े हों वे उस तत्व को कैसे संपूर्ण कह सकते हैं? मान लिया व्यास, शुकदेवादि साधारण जीवों की अपेक्षा उस तत्व को कुछ ज्यादे जाने व कहे होंगे। यदि उनसे कोई प्रश्न करे कि वह कैसा है तो यही कहेंगे कि वेद में लिखा है—वह आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द आदि है। बस! इसके सिवा और क्या कहेंगे? इसलिये कोई-कोई कहते हैं कि वे उस आनन्द स्वरूप सिन्धु में उतरे ही नहीं थे। स्वरूप सिन्धु में उतर कर पुनः लौटना असंभव है। देखिये दृष्टान्त :—नमककी पुतली स द्र को नापने गई कितना जल है? आशा में सब खड़े हैं कि थाह लगाकर खबर देगी! और खबर देनाही नहीं हुआ क्योंकि वह समुद्र में उतरते ही गल घुलकर जल में मिल गई। फिर खबर कौन देती? यही रहस्य कथन और समझ के हैं यथा :—

गई बूंद लेने समुन्दर की थाह। यकायक लिया मौजने उसे खाह ॥
हुई आपही गुम तो पाये किसे! बताये वो क्या और जताये किसे ॥

बसै अपिंडी पिंड में, ताको लखै न कोय।
कहैं कबीरा सन्तजन, बड़ा अचम्भा होय ॥ १९ ॥
घट में है सूझै नहिं, कर सों गहा न जाय।
मिला रहै औ ना मिलै, तासों कहा बसाय ॥ २० ॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! बड़े आश्चर्य की बात है कि इस मूर्तिमान पिंडमें विराजमान उस दिव्य अमूर्तको गुरु सत्संग विमुख कोई न स्वयं लखता है न उसे सूझता ही है। वह हाथ से पकड़ा जाता नहीं। तो जो सदा मिलने से नहीं मिलता तो उससे किसी का क्या वश चले ॥१९॥२०॥

आठ पहर चौबिस घड़ी, मो मन यह अंदेस।
या नगरी प्रीतम बसै, मैं जानूँ परदेस ॥ २१ ॥
प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो वह है परदेस।
तन में मन में नैन में, ताको कहा सँदेस ॥ २२ ॥

दिन-रात मुझे यही चिन्ता है कि इसी घट में स्वामी निवास करता है। और मेरे लिये परदेश हो रहा है। यदि विदेश में होय तो पत्र भी लिखा जाय। परन्तु जो प्रभु तन में, मन में और नयन में सदा हाजिर हजूर है उसे क्या सन्देश कहा जाय ॥२१॥२२॥

समदर्सी सतगुरु किया, भरम भया सब दूर।
भया उजारा ज्ञान का, निरमल ऊगा सूर ॥ २३ ॥

अब समदर्शी सत्‌गुरु के मिलने से सब संशय दूर हो गये। निर्मल ज्ञानरूप सूर्य उदय हुआ और हृदय में प्रकाश हो गया ॥२३॥

समदर्सी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
दूजा कोय दीखे नहिं, राम रहा भरपूर ॥ २४ ॥

समदर्शी सद्‌गुरु करने से उन्होंने सर्व भ्रम को निवारण कर दिया। अब दूसरा कोई नही दीखता सब में राम ही राम सम्पूर्ण है ॥२४॥

समदर्सी सतगुरु किया, दीया अविचल ज्ञान।
जहँ देखो तहँ एक ही, दूजा नाहीं आन ॥ २५ ॥

पक्षपात-रहित सद्‌गुरु ने निश्चल स्वरूप देखने का ऐसा दिव्य चक्षु दिया कि अब जहाँ देखता हूँ वहाँ उसी एक के सिवा और दूसरा कोई नहीं दीखता ॥२५॥

समदर्सी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जहँ देखा तहँ एकही, साहिब का दीदार ॥ २६ ॥

समदर्शी सद्‌गुरु की कृपा से भ्रम विकार सब मिट जाने पर सर्वत्र एक साहिब का ही दर्शन होता है ॥२६॥

समदर्सी तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक सी सोय ॥ २७ ॥

जो मन समझै ज्ञान में, ज्ञानहि होय सहाय ।
सो फिर तोही ना रुचै, जाकूं तूँ कहै माय ॥ २८ ॥

समदर्शी तब ही समझना जब शान्त औ समान दृष्टि होय। और सकल प्राणी की आत्मा एक सी जाने । और ऐसा ज्ञान जो मन में अच्छी तरह समझ ले तो फिर वही ज्ञान तुझे ऐसा सहायक होगा कि जिसे तू माय कहके मोह में फँसता है वह फिर नहीं रुचेगा ॥२७॥२८॥

समझै का घर और है, अन समझे को और ।
जा घट में साहिब बसै, (सो) बिरला जानै ठौर ॥ २९ ॥

समझदार और अनसमझों की स्थिति अलग होती है। जिस हृदय में साहिब का प्रकाश होता है उसे कोई बिरला ही जानता है ॥२९॥

समझे का मत और है, अन समझे का और ।
समझे पीछे जानिये, राम बसै सब ठौर ॥ ३० ॥

ज्ञानी और अज्ञानी की समझ भी पृथक-पृथक होती है। सब घटमें रमैया रामका निवास जब समझे तब समझा हुआ समझना ॥३०॥

भटकि मुआ भेदी बिना, कौन बतावै धाम ।
चलते चलते जुग गया, पाव कोस पर गाम ॥ ३१ ॥

भेदी बिना नरजीव भटक मरे, सद्गुरु भेदी बिना उन्हें पाव कोश का धाम कौन बतावे ? चलते चलते युगों बीत गये ॥३१॥

जा कारन हम ढूंढ़ते, करते आस उमेद ।
सो तो अन्तरगत मिला, गुरु मुख पाया भेद ॥ ३२ ॥

बिना गुरु मुख भेद पाये जिसके वास्ते हम युगोंसे आशा लगाये खोजते फिरते थे वह शांति कारक अमूल्य जड़ी गुरुमुख भेद जानने पर अन्दर ही मिल गई ॥३२॥

जो देखो सो तीन में, चौथा मिले न कोय ।
चौथे कूँ परगट करै, हरिजन कहिये सोय ॥ ३३ ॥

जहाँ तक देखा सुना सब त्रिगुण माया में। इससे अलग चौथा

कोई नहीं मिला। जो चौथे प्रभु को प्रकट करते हैं, वेही हरिजन कहे जाते हैं ॥३३॥

जो वह एक न जानिया, बहु जाने क्या होय।
एके ते सब होत है, सबते एक न होय ॥ ३४ ॥

उस एक मालिक से अनभिज्ञ रहके बहु ज्ञाता हुआ तो क्या ? सबसे एक नहीं एकही से सब कुछ होता है ॥३४॥

दौड़ धूप छोड़ो सखी, छोड़ो कथा पुरान।
उलटि वेद को भेद गहु, सार शब्द गुरु ज्ञान ॥ ३५ ॥

ऐ सखी ! वृत्ति ! भटकना छोड़दे और कथा पुराणभी उधरसे लौट कर भेदीसे वेद ज्ञानको ग्रहण कर वह ज्ञान गुरुका सार शब्द है ॥३५॥

ईलम से उद्योग खिले, खिले नेकि से नूर।
ईलम बिन संसार में, समुझि अन्धेरो धूर ॥ ३६ ॥

ईलमसे उद्योग फलीभूत होता है और नेकी से रौनक। संसार में बिना इल्म के नरजीव को शरीर ना मैल समझा ॥३६॥

मुख से रहे सो मानवी, मन में रहे सो देव।
सुरत रहे सो संत हैं, इस विधि जानो भेव ॥ ३७ ॥

मुखसे अर्थात् जो शुद्ध आहार-विहारसे जीवन बीतता है सो तो मनुष्य लक्षणमें है। और जो मनको वश करके रहता है वह देव है इसी प्रकार जो वृत्तिको चित्स्वरूप में शान्त किये रहता है वह सन्त है। इसी तरीका से भेद, रहस्य को जानो ॥३७॥

बोलत ही विष वाद है, पूछत ही है वाद।
ऐसे मन में समुझि के, चूप रहे सो साध ॥ ३८ ॥

व्यर्थ बोलने में बकवादरूप विष पैदा होता है। और पूछने से भी विवाद होता है। इस प्रकार मन में समझकर जो मौन रहते हैं वे साधु हैं ॥३८॥

जिन पाया तिन सुगह गहा, रसना लागी स्वाद।
रतन निराला पाइया, जगत टटोला बाद ॥ ३९ ॥

जिसने इस भेदको पाया उसकी रसना में सुन्दर स्वाद लगा और झट ग्रहण कर लिया। बस! उसने खाशा रत्न पा लिया अब व्यर्थके जगज्जीव सब टटोल रहे हैं ॥३९॥

कबीर दिल साबित भया, फल पाया समरथ्थ।
सायर माँहि ढँढोरताँ, हीरा पड़ि गया हथ्थ ॥ ४० ॥

ऐ कबीर भेदी से भेद पाने पर चित्त स्थिर हो गया क्योंकि संसार सागरमें टटोलते-टटोलते समर्थ हरिरूप हीरा हाथ लग गया ॥४०॥

चार ईंट चौरासि कुवा, सोलह सौ पनिहार।
भट पंडित खोजत मुवे, सन्तन किया विचार ॥ ४१ ॥

चतुष्टय अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ रूप चार ईंट से चौरासी योनियों के शरीररूप कुयें बने हुए हैं और षोडश कलायुक्त पुरुष सोलह सौ पनिहारी हैं। उसकी खोजमें भट्ट, पण्डित मर मिटे, भेद पाने से सन्तोंने सहजमें विचार कर लिया ॥४१॥

कहने जैसी बात नहिं, कहै कौन पतियाय।
जहँ लागे तहँ लगि रहे, फिर पूछेगा काय ॥ ४२ ॥

यह कहने जैसी बात नहीं यदि कोई इसके विषै इशारा भी किया तो अज्ञानियोंको विश्वास नहीं! बस! यही कारण है कि भेदी जहाँ लगे तहाँ लगे ही रह जाते हैं फिर उनसे कौन पूछेगा? कोई नहीं ॥४२॥

इति श्री भेदको अङ्ग ॥ ३८ ॥
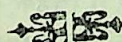
अथ साक्षीभूत को अंग ॥ ३९ ॥

जा घट में साँई बसै, सो क्यौं छाना होय।
जतन जतन करि दाबिये, तउ उजियारा सोय ॥ १ ॥

जिसके हृदयमें स्वयं प्रकाश रूप स्वामी का निवास है वह गुप्त कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं, चाहे कैसेहु उसे दबाओ वह प्रकाश किये बिना नहीं रह सकता ॥१॥

सब घट मेरा साँइया, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की, जो घट परगट होय ॥ २ ॥

यद्यपि मेरे स्वामी प्रत्येक घट में विराजमान हैं कोई भी खाली नहीं है। तथापि धन्यवाद उसी घटका है जिसमें वे प्रत्यक्ष हुए हैं ॥२॥

जा घट में संसै बसै, ता घट राम न होय।
राम सनेही साधु विच, तिना न संचर जोय ॥ ३ ॥

जिसके हृदयमें संशय है उसमें राम प्रत्यक्ष नहीं होता। रमैया राम का रमण तो संतों के मध्य में होता है अतः तहाँ संशय का संचार (प्रवेश) तक भी नहीं देखा गया है ॥३॥

जो भाजौ तो भय नहीं, सनमुख रहा न जाय।
सूता सिंघ न जगाइये, जो छेरै तिहि खाय ॥ ४ ॥

कामी क्रोधी आदि कुसंगियों के संग से भागने ही में भय मिटता है सामना करने से नहीं। ये प्रसुप्त सिंहके समान हैं इन्हें जो छेड़ता है उसी को खाते हैं। अतः इन्हें छेड़ मत ॥४॥

राम राम जिन ऊचरा, छिन छिन बारम्बार।
ते मुख भये जु ऊजला, कहैं कबीर विचार ॥ ५ ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि जिसके मुख से पल-पलमें राम-राम उच्चारण होता है वही मुख शुद्ध है ॥५॥

कबीर पूछै राम सों, सकल भुवन पतिराय ।
सबही करि न्यारा रहै, सोई देहु बताय ॥ ६ ॥

जिज्ञासु पूछता है कि हे प्रभु ! मुझे उन्हे बतला दीजिये जो सकल भुवनोंके स्वामी हों और सबसे पृथक रहते हों ? ॥६॥

जिहि बिरियाँ साहिब मिले, ता समान नहिं और ।
सबकूँ सुख दे सबद करि, अपनी अपनी ठौर ॥ ७ ॥

जिस वक्त सद्गुरु मिले उसके समान और कोई समय नहीं क्योंकि वे अपने निर्मल उपदेशों से योग्यतानुसार सबहीको सुखी करते हैं ॥७॥

साहिब तेरी साहिबी, सब घट रही समाय ।
ज्यूँ मेंहदी के पात में, लाली लखी न जाय ॥ ८ ॥

ऐ प्रभु ! आपका सामर्थ्य प्रत्येक घट में ऐसे छिपा है जैसे मेंहदी के पत्तेमें रक्तिमा । परन्तु बिना तेरी दया और पुरुषार्थके वह किसीको प्राप्त तो क्या पहिचान तक भी नहीं होता ॥८॥

स्वास सुरति के मध्यही, न्यारा कभी न होय ।
ऐसा साक्षी रूप है, सुरति निरति से जोय ॥ ९ ॥

जो स्वासा और सुरतिके आसक्ति रूप पक्षपातसे रहित और उसके समीप रह उससे पृथक कभी न होय ऐसा चैतन्य स्वरूपको साक्षी कहते हैं। उसे निरोध वृत्ति से देखो साक्षीका लक्षण गिरिधर कवि ने ऐसा बतलाया है यथा :—

"साक्षी के लक्षण सुनो साक्षी कहिये सोय।
उदासीन चैतन्य पुनि समीपवर्ती है जोई।
समीपवर्ती है जोइ न सोइ तो साक्षी होई।
लक्षण ते रहित को साक्षी कहे न कोई।
इन कह गिरिधर कविराय लोक पुनि वेदहु भाषी।
हुआ न कबहु होय और साखीको साखी" ॥९॥

इति श्री साक्षीभूतको अङ्ग ॥ ३९॥

अथ एकताको अंग ॥४०॥
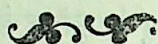
अलख इलाही एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबीर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ १ ॥
राम रहीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबीर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ २ ॥

यद्यपि अलख और इलाही ये नाम दो हैं तथापि विवेक दृष्टिसे देखो तो वस्तु एकही है। कबीर गुरु कहते हैं कि दो नाम सुनकर कोई भ्रममें मत पड़ो। केवल राम और रहीम ये पृथक २ दो नाम धरे हैं ॥१॥२॥

कृष्ण करीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबीर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ ३ ॥
कासी काबा एक है, एकै राम रहीम।
मैदा इक पकवान बहु, बैठि कबीरा जीम ॥ ४ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि कृष्ण और करीमा तथा काबा और काशी ये फक्त दो नाम धरे गये हैं। भेद बुद्धि करनेकी ऐसे जरूरत नहीं है जैसे एकही मैदाके जलेबी, खाजा इत्यादि अनेकों पकवान बनते हैं, परन्तु खानेवालोंकी दृष्टिमें एकही खाद्य पदार्थ दीखता है ॥३॥४॥

राम कबीरा एक है, दूजा कबहुँ न होय।
अंतर टाटी भरम की, ताते दीखै दोय ॥ ५ ॥
राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय।
दो करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय ॥ ६ ॥

राम कबीर एकही है दो कदापि नहीं। अन्तःकरण के भ्रान्ति परदे

से दो दीखता है। राम कबीरमें भेद कथन मात्रका है। वास्तविक भेद वही जानता है जिसे सद्गुरु नहीं मिले हैं या जो सद्गुरु सत्संगसे विमुख हैं ॥

एक वस्तु के नाम बहु, लीजै वस्तु पिछानि ।
नाम पच्छ नहिं कीजिये, सार तत्त ले जानि ॥ ७ ॥
नाम अनन्त जो ब्रह्म का, तिनका वार न पार ।
मन मानै सो लीजिये, कहैं कबीर विचार ॥ ८ ॥

एक वस्तुके नाम अनेक होते हैं। वस्तु को पहिचान कीजिये नामरूप के पक्षको छोड़कर सारतत्त्वको जान लीजिये। कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि, ब्रह्मका नाम तो अनन्त है उसकी सीमा, संख्या कुछ नहीं। जिसमें यह शैतान मन शान्त हो जाय उसीको ग्रहण कीजिये ॥७॥८॥

सब काहू का लीजिये, साचा शब्द निहार ।
पच्छपात ना कीजिये, कहैं कबीर विचार ॥ ९ ॥
हरिका बना सरूप सब, जेता यह आकार ।
अच्छर अर्थ यौं भाखिये, कहैं कबीर विचार ॥ १० ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि सबहि आप्तवक्ताओं के आप्त बचन की परीक्षा कीजिये। पक्षपात करने की कोई जरूरत नहीं। जितने आकार रूप दीखते हैं वे सब प्रभुके स्वरूप हैं। और प्रभु उनमें ऐसे घुसे हैं जैसे अक्षर (शब्द) में अर्थ ॥९॥१०॥

देखन ही की बात है, कहने को कछु नाँहि ।
आदि अन्तको मिलि रहा, हरिजन हरिही माँहि ॥ ११ ॥
सबै हमारे एक है, जो सुमिरै हरिनाम ।
वस्तु लही पहिचानिके, बासन सो क्या काम ॥ १२ ॥

यह वार्ता विवेक दृष्टि से देखने ही योग्य है कहने योग्य नहीं। अनादि कालसे हरि हरिजनमें मिलि रहे हैं। इसी वास्ते जो प्रभुके नाम स्मरण करते हैं वे सब हमारे लिये एक हैं और हम सब उनके हैं। असलियत तत्वको पहिचान लिया भाण्डेसे क्या मतलब है ॥११॥१२॥

खाँड़ खिलौना दो नहीं, खांड़ खिलौना एक।
तैसे सब जग देखिये, किये कबीर विवेक ॥ १३ ॥
खांड़ खिलौना तुम कहो, एक अहै नहिं दोय।
नाम रूप दीसै पृथक, हस्ती घोड़ा सोय ॥ १४ ॥

खांड़का खिलौना खाँड़ से पृथक नहीं है इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को समझिये, जगतका कारण जगतसे पृथक कदापि नहीं हो सकता। यद्यपि हस्ती घोड़ाके समान नाम और रूप दो पृथक पृथक दीखते हैं तथापि विवेकसे खाँड़-खिलौना एकही है दो नहीं ॥१३॥१४॥

उपजै एकै खाँड़ ते, हस्ती घोड़ा ऊँट।
खाँड़ विचारे पाइया, नाम रूप सब झूँठ ॥ १५ ॥
कबीर लोहा एक है, गढ़ने में है फेर।
ताही का बखतर बना, ताही की समसेर ॥ १६ ॥

एकही खाँड़से उत्पन्न हुए हस्ती, घोड़ा और ऊंट हैं। खाँड़ ने झूठही ये नाम रूप सब प्राप्त किया है। देखिये गढ़नेके फेर से एकही लोहाकी अलग अलग कवच और तलवार दीखती है वास्तविक भेद कुछ भी नहीं ॥१५॥१६॥

त्यौं ही एकै ब्रह्म ते, जीव ईस जग जान।
ब्रह्म विचारै पाइया, नाम रूप की हान ॥ १७ ॥
जीव ब्रह्म ब्यौरा नहीं, जीव ब्रह्म इक अंग।
ज्यौं कनक कुंडल मृद्घट, सारा फेन तरंग ॥ १८ ॥

इसी प्रकार संसार में एकही मायिक ब्रह्मरूपी धेनुके जीव और ईश ये दो बछड़े हैं। कार्य, कारण भावसे ब्रह्म विचारने ये दोनों नाम रूपको प्राप्त किया है जो कि नाशमान है। कार्य कारण भाव होनेसे कनक, कुण्डल, मिट्टी, घड़ा और फेन तरंग के सदृश जीव ब्रह्म ईश्वर माया ये सब एकही है। यह अद्वैती का सिद्धान्त है। विवेकी सन्तोंको द्वैत-अद्वैत आदिके झगड़ेसे कोई मतलब नहीं ॥१७॥१८॥

इति श्री एकताको अङ्ग ॥ ४० ॥

अथ व्यापकको अंग ॥४१॥

जेता घट तेता मता, बहु बानी बहु भेख।
सब घट व्यापक साँइया, अगम अपार अलेख ॥ १ ॥
पारब्रह्म सूभर भरा, जाका वार न पार।
खालिक बिन खाली नहीं, सुइ जेता संचार ॥ २ ॥

जितने अन्तःकरण हैं उतने मत हैं। अनेक वाणी (उपदेश) तदनुसार अनेक वेष हैं। और अगम अपार तथा अलेख स्वामी सब घट में व्याप रहे हैं। जिसका वार पार कुछ नहीं ऐसे पारब्रह्म खूब ठसमठस भर रहा है। उसके बिना ऐसी कोई भी जगह खाली नहीं है जहाँ कि सूई भी रख सकें ॥१॥२॥

जाति जाति के पाहुने, जाति जाति को जाय।
साहिब सबकी जाति हैं, घट घट रहा समाय ॥ ३ ॥
ज्यौं नैनों में पूतली, त्यौं खालिक घट माँहि।
मूरख लोग न जानहीं, बाहिर ढूँढ़न जाँहि ॥ ४ ॥

जातिके पहुने अपनी जातिही में जाते हैं। मालिक सबकी जाति है इसीलिये सब घटमें समा रहा है। खलक के अन्दर खालिक ऐसे रमा है जैसे नेत्रमें काली पुतली। अज्ञानी लोग उसे नहीं जानकर बाहर खोजने जाते हैं ॥३॥४॥

ज्यौं तिल माँहीं तेल है, चक्रमक माँहीं आग।
तेरा प्रीतम तुझहि में, जागि सकै तो जाग ॥ ५ ॥
पहुँप मध्य ज्यौं वास है, व्यापि रहा जग माँहि।
सन्तों माँहीं पाइये, और कहीं कछु नाँहि ॥ ६ ॥

जैसे तिलके अन्दर तेल और चकमक पथरीके अन्दर अग्नि है तैसे तेरा मालिक तुझहीमें है चेत सके तो चेत ले। जैसे फूलमें सुगन्धि व्याप्त है तैसे मालिक संसार में। परन्तु इसका पता सन्तोंके सत्संग में मिलेगा अन्यत्र नहीं ॥५॥६॥

भूला भूला क्या फिरै, सिर पर बँधि गइ बेल।
तेरा साँई तुझहि में, ज्यौं तिल माँहीं तेल ॥ ७ ॥
पावक रूपी साइयाँ, सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागै नहीं, तातै बुझि बुझि जाय ॥ ८ ॥

क्या भूले भूले फिरते हो। अरे। नखसे शिखापर्यन्त माया रूपी लता तो बढ़कर छा गई। अभी भी नहीं दीखता कि तेरा स्वामी तेरेही में तिलके अन्दर तेलके सदृश व्याप रहा है॥ अग्निरूप से सब अन्तःकरण में स्वामी समा रहा है। तेरा चित्तरूपी चकमक तो उससे लगता ही नहीं, यही कारण है कि अग्निका प्रकाश नहीं होता ॥७॥८॥

जैसी लकड़ी ढाक की, ऐसा यह तन देख।
यामें केसू छिपि रहा, यामें पुरुष अलेख ॥ ९ ॥
तेरा सांई तुझई में, ज्यौं पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं, फिरि फिरि ढूँढ़ै घास ॥ १० ॥

जैसे ढाक पलासके वृक्षमें केशू छिपा है, वैसे ही इस शरीर में छिपा हुआ अलख पुरुषको देखो। यद्यपि तेरा मालिक तेरेही में ऐसे प्रविष्ट है जैसे पुष्पमें सुगन्धि। परन्तु भेद जाने बिना तू भी ठीक उसी कस्तुरिया मृग के समान बाहर भटक रहा है। जोकि घास में कस्तूरी की सुगन्धि खोजता फिरता है ॥९॥१०॥

कस्तूरी नाभी बसै, मिरग ढूँढ़ै बन माँहि।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाँहि ॥ ११ ॥
कस्तूरी नाभी बसै, नाभि कमल हरि नाम।
नर ढूँढ़ै पावै नहीं, गुरु बिन ठामहि ठाम ॥ १२ ॥

कस्तूरी तो मृगकी नाभिमें है, और वह बाहर घासमें ढूंढ़ रहा है। ऐसे प्रभु हृदयमें बिराजमान हैं तौभी संसारी लोग उसे न जानकर बाहर ढूंढ़ रहे हैं ॥ कस्तूरी जैसे नाभिमें है तैसे प्रभु नाभि या हृदय कमलमें है। परन्तु गुरुमुख भेद पाये बिना मनुष्य ढूंढ़ता फिरता है और ठौरही की वस्तु नहीं पाता है ॥११-१२॥

सो साहिब तन में बसै, मरम न जानै तास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं, फिरि फिरि ढूँढ़ै घास ॥ १३ ॥
जा कारन जग ढूँढ़िया, सो तो घटही माँहि।
परदा दीया भरम का, तातै सूझै नाँहि ॥ १४ ॥

वह साहिब शरीरमें बसता है किन्तु उसका मर्म न जानकर घास सूंघनेवाले कस्तूरिया मृग के समान मानन्दी में भटका खा रहा है। जिसके वास्ते संसार को छान डाला वह घट ही में बैठा है। भ्रम का पड़दा दे रक्खा हैं इसी से वह नहीं दीखता ॥१३॥१४॥

समझै तो घर में रहै, परदा पलक लगाय।
तेरा साहिब तुझहि में, अन्त कहूँ मति जाय ॥ १५ ॥
मैं जानूँ हरि दूरि है, हरि हिरदै भरपूर।
मानुष ढूँढ़ै बाहिरा, नियरै होकर दूर ॥ १६ ॥

यदि इस मर्मको समझ लिया तो पलकोंके पड़दा डालके घरही में रह जाओ बाहिर जानेकी कोई जरुरत नहीं तेरा मालिक तुझही में है। अरे! हरि हृदय में भरपूर है। देखो! अत्यन्त समीप होते हुए भी अज्ञानी लोग उसे दूर जानकर बाहर ढूंढ़े व ढूंढ़ रहे हैं ॥१५॥१६॥

तिल के ओटे राम है, परबत मेरे भाय।
सत गुरु मिलि परिचै भया, तब पाया घट माँय ॥ १७ ॥
कबीर खोजी राम का, गया जु सिंगल दीप।
साहिब तो घट में बसै, जो आवै परतीत ॥ १८ ॥

ऐ मेरे भाइयों! पर्वत के समान तिल (आंखकी पुतली) के पड़दामें

राम छिपा है। जब सद्गुरु मिल गये, और उनकी कृपासे परिचय हो गया फिर आरामप्रद रामको घटही में पा लिया। विश्वास बिना रामके खोजी जी सिंगल द्वीपको गये और वह साहिब तो सबके घटमें बैठा है। विश्वास हो तो मिलें ॥१७॥१८॥

घट बढ़ कहूँ न देखिये, प्रेम सकल भरपूर।
जानै ही ते निकट है, अनजानैं ते दूर ॥ १६ ॥
कबीर बहुत भटक्कियां, मन ले विषय विराम।
ढूँढ़त ढूँढ़त जग फिरा, तिनका ओटे राम ॥ २० ॥

उसमें कमी, बेसी जरा भी नहीं है प्रेम और विश्वास होना चाहिये। जो जानता है उसको अति समीप और अज्ञानियोंको वह कोशों दूर है। प्राकृत जीव सब बहुत भटके उनके मन विषय में ही आराम लेता है। इसी कारण तृण (आँखकी पुतली) की ओटमें राम है वह नहीं देखते और सारे संसार खोज डाले ॥१६॥२०॥

राम नाम तिहुँ लोक में, सकल रहा भरपूर।
जो ज्ञानै तिहि निकट है, अनजानै तिहि दूर ॥ २१ ॥
सब खिलौने खाँड़ के, खाँड़ खिलौना माँहि।
तैसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत के माँहि ॥ २२ ॥

यद्यपि राम का नाम सकल भुवनों में प्रसिद्ध है तथापि जो जानते हैं उन्हींके समीप है अज्ञानीको तो बहुत दूर है। सम्पूर्ण जगत में ब्रह्म और ब्रह्मसे जगत ऐसे ऐसे रले मिले हैं जैसे खिलौने सब खाँड़ में और खाँड़ खिलौने में ॥२१॥२२॥

ज्यौं ही एकै महल में, प्रतिमा विविध प्रकार।
कहैं कबिर त्यौंही बसै, ब्रह्म मध्य संसार ॥ २३ ॥
दारु मध्य ज्यौं पूतरी, पुतरी मध्ये दारु।
कहैं कबिर त्यौं ब्रह्म में, भासत जग ब्यौहारु ॥ २४ ॥

जैसे एकही मन्दिर में अनेकों प्रकार की मूर्तियाँ रहती हैं। कबीर

गुरु कहते हैं कि तैसेही ब्रह्म में सारा जगत् समाया है। और जैसे काष्ठ में पुतली और पुतली में काष्ठ है तैसे ही ब्रह्म में जगत्का व्यवहार प्रतीत होता है ॥२३॥२४॥

ज्यौं मृतिका घट मध्य में, मृतिका मध्ये जोय।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मध्य जग सोय ॥ २५ ॥
ज्यौ बघूरा बाव मध्य, मध्य बघूरा बाव।
त्यौंही जग मधि ब्रह्म है, ब्रह्ममधि जगत सुभाव ॥ २६ ॥

जैसे घड़ामें मिट्टी और मिट्टीमें घड़ा है तैसेही जगतमें ब्रह्म औरब्रह्म में जगत है। इसी प्रकार वायुमें बवण्डर और बवण्डर में वायुके समान जगतमें ब्रह्म और ब्रह्ममें जगत् स्वाभाविक रहता है ॥२५॥२६॥

ज्यौं मृतिका घट फेन जल, कुंडल कनक सो आय।
त्यौं कबीर जग ब्रह्म ते, भिन्न कहूँ न दिखाय ॥ २७ ॥
जैसे तरुवर बीज महँ, बीज तरुवरै माँहि।
कहैं कबीर बिचारि के, जगत ब्रह्म के माँहि ॥ २८ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जैसे मिट्टी घड़ा, फेन जल, कनक कुण्डल और बीज वृक्ष परस्पर भिन्न नहीं हैं तैसे ही जगत् ब्रह्म परस्पर भिन्न नहीं है ॥२७॥२८॥

जैसे सूरज धूप मधि, सूरज मध्ये धूप।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मध्य जग रूप ॥ २९ ॥
जैसे स्याही अंक मधि, स्याही मध्ये अंक।
त्यौंही जग मधि ब्रह्म है, ब्रह्म मधि जगत निसंक ॥ ३० ॥

जैसे सूर्यमें ताप और तापमें सूर्य एवं मषिमें अङ्क और अङ्कमें मषि है तैसेही जगतमें ब्रह्म और ब्रह्ममें जगत् निःसन्देह समझो ॥२९॥३०॥

भूषण मध्ये कनक ज्यौं, भूषण कनक मँझार।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मधि जग निरधार ॥ ३१ ॥

दरिया मध्ये लहर ज्यौं, लहर मध्य दरियाव।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत सुभाव।। ३२ ॥

जैसे स्वर्णमें भूषण व भूषणमें स्वर्ण और सागरमें लहर व लहर में सागर है तैसे ब्रह्म में जगत व जगत में ब्रह्म है ॥३१॥३२॥

देह मध्य ज्यौं अंग है, अंगै मध्य शरीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥ ३३ ॥
नीर मध्य ज्यौं बुदबुदा, बुदबुद मध्ये नीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥ ३४ ॥

जैसे शरीरमें अवयव व अवयवमें शरीर और जलमैं बुदबुदा व बुदबुदामें जल है वैसे जगत्में ब्रह्म व ब्रह्ममें जगत है ॥३३॥३४॥

चीर मध्य ज्यौं तंतु है, तंतु मध्य ज्यौं चीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥ ३५ ॥
आँधी यथा समीर मधि, आँधी मध्य समीर।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म में जगत कबीर ॥ ३६ ॥

जैसे सूतमें वस्त्र व वस्त्रमें सूत और वायुमें आँधी व आँधी में वायु है तैसे ब्रह्ममें जगत व जगत में ब्रह्म है ॥३५॥३६॥

तम में सीत न पाइये, त्यौं पावक विस्तार।
जीव ईश जग जोइले, त्यौं ही ब्रह्म विचार ॥ ३७ ॥
ईश्वर में अरु जीव में, ब्रह्मै मध्य कबीर।
तिरविधि भेद न देखिये, सिंधु बुदबुदा नीर ॥ ३८ ॥

जैसे अन्धकारमें प्रकाश और अग्निमें ठण्ढक नहीं है तैसेंही जीव, ईश्वर, जगत और ब्रह्ममें भेद नहीं है। जीव में, ईश्वर में और ब्रह्म में तीन प्रकारके भेद ऐसे नहीं है जैसे समुद्र, बुदबुद और जल में।३७।३८।

कबीर भिन्न न देखिये, जगत ईस अरु ब्रह्म।
सब ही मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म मध्य सब भर्म ॥ ३९ ॥

व्योम मध्य ज्यौं घट मठ, अरु चिदाकास आकास ।
कहैं कबीर त्यौं ब्रह्ममें, जीव ईस जग भास ॥ ४० ॥

जीव, जगत, ईश्वर और ब्रह्म इनमें परस्पर पृथक् भाव नहीं देखने में आता । सबमें ब्रह्म और ब्रह्म में सब भ्रम है । जैसे एकही महा आकाशमें घटाकाश, मठाकाश, चिदाकाश और आकाश हैं तैसे ही व्यापक ब्रह्ममें जीव जगत व ईश प्रतीत होते हैं ॥३९॥४०॥

हथियारही में लोह ज्यौं, लोह मध्य हथियार ।
कहैं कबीर त्यौं देखिये, ब्रह्म मध्य संसार ॥ ४१ ॥
पानी मध्ये लीक ज्यौं, लीक मध्य जौं पानि ।
त्यौं जग मध्ये ब्रह्म है, ब्रह्म जगत में जानि ॥ ४२ ॥

ब्रह्ममें संसार ऐसे है जैसे लोह में हथियार, और जलमें लकीर । ये जैसे एक दूसरे से पृथक नहीं हैं तैसे ब्रह्म से जगत और जगत से ब्रह्म भिन्न नहीं है ॥४१॥४२॥

अंडज स्वेदज उदभिज, पिंडज आतम रूप ।
कहैं कबीर विचारि के, यौं ज्यौं सूरज धूप ॥ ४३ ॥
पावक एक अनेक जो, दीपक और मसाल ।
कहैं कबीर त्यौं जानिये, ब्रह्म मध्य जग जाल ॥ ४४ ॥

व्यापकका लक्षण कबीर गुरु यों विचार कर कहते हैं कि सूर्य और धूपके सदृश अण्डजादि सब आत्मरूपही हैं । अनेक ऐसे दीखते हैं जैसे एकही अग्नि के दीपक, मशाल पृथक २ प्रतीत होता है वास्तविक भेद नहीं । ऐसे ब्रह्म जगत्को समझो ॥४३॥४४॥

मोमें तोमें सरब में, जहँ देखूँ तहँ राम ।
राम बिना छिन एक ही, सरै न एकौ काम ॥ ४५ ॥
खालिक बिन खाली नहीं, सूई धरन को ठौर ।
आगै पीछै राम है राम बिना नहि और ॥ ४६ ॥

देख लो मेरे तेरे और सर्वमें राम रमा हुआ है। राम बिना एक पल भी किसीका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। उसके बिना सूई धरनेकी भी जगह नहीं है। सर्वत्र सबकुछ रामही है उसके सिवा कुछ नहीं ।४५।४६।

घट बिन कहूँ न देखिये, राम रहा भरपूर।
जिन जाना तिस पास है, दूर कहा उन दूर ॥ ४७ ॥
बाहिर भीतर राम है, नैनन का अभिराम।
जित देखूँ तित राम है, राम बिना नहिं ठाम॥ ४८ ॥

उसके बिना कोई घट नहीं देखने में आता, सब घट में राम रमा है। भेद इतनाही है कि वह जानेवालेके समीप और अनजानेसे दूर है। सबके नेत्रों को आरामप्रद राम बाहर, भीतर सर्वत्र रमा है। ऐसा कोई ठाम ही नहीं देखता हूँ कि जहाँ राम नहीं हो ॥४७॥४८॥

ज्यौं पत्थर में आग है, त्यौं घट में करतार।
जो चाहो दीदार को, चकमक होके जार ॥ ४९ ॥
साँई तेरा तुझहि में, ज्यूँ पत्थर में आग।
जोत सरूपी राम है, चित चकमक हो लाग ॥ ५० ॥

जैसे पत्थर में अग्नि छिपी है ऐसे राम सब घट में छिपा है। यदि दर्शन चाहिये तो चकमक होके रगड़ मचाओ अवश्य प्रगट होगा॥ तेरा स्वामी तुझही में ऐसे है जैसे पत्थर में अग्नि। प्रकाश रूप राम में अपने चित्त को चकमक बनाके स्पर्श करो फिर राम का दर्शन कर लो ॥४९॥५०॥

इति श्री व्यापकको अङ्ग ॥ ४१ ॥

अथ जीवत मृतकको अंग ॥ ४२ ॥

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै खलक की आस।
रच्छक समरथ सतगुरु, मति दुख पावै दास ॥ १ ॥
जीवत में मरना भला, जो मरि जानै कोय।
मरना पहिलै जो मरै, अजर अमर सो होय ॥ २ ॥

संसारकी आशा छोड़कर जीते जी मर रहे। समर्थ सद्गुरु रक्षक हैं उनके दास दुःखी कदापि नहीं हो सकते। यदि कोई आशाओंको त्यागकर मरना जाने तो ऐसा जीते जी मरना बहुत अच्छा है। प्राणपिण्ड वियोग होने के प्रथम ही जो शरीर की आशा छोड़ अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता वही अजर अमर होता है ॥१॥२॥

मरते मरते जग मुआ, औसर मुआ न कोय।
दास कबीरा यौं मुआ, बहुरि न मरना होय ॥ ३ ॥

मरते मरते यहाँ तक मरे कि सारे संसार मर गये परन्तु ऐसे कोई मौके से नहीं मरे जैसेकि मुमुक्षु जन जीते जी मरते हैं। जिससे उन्हें फिर मरना नहीं होता ॥३॥

वैद मुआ रोगी मुआ, मुआ सकल संसार।
एक कबीरा ना मुआ, जाके नाम अधार ॥ ४ ॥
कबीर मन मितरक भया, दुरबल भया शरीर।
पाछे लागै हरि फिरै, कहैं कबीर कबीर ॥ ५ ॥

वैद्य, रोगी और सम्पूर्ण संसार सब मर गये। एक वही जिज्ञासु नहीं मरा जो रामकी शरण लिया। उसका मन जीतेजी मर गया और शरीर

दुबला हो गया। फिर तो उसकी रक्षा में प्रभु स्वयं उसके नाम ले ले पीछे पीछे फिरने लगे ॥४॥५॥

काया माँहि समुद्र है, अन्त न पावै कोय।
मितरक ह्वै करि जो रहै, मानिक लावै सोय ॥ ६ ॥

शरीरही में समुद्र है सद्‌गुरु सत्संग बिना इसका अन्त कोई नहीं पाता। जो जीतेजी मृतक दशा धारण करता है वही मणिको खोजकर लाता है ॥६॥

मैं मरजीवा समुँद्र का, डुबकी मारी एक।
मूँठी लाया ज्ञान की, जामें वस्तु अनेक ॥ ७ ॥

मैं सद्‌गुरु कृपासे जीतेजी शरीर समुद्रके मरजीवा बनके उसमें एक ऐसी डुबकी लगाई। और जिसमें अनेकों अमूल्य वस्तु है ऐसी ज्ञानकी मुट्ठी भरलाई ॥७॥

डुबकी मारी समुँद्र में, जाय निकस आकास।
गगन मंडल में घर किया, हीरा पाया दास ॥ ८ ॥
हरि हीरा क्यौं पाइये, जिन जीवै की आस।
गुरु दरिया सें काढ़सी, कोइ मरजीवा दास ॥ ९ ॥

पिण्ड रूप समुद्र में गोता लगाया और ब्रह्माण्डरूप आकाश में जा निकला। गुरुकी कृपासे जिज्ञासु जन गगन गुफामें घर (स्थिति) करके हरि रूप हीरा को पा लिये। और जिन्हें जीनेकी आशा है वे हरि हीरा कैसे पावेंगे। उसे तो कोई मरजीवा दासही गुरु दरियासे निकालते हैं॥

गुरु दरिया सूभर भरा, जामें मुक्ता लाल।
मरजीवा ले नीकसे, पहिरि छिमा की खाल ॥ १० ॥

सद्‌गुरु सत्संग रूप दरियामें निर्मल ज्ञान रूप जल खूब भरा है जिसमें मुक्तिरूपी अनेकों मुक्ता लाल (रत्न) भरे पड़े हैं। परन्तु उन्हे वे ही निकालकर लाते हैं जो जीतेजी मरे और क्षमारूपी चर्म सारे शरीर में लपेटे हैं ॥१०॥

तन समुद्र मन मरजीवा, एक बार धसि लेय ।
कै लाल लइ नीकसै, कै लालच जिव देय ॥ ११ ॥

शरीर रूप समुद्रमें मन रूप मरजीवा जो एक वार गोता लगाले तो लालच वश या तो प्राण गमाया या मुक्ता रत्न लेई कर निकलेगा ॥११॥

मोती निपजै सीप में, सीप समुन्दर माँहि ।
कोय मरजीवा काढ़सी, जीवन की गम नाँहि ॥ १२ ॥

मोती सीप में पैदा होता है और सीप समुद्रमें । वही मरजीवा इसे काढ़ता है जिसे जीनेकी परवा नहीं है ॥१ ॥

मन को मिरतक देखिके, मति माने विश्वास ।
साधु तहाँ लौं भय करै, जबलग पिंजर साँस ॥ १३ ॥

मन विषयोंसे मर गया ऐसा इसपर विश्वास हर्गिज न करो क्योंकि सन्त इससे तबतक डरते हैं जबतक पिंजरे में श्वासका सञ्चार है ॥१३॥

मैं जानूँ मन मरि गया, मरि करि हूआ भूत ।
मूये पीछे उठि लगा, ऐसा मेरा पूत ॥ १४ ॥

मैंने समझा था कि मन मर गया पर यह मरा क्या ? मेरा बेटा ऐसा मर कर भूत हुआ कि फिर उठकर पीछे लग गया ॥१४॥

मनको मनसा मिटि गई, अहं गई सब छूट ।
गगन मंडल में घर किया, काल रहा सिर कूट ॥ १५ ॥

जब मनकी तृष्णा के साथ सारी अहन्ता ममता भी छूट गई और गगन गुफामें स्थिति हो गई तब काल शिर कूट २ रह गया और उसपर कुछ वश न चला ॥१५॥

मोहिं मरन की चाव है, मरूँ तो राम दुवार ।
मति हरि बुझै बातरी, दास मुआ दरबार ॥ १६ ॥

मुझे मरनेकी चाह तो बड़ी है परन्तु अलग नहीं, राम द्वारे । भले प्रभु बात न पूँछे किन्तु दास तो दरबारही में मरा न ॥१६॥

मोहिं मरन की चाव है, मरूँ तो राम दुवार ।
की तन का कुटका करूँ, की ले उतरूँ पार ॥ १७ ॥

मुझे राम द्वारे मरनेकी चाह इसलिये है कि इस तनको उसके दरबार में बलिदान कर दूँ या पार उतार ले जाऊँ बस ! यही प्रण है ॥१७

जा मरना सों जग डरै, मेरे मन आनन्द ।

कब मरिहौं कब भेंटिहौं, पूरन परमानन्द ॥ १८ ॥

जिस मौतसे संसार डरता है उससे मेरे मनमे बड़ा आनन्द है। मैं चाहता हूँ कि कब मरकर उस पूर्ण स्वरूपानन्द में मिल जाऊँ जहां से फिर आना नहीं होता है ॥१८॥

ऊँचा तरुवर गगन फल, बिरला पंछी खाय ।

इस फल को तो सो चखै, जो जीव मरिजाय ॥ १९ ॥

बहुत ऊंचा वृक्ष है, आकाश में फल लगे हैं इस फलको वेही बिरले पक्षी चखने पाते हैं जो जीतेजी मर जाते हैं ॥१९॥

जब लग आस शरीर की, मिरतक हुआ न जाय ।

काया माया मन तजै, चौड़े रहै बजाय ॥ २० ॥

जब तब शरीर में आसक्ति है तब तक जीतेजी मरा नहीं जाता। जब कायाकी माया मन त्यागता है तब सत्संग मैदान में निर्भय निशान बजाके रहता है ॥२०॥

खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय ।

राम कसौटी सो टिकै, जीवत मिरतक होय ॥ २१ ॥

रामकी सच्ची कसौटी (परीक्षा) है, झूठा कोई भी नहीं ठहर सकता। उसपर वही टिकता है जो जीते जी मरा है ॥२१॥

राम कहो तो मरि रहो, जीवत मिले न राम ।

जब लग जीवत राम है, तब लग काचा काम ॥ २२ ॥

बस ! यदि राम कहना है तो जीते जी मर जाओ क्योंकि जीवितको राम नहीं मिलता। ऐ रमैया राम ! जब तक तू संसार में जीता है तब लग तेरा काम सब कच्चा है ॥२२॥

मूये को क्या रोइये, जो अपने घर जाय ।

रोइये बन्दीवान को, हाटै हाट बिकाय ॥ २३ ॥

भक्त मरे क्या रोइये, जो अपने घर जाय।
रोइये साकिट बापुरे, हाटों हाट बिकाय ॥ २४ ॥

उस मुर्देको क्या रोना है जो निज घरको जा रहा है। उस कैदी के लिये आँसू गिराओ जो चौरासी लक्ष योनिरूप बाजार में बिके जा रहा है उन भक्तोंके लिये क्या रोना है ? जो इस नश्वर तनको छोड़कर निज अमर घरको जा रहे हैं। उन बेचारे साकटोंके लिये रोओ जो चौरासी हाटमें बिकने जा रहे हैं ॥२३॥२४॥

मिरतक का दावा किसा, अहं रहै नहिं कोय।
मुआ मसाना पर जलै, यह कछु अचरज होय ॥ २५ ॥

जिसने सर्वथा अहंकारको छोड़ दिया ऐसे जीवित मृतकको अधिकार कैसा ? कुछ नहीं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि जो मुआ मशान अर्थात् जीतेजी मरा है वह अपना तो क्या पर दूसरेको भी ज्ञान दीपक जलाके प्रकाश कर देता है ॥२५॥

कबीर मर मरघट गया, किनहूँ न बूझी सार।
हरि आगे आदर लिया, गऊ बच्छा की लार ॥ २६ ॥

जिज्ञासु जन जीते जी मर के मशान में चले गये किसी ने उनके सार तत्वको नहीं समझा जैसे गौके साथ बछड़ेको सत्कार होता है ऐसे हरिके सामने उसने आदर पा लिया ॥२६॥

पैंड़ा माँही पड़ि रहो, दुरबल मिरतक होय।
जिहि पैंड़े जम लूटिया, बात न बूझै कोय ॥ २७ ॥

जिस रास्ते में यम सबको मारता है उसी रास्ते में तुम जीतेजी दुर्बल और मृतक होके पड़े रहो कोई बात तक भी नहीं पूछेगा ॥२७॥

मरना भला विदेस का, जहँ अपना नहिं कोय।
जीव जन्तु भोजन करैं, सहज महोछा होय ॥ २८ ॥

उस प्रदेशका मरना बहुत अच्छा है जहाँ पर अपना कोई मोह करनेवाला न हो। शरीरको जीव जन्तु सब भोजन कर लेते बिना परिश्रमही मृतक भोज भी हो जाता है ॥२८॥

कबीर चेरा सन्त का, दासन हूँ का दास ।
अब तो ऐसा ह्वै रहु, पाँव तले का घास ।। २९ ।।

ऐ कबीर ! सन्तोंका सेवक दासोंका भी दास होता है। अब तो ऐसा होके रहो जैसे पग नीचेकी घास ।।२९।।

रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि आपा अभिमान ।
लोभ मोह तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान ।। ३० ।।

स्वत्वका सर्वथा अहंकार त्यागकर रास्तेका रोड़ा हो जावो जिसमें लोग पगसे ठुकराया करें। जो लोभ, मोह और तृष्णाको त्यागता है उसीको भगवान मिला व मिलता है ।।३०।।

रोड़ा ह्वै तो क्या भया, पंथी को दुख देह ।
साधू ऐसा चाहिये, जस पैंड़े की खेह ।। ३१ ।।
खेह भई तो क्या भया, उड़िउड़ि लागे अंग ।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा नीर निपंग ।। ३२ ।।

रोड़ा हुआ तो क्या हुआ। उलटे राही को दुखदाई बना। सन्त को तो ऐसा होना चाहिये जैसे रस्तेकी धूल। परन्तु धूल भी उड़कर अङ्ग पर पड़ती है अतएव साधुको बिना पैरके जलके सदृश होना चाहिये ।।

नीर भया तो क्या भया, ताता सीरा होय ।
साधू ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय ।। ३३ ।।
हरी भया तो क्या भया, करता हरता होय ।
साधू ऐसा चाहिये, हरि भजि निरमल होय ।। ३४ ।।

नीर भी कभी कभी अत्यन्त गर्म और ठण्डा हो जाता है अतः साधु को परमेश्वर रूपही होना चाहिये। लेकिन उसमें भी गुञ्जायस नहीं क्योंकि हरिमें कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्तापनेका अहंकार रहता है। और साधुको हरि सुमिरनसे निर्मल होना चाहिये ।।३३।।३४।।

निरमल भया तो क्या भया, निरमल माँगै ठौर ।
मल निरमल सों रहित हैं, ते साधू कोइ और ।। ३५ ।।

निर्मल होनेमें भी ठीक नहीं, क्योंकि उसके लिये श्रेष्ठ भूमिका चाहिये। इसलिये मल और निर्मलपनेके अहंकारसे जो रहित हैं वे कोई बिरले सन्त हैं ॥३५॥

जन पाँवन भुँई बहु फिरा, देखा देस विदेस।
तिन पाँवन थिति पकड़िया, आँगन भया विदेस ॥ ३६ ॥

जिन पगोंसे बहुतेरे रास्ते तय करके देश और विदेशको देख डाला। अब गुरु कृपासे उन्हीं पगों से जब स्थिति हो गई तब घर का आँगन भी विदेश हो गया ॥३६॥

मन उलटो दरिया मिला, लागा मल मल न्हान।
थाहत थाह न पावई, तूँ पूरा रहमान ॥ ३७ ॥

तरंग रूप मन उलट कर आतमरूप सागरमें मिल गया और खूब मल मलकर नहाने लगा। अरे! तूँ पूरे अथाह दयासागर है तेरी थाह को कोई नहीं पा सकता ॥३७॥

अजहूँ तेरा सब मिटे, जो जग मानै हार।
घर में झगरा होत है, सो घर डारो जार ॥ ३८ ॥

अब भी तेरा सब फेरा मिट जाय यदि तू जगत से हार माने। उस घरको जला दो जिस घरमें अहोरात्र कलह कल्पना हुआ करती है ॥३८

अजहुँ तेरा सब मिटे, जो मन राखै ठौर।
गम हो ते सब छोड़ दे, अगम पंथ कूँ दौर ॥ ३९ ॥

तेरा चौरासी फेरा अभी पल भरमें मिट जाय तो तू मन को तनमें स्थिर रखे। बस! गम ज्ञान हो उसे छोड़के अगम (सद्गुरु) की राह ले ॥३९॥

मैं मेरा घर जालिया, लिया पलीता हाथ।
जो घर जारो आपना, चलो हमारे साथ ॥ ४० ॥

मैंने अपने कलह घरको ज्ञान पलीता हाथ में लेके स्वयं जला दिया ऐसाही अब जो कोई अपना घर जलायेगा वह हमारे साथ चलेगा अथवा हमारे साथ चलने वालेको मोह-घर जलाना होगा ॥४०॥

कबीर मिरतक देख कर, मति धारो विश्वास।
कबहूँ जागै भूत होय, करे पिंड को नास ॥ ४१ ॥

ऐ कबीर ! इस मनको मृतक देखकर विश्वास मत कर । यह कभी कभी भूत होकर जाग उठता और शरीरको सत्यानाश कर डालता है ॥

मिरतक तो तब जानिये, आपा धरे उठाय ।
सहज सुन्न में घर करे, ताको काल न खाय ॥ ४२ ॥

मृतक तब समझना जब नखसे शिखा पर्यन्त अहंकारको उठाकर ताखेमें डाल दे । और निरालम्ब स्वरूप में स्थिति कर ले । फिर और की तो क्या कथा उसे काल भी नहीं खाता ॥४२॥

सहज सुन्न में पाइये, जहँ मरजीवा मन ।
कबीर चुनि चुनि ले गया, भीतर राम रतन ॥ ४३ ॥

ऐ कबीर ! अन्दर सहज शून्य में निरालम्ब रामरत्नको चुनकर वही मन ग्रहण करता है जो जीते जी मरजीवा बना है ॥४३॥

पाँचौ इन्द्री छठा मन, सत संगति सूचंत ।
कहैं कबीर जम क्या करें, सातों गाँठि निचंत ॥ ४४ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि उसे यम क्या करेगा ? जिसने सुचित्त होकर पाँचों इन्द्रियोंको वश करके और छठवाँ मनको सातवें सत्स्वरूप में दृढ़ गाँठ लगा दी है और बेफिक्र है ॥४४॥

सब्द विचारी जो चले, गुरुमुख होय निहाल ।
काम क्रोध ब्यापै नहीं, कबू न ग्रासे काल ॥ ४५ ॥

गुरुमुख शब्दको विचारकर जो व्यवहार करता है वह कृतकृत्य होता है । नतो कभी उसे काम क्रोध ही व्याप्ता न कालही ग्रासता है ॥४५॥

सूर सती का सहल है, घड़ी इक का घमसान ।
मरै न जिवै मरजीवा, धमकत रहै मसान ॥ ४६ ॥

शूर और सती काम इसलिये सरल है कि वह एक घण्टा में फैसला हो जाता है । और मरजीवा का काम इसलिये कठोर है कि न वहाँ मरना है न जीना है किन्तु काम क्रोधादि रूप श्मशान जो सदा धधकता रहता है उसीको सहन करना है ॥४६॥

इति श्री जीवत मृतकको अङ्ग ॥४२॥

अथ सजीवनको अंग ॥ ४३ ॥

जरा मीच ब्यापै नहीं, मुआ न सुनिये कोय।
चल कबीर वा देश को, वैद रमैया होय ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! उस देशको चल चलो जहाँ रमैया राम वैद्य है। उस देशमें जरा, मौत नहीं व्याप्ती और किसीको मरने का तो नाम तक भी नहीं सुना जाता है ॥१॥

भौसागर ते यौं रहो, ज्यौं जल कमल निराल।
मनुवाँ वहाँ ले राखिया, जहाँ नहीं जम काल ॥ २ ॥

संसारसिन्धुसे पृथक ऐसे रहो जैसे कमल जलसे। और मनोवृत्तिको बस आत्मस्वरूपमें लगा रक्खो जहाँ मृत्यु और कालकी गति नहीं ॥२॥

कबीर जोगी बन बसा, खनि खाया कन्द मूल।
ना जानौं किस जड़ीसे, अमर भया अस्थूल ॥ ३ ॥

ऐ कबीर ! योगी जंगल में रहने लगा और कन्द, मूल खनकर खाने लगा। कुछ पता नहीं किस जड़ीसे स्थूल शरीर अमर हो गया। भावार्थः सन्तोंके सत्संगमें सत्संगी जन मुक्ति की ज्ञान युक्ति पा जाते हैं ॥३॥

कबीर तो पिव पै चले, माया मोहि सें तोरि।
गगन मंडल आसन किया, काल रहा मुख मोरि ॥ ४ ॥

सत्संगियोंकी वृत्ति संसार-मोहसे निवृत्त होकर प्रभुके प्रति चली और वहाँ निरालम्ब स्वरूप में दृढ़ आसन जमा ली फिर काल मुख मोड़ के रह गया ॥४॥

कबीर मन तीखा किया, लाय बिरह खरसान।
चित चरनों सों चपटिया, (का) करै काल का बान ॥ ५ ॥

सत्संगियोंने ज्ञान विरह रूपी खरसान को लेकर मनको ऐसा तीक्ष्ण बनाया कि एकदम सद्गुरु चरणोंमें चित चिपट गया। अब उसपर काल का बाण क्या करे ॥५॥

काची रति तूं मति करै, दिन दिन बढ़ै बियाध।
राम कबीरा रुचि भई, याहि औषधि साध ॥ ६ ॥

कच्ची प्रीति मत करो, उससे प्रतिदिन दुखदाई व्याधि बढ़ती है। ऐ कबीर ! उसी औषधिको साधो जिससे रमैया राममें प्रेम बढ़े ॥६॥

कनुवाँ भया दिसन्तरी, बोलै शब्द रसाल।
बात दिसावर की कहै, तहाँ नहीं जमकाल ॥ ७ ॥
ऐसी तीखी सुरति है, फोड़ि गई ब्रह्मंड।
राम निराला देखिया, सात द्वीप नव खंड ॥ ८ ॥

सत्संगियोंका मन परदेशी बन गया, प्रेम उत्पादक मधुर शब्द बोलता है। उसी देशावरकी बातभी करता है जहाँ मृत्युरूप काल नहीं है उनकी वृत्ति ऐसी तीव्रतर हो गई कि सात द्वीप और नव खण्ड ब्रह्माण्डको फोड़ कर निकल गई और उसने निराला रामका दर्शन कर लिया ॥७॥८॥

राम रमत अस्थिर भया, ज्ञान कथत भय लीन।
सुरत शब्द एकै भया, जल ही ह्वैगा मीन ॥ ९ ॥

मनीराम, राममें रमते २ स्थिर हो गये और ज्ञान कथते २ ज्ञानमें ऐसे लीन हो गये जैसे सुरति शब्द स्वरूप और मीन जलरूप हो गई॥

राम मरै तो हम मरैं, नातर मरै बलाय।
अविनासी के चेटवा, मरै न मारा जाय ॥ १० ॥

अब तो मेरे राम मरैं तब हम मरैं नहीं तो मेरी बला मरे। अविनाशी के बच्चा न स्वयं मरता न मारा जाता है ॥१०॥

कबीर संशय दूरि कर, जनम मरन अरु भरंम।
पंच तत्त्व तत्वों मिला, सुन्न समाना मरंम ॥ ११ ॥

ऐ कबीर। जन्म, मरण और भ्रम ये संशयों को दूर कर दे। पाँच

तत्वोंमें सब तत्त्व मिल गये और शून्यमें शून्य समा गया। और बाकी तू स्वयं रहा बस ! उसीको जान ले। यही मर्म है ॥११॥

जम जोरा तो है नहीं, सबै राम का रूप।
संसै खाई पिरथिवी, रहा कबीरा कूक ॥ १२ ॥
तरुवर तासु बिलंबिया, बारह मास फलंत।
सीतल छाया सघन फल, पंछी केलि करंत ॥ १३ ॥

अब यमका जोरा नहीं रहा, सब राम का स्वरूप हो गया। और संशय शोकको पृथ्वीकी खाई में डालके जिज्ञासु कोकिल बनके गुरूशब्द में कूकने लगे। और उस श्रेष्ठ वृक्ष पर जा बैठे जिसमें बारह महीने सुन्दर शीतल छाया और सघन फल लगे हैं। पक्षीगण मनमाना आनन्द ले रहे हैं ॥१२॥१३॥

मुक्ता बाँये दाहिने, मुक्ता आगै पीठि।
मुक्ता धरनि अकास में, मुक्ता मेरी दीठि ॥ १४ ॥
मुक्ता पैड़ा जब भया, प्रश्न मुक्ति निरबान।
रूप मुक्ति तब जानिये, देखे दृष्टि पिछान ॥ १५ ॥

बांये दहिने और आगे पीछे तथा पृथ्वी, आकाश एवं सर्वत्र मेरी निगाहमें मुक्ति ही मुक्ति है। जब मुक्तिका मार्ग हुआ तब प्राण भी मुक्त हो निर्बन्ध पद पा गया। तबही मुक्तिका स्वरूप जानो जब विवेक दृष्टि से उस स्वरूप को पहिचान ले ॥१४॥१५॥

इति श्री सजीवनको अङ्ग ॥ ४३ ॥

अथ बेहदको अंग ॥ ४४ ॥
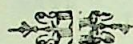
हद छोड़ा बेहद गया, लिया ठीकरा हाथ ।
भया भिखारी राम का, दरसन पाय सनाथ ॥ १ ॥

कुल मर्यादा आदि हद्दको छोड़ दिया बेहद सद्गुरु की शरणमें जाके ठीकरा हाथ में उठा लिया । और रामके भिक्षुक बनके दर्शन कर परम सनाथ हो गया ॥१॥

हद बेहद दोऊ तजी, अबरन किया मिलान ।
कहैं कबीर ता दास पर, वारौं सकल जहान ॥ २ ॥

फिर हद्द-वर्ण और बेहद-आश्रम इन दोनोंकी मर्यादाको त्यागकर जिसमें कोई चीन्ह नहीं ऐसे अलिग स्वरूप में मिल गया । कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसे दास पर सर्वस्व निछावर है ॥२॥

हद छाँड़ी बेहद गया, अबरन किया मिलान ।
दास कबीरा मिलि रहा, सो कहिये रहिमान ॥ ३ ॥

वही रहम करने वाला, दयालु रहमान कहलाता है जो हद्द और बेहदको त्यागकर अबरन (सर्वातम रूप) से मेल किया है ॥३॥

हद छाँड़ी बेहद गया, सुन्न किया अस्थान ।
मुनिजन महल न पावहीं, तहाँ लिया बिस्राम ॥ ४ ॥

क्यों न धन्यबाद हो जबकि हद और बेहद दोनों को छोड़ कर उस निरालम्ब स्थान में आसन लगा के विश्राम लिया जहाँ श्रेष्ठ मुनिजन भी एकाएक नहीं पहुंचते ॥४॥

हद छाँड़ी बेहद गया, रहा निरन्तर होय ।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय ॥ ५ ॥

हद छोड़कर बेहद में जाके पड़दा रहित बेफिक्र हो गये। और वहाँ अचिन्त निद्रा लेने लगे "निर्भय भये तहाँ गुरु की नगरियाँ, सुख सोवे दास कबीरा हो" इत्यादि बीजक ॥५॥

हद छाँड़ी बेहद गया, तासों राम हजूर।
पारब्रह्म परिचै भया, अब नियरै तब दूर ॥ ६ ॥

जो हद्दको छोड़कर बेहद में पहुँचता है उसके राम समीप हो जाते और वह पारब्रह्मसे भी परिचय कर लेता है। क्योंकि अब सब नजदीक हैं पहिले दूर था ॥६॥

हद में पीव न पाइये, बेहद में भरपूर।
हद बेहद की गम लखै, तासों पीव हजूर ॥ ७ ॥

हद्द—वर्णाश्रम कुल पंथके झगड़ेमें प्रभु नहीं मिलते जो इस फन्दे को तोड़ता है वही सम्पूर्ण स्वामीको पाता है। जो हद्द बेहद्द को भलोभांति पहिचानता है उसीसे प्रभु समीप होते हैं ॥७॥

हद में बैठा कथत है, बेहद की गम नाँहि।
बेहद की गम होयगी, तब कछु कथना नाँहि ॥ ८ ॥

जिसे बेहद्दका ज्ञान नहीं है वही हद्दमें बैठा हुआ कथनी कथा करता है। बेहद्द के ज्ञान होतेही कथनी मिट जाती है ॥८॥

हदिया सेती हद रहो, बेहदिया बेहद्द।
जो जैसा जहँ रोगिया, तहँ तैसी औषद्द ॥ ९ ॥

जो हद्दमें रहने वाला है वह हद्दके व्यवहारमें रहो और बेहदिया बेहद्द में। क्योंकि रोगके अनुसार ही औषधि योग्य होती है ॥९॥

कबीर हद के जीव सों, हित करि मुखै न बोल।
जो राचै बेहद्द सों, तिनसों अन्तर खोल ॥ १० ॥

ऐ कबीर! जो लोग लोकलाजमें पड़े हैं उनसे आन्तरिक प्रेमवार्ता मत बोलो। अन्तःकरणसे प्रीति उनसे करो जो हद्दके फन्दे से बाहर हैं॥

हद विचारु हद तजि, बेहद तजि मेलो आस।
सबै अलिंगन मेटि के, करो निरन्तर बास ॥ ११ ॥

बेहद्द (आत्मस्वरूप) का विचार करो, हद्दकी आशा छोड़ दो। सब आलिंगन (अवलम्बन) को त्याग कर निरालम्ब हो निरन्तर स्वरूपमें निवास करो। बस ! यहीं सुख श्रेयकी सीमा है ॥११॥

निरंतर बासी निरमला, सुक्ष थूल सों न्यार।
गंग पुरब पच्छिम बहै, पेखै बहु उजियार ॥ १२ ॥

जो आत्मस्वरूपमें निरन्तर निवास करता है वह स्थूल सूक्ष्मसे अलग निर्मल रहता है। उसके श्वासारूप गंगाका प्रवाह पूर्व (सामने) से पश्चिम (मेरुदण्ड) को वहता है और वह खूब प्रकाश देखता है ॥१२॥

बेहद अगाधी पीव है, ये सब हद के जीव।
जो नर राते हद्द सों, कधी न पावै पीव ॥ १३ ॥

बेहद्द स्वरूप प्रीतम में रमनेवाले सन्त अगाध हैं। और इतर जीव सब जो हदमें रचे पचे हैं वे स्वामीको कभी नहीं पाते ॥१३॥

काँसै ऊपर बिजुरी, पड़ै अचानक आय।
तातै निरभय ठीकरा, सतगुरु दिया बताय ॥ १४ ॥

काँसेके ऊपर सहसा बिजुली पड़ जाती और ठीकरा पर नहीं, अतः सद्गुरु का बताया हुआ ठीकरा सर्वथा ठीक व निर्भय कारक है। सांसारिक सुख सदा सुखमय है और वैराग्य सदा निर्भय है ॥१४॥

अगह गहै रु अकह कहै, अनहद भेद लहाय।
अनभै बानी अगम की, ले गइ संग लगाय ॥ १५ ॥

जो सद्गुरु सत्संग से अगहको ग्रहण और अकहको कथन करता है। वही बेहद्दका भेद पाता है। क्योंकि अनुभव की वाणी अपने संग आगम की गम करा देती है ॥१५॥

जहाँ शोक व्यापै नहीं, चल हंसा उस देस।
कहैं कबीर गुरुगम गहो, छाँड़ि सकल भ्रम भेस ॥ १६ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ हंस ! उस देशको चल चलो जहाँ शोक, मोह नहीं है। और सर्व भ्रम भेषको छोड़कर एकही सद्गुरुकी गम (ज्ञान) ग्रहण करो। सारांश यह है कि ईश्वर का स्वरूप और सृष्टि रचना

सिद्धान्तका निर्णय करनेके बखेड़ेमें न पड़कर श्रद्धाभक्ति पूर्वक केवल सद्‌गुरुका बताया हुआ एकही मार्गको पकड़ कर आगे बढ़ना आरम्भ करना चाहिये । ज्यों ज्यों आगे बढ़ा जायगा, रहस्य आपही खुलता जायगा । जो मनुष्य चलना आरम्भ न कर, व्यर्थही निर्णय में लगे रहते हैं तो वे अवश्य किसी न किसी के मतके आग्रही बनकर नर जीवनको लड़ाई झगड़ेमेंही व्यर्थ खो देते हैं । इस बातको अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि तत्वकी प्राप्ति शास्त्रार्थसे नहीं होती, गुरुदेवकी सेवा और उनके बतलाये हुए मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलनेसे ही होती है ॥१६॥

अगम पंथ को मन गया, सुरति भई अगुवान ।
तहाँ कबीरा मँडि रहा, बेहद के मैदान ॥ १७ ॥

जब वृत्ति आगे चली फिर मन भी अगम पंथको चल पड़ा । और सत्संगी जन बेहद्के मैदानमें जाके अडिग आसन जमा दिये ॥१७॥

कबीर चाला जाय था, पूछि लिया इक नाम ।
चलता चलता तहँ गया, गाँव नाम नहिं ठाम ॥ १८ ॥

सत्संगी जन सद्‌गुरुसे एक नाम पूछकर रास्ते लग गये और ठीक उसी ठामको पहुँच गये जहाँ नाम और ग्राम नहीं ॥१८॥

कहा बरनौं कांति छवी, बरनत बरनि न जाय ।
चिकुरन के उजियार ते, विधु कोटिक सरमाय ॥ १९ ॥

उसकी शोभाका क्या कोई वर्णन करै, नहीं हो सकता । जहाँ एक बाल के प्रकाशमें करोड़ों चन्द्रमा लजाते हैं ॥१९॥

जहाँ पुरुष सत भाव है, तहँ हंसन को बास ।
नहीं जमन को नाम है, नहिं तृस्ना नहिं आस ॥ २० ॥

जहाँ सत्य की भावना और सत्य पुरुष विराजते हैं, वहाँ हंसोंका निवास होता है । वहाँ पुनः जन्म लेनेका नाम तक भी नहीं तो आशा, तृष्णाकी क्या कथा ? ॥२०॥

हरष शोक वा घर नहीं, नहीं लाभ नहिं हान ।
हंसा परमानन्द में, धरें पुरुष को ध्यान ॥ २१ ॥

उस धाम पर हर्ष, शोक, हानि लाभ कुछ नहीं। हंस लोग पुरुषके ध्यान ही में मग्न हैं ॥२१॥

नहिं देवी नहिं देव है, नहिं षट करम अचार।
नहिं तीरथ नहिं ब्रत है, नहिं बेद उच्चार ॥ २२ ॥
उतपति परलै उहँ नहीं, नहीं पुन्य नहिं पाप।
हंसा परमानन्द में, सुमिरें सतगुरु आप ॥ २३ ॥

न वहाँ देवी न देव न षटकर्म न आचार न तीर्थ न व्रत न वेद न उच्चार न उत्पत्ति न प्रलय न पाप। बस! स्वयं सद्गुरु के ध्यान ही में हंस आनन्दित हैं ॥२२॥२३॥

नहिं सागर संसार है, नहीं पवन नहिं पानि।
नहिं धरती आकाश है, नहि ब्रह्मा न निसानि॥ २४ ॥
चन्द्र सूर वा घर नहीं, नहीं करम नहिं काल।
मगन होय नामहि गहै, छूटि गयो जंजाल ॥ २५ ॥

न वहाँ संसार है न सिन्धु न वायु न जल न जमीन आसमान न ब्रह्मा न उसकी निशानी। उस धाम पर चन्द्र सूर्य नहीं प्रकाशता न वहाँ काल, कर्मकी गति है! वहाँ जगत जाल विमुक्त हंस सद्गुरु-ज्ञान में मस्त हैं ॥२४॥२५॥

देही माँहि विदेह है, साहब सुरति सरूप।
अनंत लोक में रमि रहा, जाको रंग न रूप ॥ २६ ॥
कबीर गुरु है हद्द का, बेहद का गुरु नांहि।
बेहद आपै ऊपज, अनुभव के घर माँहि ॥ २७ ॥

देहमें ही साहब विदेह हैं,स्वरूपको वृत्तिसे समझो जिसे कोई रंग रूप नहीं और अनन्त लोक में रम रहा है। ऐ कबीर! गुरु हद्द का है बेहद्द का नहीं। चित्स्वरूपका अनुभव स्वयं प्रकाशित और स्वयं वेद्य है ॥२७॥

बुद्धि कहै सुन माहुला, घट भीतर ही देख।
दोय तीन मिल पांच ले, सबद ब्रह्म ही पेख॥ २८

निश्चयात्मक बुद्धि कहती है, ऐ माहुला ! जीव ! सुन, घरही में अन्तर्दृष्टि कर देख और दोय नाम सगुण निर्गुण तथा तीन-त्रिगुण माया एवं पंच ज्ञानेन्द्रियें मिलाके शब्द ब्रह्मको समझ ले ॥२८॥

अर्धे पवन चढ़ाय ले, ऊर्धे आन मिलाय।
अष्ट कमल की राह से, मूल कँवल लव लाय ॥ २९ ॥
गगन महल भाटा रुपी, चुवै अगर की धार।
जिन रहनी माथै रहै, पीवत संत सुधार ॥ ३० ॥

नीचेकी वायु चढ़ाके ऊपरकी वायुमें मिला दे। और अष्ट कमलकी राहसे मूल कालमें ध्यान लगावे। और गगन महलमें जो भट्टी लगी है वहैंसे अमृत की धारा बह रही है। जो इस रहनीसे सन्त रहते हैं वे उस सुधारको पान करते है ॥२९॥३०॥

गंगा जमुना सुरसती, हो तिरबैनी तीर।
साहिब कबीर वेहद छके, अम्मर होत शरीर ॥ ३१ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जो इङ्गला पिङ्गला और सुषुम्णा इन तीनों त्रिवेणीको पार करके जो बेहद चितिस्वरूप छकेंगे वेही अमर होंगे ॥३१

सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान।
निरगुन सरगुन के परै, तहाँ हमारा ध्यान ॥ ३२ ॥

सद्गुरु सगुणकी सेवा करके निर्गुण माया रहित निर्गुणका ज्ञान प्राप्त करो फिर निर्गुण सगुणसे परे चिति मात्रका चिन्तन करो वही हमारा ध्येय है ॥३२॥

निरालब की खोज में, सब जग पड़ी भुलाय।
जब सतगुरु दाया करै, तबही पड़ै लखाय ॥ ३३ ॥

उस निरालम्बकी खोजमें सब जग भूले पड़े हैं। बिना सद्गुरु कृपासे उसे कोई नहीं लख सकता ॥३३॥

इति श्री बेहदको अङ्ग ॥ ४४ ॥

अथ अबिहड़को अंग ॥ ४५ ॥
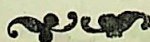
अबिहड़ अखंडित पीव है, ताका निरभय दास।
तीनों गुन को मेलि के, चौथे किया निवास ॥ १ ॥

अबिहड़ और अखण्डित एक स्वामी हैं। और त्रिगुण मायाको तिरस्कारकर चौथे चैतन्य पदमें निवास करनेवाले उन्हीके दास निर्भय हैं॥

कबीर साथी सोइ किया, दुख सुख जाहि न कोय।
हिल मिल के संग खेलई, कबहुँ बिछोह न होय ॥ २ ॥

सत्संगी जन उसीका साथ किये व करते हैं जिसमें सुख दुःखादि द्वन्द्व नहीं है। उसीमें हिलमिलके आनन्द लेते हैं कभीभी अलग नहीं होते॥

आदि अन्त अरु मध्य लौं, अबिहड़सदा अभंग।
कबीर उस करतार का, कभी न छाड़ै संग ॥ ३ ॥

आदि, मध्य और अन्त तक अविचल स्वामी सदा एकरस है। उसीके संग सत्संगीजन सदा रहते कभी संग नहीं छोड़ते हैं ॥३॥

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोय।
गुन औगुन बेड़ै नहीं, स्वारथ बंधा लोय ॥ ४ ॥

ऐ कबीर! मालिक बिना संसार में अपना हितकर कोई नहीं। संसारी लोग सब स्वार्थमें बन्धाये हैं गुण अवगुण नहीं समझते ॥४॥

अनहद बाजे निझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
अविगति अन्तर परगटै, लागे परम धियान ॥ ५ ॥

सन्तोंके सत्संगमें अनहद्द ध्वनि तथा निरझरका झरना एवं ब्रह्म क्या वस्तु है इन सबोंका ज्ञान होता है। और परम ध्यान लगनेसे भीतर ही अविचल प्रत्यक्ष होता है ॥५॥

इति श्री अबिहड़को अंग ॥ ४५ ॥

अथ भ्रमविध्वंसको अंग ॥४६॥

पाहन केरी पूतरी, करि पूजै करतार।
याहि भरोसे मति रहो; बूड़ो काली धार ॥ १ ॥

लोग पत्थरके पुतलाको कर्त्ता करके पूजते हैं। अरे! इसकी आशा में मत रहो, चेतो, नहीं तो, अविद्या प्रवाहमें डूबोगे। यहाँ पर "बूड़ो काली धार" इस पदमें बूड़नेको कहते हैं। इसलिये बहुतों का ऐसा कहना है कि ग्रन्थकर्त्ताका उपदेश इङ्गला, पिङ्गलाको साधके कालीधार अर्थात् सुषुम्णामें भजनके लिये आज्ञा है यानी सुषमणामें गोता लगाओ ऐसा कहते हैं। परन्तु यह प्रकरण भ्रम विध्वंसक है अतः सुज्ञजन इसपर स्वयं विचार कर सकते हैं कि कबीर गुरुका क्या तात्पर्य है ॥१॥

पाहन को क्या पूजिये, जो नहिं देय जवाब।
अंधा नर आशा मुखी, यौंही खोवै आब ॥ २ ॥

जो प्रश्नका उत्तर नहीं देता ऐसे जड़ पत्थरके पूजनेसे क्या मतलब? कुछ नहीं। विवेकहीन अन्धे लोग व्यर्थ की आशा में अपनी इज्जत खो रहे हैं ॥२॥

पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पुजूँ पहार।
ताते तो चक्की भली, पीसि खाय संसार ॥ ३ ॥

यदि पत्थर-पूजासे प्रभु मिलें तो कहो मैं पर्वतको पूजूँ। और नहीं तो घरकी चक्की क्यों न पूजते? जिससे सारे संसार अन्न पीसकर खाते हैं ॥३॥

पाहन पानि न पूजिये, सेवा जासी बाद।
सेवा कीजै साधु की, राम नाम कर याद ॥ ४ ॥

कल्याण हित पत्थर, पानीकी सेवा मत करो, सेवा निष्फल होगी। यदि कल्याण चाहिये तो संतोंकी सेवा और राम नामका सुमिरन करो॥

पाहन ही का देहरा, पाहन ही का देव।
पूजनहारा आँधरा, क्यौं, करि मानै सेव॥ ५॥

देवालय और देव दोनों पत्थर के हैं। पूजने वाले अन्धे हैं, वह जड़ सेवा कैसे स्वीकार करे? ॥५॥

पाहन पानी पूजि के, पचि मूआ संसार।
भेद अलहदा रहि गयो, भेदवंत सो पार॥ ६॥

पत्थर, पानीको पूज २ के संसारी लोग मर मिटे। सद्गुरु ज्ञान बिना ज्ञातव्य भेद अलग रह गया। जो भेदी हुये उनका बेड़ा पार हो गया॥६॥

पाहन ले देवल चुना, मोटी मूरत माँहि।
पिंड फूटि परवस रहै, सो ले तारै काहि॥ ७॥

पत्थरोंका देवालय बनाके उसमें बड़ी मूर्तिकी प्रतिष्ठा कर दी। कुछ कालमें वह स्वयं फूट कर पराधीन हो गया फिर कहो वह कैसे किसीको तारे? ॥७॥

कबीर पाहन पूजि के, होन चहै भौ पार।
भींजि पानि बेधै नदी, बूड़ जिन सिर भार॥ ८॥

ऐ कबीर! जो पत्थर पूजके भवसिन्धु पार होना चाहते हैं। वे पार तो नहीं हुये किन्तु उलटे पानी में भींजके नदी-प्रवेश करते ही मारे बोझ के डूब मरे॥८॥

कबीर दुनिया देहरै, सीस नवावन जाय।
हिरदै माँही हरि बसै, तूँ ताही लौ लाय॥ ९॥

ऐ कबीर सांसारी लोग देवालय में शिर झुकाने जाते हैं तो उन्हें जाने दो, तुम तो जो हृदय में हरि है उसीमें चित्त लगाओ॥९॥

कबीर जेता आतमा, तेता सालिग राम।
बोलन हारा पूजिये, नहिं पाहन सो काम॥ १०॥

ऐ कबीर ! जितने जीवात्मा हैं वे सब शालिग्राम हैं। उन्हीं बोलते को पूज लो, पत्थरसे कोई प्रयोजन नहीं ॥१०॥

कबीर सालिगराम का, मोहि भरोसा नाँहि।
काल कहर की चोट में, बिनसि जाय छिन माँहि ॥ ११ ॥

ऐ कबीर ! मुझे शालिग्राम पर ऐसा विश्वास नहीं है कि वह कठिन कालकी चोटसे बचा सके। वह तो स्वयं पलभरमें नष्ट हो जायगा ।११।

पूजै सालिगराम को, मनकी भ्रांति न जाय।
सीतलता सपनै नहीं, दिन दिन अधिकी लाय ॥ १२ ॥

शालिग्रामकी पूजासे मनका संशय दूर नहीं होता। और शान्ति तो स्वप्नमें भी नहीं, बल्कि प्रतिदिन अशान्ति (जलन) अधिक होती है ।१२।

सेवै सालिगराम को, माया सेती हेत।
पहिरै काली कामली, नाम धरावै सेत ॥ १३ ॥

अज्ञानी लोग शालिग्रामकी सेवा और माया से प्रेम करते हैं। देखो इनकी उल्टी रीति ? पहिनते तो काली कमली और नाम धराते हैं श्वेताम्बरी ।१३॥

काजर केरी कोठरी, मसि के किये कपाट।
पाहन भूली पिरथवी, पंडित पाड़ी बाट ॥ १४ ॥

काजल (अविद्या) की कोठरीमें श्याही (कुबुद्धि) के कपाट लगाये हैं। अतः पृथ्वी अर्थात् अज्ञानी लोग सब पाहन पूजा में भूले हैं, पोथीके पण्डितोंने यह मार्ग चलाया है ॥१४॥

हम भी पाहन पूजते, होते वनके रोझ।
सतगुरु की किरपा भई, डारा सिरका बोझ ॥ १५ ॥

यदि सद्गुरुकी कृपा न होती तो हम भी पत्थर पूजते पूजते जंगली नील गाय बन जाते। परन्तु सद्गुरु की दया हुई शिरकी बला डाल (पटक) दी ॥१५॥

मूरति घरि धन्धा रचा, पाहन का जगदीस।
मोल लिया बोलै नहीं, खोटा बिसवा बीस ॥ १६ ॥

पत्थर का जगदीश्वर बनाके उनकी मूर्ति स्थापन कर गोरख धंधा रचा है। वह मोल खरीदी मूर्ति नहीं बोलती, क्योंकि वह सर्वथा असत्य है ॥१६॥

धरि गिरिवर करता किया, सो क्यौं रहै अपूज।
पाहन फोड़ि देवल रचा, परमेश्वर सों दूज ॥ १७ ॥

ऐ अज्ञानी लोग! जो बड़े पर्वत को धारण कर संसार का उद्धार किया क्या वह अपूज्य रहेगा? कि पत्थर फोड़ कर देवालय बनाते और परमेश्वर को बैठाते हो? ॥१७॥

मन मक्का दिल द्वारिका, काया कासी जान।
दस द्वारे का देहरा, तामें जोति पिछान ॥ १८ ॥

मनको मक्का मदीना और दिलको द्वारिका तथा कायाको काशी समझ लो और इसी दश दरवाजे वाले नरदेहरूप देवालयमें स्वयं प्रकाशरूप चिदात्म देवकी पहिचान कर लो ॥१८॥

काँकर पाथर जोरि के, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय ॥ १९ ॥
मुल्ला चढ़ि किलकारिया, अलहन बहिरा होय।
जिहि कारन तूं बाँग दे, दिल ही अन्दर जोय ॥ २० ॥

मुस्लिम मुल्लाओं ने कंकर, पत्थर जोड़के मसजिद बना ली और ऊपर चढ़के कानमें उँगली डालके उच्च स्वर से आवाज देने लगा। ऐ मुल्लाओं! क्या खुदा बहिरा है? अरे! नहीं, खुदा बहिरा नहीं है, जिसके लिये तुम किलकारते व बाँग देते हो वह तेरे हृदयमें है उसे दिल के अन्दरही खोजो ॥१९॥२०॥

तुरक मसीत देहर हिन्दू, आप आपको धाय।
अलख पुरुष घट भीतरे, ताका पार न पाय ॥ २१ ॥

तुर्क मसजिदमें और हिन्दू देवालय में निज निज देवको दौड़ रहे हैं। और जो अलख पुरुष सबके दिलमें बसा है गुरु बिना उसका पार (ज्ञान) कोई नहीं पाता ॥२१॥

पूजा सेवा नेम ब्रत, गुड़ियन का सा खेल ।
जब लग पिव परसै नहीं, तब लग संसै मेल ॥ २२ ॥

पत्थर पूजा और नियम ब्रतादि सब गुड़ियनका खेल यानी बाल-क्रीड़ा है। जब तक स्व स्वरूप स्वामीसे परिचय नहीं होता तब तक यह संशय भी दूर नहीं होता ॥२२॥

कबीर या संसार को, समझायो सौ बार ।
पूँछ जु पकड़ै भेड़ की, उतरा चाहै पार ॥ २३ ॥

ऐ कबीर ! इन संसारियों को मैंने सैकड़ों बार समझाया, परन्तु ये क्यों समझने लगे। ये तो भेंड़ की पूंछ पकड़के भवसिन्तु तरना चाहते हैं। यह कैसे हो सकता है ? ॥२३॥

जप तप दीखै थोथरा, तीरथ ब्रत विश्वास ।
सूआ सेंमल सेइया, यौं जग चला निरास ॥ २४ ॥

सद्गुरु सत्संगीकी दृष्टिमें स्वरूपज्ञान बिना केवल जप, तप निःसार है और तीर्थ, ब्रत भी विश्वासही मात्र है। संसारी लोग उसके फलसे ऐसे विमुख होते हैं जैसे सेंमलके सेवने वाला सूगा ॥२४॥

तीरथ ब्रत करि जग मुआ, जूड़े पानी नहाय ।
राम नाम जाने बिना, काल जुगन जुग खाय ॥ २५ ॥

तीर्थ, ब्रत करके और ठण्डे जलमें नहा नहाके जगज्जीव सब मर गये। रामका नाम जाने बिना उन्हें युगोंयुगसे काल कवल करता आ रहा है ॥२५॥

न्हाये धोये क्या भया, जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय ॥ २६ ॥

जो अन्तःकरणका पाप दूर नहीं हुआ तो नहाने, धोनेसे क्या ? यों तो मछली सदा जलहीमें रहती है क्या धोनेसे गंधी जाती है, हर्गिज नहीं ॥

मछरी तुरकै पकड़िया, बसै गङ्ग के तीर ।
धोय कुलाधिन भाजहीं, राम न कहै सरीर ॥ २७ ॥

जैसे तुर्कों ने मछली पकड़ ली गंगा किनारे रहने लगा। धोने पर भी उसकी दुर्गन्ध न मिटी। तैसेही केवल राम कहनेही से शरीर शुद्ध न होगा ॥२७॥

तीरथ काँठे घर करै, पीवै निरमल नीर।
मुक्ति नहीं हरिनाम विन, यौं कथि कहैं कबीर ॥ २८ ॥

कबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं कि कोई तीर्थ के समीप निवास करके निर्मल जलही क्यों न पिया करे किन्तु सर्वातम स्वरूप हरिके ज्ञान बिना मुक्ति न होगी ॥२८॥

निरमल गुरु के नाम सों, निरमल साधू भाय।
कोइला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय ॥ २९ ॥

सद्गुरुके निर्मल ज्ञानसे सन्तही निर्मल होते हैं। असन्त नहीं, यथा—कोयलामें सैकड़ों मन साबुन क्यों न लगाओ, सुफेद नहीं हो सकता ॥२९॥

मनही में फूला फिरै, करता हूँ मैं धर्म।
कोटि करम सिर पर चढ़ै, चेति न देखै मर्म ॥ ३० ॥

मैं धर्म करता हूँ ऐसा मन में अभिमान करके फूला फिरता है। मिथ्या अभिमान रूप करोड़ों दुष्कर्म शिर पर सवार हैं। इस भेदको समझकर नहीं देखता ॥३०॥

और धरम सब करम है, भक्ति धरम विकर्म।
नदि हतियारी को कहै, कुवा बावरी भर्म ॥ ३१ ॥

जितने फलाशक्ति धर्म हैं वे सब बन्धन कर्मरूप हैं और सद्गुरु भक्ति धर्म कर्म नहीं है। नदी को हतियारी कौन कहै? ,कुवाँ, बावली सबही भ्रम है ॥३१॥

करम हमारो काटि हैं, कोइ गुरुमुख कलि माँहि।
कहै हमारी वासना, गुरुमुख कहियत नाँहि ॥ ३२ ॥

जो हमारे कर्म बन्धनको काटे, ऐसे कलियुगमें कोई गुरु है? हमारी वासना कहती है। गुरु मुखी ऐसे नहीं कह सकते ॥३२॥

अहिरन मारै काँख में, करै सूइ का दान ।
ऊँचै चढ़ि के देखई, केतिक दूर विमान ॥ ३३ ॥

निहाईको चोराकर बगल में दाब लिया और सूई को दान दिया। इतनेही पुण्यमें ऊँचे चढ़के स्वर्गसे विमान आनेकी राह देखती है ! क्या अजब दुनिया है ? पाप पहाड़को नहीं देखती तिल पुण्यको गाती है ।३३।

मरती बिरियाँ दान दे, जीवन बड़ा कठोर ।
कहैं कबीर क्यों पाइये, खाँड़ा का वै चोर ॥ ३४ ॥

जो मरते वक्त दान देता है और जीते जी महा मूँजी है। कबीर गुरु कहते हैं कि वह तलवारका चोर सुई दानका फल कैसे पायगा ॥३४॥

बहुत दान जो देत हैं, करि करि बहुतै आस ।
काहू के गज होयँगे, खैहैं सेर पचास ॥ ३५ ॥

जो बहुत आशा करके बहुत दान देते हैं। वे बड़े भारी हाथी का शरीर धरके सवा मन भुगतेंगे ॥३५॥

मुफ्त दान जो देत हैं, मुफ्त ही लेत असीस ।
ऊँट काहू के होयँगे, लादेंगे मन बीस ॥ ३६ ॥

जो मुफ्तके दान देके मुफ्तका आशीर्वाद लेते हैं। वे किसी के ऊँट होंगे और उनपर बीस मन बोझ लादे जायँगे ॥३६॥

सब वन तो तुलसी भई, परबत सालिगराम ।
सब नदियें गंगा भई, जाना आतम राम ॥ ३७ ॥

जिसने रमैयारामको यथार्थ रूपसे जान लिया। बस ! उनके लिये समग्र वन तुलसी रूप और सर्व पर्वत शालग्राम एवं सर्व नदियाँ गंगा ही हो गईं ॥३७॥

पाँच तत्त्व का पूतरा, रज बीरज की बूँद ।
एकै घाटी नीसरा, ब्राह्मन क्षत्री सूद ॥ ३८ ॥

रज वीर्यकी एकहि बूंदसे पाँच तत्व की पुतली पहन के सब एक ही रास्तासे निकले हैं। अब इनमें किसे ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र कहना ? ॥३८॥

अकिल बिहूना आदमी, जानै नहीं गँवार।
जैसे कपि परवस पर्यो, नाचै घर घर बार ॥ ३९ ॥

विना बुद्धि मनुष्य गँवार होता है। हित, अहित नहीं जानता। बन्दरोंकी तरह परवश हो घर घर नाचता फिरता है ॥३९॥

अकिल बिहूना सिंघ ज्यूँ, गयो ससा के संग।
अपनी प्रतिमा देखि के, कीयो तन को भंग ॥ ४० ॥

अकिल बिहूना आँधरा, गज फंदे पड़ो आय।
ऐसे सब जग बंधिया, काहि कहूँ समझाय ॥ ४१ ॥

जैसे बिना बुद्धिका सिंह खरहेके साथ जाके कूपमें अपना प्रतिबिम्ब देखके स्वयं शरीरको नष्ट किया और जैसे शृंगाल के साथ बिना बुद्धि के हस्ती फन्देमें आपड़ा ऐसेही सारे संसार विवेक बिना बन्धाया है किसे समझाया जाय ? ॥४०॥४१॥

पंख होत परबस पर्यो, सूआ के बुधि नाँहि।
अकिल बिहूना आदमी, यौं बँधा जग माँहि ॥ ४२ ॥

देखो बुद्धि बिना शुक पक्षी पाँख होते हुए भी परवश हो गया। ऐसे विवेकहीन मनुष्य जगत-बेड़ी में जकड़े पड़े हैं ॥४२॥

अकिल अरस सों ऊतरी, बिधना दीन्ही बाँट।
एक अभागा रहि गया, एक न लई उछाँट ॥ ४३ ॥

भाग्य अनुसार बुद्धि सबको मिली है और ग्रन्थसे विधाताने विभाग भी कर दिया है। परन्तु उसे उपयोग न करके एक अभागा योंही रह गया। और एकने उसे उपयोग कर छाँट लिया अर्थात् सत्संगीने सत्संग द्वारा स्वच्छ करके कृत कृत्य हुआ ॥४३॥

अलछ अकिल जानै नहीं, जीव जहद्दम लोय।
हरदम हरि जाना नहीं, भिस्त कहाँ ते होय ॥ ४४ ॥

अज्ञानी बुद्धिके उपयोग करना नहीं जानता इसी कारण नरकका दुख भोगता है। क्योंकि हर श्वासमें हरिको नहीं जाना तो स्वर्ग सुख कहाँ से मिले ? ॥४४॥

बिना वसीले चाकरी, बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान का जोगना, फिरै लगाये खेह ॥ ४५ ॥

जैसे बिना वसीले नौकरी नहीं लगती ऐसे बिना बुद्धि नर देहका उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार बिना ज्ञानका योगी खाक लगाये भले फिरे किन्तु उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती ॥४५॥

दुबिधा जाके मन बसै, दयावन्त जिय नाँहि।
कबीर त्यागो ताहि को, भूलि देह जनि बाँहि ॥ ४६ ॥

जिसके हृदय में सदा संशय रहता है और जीवों पर दया नहीं है। ऐ कबीर! उसे शीघ्र त्यागो भूलकर भी साथ मत दो ॥४६॥

रामनाम कड़ुआ लगै, मीठा लागै दाम।
दुबिधा में दोऊ गये, माया मिली न राम ॥ ४७ ॥

जिन्हें राम नाममें अरुचि और दाम (द्रव्य) में रुचि है। वे दुविधा में पड़के दोनों दीन से गये हैं। न तो उन्हे माया ही मिली न राम ही ॥ ४७ ॥

चिऊँटी चावल ले चली, बिच में मिलि गई दाल।
कहैं कबीर दो ना मिलै, इक ले दूजी डाल ॥ ४८ ॥

चिउँटी (वृत्ति) ने चावल (परमार्थ स्वरूप) को लेकर चली, रस्तेमें दाल (माया) मिल गई, उसने विचार किया इसे भी ले लें। कबीर गुरु बोल उठे, दोनों लेना नहीं बनेगा एकही ले दूसरे को डाल दे ॥४८॥

आगा पीछा दिल करै, सहजै मिलै न आय।
सो बासी जमलोक का, बाँधा जमपुर जाय ॥ ४९ ॥

जिसका मन परमार्थ विषे आगा पीछा कर रहा है, बेधड़क सद्गुरुसे आकर नहीं मिलता, वह जमलोकवासी है जमपुरमें बाँधा जायगा ॥४९

कै तूँ लोरै मुकदमी, कै तूँ साहिब लोर।
दो दो घोड़ा मति चढ़ै; तेरे घर है चोर ॥ ५० ॥

या तो व्यवहार हीकी चाहना कर या परमार्थ को। दो घोड़े पर

मत चढ़ अर्थात् दुविधामें मत पड़, तेरे घर में दुविधा रूप चोर बैठा है, शीघ्र चेत ॥५०॥

पढ़ा सुना सीखा सभी, मिटी न संसै मूल।
कहैं कबिर कासों कहूँ, यह सब दुख का मूल ॥ ५१ ॥

सब कुछ पढ़, सीख करके भी संशय रूपी काँटा नहीं निकला तो कबीर गुरु कहते हैं कि पढ़ना, गुनना ये सब दुख रूप है ये मैं किससे कहूँ ॥५१॥

नगर चैन तब जानिये, एकै राजा होय।
याहि दुराजी राज में, सुखी न देखा कोय ॥ ५२ ॥

जैसे व्यवहारमें एकही राजासे नागरिक (प्रजा) सुखी रहते हैं तैसेही एकात्म निःसंशय ज्ञानसे सत्संगी जन सुखी होते हैं। दो राजाओं के राज्यमें सुखी नहीं देखा गया है ॥५२॥

तेरे हिय राम है, ताहि न देखा जाय।
ताका तो तब देखिये, दिलकी दुबिधा जाय ॥ ५३ ॥

तेरे हृदय में ही में रमैया राम रमा करता हैं, लेकिन तुम उसे यों नही देख सकते। क्योंकि तुम्हारे हृदयमें दुविधा रूपी पड़दा पड़ा है उसे हटा दो, फिर देख लो ॥५३॥

देह निरंतर देहरा, तामें परतछ देव।
राम नाम सुमिरन करो, कह पाथर को सेव ॥ ५४ ॥

नरदेहरूप देवालय में निरन्तर निवासी नारायणरूप देव का प्रत्यक्ष दर्शन करलो और राम को याद करो, पत्थर की सेवा से क्या काम है ॥ ५४ ॥

पाथर मुख ना बोलही, जो सिर डारो कूट।
राम नाम सुमिरन करो, दूजा सबही झूठ ॥ ५५ ॥

पत्थर मुखसे कभी न बोलेगा कि तुम क्यों सिर पटकते हो ? चाहे तुम शिर फोड़ डालो। अतएव राम नाम स्मरण करो दूसरे झूठोंको छोड़ दो ॥५५॥

कुबुधी को सूझै नहीं, उठि उठि देवल जाय।
दिल देहरा की खबर नहिं, पाथर ते कह पाय ।। ५६ ।।

विवेक बुद्धि रहित नरजीव अन्धा है उसे हानि लाभ नहीं दीखता। नित उठि देवालय में जाया करता है। उसे दिल देवालय के देवकी कुछ खबर नही। पत्थरसे क्या मिलेगा ? ।।५६।।

सिदक सबूरी बाहिरा, कहा हज्ज को जाय।
जिनका दिल साबित नहीं, तिनको कहाँ खुदाय ।। ५७ ।।

जिसे सत्य पर सन्तोष नहीं है, वह बावरा मक्के मदीने की हज्ज करके भी क्या करेगा ? जिनका हृदय ही स्थिर नहीं है उनके लिये कही भी खुदा नहीं ।।५७।।

आतम दृष्टि जानै नहीं, न्हावै प्रातहि काल।
लोक लाज लीया रहै, लागा भरम कपाल ।। ५८ ।।
जप तप तीरथ सब करै, घड़ी न छाड़ै ध्यान।
कहैं कबीर भक्ति बिन, कबहुँ न ह्वै कल्यान ।। ५९ ।।

प्राणियों पर आतम दृष्टि तो है नहीं और नित उठि सबेरे ही नहाते हैं, लोक लज्जा छूटती नहीं, भ्रम शिर पर सवार है। हजारों मालाका जप, पंच या चौरासी धुनीका तप और ध्यान भी खूबही लगाते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि सब कुछ करते हुए भी सदगुरु भक्ति बिना कल्याण कदापि नहीं ।।५८।।५९।।

सुख को सागर मैं रचा, दुख सुख मेला पाव।
थिति ना पकड़े आपनी, चले रंक औ राव ।। ६० ।।

सुखका सागर सतगुरुका सतसंग मैंने कायम कर दिया है और दुःख सुखको पाँव तले मेल दिया। लेकिन नरजीव अपनी आतम स्थिति नहीं पकड़ के माया प्रवाह में राजा, रंक सबही वह चले तो कोई क्या करे ।। ६० ।।

लिखा पढ़ी में सब पड़े, यह गुन तजै न कोय।
सबै पडै भ्रम जाल में, डारा यह जिय खोय ।। ६१ ।।

सब लिखा पढ़ीमें पड़े हैं, गुरु सत्संग विमुख कोई इस मायाजालको नहीं छोड़ते। सब भ्रमजालमें पड़के नरदेह में जीवरूप पाहुने को तिरस्कार कर दिया ॥६१॥

राम नाम निज मूल है, कहैं कबीर समुझाय।
दोइ दीन खोजत फिरै, परम पुरुष नहिं पाय ॥ ६२ ॥

कबीर गुरु समझाकर कह रहे हैं कि अपने मोक्षका मूल कारण राम नाम सत्य है। हिन्दू, मुस्लिम दोनों खोजते फिरते हैं, कहीं भी परम पुरुष नहीं पाते। दोनों मजहबी झगड़े में पड़े हैं कोई क्या करै ॥६२॥

इति श्री भ्रमविध्वंसको अङ्ग ॥४६॥

अथ सारग्राहीको अंग ॥ ४७ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, देइ असार बहाय ॥ १ ॥

जैसे सुन्दर सूप सार वस्तु को ग्रहण कर असार को फेंक देता है। ऐसेही सन्तोंको सारग्राही होना चाहिये ॥१॥

सत संगति है सूप ज्यौं, त्यागै फटकि असार।
कहैं कबिर गुरु नाम ले, परसै नाँहि विकार ॥ २ ॥

असद्वस्तुका त्याग और सत्यको ग्रहण करनेमें सन्तोंका सत्संग सूपके समान है, कबीर गुरु कहते हैं कि जो सद्गुरुके नाम स्मरण करै तो उसे विकार छू भी नहीं पाता ॥२॥

पहिलै फटकै छाज के, थोथा सब उड़ि जाय ।
उत्तम भाँडै पाइया, जो फटकै ठहराय ॥ ३ ॥

पहिले सूपसे ऐसे पछोड़े कि निःसार सब उड़ जाये । फिर फटकन से बचे हुए सारको उत्तम पात्रमें रख दे ॥३॥

औगुन को तो ना गहै, गुनही को ले बीन ।
घट घट महकै मधुप ज्यौं, परमातम ले चीन ॥ ४ ॥

दुर्गुणको कभी नहीं सदा सद्गुणको ग्रहण करे । जैसे भंवरा सर्वत्र से दुर्गन्धको छोड़ सुगन्धको लाता है इसी प्रकार अनात्मको त्यागकर आत्मतत्व को पहिचान ले ॥४॥

हंसा पय को काढ़ि ले, छीर नीर निरुवार ।
ऐसें गहै जु सार को, सो जन उतरै पार ॥ ५ ॥

जैसे हंस दूधको जलसे जुदा करके ग्रहण करता है ऐसे ही जो पुरुष निर्णय द्वारा असार से सारको निकालकर ग्रहण करता है वही संसारसे पार उतरता है ॥५॥

छीर रूप हरिनाम है, नीर रूप ब्यौहार ।
हंस रूप कोइ साधु है, तत का छानन हार ॥ ६ ॥

दूधरूप हरिनाम अर्थात् आत्मज्ञान है और जलरूप जगत व्यवहार है। तत्वको निर्णय करनेवाले हंसरूप कोई सन्त हैं जो असार से सार आत्म तत्व को निकालते हैं ॥६॥

पारा कंचन काढ़ि ले, जो रे मिलावै आन ।
कहैं कबीरा सार मत, परगट किया बखान ॥ ७ ॥

पारा सोनाको निकाल लेता है, चाहे जो कुछ दूसरा मिला हो । कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसे सार मतको प्रत्यक्ष वर्णन कर दिया ॥७॥

चुम्बक काढ़ै सार कूँ, जो रे मिलावै रेत।
साधू काढ़े जीव को, उर अन्तर के हेतु ॥ ८ ॥

जैसे रेत में मिले हुए लोहे को चुम्बक निकाल लेता है, तैसे हृदयमें प्रेमके कारण सन्तजन जीवको संसार सागर से निकाल लेते हैं ॥८॥

रक्त छाँड़ि पय को गहै; ज्यौं रे गऊ का बच्छ।
औगुन छाड़ै गुन गहै, सार गिराही लच्छ ॥ ९ ॥

जैसे गौका बछड़ा रुधिरको छोड़कर दुग्धको ग्रहण करता है। इसी प्रकार सारग्राही पुरुष अवगुण त्यागकर गुण ग्रहण करते हैं ॥९॥

बसुधा बन बहु भाँति है, फूलै फूल अगाध।
मिष्ट वास कबिरा गहै, विषम गहै कोइ साध ॥ १० ॥

संसार बागमें बहुत प्रकारके पुष्प खिले हैं। मधुर गन्ध (विश्वराग) तो इतर जीव सब ग्रहण करते हैं और विषम (वैराग्य) कोई सन्त जन ॥ १० ॥

कबीर सब घट आतमा, सिरजी सिरजनहार।
राम कहै सो राम सम, रहता ब्रह्म विचार ॥ ११ ॥

ऐ कबीर! "तदेव सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"[1] इस श्रुतिके अनुसार वही परमात्मा सव घट को रचकर स्वयमात्म रूप से सब में रमा है। जो राम कहता है वह राम सम है और ब्रह्म ब्रह्म सम ॥११॥

इति श्री सारग्राहीको अङ्ग ॥ ४७ ॥

१ अर्थः—वह परमेश्वर ही शरीर आदि की सृष्टि करके आभास द्वारा शरीरादिमें जीवात्म रूप से प्रवेश किया है ऐसे वेदवादी सब कहते हैं।

अथ असारग्राहीको अंग ॥४८॥

कबीर कीट सुगंध तजि, नरक गहै दिन रात ।
असार गिराही मानवा, गहै असारहि वात ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! जैसे नरक का कीड़ा सुगन्ध को त्याग के सदा दुर्गन्ध को ग्रहण करता है ऐसे असार ग्राही मनुष्य सदा असत्य वार्त्ता को चाहता है ॥ १ ॥

मच्छी मल को गहत है, निरमल वस्तुहि छाँड़ि ।
कहैं कबीर असार मत, माड़ि रहा मन माँड़ि ॥ २ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जैसे मछली स्वच्छ पदार्थको छोड़कर गलीज को ग्रहण करती हैं । इसी प्रकार मनमती जीव असार मतमें मँड़ (लग) रहा है ॥२॥

आँटा तजि भूसी गहै, चलनी देखु निहारि ।
कबीर सारहि छाँड़ि के, गहै असार असार ॥ ३ ॥

ऐ कबीर ! चलनीको देखलो शुद्ध आँटेको छोड़कर भूसी चोकर को ग्रहण करती है । ऐसे कुसंगी सार तत्वको त्याग कर असार ग्रहण करता है ॥३॥

रस छाँड़ै छूटी गहै, कोल्हू परगट देख ।
गहै असार असार को, हिरदै नाँहि विवेक ॥ ४ ॥

प्रत्यक्ष कोल्हू को देख लो, रसको छोड़के निरस सीठी को ग्रहण करता है । ऐसेही विवेकहीन लोग चित्स्वरूप सारको त्यागकर देहेन्द्रिय असारमें लिपटे हैं ॥४॥

दूध त्यागि रक्तहि गहै, लगी पयोधर जोंक।
कहैं कबीर असार मति, छलना राखे पोक॥ ५॥

जैसे महिष आदिके स्तन में लगी हुई जोंक अमृत तुल्य दूधको त्याग कर रुधिरको पीती है। तैसे ही कुटिल मनुष्य पोष नहीं मानते सदा दुर्गुण देखते हैं॥५॥

लोहू गहि दूधै तजै, जोंक सुभाव परख।
ऐसा ही नर आँधरा, सार से जाय सरक॥ ६॥

जैसे जोंक का स्वभाव है दूधको त्याग कर रुधिर पीने का। तैसेही विवेक दृष्टिहीन की आदत है कि सद्मार्ग से भ्रष्ट हो कुमार्गको ग्रहण करता है॥६॥

बूटी बाटी पान करै, कहै दुःख जो जाय।
कहैं कबिर सुख ना गहै, यही असार सुभाय॥ ७॥

कबीर गुरु कहते हैं कि यही असार ग्राहीका स्वभाव है जो मद्य, मांसादि सेवनसे दुःखकी निवृत्ति कहते हैं। वे दुःखके सिवा सुख कदापि न पाते॥७॥

पापी पुन्न न भावई, पापहि बहुत सहाय।
माखि सुगंधी परिहरै, जहँ दुरगंध तहँ जाय॥ ८॥

पाप संस्कारसे पापियोंको पाप छोड़कर पुण्य कर्म कभी नहीं सुहाता जैसे मक्खी सुगन्धको त्यागकर दुर्गन्ध पर जा बैठती है॥८॥

निरमल छाँड़ै मल गहै, जनम असारे खोय।
कहैं कबीर सार तजि, आपन गये बिगोय॥ ९॥

कबीर गुरु कहते हैं कि असारग्राही लोग निर्मल आत्मस्वरूप सार तत्वको त्यागके विषय विकार असार में नर जन्म अपना गमाये व गमाते हैं। सद्गुरु सत्संगमें नहीं आये न आते हैं॥९॥

इति श्री असारग्राहीको अङ्ग॥ ४८॥

अथ पारखको अंग ॥ ४९ ॥

कबीर देखी परखि ले, परखी के मुँह खोल ।
साधु असाधू जानि ले, सुनिसु नि मुखका बोल ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! पदार्थ को प्रथम देखकर परख ले फिर बचन मुखसे निकाल । और वार्तालापसे सन्त और असन्तकी भी परीक्षा कर ले फिर संग और त्यागकर ॥१॥

कबीर देखी परखि ले, परखि के मुखाँ बुलाय ।
जैसी अन्तर होयगी, मुख निकसैगी आय ॥ २ ॥

ऐ कबीर ! मनुष्योंको भली भाँति देखकर परीक्षा कर ले। पुनः उन्हें मुख से बोला । बोलनेसे अन्तः का रहस्य .मुखकी वार्त्ता से निकल आयगा ॥२॥

पहिले शब्द पिछानिये, पीछै कीजै मोल ।
पारख परखै रतन को, शब्द का मोल न तोल ॥ ३ ॥

प्रथम शब्दको पहिचान करो फिर उसकी कीमत करो। पारखी रत्न की परीक्षा करते हैं । शब्दका मोल तौल नहीं है ॥३॥

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ खोटी है हाट ।
कसि करि बाँधो गाँठरी, उठि करि चालो बाट ॥ ४ ॥

आत्मज्ञान रूप हीरा को वहाँ पर मत खोलो जहाँ जौहरी बिनाके झूठी बाजार लगी है । कसकर गाँठमें हीरा को बाँधो और उठकर अपने रास्ते लग जाओ । अर्थात् अनधिकारियों के आगे सद्गुरु-ज्ञानकी चर्चा मत करो ॥४॥

हीरा परखै जौहरी, शब्दहिं परखै साध।
कबीर परखै साधु को, ताका मता अगाध ॥ ५ ॥

जौहरी हीरा को परखता है और सन्त शब्द को। ऐ कबीर! जो सन्तकी परीक्षा करते हैं उनका मत अथाह है ॥५॥

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले माँडी हाट।
जब रे मिलेगा पारखी, तब हीरा की साट ॥ ६ ॥

जौहरी (भक्त) जन हरि रूप हीरा को लेकर संसार बाजार में घड़ी घण्ट बजा २ कर बेंच रहे हैं। परन्तु हीराका मोल तोल तो तबही होगा जब पारखी मिलेंगे ॥६॥

हरि हीरा मन जौहरी, परखि निरखि हिय लेय।
लै लहार करि गहन में, ज्ञान चोट घन देय ॥ ७ ॥

हरि रूप हीरा को मन रूप जौहरी से भीतर खूब लोहार को गहन में लेके ज्ञान घन से चोट लगाकर देख परख कर लेवे ॥७॥

हरि हीरा सन मेहटा, पट्टन प्रान सुभट्ट।
गाहक बिना न खोलिये, हीरा केरी हट्ट ॥ ८ ॥

हरि रूप हीराको सनकी मेहटा रस्सी से प्राणके साथ खूब कस कर बांधे रहो। हीराकी बाजार ग्राहक बिना कभी मत खोलो ॥८॥

हरि मोतियन की माल है, पोई काचै धाग।
जतन करो झटका घना, टूटेगी कहुँ लाग ॥ ९ ॥

हरि वेश कीमती मोतियों की माला, कच्चे शरीररूप धागामें पिरोया है। इसे अनेकों झटके हैं जरा डटके निगहवानी करो जरासी लगी नहीं कि टूटी नहीं ॥९॥

राम रतन धन मोटरी, गाहक आगे खोल।
जबही मिलेगा पारखी, लेगा महँगे मोल ॥ १० ॥

रामरत्न धनकी मोटरी को ग्राहक के आगे खोलो। जब उसका पारखी मिलेगा तब बहुमूल्य देकर लेगा यानी कदर करेगा ॥१०॥

राम रसायन प्रेम रस, अमृत शब्द अपार ।
गाहक बिना न नीकसै, मानिक कनक कुठार ॥ ११ ॥

सब रसोंका जखीरा राम हैं और प्रेम यही रस है अखण्ड स्वरूप बोधक शब्दरूप अमृत है। नरदेहरूप स्वर्ण के भण्डार में मानिककी तरह भरे हैं परन्तु ग्राहक (जिज्ञासु) बिन नहीं निकलता ॥११॥

तन संदूक मन रतन है, चुपको दे हट ताल ।
गाहक बिन नहिं खोलिये, पूँजी शब्द रसाल ॥ १२ ॥

शरीररूप सन्दूकमें मनरूप रतनको मौनरूप मजबूत ताला लगादो। ग्राहक (जिज्ञासु) बिना मधुर शब्दरूप पूंजीको हर्गिज न खोलो ॥१२॥

जो जैसा उनमान का, तैसा तासों बोल ।
पोता को गाहक नहीं, हीरा गांठि न खोल ॥ १३ ॥

जो जैसा प्रमाण में हो उसके साथ वैसाही बोलो। जहाँ काँचका ग्राहक नहीं है तो वहाँ हीराकी गाँठ मत खोलो। बेकदरी होगी ॥१३॥

जब गुन को गाहक मिलै, तब गुन लाख बिकाय ।
जब गुन को गाहक नहीं, कौड़ी बदले जाय ॥ १४ ॥

जब गुण ग्राहक मिलेंगे तब लाखों में बिक जायँगे। और नहीं तो ग्राहक बिना गुण कौड़ी बदले जाते हैं ॥१४॥

एकही बार परखिये, ना वा बारम्बार ।
बालू तौहू किरकिरी, जो जानै सौ बार ॥ १५ ॥

वस्तु की परीक्षा एक ही बार में हो जाती है बारम्बार की जरूरत नहीं है। चाहे बालू को सैकड़ों बार छान देखो किरकिराहट नहीं जायगी ॥ १५ ॥

ज्ञानी जन हैं जौहरी, करमी सकल मजूर ।
देह भार का टोकरा, लिये सीस भरपूर ॥ १६ ॥

ज्ञानी पुरुष जौहरी हैं और सकाम कर्मी सब मजदूर हैं जो शरीर-रूपी टोकरी में त्रिविध ईषणारूप भार भरके शिर पर लिये फिरते हैं ॥१६

कबीर जग के जौहरी, घट की आँखी खोल।
तुला सम्हारि विबेक की, तोलै शब्द अमोल ॥ १७ ॥

ऐ कबीर ! जगत् के जौहरी (पारखी सन्त) भीतर की दृष्टि फैला के विवेकरूपी तुला पर अमूल्य शब्दको तौलते हैं ॥१७॥

गाहक मिले तो कुछ कहूँ, ना तर झगड़ा होय।
अन्धों आगे रोइये, अपना दीदा खोय ॥ १८ ॥

ग्राहक (जिज्ञासु) मिले तो कुछ भी कहूँ नहीं तो व्यर्थकी तकरार होती है। क्योंकि अन्धों आगे रोना अपना नैन खोना है ॥१८॥

जो हंसा मोती चुगै, कांकर क्या पतियाय।
कांकर माथा ना नँवै, मोती मिले तो खाय ॥ १९ ॥

जो हंस एक बार भी मोती को चींख लिया है वह कंकर पर क्यों विश्वास करने लगा ? कदापि नहीं। मोती बिना कंकड़ पर शिर भी नहीं झुकायगा ॥१९॥

मोती है बिन सीप का, जगर मगर उँजियार।
कहैं कबीर जब पावई, भोजन मिले हमार ॥ २० ॥

वह आत्म ज्योति रूप मोती बिना सीपका है जिसके प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि वही भोजन मिले तो हमारे हंस ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं ॥२०॥

हंसा देश सुदेश का, पड़ै कुदेसा आय।
जाका चारा मोतिया, घोंघै क्यौं पतियाय ॥ २१ ॥

हंस सुन्दर देश मानसरोवर के निवासी जिसका भोजन मोती है वह किसी अभाग्यवश कुदेश में आ पड़ा है। तो भी वह गड़हीके घोंघे पर कैसे विश्वास कर सकता ? हर्गिज नहीं ॥२१॥

हंसा बगुला एक सा, मान सरोवर माँहि।
बगा ढिंढोरैं माछरी, हंसा मोती खाँहि ॥ २२ ॥

यद्यपि संसार मानसर में हंस (साधु) और बगुला (असाधु) एकही

रूप दीखता है। तथापि वहाँ भोजनसे पहिचान हो जाती। बगुला मछली टटोलता है और हंस मोती चुँगता है ॥२२॥

गावनिया के मुख बसूँ, स्रोता के मैं कान।
ज्ञानी के हिरदै बसूँ, भेदी का निज प्रान ॥ २३ ॥

मैं वक्ता के मुखमें और श्रोताके कानमें तथा ज्ञानी पुरुषके हृदयमें, एवं भेदी नरकी जानमें रहता हूँ ॥२३॥

किरतनिया से कोस बिस, संन्यासी सों तीस।
बिरही के हिरदै बसूँ, वैरागी के सीस ॥ २४ ॥

केवल कीर्त्तन करनेवालोंसे बीस कोश और मुड़िया मात्र संन्यासी से तीस कोस दूर रहता हूँ। और ज्ञान विरही के हृदय में तथा विरागी के शीश पर बसता हूँ ॥२४॥

जो कछु ह्वै तो कुछ कहूँ, कहौं तो झगड़ा सोह।
दो अन्धों का नाचना, कहिये काको मोह ॥ २५ ॥

जो कहने योग्य वस्तु होय तो कुछ कहा जाय। और यदि किसी तरह कुछ इशारा भी किया जाय तो अनधिकारियों से व्यर्थ की तकरार होती है। यह दो अन्धोंका नृत्य है कहो कौन किस पर मोहे ? ॥२५॥

उत्तर दच्छिन पूरब पच्छिम, चारौं दिशा प्रमान।
उत्तर देश कबीर का, अमरापुर अस्थान ॥ २६ ॥

"पूरब दिशा हरिको बासा। पश्चिम अल्लह मुकामा" इत्यादि बीजक। अपने मतके अनुसार उत्तरादि चारों दिशाको प्रमाणित किये हैं। परन्तु कबीर का वह अमरापुर उत्तम देश व स्थान है जहाँ से फिर आना नहीं होता है ॥२६॥

हड्डी मारि हीरा लहा, करोड़ को हीर।
जा मारग हीरा लहा, सो क्यों तजै कबीर ॥ २७ ॥

नव द्वारे शरीरकी लालचको मारके जिस सत्संग मार्गसे आत्मरूप हीरा प्राप्त किया हैं ए कबीर ! उस मार्गको क्यों छोड़ता हैं ॥२७॥

संसै नहिं साधू मिलै, मिलि मिलि करै विचार।
बोला पीछै जानिये, जो जाको व्यवहार॥ २८॥

सन्तोंसे मिलकर परस्पर विचार करने से किसी प्रकारका संशय नहीं रह जाता। जो जिसका व्यवहार है वह बोलने से ज्ञात हो जाता है॥२८॥

पारख कीजै साधु की, साधुहि परखै कौन।
गगन मंडल में घर करै, अनहद राखै मौन॥ २९॥

साधुकी परीक्षा कीजिये कि साधु क्या परखते हैं। गगन गुफा में घरके अनाहत् को गुप्त रखते हैं॥२९॥

चन्दन गया विदेसरे, सब कोय कहै पलास।
ज्यौं ज्यौं चूल्है झोंकिया, त्यौं त्यौं अधिक सुवास॥ ३०॥

निज स्थान छोड़नेसे बेकदरी जरूर होती है परन्तु गुणसे फिर पूज्य हो जाता है। जैसे चन्दन विदेशमें गया सब लोग पलास मान के जलाने लगे किन्तु ज्यों ज्यों जलाया त्यों त्यों अधिक सुगन्धी देने लगा। परीक्षा से गुण प्रगट होता है। इसलिये सन्त परीक्षा से प्रसन्न रहते हैं॥३०॥

चन्दन रोया रात भरि, मेरा हितू न कोय।
जिसका राख्या पेट में, सो फिर बैरी होय॥ ३१॥

चन्दन रात भर रोया कि मेरा कोई भी हित नही। जिस सुगन्धी को मैंने पेटमें रक्खी वही फिर शत्रु बन गई। जिसके मारे मैं काटा, छाँटा और जलाया गया॥३१॥

चन्दन काटा जड़ खनी, बाँधि लिया शिर भार।
कालि जो पंछी बसि गया, तिसका यह उपकार॥ ३२॥

जड़ खोदकर चन्दन को काट लिया और शिरका बोझ बाँध लिया। यह उपकार उसी पक्षी का है जो कल यहाँ रह गया था॥३२॥

पाँय पदारथ पेलिया, काँकर लीन्हा हाथ।
जोड़ी बिछुड़ी हंस की, चला बुँगा के साथ॥ ३३॥

हीरा स्वरूप पदार्थको तिरस्कार कर कंकररूप मायिक वस्तुको हाथ लिया। हंसकी जोड़ी बिछुड़ गई अतः बगुले के साथ हो लिया ॥३३॥

हंसा तो महा रान का, आया थलियाँ माँहि।

बगुला करि करि मारिया, मरन जु जानै नाँहि॥ ३४ ॥

महारानका हंस किसी कारण वश भूमि पर आ गया। तो सबने बगुला समझ कर मारना शुरू किया, क्योंकि उसे कोई पहिचाना ही नहीं ॥३४॥

हंस बुगाँ के पावना, कोइ एक दिन का फेर।

बगुला काहे गरबिया, बैठा पंख बिखेर॥ ३५ ॥

बगुला हंस मनाय ले, नीराँ रुकाँ बहोर।

या बैठा तूँ ऊजला, तासों प्रीति न तोर॥ ३६ ॥

समयके परिवर्त्तन से हंसने किसी दिन बगुला को प्राप्त हुआ। ऐ बगुला ! तू क्यों पंख फैलाकर गर्विष्ट बना है। अरे ! हंसको बार बार निराजना (आरति सत्कार) करके मना ले जिससे तू श्वेत बनके बैठा है उससे प्रीति मत तोड़। भावार्थः—नीच जिससे बड़ाई पाता है उसी को नाश करने को तैयार होता है ॥३५॥३६॥

एक अचंभो देखिया, हीरा हाट बिकाय।

परखनहारा बाहिरो, कौड़ी बदले जाय॥ ३७ ॥

मैंने एक आश्चर्य ऐसा देखा कि हीरा हाटमें बिक रहा है। और परखने वाला ऐसा बेहूदा है कि कौड़ी के बदले ले दे रहा है ॥३७॥

पायो पर पायो नहीं, हीरा हड्डा मार।

कहैं कबिर यौं ही गयो, परखै बिना गँवार॥ ३८ ॥

हरिरूप हीराको पा करके भी माया की लालचमें पड़के गमा बैठा। कबीर गुरु कहते हैं कि गमार परीक्षा बिना योंही बरबाद हुआ व होता है ॥३८॥

कबिरा चुनता कन फिरै, हीरा पाया बाट।

ताको मरम न जानिया, ले खलि खाई हाट॥ ३६ ॥

दाना बिनते हुए किसी अभागेको रास्ते में हीरा हाथ लग गया। उसने उसका मर्म समझा नहीं तो बाजार में उसके बदले खरी लेकर खाली। भाव :—नर जन्म विषयमें गमा दिया ॥३९॥

हीरा का कछु ना घटा, घटा जु बेचनहार।
जनम गँवायो आपनो, अन्धे पसू गँवार ॥ ४० ॥

हीराका तो कुछ घटा नहीं, क्योंकि उसकी कीमत तो पारखी फिर करही लेगा, घाटा हुआ बेचने वाले का। ऐसे विवेकहीन अन्धे पशुवत् अपना नरजन्म व्यर्थ में गमाये व गमाते हैं ॥४०॥

हिरदे हीरा ऊपजै, नभि कँवल के बीच।
जो कबहूँ हीरा लखै, कदै न आवै मीच ॥ ४१ ॥

हृदय व नाभि कमलके मध्य में आत्मस्वरूप हीरा प्रत्यक्ष होता है। यदि उस हीराको सद्गुरु सत्संग से कभी पहिचान ले तो फिर मौत कभी नहीं आ सकती ॥४१॥

हीरा साहिब ज्ञान है, हिरदै भीतर देख।
बाहर भीतर भरि रहा, ऐसा आप अलेख ॥ ४२ ॥

हीरा साहिबका ज्ञान है, हृदयमें देख लो। यद्यपि बाहर भीतर भरपूर है तथापि बिना भेदीके बहुत दूर है सबको प्रत्यक्ष नहीं होते ऐसे वो स्वयं गुप्त हैं ॥४२॥

बाद बकै दम जात है, सुरति निरति ले बोल।
नित प्रति हीरा शब्दका, गाहक आगे खोल ॥ ४३ ॥

व्यर्थके वाद-विवाद में श्वास खाली हो जा रहा है। अतः वृत्तिको स्थिर कर बोलो। और ध्यान रक्खो, बिना ग्राहक (जिज्ञासु) इस शब्दरूप हीराको कभी मत खोलो ॥४३॥

मान उनमान न तोलिये, शब्द न मोल न तोल।
मूरख लोग न जानसी, आपा खोयो बोल ॥ ४४ ॥

इस रत्नको कल्पित मापसे मत तौलो शब्द का मोल, तौल नहीं है

मूर्ख लोग इसे नहीं जानते उनके आगे बोलकर क्यों अपनी इज्जत गमाते हो? ॥४४॥

कबीर गुदरी बीखरी, सौदा गया बिकाय।
खोटा बाँधा गाँठरी, खरा लिया नहिं जाय ॥ ४५ ॥

ऐ कबीर! हाट लगी और सौदा भी बिक गया। जिसकी गाँठमें खोटा दाम है उससे खरा सौदा नहीं लिया जाता। "खोटा दाम गाँठि लिये डोले, बड़ी२ वस्तु मोलावै। बोये बबूल द्राक्ष फल चाहै, सो फल कैसे कपावै" ॥४५॥

कबीर खाँड़हि छाँड़ि के, कांकर चुनि चुनि खाय।
रतन गँवाया रेत में, फिर पाछै पछिताय ॥ ४६ ॥

सत्संग बिना अज्ञानी लोग आत्मस्वरूप खाँड़ को छोड़कर अनात्म रूप कंकर चुन २ कर खा रहे हैं। और ज्ञानरूप रत्न को विषय रेत में गमाके पीछे पछता भी रहे हैं ॥४६॥

कबीर ये जग आँधरा, जैसी अंधी गाय।
बछरा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाय ॥ ४७ ॥

हित अहित ज्ञान शून्य जगज्जीव सब ऐसे अन्धे हैं जैसे गाय। उसको बछड़ा तो मर गया अब भूस भरी खाल को चाट कर खड़ी हो दूध दिया करती है ॥४७॥

पप्पा सों परिचै नहीं, दद्दा रहिगा दूर।
लल्ला लौ लागी रहे, नन्ना सदा हजूर ॥ ४८ ॥

पप्पा पुरुष सद्गुरुसे परिचय किया नहीं अतः उनके दद्दाज्ञान दान से दूर रह गया। और लल्ला-मायिक लालचमें लौ लगी रही वह भी सदा हजूर नन्ना-नहीं रही ॥४८॥

पैड़े मोती बीखरा, अंधा निकसा आय।
जोति बिना जगदीशकी, जगत उलाँड़ा जाय ॥ ४९ ॥

सन्तोंके मार्गमें ज्ञानरूप मोती बिखरा पड़ा है विवेक चक्षु हीन कोई

अन्धा उस रास्ते आ निकला पर क्या करे ? ऐसे प्रभुकी ज्योति बिना जगज्जीव उलटा जा रहा है ॥४९॥

सागर में मानिक बसै, चीन्हत नाहीं कोय ।
या मानिक कूँ सो लखै, जाको गुरु गम होय ॥ ५० ॥

नर शरीर रूप सागरमें चित्स्वरूप मानिक का निवास है पर उसे अज्ञानी कोई नहीं पहिचानता । इस मानिकको वही लखेगा जिसे गुरु गम हुई हैं ॥५०॥

अनजाने का कूकना, कूकर का सा सोर ।
ज्यौं अंधियारी रैन में, साह न चीन्है चोर ॥ ५१ ॥

अज्ञानियों का कूकना (बोलना) कूकर का भूँकना है । जैसे अन्धेरी रातमें चोर शाह को नहीं पहिचानता ऐसे ज्ञान दीपक बिना अज्ञानी चित्स्वरूप साहूको नहीं जानता ॥५१॥

जोइ कुरंग जब चित मिलै, रहै शब्द लौ लाय ।
भैंस के आगे बीन ज्यौं, वह बैठी पगुराय ॥ ५२ ॥

शब्दका भेदी तो कोई मृग है जब उसे चित्त मिलता है बस ! वह शब्दसे ऐसा मग्न होता है कि प्राण दे देता है परन्तु शब्द विमुख नहीं होता । और भैंस (अनधिकारी) के आगे सुन्दर वीणाही क्यों न बजाओ वह तो पागुर करने बैठती है ॥५२॥

हंस काग की परख को, सतगुरु दई बताय ।
हंसा तो मोती चुगै, काग नरक पर जाय ॥ ५३ ॥

हंसरूप अधिकारी काग रूप अधिकारीकी परीक्षा सद्गुरु ने बतला दी । हंस मुक्ता चाहता है और काग गलीज पर जाके बैठता है ॥५३॥

परदेसों खोजन गया, घर हीरा की खान ।
काच मनी का पारखी, क्यौं पावै पहिचान ॥ ५४ ॥

हृदयमें हीराकी खान है, भेदी बिना परदेशमें खोजने गया । काँचके पारखी मणिको कैसे पहिचाने ? कदापि नहीं ॥५४॥

मैं जानूँ हरि दूर है, हरि है हिरदे माँहि।
आड़ी टाटी कपट की, तासे दीसत नाँहि ॥ ५५ ॥

सद्गुरु सत्संग बिना हरि को मैं दूर जानता था परन्तु हरि तो निज हृदय में ही है। कपट की टट्टी से आड़ होने के कारण वह नहीं दीखता ॥ ५५ ॥

कोई एक ज्ञानी पारखी, परखै खरा रु खोट।
कहैं कबीर तब बाँचहीं, रहै नामको ओट ॥ ५६ ॥

कोई एक ज्ञानी सत्य और असत्यकी परीक्षा करने वाले होते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि वे तबही बचते हैं जब सद्गुरु नाम रामकी शरण लेते हैं ॥५६॥

वक्ता ज्ञानी जगत में, पंडित कवि अनंत।
सत्य पदारथ पारखी, बिरला कोई संत ॥ ५७ ॥

यों तो संसारमें शास्त्रग्रन्थके वक्ता, ज्ञानी, पण्डित और कवि असंख्य हैं। परन्तु सत्य वस्तु की परीक्षा करने वाले कोई विरले संत हैं ॥५७॥

ज्ञान जीव को धर्म है, भर्म त्रास जो मेट।
साँच पंथ पावै परखि, जब तिहि सतगुरु भेंट ॥ ५८ ॥

जीव धर्मी और ज्ञान मात्र इसका धर्म है। जब भ्रम भय इसका मिट जाता है तब यह सच्चे मार्गको परख पाता है परन्तु यह सब सद्-गुरु के मिलने पर होते हैं, बिना सद्गुरु के नहीं ॥५८॥

हीरा पड़ा जु गैल में, दुनियाँ जामें डोल।
जहाँ हीरा का पारखी, तहँ हीरा का मोल ॥ ५९ ॥

हीरा (विवेकी सन्त) रास्ते (संसार) में पड़ा है अज्ञानी लोग परीक्षा बिना पगसे कुचलकर इधर से उधर डोला करते हैं। हीरा की कीमत तो वहीं होती है जहाँ पारखी हैं ॥५९॥

अन्धे औघट जात है, चारों लोचन नाँहि।
संत उपकारी ना मिला, छोड़े बस्ती माँहि ॥ ६० ॥

बाहर भीतरके चारों चक्षु रहित अन्धे सब कुघाटमें जा रहे हैं। उन्हें कोई उपकारी सन्त ही नहीं मिले जो बस्ती में पहुँचा दें ॥६०॥

गौ को अन्धी मत कहो, गौ है स्याम सुफेद।
बछुआ था सो मरि गया, तऊ न छाड़ै हेत ॥ ६१ ॥

गौ को अन्धी मत कहो वह शुद्ध तमोगुण है। देखो, उसका बछड़ा मर गया तौ भी मोह नहीं छोड़ती। मोह तमोगुण का धर्म है ॥६१॥

रंक कनक चुनता फिरै, वस्तू आई हाथ।
ताका मरम न जानिया, ले देखाया हाट ॥ ६२ ॥

कंकड़ी बीनते हुए दरिद्रको कहीं से अमूल्य वस्तु हाथ लग गई। वह उसके गुणको न जानकर बाजार में बेच खाया ॥६२॥

जब लग लाल समुद्र में, तब लगि लख्यो न जाय।
निकसि लाल बाहिर भया, महँगे मोल बिकाय ॥ ६३ ॥

जब तक संसार रूप समुद्र में संत रूप रत्न पड़े हैं तब तक उनकी ठीक तौर से पहिचान नहीं होती। जब वे पक्षपात बन्धनसे बाहर निकलते हैं तब बहुमूल्य मोतीकी कीमत विकते हैं ॥६३॥

हीरा बनिजै जौंहरी, ले ले माँढ़ा हाट।
जबहि मिलेंगे पारखी, तब हीरों की साट ॥ ६४ ॥

हीरोंको जौहरी खरीदके बाजारमें लगाते हैं। परन्तु उसकी कीमत तबही होती है जब पारखी मिलते हैं ॥६४॥

लाखों में दीसैं नहीं, कोटिन में जा देख।
कोटिन में कोई एक है, जो जानै कोइ लेख ॥ ६५ ॥

पारखी पुरुष लाखों में तो हैं नहीं, करोड़ों में जाके देखो तो शायद कोई एक मिल जायं तो इस लेखको जानते हों अर्थात् जो हृदय निवासी हीरा को परखते हों ॥६५॥

साधु परखिये शब्द में, रहनी तैसी भास।
नाना विधि के पुहुप हैं, फूलै तैसी बास ॥ ६६ ॥

अनेक प्रकारके वेषधारियोंमें से साधु पुरुष शब्द और रहस्यसे परखे जाते हैं। जैसे नाना प्रकार के पुष्प हैं परन्तु फूलने पर उनकी वासना से गुलाब, केवड़ा आदि की परीक्षा हो जाती है ॥६६॥

इति श्री पारखको अङ्ग ॥ ४९ ॥

अथ बेलीको अंग ॥५०॥

आँगन बेलि अकास फल, अनब्याही का दूध।
ससा सिंग के धनुष को, खैंच बाँझ सुत सूध ॥ १ ॥

मनुष्यों के अन्तःकरणरूप आँगन में सद्गुरु सत्संग से सुबुद्धि रूपी बेली तैयार होती है। जिसमें आकाशके समान निर्मल अनब्याही नाम आत्म स्वरूपका दूध ज्ञान, फल दर्शन मिलता है। कब मिलता है ? जब कि जिज्ञासु सिंग के नाम सन्तोष करके सद्गुरु का शसा सार शब्द में धनुष को नाम ध्यान को खैंचे यानी लगावे तब बाँझ सुत सूध यानी अजन्मा व विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का दर्शन है ॥१॥

आँगन बेली अलख है, फल करता अभिलाख।
गगन मंडल में सोधि ले, सतगुरु बोलै साख ॥ २ ॥

सद्गुरु साखी कह रहे हैं कि सद्गुरु सत्संग की अभिलाषी बन के अन्तःकरणकी सुबुद्धिसे हृदय आकाशमें अलख पुरुषको शोधो और दर्शन रूप फल प्राप्त करो ॥२॥

अनब्याही आकाश है, सुषमनि सुरति विलोय।
अहनिसि तो प्रिबर लगी, प्रेम दूध झरि होय ॥ ३ ॥

आकाश के सदृश अगाध व निर्मल अनब्याही आत्मस्वरूप है उसे सुषुम्णा में वृत्तिको स्थिर करके अखण्ड ध्यान लगाओ फिर प्रेम से शुद्ध ज्ञानरूप दूधका झरना देख लो ॥३॥

छाया माया रहित है, सुच्छम है अनसूत।
आव गवन सों रहित है, सोइ बाँझ का पूत ॥ ४ ॥

"अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यादि श्रुतिके अनुसार छाया, माया रहित और अतिसूक्ष्म सर्वमें अनुस्यूत जो आत्मस्वरूप है वही गमनागमन मुक्त बाँझका पूत है ॥४॥

ससा सिंध के धनुष का, पाया शब्द विवेक।
भय छूटा निरभय भया, सब घट देखा एक ॥ ५ ॥

शशा सिंहके धनुषका मतलब सन्तोष पूर्वक सद्गुरु के सार शब्दका विचार द्वारा जन्मादि भयसे निर्भय हो सब घट में एकात्म स्वरूप का दर्शन ज्ञान प्राप्त होना है ॥५॥

सहज सुन्न में खर पड़ी, वन में लागी लाय।
कबीर दाधा होय तब, आस पास मिटिजाय ॥ ६ ॥

अन्तःकरण रूप बनमें ज्ञान विरहरूपी अग्निको लगतेही काम क्रोधादि रूप माया खर पड़ी यानी निवृत्त हो गई और वृत्ति सहज शून्न अर्थात् निरालम्ब स्वरूप में लीन हो गई। ऐ कबीर! अब कुछ आस-पास होये तो वह भी जल जाय पर है नहीं जले क्या? ॥६॥

पारधिया बन लाइया, जला जु बन खंड घास ।
बीज जला बेली जली, नहिं ऊगन की आस ॥ ७ ॥

पारधिया रूप सद्‌गुरुने ज्ञान विरह रूप अग्नि जिज्ञासुके अन्तर्वनमें ऐसी लगाई कि घास सहित बीज बेली सब ही जल गई फिर उगनेकी आशा ही न रही ॥७॥

मूल जला बेली जली, हुआ बीज का नाश ।
सुरति समानी शब्द में, नहिं ऊगन की आस ॥ ८ ॥

मूल सहित बेली के जल जाने से बीज की उद्‌भवता नष्ट हो गई। अतः मुमुक्षु की वृत्ति गुरुज्ञान में लीन हो गई। पुनर्जन्म की आशा न रही ॥८॥

जो ऊगै तो ब्रह्म में, अन्त कहूँ नहिं जोय ।
हरिरस सींचो वेलड़ी, कधी न कड़वी होय ॥ ९ ॥

अब जो ऊगे भी तो सबल ब्रह्म में, अलग नहीं। गुरुज्ञान से पोषित बुद्धि रूप वेलड़ी कभी न कड़वी हुई न होती है अर्थात् जन्मादिका हेतु न हुई न हो सकती है ॥९॥

जो मन में तो ब्रह्म में, अनतन कहूँ समाय ।
हरिरस सींचो वेलड़ी, कदै न निस्फल जाय ॥ १० ॥

जो कहीं बीज वासना होय भी तो ब्रह्म के अहंकारी के मनमें और कहीं नहीं। सद्‌गुरु ज्ञान रस से पुष्ट सुबुद्धि रूपी वेलड़ी कभी भी मुक्ति फलसे निष्फल नहीं होती ॥१०॥

सिद्ध सहज ही खिर पड़ी, अगन जुलागी माँहि ।
सिद्धि बेलि दोऊ जरी, अब फिर ऊगै नाँहि ॥ ११ ॥

सद्‌गुरु की ज्ञानाग्नि के लगते ही जिज्ञासु ऐसे सिद्ध हो जाते हैं कि उनकी सिद्धि नाम भोग वासना तथा वपुरूपी बेली दोनों सहज ही खिर पड़ी और जल गई। फिर जन्मने की आशा ही न रही ॥११॥

बिना बीज का वृक्ष है, बिन धरती अंकूर।
बिन पानी का रंग है, तहाँ जीव का मूर ॥ १२ ॥

अब हंस जीव उस अमर ज्ञानरूप वृक्ष पर मुकाम किया जो बिना बीज और बिना धरती के अंकुर का है। तथा बिना जल मायाके उसका रंग है ॥१२॥

इति श्री बेलीको अङ्ग ॥ ५० ॥

अथ कथनीको अंग ॥ ५१ ॥
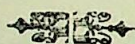
कथनी कथै तो क्या हुआ, करनी ना ठहराय।
कलाबूत का कोट ज्यौं, देखत ही ढहि जाय ॥ १ ॥

जो करनीमें स्थिति नहीं है तो केवल कथनी मात्र से कुछ नहीं हो सकता। देखतेही उसका ऐसा अधःपतन होगा जैसे कालबूत (कागज) के कोटका ॥१॥

कथनी काची ह्वै गई, करनी करी न सार।
स्रोता वक्ता मरि गया, मूरख अनँत अपार ॥ २ ॥

उसकी कथनी कच्ची हो गई, जिसने कर्त्तव्य को नहीं साधा ऐसे मूढ़ श्रोता वक्ता असंखयों मर गये और मर जायंगे ॥२॥

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लाय।
कथनी से करनी करै, विष से अमृत होय ॥ ३ ॥

केवल कथनी खाँड़ सी मीठी लगती है परन्तु करनी तो विष का गोला है जो कहीं कथनी के अनुसार करनी करै तो वह विष से अमृत हो जाता है ॥३॥

कथनी बदनी छाँड़ दे, करनी सों चित लाय।
नरसो जल प्याये बिना, कबहुँ प्यास न जाय ॥ ४ ॥

केवल कथनीको छोड़कर करनी में चित्त लगाओ। क्योंकि जबतक प्यासे मनुष्य को जल नहीं पिलाओगे तब तक जल जल कहने से उसकी प्यास कदापि नहीं जा सकती ॥४॥

कथनी कथि फूला फिरै, मेरे हियै उचार।
भाव भक्ति समझै नहीं, अंधा मूढ़ गँवार ॥ ५ ॥

बहुतेरे वाक्योंकी रचनामें फूले फिरते हैं, कहते हैं कि मेरे हृदयसे सुन्दर उच्चारण होता है। ऐसे मूढ़, गवार भाव भक्ति नहीं समझते विवेक नेत्र रहित अन्धे हैं ॥५॥

कथनी थोथी जगत में, करनी उत्तम सार।
कहैं कबीर करनी भली, उतरै भौजल पार ॥ ६ ॥

संसारमें केवल कथनी निःसार है सार उत्तम करनी है। कबीर गुरु कहते हैं कि उत्तम करनीसे लोग संसार सिन्धुको तर गये व तर जाते हैं ॥६॥

कथनी कूँ धीजूँ नहीं, करनी मेरा जीव।
कथनी करनी दोउ थकी, महल पधारे पीव ॥ ७ ॥

मैं केवल कथनीका विश्वास नहीं करता और कर्त्तव्य मेरे प्राण की स्थिति है। कथनी और करनी दोनों की समाप्ति तब हो जाती है जब स्वामी अमरधामको पधार जाते हैं ॥७॥

कथनी के सूरे घने, थोथै बाँधै तीर।
बिरह बान जिनके लगा, तिनके बिकल सरीर ॥ ८ ॥

कथन मात्र का शूर निःसार वाणीरूप बाण बाँधे बहुतेरे हैं। किन्तु जिनको ज्ञान विरह बाण लगे हैं तिनके शरीर तो विकल हैं ॥८॥

कथते हैं करते नहिं, मुँह के बड़े लबार।
मुँह काला तो होयगा, साहिब के दरबार ॥ ९ ॥
कथते हैं करते सही, साँच सरोतर सोय।
साहिब के दरबार में, आठ पहर सुख होय ॥ १० ॥

जो कहके करते नहीं हैं वे मुँहके बड़े लफन्दर हैं। सद्गुरू साहेबके दरबारमें उनका मुँह श्याह हो जायगा। और जो कथनके अनुसार करते भी हैं वे सीधे सच्चे हैं। वे साहिबके दरबारमें आठों पहर सुखी हुए व होंगे ॥९॥१०॥

कूकस कूटै कन बिना, बिन करनी का ज्ञान।
ज्यौं बंदुक गोली बिना, भड़क न मारै आन ॥ ११ ॥

करनी बिना ज्ञान कथन मानो बिना कनके तुस कूटनी है। वह ऐसे निःसार है जैसे बिना गोलीका बन्दुक। गोली बिना बन्दुक भड़का नहीं मारता ॥११॥

आप राखि परमोधिये, सुनै ज्ञान अकराथि।
तुस कूटै कन बाहिरी, कछू न आवै हाथि ॥ १२ ॥

अपने आपको रखके अर्थात् स्वयं ज्ञान निष्ठ होके उपदेश कीजिये श्रोता बहुत ज्ञान सुनेंगे। और केवल कथन तो, बिना दाना का चोकर कूटना है। जिससे कुछ हाथ नहीं आता ॥१२॥

पद जोरै साखी कहै, साधन पड़ गइ रोस।
काढ़ा जल पीवै नहीं, काढ़ि पीवन की हौंस ॥ १३ ॥

जो खुद पद जोड़ता और साखी बना २ कहा करता है वह अवश्य साधनसे सूखा रह जाता है। क्योंकि सन्तों का निर्मल ज्ञान, कुंये से निकाले हुये जलके सदृश है उसे वह अभागा नहीं पीता खुद निकालकर पीनेकी महत्त्वाकांक्षा रखता है ॥१३॥

साखी लाय बनाय के, इत उत अच्छर काटि ।
कहैं कबिर कब लगि जिये, जूठी पत्तर चाटि ॥ १४ ॥

जो इधर उधर से अक्षर, वाक्यों को काट कपटकर साखी शब्द बना लेता है। कबीर गुरु कहते हैं कि वह जूठी पत्तल चाटकर कब तक जीवेगा ? ॥१४॥

पढ़ि पढ़ि के समुझावई, मन नहि धारै धीर ।
रोटी का संसै पड़ा, यौं कहै दास कबीर ॥ १५ ॥

जो पढ़ गुणके दूसरों को समझाते हैं और स्वयं मन में धैर्य; सन्तोष नहीं रखते तो जिन्हें स्वतः उदर पोषण की चिन्ता लगी है वे क्या ज्ञान कथेंगे ? ॥१५॥

पानी मिलै न आप को, औरन बकसत छीर ।
आपन मन निहचल नहीं; और बँधावत धीर ॥ १६ ॥
चतुराई चूल्हे पड़ै, ज्ञान कथै हुलसाय ।
भाव भक्ति जानै बिना, ज्ञान पनो चलि जाय॥ १७ ॥

अपनेको जलकी मुसीबत है और दूसरेको दूधकी दुआ देते हैं। इसी प्रकार अपना मन तो वश नहीं और दूसरे को बड़े २ लम्बे ज्ञान कथके धीरज बंधाते हैं। ऐसी चतुराई चूल्हे पड़ै जो भाव, भक्ति ज्ञान बिना कथन मात्र है, क्योंकि वह ज्ञान भी नहीं ठहरता है ॥१६॥१७॥

इति श्री कथनीको अङ्ग ॥ ५१ ॥
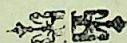
अथ करनीको अंग ॥ ५२ ॥

कबीर करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय ।
सात समुँद्र आड़ा पड़ै, मिलै अगाऊ आय ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! अपना शुभाशुभ कर्तव्य जन्य भोग निष्फल कभी नहीं जाता । सप्तसागरकी ओट क्यों न हो वह आगेही आके मिलता है ॥१॥

कबीर करनी क्या करै, जो गुरु नहीं सहाय ।
जिहि जिहि डारी पगुधरै, सों सों निवनिव जाय ॥ २ ॥

ऐ कबीर ! सद्गुरु की सहायता बिना केवल करनी से कुछ नहीं हो सकता गुरु की कृपा बिना जिस २ डाली पर पग धरता है वह सब झुक जाती है ॥२॥

करनी बिन कथनी कथै, गुरु पद लहै न सोय ।
बातों के पकवान से, धीरा नाहीं कोय ॥ ३ ॥

गुरु भक्ति करनी बिना केवल कथनी से गुरु पदकी प्राप्ति किसी को ऐसे नहीं होती जैसे पकवानकी वार्ता मात्रसे कोई तृप्त नहीं होता ॥३॥

करनी बिन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात ।
कूकर सम भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात ॥ ४ ॥

बिना करनीके अज्ञानी लोग रात-दिन सुनी सुनाई बातको ऐसे कथन किया करते हैं जैसे कूकर को देखकर कूकर भूँकता फिरता है ॥४

करनी का रजमा नहीं, कथनी कथै अपार ।
इन बातन क्यौं पाइये, साहिब का दीदार ॥ ५ ॥

शुभ करनी तो रजमात्र भी नहीं है और कथनी अगाध कथते हैं । तो कहो भला इन बातोंसे मालिक का दर्शन कैसे प्राप्त होय ? ॥५॥

करनी का रजमा नहीं, कथनी मेरु समान ।
कथता वकता मरिगया, मूरख मूढ़ अजान ॥ ६ ॥

सद्गुरु विषयक श्रद्धा भक्तिरूप करनी तो किञ्चित् मात्र नहीं और कथनी मेरु पर्वत के समान कथते बकते हैं तो ऐसे स्वरूप ज्ञान शून्य मूर्खं बहुतेरे मर गये ॥६॥

करनी करनी सब कहै, करनी माँहि विवेक ।
वा करनी वहि जान दे, जो नहिं परखै एक ॥ ७ ॥

करनी करनी सब कहते हैं परन्तु उसमें भी विवेक है । उस करनीको बहि जाने दो जिससे एक अखण्डात्मक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता ॥७॥

करनी गर्व निवारनी, मुक्ति स्वारथी सोय ।
कथनि तजि करनी करै, तब मुक्ताहल होय ॥ ८ ॥

मुक्तिरूप स्वार्थ सिद्धि के लिये कर्त्तव्य करो पर उसके अहंकार को त्याग दो जब ऐसे कथन व अहंकारका त्यागपूर्वक कर्तव्य होता है तब ही मुक्ति होती है ॥८॥

जैसी मुख ते नीकसै, तैसी चाले नाहिं ।
मनुष नहीं वे स्वान गति, बाँधे जमपुर जाँहि ॥ ९ ॥

जैसे मुखसे कहते हैं वैसे जो स्वयं नहीं चलते हैं तो वे मनुष्य नहीं हैं किन्तु कुत्ते हैं उसी तरह बांधे यमपुर जायंगे ॥९॥

जैसे मुख ते नीकसै, तैसी चाले चाल ।
साहब संग लागा रहै, पल में करै निहाल ॥ १० ॥

जो कथनके अनुसार चलते हैं और सद्गुरुके संगमें लगे रहते हैं उनको साहिब पल भर में सुखी कर देते हैं ॥१०॥

चोर चोराई तूँवरी, गाड़ै पानी माँहि ।
वप गाड़ै तौ ऊछलै, करनी छानी नाँहि ॥ ११ ॥

जैसे चोरने तुम्बरी चोरा लाई और वह उसे जलमें गाड़ना चाहता है । परन्तु तुम्बरी ऊपर उछल आती है ऐसे शुभाशुभ करनी छिपानेसे छिपी नहीं रहती ॥११॥

जैसी करनी जासु की, तैसी भुगतै सोय।
बिन सतगुरुकी भक्तिके, जनम जनम्म दुख होय ॥ १२ ॥

जैसा जिसका कर्त्तव्य है वैसे उसे भुगतने पड़ते हैं। सद्गुरुकी भक्ति बिना प्राणी बार बार जन्म लेके दुःखी होता है ॥१२॥

बानी तो पानी भरै, चारों वेद मजूर।
करनी तो गारा करै, रहनी का घर दूर ॥ १३ ॥

रहनी का घर (स्वरूपात्मकी स्थिति) बहुत दूर है। वहाँ तक वाणी वेद और करनीकी पहुँच नहीं है। यथा:—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि श्रुतिः ॥१३॥

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस।
कहैं कबिर बैठा रहै, ता सिर करड़े कोस ॥ १४ ॥

महापुरुषोंसे निर्दिष्ट विशुद्ध मार्ग पर चलते हुये जो किसी कारण से गिर भी जाये तो उसका कोई दोष नहीं। कबीर गुरु कहते हैं कि दोष तो उसका है जो जान बूझकर बैठा है। उसके शिर पर तो कठिन कोश सब पड़े ही हैं ॥१४॥

स्रोता तो घरहीं नहीं, वक्ता बकै सो बाद।
स्रोता वक्ता एक घर, तब कथनी का स्वाद ॥ १५ ॥

जहाँ श्रोता अपने लक्ष्य पर नहीं हैं वहाँ वक्ता का कथन व्यर्थ है। जब श्रोता और वक्ताका एक लक्ष्य होता है तब कथनमें रस पड़ता है ॥

कथते बकते पचि मुये, मूरख कोटि हजार।
कथनी काची पड़ि गई, रहनि रहै सो सार ॥ १६ ॥

यों तो कहते कहाते करोड़ों मूर्ख मर गये। और उनकी कथनी भी रहनी बिन कच्ची पड़ गई। जो रहनी पर ठहरता है वही प्रयोजन सिद्ध करता है ॥१६॥

कुल करनी छूटो नहीं, ज्ञानहिं कथै अगाध।
कहैं कबिर वा दास को, मुख देखै अपराध ॥ १७ ॥

जो परम्परा कुल करनीको नहीं छोड़कर उच्च स्थितिका ज्ञान केवल कथन ही करता है। कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसोंका मुख देखना भी पाप है ॥१७॥

रहनी के मैदान में, कथनी आवै जाय।
कथनी पीसै पीसना, रहनी अमल कमाय॥ १८ ॥

जहाँ रहस्यका अखाड़ा है वहाँ केवल कथन व्यर्थ है। वक्ता बकते रह जाते और रहस्य वाले प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं ॥१८॥

जैसी करनी आपनी, तैसी ही फल लेय।
कूरे करम कमाय के, साँई दोष न देय॥ १९ ॥

अपने कर्त्तव्य के अनुसार ही फल मिलता हैं। हिंसादि क्रूर कर्म करके स्वामी का दोष देना व्यर्थ है ॥१९॥

राम झरूखै बैठ के, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसी तिनको देय॥ २० ॥

कर्मों का साक्षी रमैया राम स्वयं डेउढ़ी पर बैठिके सबका मुजरा[1] लेता और नौकरी के मुताबिक मजदूरी देता है ॥२०॥

साहेब के दरबार में, क्यों करि पावै दाद।
पहिले बुरा कमाय के, बाद करै फरियाद॥ २१ ॥

जो पहिले गुनाह करके पीछे साहिब के दरबार में अर्जी पेश करता है वह लाभका इन्साफ कैसे पायगा ? हर्गिज नही ॥२१॥

दाता नदिया एक सम, सब काहू को देत।
हाथ कुंभ जिसका जिसा, तैसा ही भरि लेत॥ २२ ॥

दाता और नदी एक समान हैं, सबको देते हैं। जैसा जिसका पात्र है वैसा वह भर लेता है ॥२२॥

१. मुजरा:—प्रणाम, नमस्कार। "मुजरा" वेश्या के गाना को भी कहते हैं यहां पर हिसाब निरीक्षण से मतलब है।

कबीर हमने घर किया, गलकट्टों के पास।
करेगा सोई पायगा, तुम क्यूँ भये उदास ॥ २३ ॥

ऐ कबीर ! हमने तो गलकट्टा के पास घर किया है। जो जैसा करेगा वो वैसा पायगा तू क्यों उदास होता है ॥२३॥

एक हमारी सीख सुन, जो तूँ हूत्र्या सीष।
करूँ करूँ तो क्या कहै, कीया है सो दीख ॥ २४ ॥

यदि तू हमारा शिष्य हुआ है तो एक शिक्षा भी सुन ले। "यह करूं, वह करूं" यह तू क्या करता है ? जो कुछ किया है उसी को भली भांति देख ॥२४॥

जब तू आया जगत में, लोग हँसे तूँ रोय।
ऐसी करनी ना करो, पीछे हँसे सब कोय ॥ २५ ॥

जब तू जगत् में जन्म लिया, लोग खुशी मनाने लगे और तू रोने लगा। फिर ऐसी करनी मत कर कि पीछे सब कोई हंसे और तू रोया करे ॥२५॥

जैसी कथनी मैं कथी, तैसी कथै न कोय।
करनी से साहिब मिलै, कथनी झूठी होय ॥ २६ ॥

जैसा मैंने कथन किया वैसा कोई नहीं। यह अभिमान छोड़ दे। करनी बिन कथनी व्यर्थ है, ध्यान रख साहिब करनीसे मिलते हैं ॥२६॥

पसु की होती पनहिया, नरका कछू न होय।
नर उत्तम करनी करै, नर नारायण होय ॥ २७ ॥

पशु-चामकी पनही भी होती है, नरका निरर्थक है। हाँ नर उत्तम करनी से नारायण हो सकता है ॥२७॥

स्रमही ते सब कुछ बने, बिनस्रम मिले न काहि।
सीधी अँगुली घी जम्मो, कबहूँ निजसे नाँहि ॥ २८ ॥

पुरुषार्थ से सब सिद्ध होते हैं, पुरुषार्थ बिना कुछ नहीं। देख लो, जमा हुआ घी सीधी अंगुली से कभी नहीं निकलता ॥२८॥

कैसा भी सामर्थ्य हो, बिन उद्यम दुख पाय ।
निकट असन बिन कर चले, कैसे मुख में जाय ॥ २६ ॥

कोई कैसा भी समर्थ क्यों न हो, उद्योग बिना अवश्य दुःख पाता है। पास में रखा हुआ भी भोजन बिना कर चलाये मुख में कैसे जा सकता है ? हर्गिज नहीं ॥२६॥

दाता के घर सम्पति, आठो पहर हजूर ।
जैसे गारा राज को, भर भर देत मजूर ॥ ३० ॥

दानीके घरको लक्ष्मी सम्पत्तिसे इस प्रकार सदा मालामाल किये रहती है, जिस प्रकार मजदूर गारा, इंटसे राज अर्थात् कारीगरको ॥३०

श्रमही ते सब होत है, जो मन राखै धीर ।
श्रम ते खोदत कूप ज्यूँ, थल में प्रगटै नीर ॥ ३१ ॥

धैर्य पूर्वक पुरुषार्थसे सब कुछ प्राप्त होते हैं। उद्योगीको देख लो परिश्रमसे कूप खोदकर पातालका जल थल पर ले आते हैं ॥३१॥

करनी करै सो पूत हमारा, कथनी कथै सो नाती ।
रहनी रहै सो गुरु हमारा, हम रहनी के साथी ॥ ३२ ॥

कर्त्तव्य करने वाला हमारा पुत्र है, केवल कथन करने वाला नाती। और रहस्य धारण करनेवाले गुरु हैं क्योंकि हम रहस्यके संगी हैं ॥३२॥

इति श्री करनीको अङ्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

अथ लगनीको अंग ॥ ५३ ॥

लौ लागी तब जानिये, छूटि न कबहूँ जाय ।
जीवत लौ लागी रहे, मूये तहाँ समाय ॥ १ ॥

मालिकसे लगन ऐसी लगनी चाहिये कि जीवन पर्यन्त कभी छूटे ही नहीं और शरीर पातानन्तर भी लौ उसी में लीन हो जाये ॥१॥

लौ लागी तो डर किसा, आप बिसरजन देह ।
अमृत पीवै आतमा, गुण सों जुड़ै सनेह ॥ २ ॥

लगन लगी फिर भय कैसा ? वहाँ तो शरीरका अभ्यासही स्वयं छूट जाता है । और सद्गुरु से स्नेह होने के कारण आत्मा अमृत पान कर अमर हो गई ॥२॥

लौ लागी तब लौ लगूँ, कहूँ न आऊँ जाँव ।
लै बूड़ूँ तो लै तरूँ, लै लै तेरा नाँव ॥ ३ ॥

जब लगन लगी तब उसीमें ऐसे लीन हो गया कि और कहीं आना जाना सब छूट गये । ऐ गुरु ! तेरे ही नाम की लगन लेकर बूड़ता और मरता हूँ ॥३॥

जैसी लौ पहिले लगी, तैसी निबहै ओर ।
अपने देह को को गिनै, तारै पुरुष करोर ॥ ४ ॥

जैसी लगन आदि में लगी यदि अन्त तक निबह जाय तो अपने एक शरीर की क्या कथा वह करोड़ों को तार सकता है ॥४॥

लै पाऊँ तो लै रहूँ, लेन कहूँ नहिं जाँव ।
लै बूड़ै सो लै तिरै, लै लै तेरो नाँव ॥ ५ ॥

यदि गुरुकी लगन कहीं पा जाऊँ तो उसीमें रह जाऊँ और कहीं भी न जाऊँ। ऐ गुरु! तेरी लगन में जो डूबा वह तेरे नाम लेकर तर भी गया व जाता है ॥५॥

जैसी लौ प्रथमहि लगी, तैसी ही रहि जाय।
जाके हिरदै लौ बसे, सो मोहि माँहि समाय ॥ ६ ॥

जिसके हृदय में आदि अन्त एक रस लगन निबहती है वह अवश्य मेरेको प्राप्त होता है ॥६॥

लागी लागी क्या करै, लागी बुरी बलाय।
लागी सोई जानिये, वार पार ह्वै जाय ॥ ७ ॥

लौ लागी लागी क्या करता है? अरे! लौ लागी बड़ी बुरी बला है। लागी उसको जानो जो एक दम वार पार हो जाय ॥७॥

लागी लागी क्या करै, लागी नाहीं एक।
लागी सोई जानिये, पड़े कलेजे छेक ॥ ८ ॥

लगन लागी लागी ऐसा सब कहते हैं पर लगी एक भी नहीं। अरे! लगी तो उसीको कहते हैं, जो हृदय बिंध जाय ॥८॥

लागी लागी क्या करै, लागी सोइ सराह।
लागी तब ही जानिये, उठे कराह कराह ॥ ९ ॥

लगन लगी वही प्रशंसनीय है। जिसके लगनेसे कराह कर उठे और कराह कर बैठे ॥९॥

लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चोंच जरि जाय।
मीठा कहा अंगार में, जाहि चकोर चबाय ॥ १० ॥

लगन लगी कभी छूटती नहीं चाहे जीभ और चोंच क्यों न जल जाय। देखो, अग्नि कहाँ मीठी है? जिसे चकोर चबाता है ॥१०॥

सोऊँ तो सुपने मिलूँ, जागूँ तो मन माँहि।
लोयन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाँहि ॥ ११ ॥

ऐ प्रभु ! सोऊं तो स्वप्नमें और जागूं तो मन में मिलते रहूं। नेत्र रक्तवर्ण हो गया, तौभी तेरी सुधि कभी नहीं भूलती ॥११॥

और सुरति बिसरी सकल, लौ लागी रहै संग।
आव जाव कासो कहूँ, मन राता हरि रंग ॥ १२ ॥

और ध्यान सब छूट गया एक तेरी लगन लगी है। मेरे से किसी को आव, जाव यह भी नहीं कहा जाता। ऐ प्रभु ! तेरे संग ऐसा मन लगा है ॥१२॥

जब लग कथनी हम कथी, दूर रहा जगदीस।
लौ लागी कल ना पड़ै, अब बोलै न हदीस ॥ १३ ॥

जब तक हम कथनी में थे, तब तक मालिक बहुत दूर था। बस ! ऐसी लगन लगी कि शान्ति नहीं मिलती अब हदीस (कुरान) बोलने की हौंस नहीं ॥१३॥

ग्रंथन माहीं अर्थ है, अर्थ माहि है भूल।
लौ लागी निरभय भया, मिटि गया संसै सूल ॥ १४ ॥

ग्रन्थोंमें अर्थ है, अर्थमें भूल होती है। प्रभुसे लगन लगी निर्भय हो गया और संशय जन्य पीड़ा भी जाती रही ॥१४॥

गंग जमुन के बीच में, सहज सुन्न लौ घाट।
तहाँ कबीरा मठ रचा, मुनिजन जोवै बाट ॥ १५ ॥

इंगला, पिंगलाके मध्य सहज शून्य में लगनकी स्थिति है। वहीं कबीराने स्थान बनाया है। मुनिजन रास्ता देख रहे हैं ॥१५॥

जिहि बन सिंघ न संचरै, पंछी उड़ि ना जाय।
रैन दिवस की गम नहीं, तहँ कबिर लौ लाय ॥ १६ ॥

जिस जंगलमें प्राकृत जीव रूप सिंहका संचार नहीं और वहाँ मन रूप पक्षी भी नहीं पहुँच सकता, और जहाँ सूर्य चन्द्र का प्रकाश नहीं वहाँ जिज्ञासुओं ने लगन लगाई है ॥१६॥

काया कमंडल भरि लिया, ऊजल निरमल नीर।
पीवत तृषा न भाजई, तिरषावंत कबीर ॥ १७ ॥

प्रेमियोंने काया कमण्डलमें विशुद्ध प्रेम जल खूब भर लिया। प्यासे जिज्ञासु जन पीते जाते हैं फिर भी तृषा नहीं जाती ॥१७॥

सुरति ढींकुली नेल लौ, मन नित ढोलनहार ।
कमल कूप में ब्रह्म जल, पीवै बारम्बार ॥ १८ ॥

सुरतिकी ढेंकलीसे लौ की लेजुर मन रूप डोलमें लगाके हृदय कमल निवासी ब्रह्मात्म रूप जल को निकालकर जिज्ञासुजन नित प्रति बार २ पान किया करते हैं ॥१८॥

मन उलटा दरिया मिला, लागा मलिमलि न्हान ।
थाहत थाह न पावई, सो पूरा रहमान ॥ १९ ॥

मन उलटकर ऊर्ध्व मुख सागरमें जा मिला और खूब मल २ कर नहाने लगा। जिसकी थाह लगाने पर भी थाह नहीं लगी वही पूरा रहमान है ॥१९॥

सीख भई संसार सो, चला जु साँई पास ।
अविनासी मोहि ले चला, पुरई मेरी आस ॥ २० ॥
इन्द्रलोक अचरज भयो, ब्रह्मा पड़ा विचार ।
कबीर चाला राम पै, कोतिकहार अपार ॥ २१ ॥

सद्गुरुकी शिक्षा लेकर संसारसे चल पड़ा। स्वामीके पास जाकर विनय करने लगा ऐ अविनाशी ! मुझे ले चल और मेरी आशाको पूर्ण-कर यह देखकर इन्द्रलोक में आश्चर्य हुआ और ब्रह्मा भी बड़े विचार में पड़ गये। इसी प्रकार राम धाम जाते हुए कबीरको देखने के लिये तमाशाइयों के ठट्ट लग गये ॥२०॥२१॥

अब तो मैं ऐसा भया, निरमोलिक निजनाम ।
पहिले काच कथीर था, फिरता ठामहि ठाम ॥ २२ ॥

प्रथम मैं काँच कथीरकी तरह इधर उधर मारा मारा फिरता था। और अब तो सद्गुरु की शरण में स्वस्वरूप ज्ञान प्राप्त होने से ऐसा अविचल अमूल्य हो गया कि आना जाना ही छूट गया ॥२२॥

भौसागर जल विष भरा, मन नहिं बाँधै धीर।
सबल सनेही हरि मिला, उतरा पार कबीर॥ २३॥

संसार सागरमें विषय रूप जल भरा है, मन में धैर्य नहीं होता। परम स्नेही सद्गुरु समर्थ मिल गये तो उनके सहारे दास पार उतर गया ॥२३॥

भला सुहेला ऊतरा, पूरा मेरा भाग।
रामनाम बाँका गहा, पानी पग नहिं लाग॥ २४॥

मेरे पूर्ण सौभाग्यका सितारा चमक गया। उस छैल छबीले राम की शरण ग्रहण से पग पानीको स्पर्श भी नहीं किया और पार उतर गया ॥२४॥

सुपना में साँई मिला, सोवत लिया जगाय।
आँखि न मीचों डरपता, मति सुपना ह्वै जाय॥ २५॥

स्वप्नमें स्वामी का दर्शन हुआ वे सोते से जगा लिये। ऐसा न हो कि फिर स्वप्न हो जाय इस भयसे अब आँख भी नहीं मीचता अर्थात् बन्द करता हूँ ॥२५॥

कबीर केसो की दया, संसै मेला खोय।
जो दिन गया हरिभजन बिन, सो दिन सालै मोय॥ २६॥

बस! अब प्रभुकी दयासे संशय सब निवृत्त हो गये। परन्तु वे दिन अभीभी मुझे दुख देते हैं जो प्रभुके भजन बिना योंही बीत गये ॥२६॥

कबीर जाँचन जाय था, आगे मिला अजाँच।
आप सरीखा कर लिया, भारा पाया साँच॥ २७॥

मैं याचक रूप में जा रहा था कि आगे अयाचक मिल गये। बस! अपने समान बना लिये और वहैं अमूल्य पदार्थ सत्य को पा लिया॥ २७॥

लौ लागी निरभय भया, भरम भया सब दूर।
बन बनमें कहँ ढूँढता, राम इहाँ भरपूर॥ २८॥

ऐसी लगन लगी कि एकदम निर्भय हो गया, सर्व भ्रम भी दूर हो गये । यद्यपि राम इहाँ ही घटमें परिपूर्ण है और मैं जंगलों जंगल ढूँढ़ता फिरता था ॥२८॥

इति श्री लगनीको अङ्ग ॥ ५३ ॥

अथ निजकर्त्ताको अंग ॥ ५४ ॥
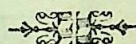
अछै पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाकी डार ।
तिर देवा शाखा भये, पात भया संसार ॥ १ ॥

अक्षय पुरुष एक वृक्ष है, निरंजन उसके स्कन्ध और ब्रह्मादि त्रिदेव उसकी शाखायें तथा संसार सब पत्ते हैं भाव-पुरुष अमर है, प्रकृतिका आना जाना नाशमान है ॥१॥

नादबिंदु ते अगम अगोचर, पांच तत्त्व ते न्यार ।
तीन गुनन ते भिन्न है, पुरुष अलेख अपार ॥ २ ॥

अलेख और अपार जो पुरुष हैं वह शब्द और शरीर का अविषय है इसी प्रकार पांच तत्व और तीन गुण से भी रहित शरीर संघात में साक्षी स्वरूप है ॥२॥

तीन गुनन की भक्ति में, भूलि पड़ा संसार।
कहैं कबीर निज नाम बिन, कैसे उतरैं पार ॥ ३ ॥

त्रिगुण की सेवा में सारे संसार भूल पड़े हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि निज स्वरूप के ज्ञान बिना ये संसार के पार कैसे जा सकते ? कदापि नही ॥३॥

हरा होय सूखै सही, यों तिरगुन विस्तार।
प्रथमहिं ताको सुमिरिये, जाका सकल पसार ॥ ४ ॥

उत्पन्न और नाश होना त्रिगुणात्मक संसार का स्वभाव है। अतः प्रथम स्मरण उसीको करना चाहिये जिसकी सत्ता मात्रसे ये सम्पूर्ण विस्तृत हुये हैं ॥४॥

शब्द सुरति के अन्तरै, अलख पुरुष निरबान।
लखनेहारै लखि लिया, जाको है गुरु ज्ञान ॥ ५ ॥

शब्द और सुरतिके मध्यमें अलख पुरुष मुक्त है। जिन्हें सद्गुरुका ज्ञान मिला है ऐसे लखनेवाले लख लिये व लखते हैं ॥५॥

राम कृस्न औतार है, इनको नाहीं माँड।
जिन साहिब सृष्टि किया, किनहु न जाया शाँड ॥ ६ ॥

राम कृष्ण अवतारिक पुरुष हैं, ये रचनाके अन्दर हैं यह रचना इनकी नहीं है जिस पुरुषकी सत्तासे सृष्टि होती है वह स्वयं अजन्मा है उसे किसी स्त्रीने पैदा नहीं किया ॥६॥

राम कृष्न को जिन किया, सो तो करता न्यार।
अन्धा ज्ञान न बूझई, कहैं कबीर विचार ॥ ७ ॥

शरीरधारी राम कृष्णको जिनने पैदा किये वे कर्त्ता और हैं। कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि अज्ञानी लोग अन्धे हैं वास्तविक ज्ञान न स्वयं समझते न किसी ज्ञानी से बूझते हैं ॥७॥

संपुट माँहि समाइया, सो साहिब नहिं होय।
सकल माँडमें रमि रहा, मेरा साहिब सोय ॥ ८ ॥

"साहिब सो जो आवे न जाय। सदा सनातन नहि बिनशाय" इति पंचग्रन्थी। जो माता के गर्भाशयमें प्रवेश करता है वह मालिक नहीं। मेरा मालिक वही है जो साक्षी रूपके सम्पूर्ण रचना में रम रहा है। जल कमलकी नाईं "सबते दूर पूर सबहीनमें ज्यों जल कमल विचारी। ऐसो सन्तनकी बलिहारी" ॥८॥

साहेब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहिब जो कहूं, साहेब खरा रिसाय ॥ ९ ॥

मेरे सद्गुरू साहिब एक हैं, दूसरा नहीं कहा जाता। यदि दूसरा कहूं तो सद्गुरु सच्चे कोप करेंगे ॥९॥

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पुहुप बास ते पातला, ऐसा तत्व अनूप ॥ १० ॥
बूझो करता आपना, मानो वचन हमार।
पाँच तत्व के भीतरै, जाका यह संसार ॥ ११ ॥

जिसके मुख, मस्तक और रूप, रेखा नहीं है। और पुष्प गन्ध से भी अति सूक्ष्म है ऐसा परम तत्त्व उपमा रहित साहिब का स्वरूप है। वही स्वरूप अपना कर्त्ता समझो और इस हमारे वचनको मान लो। पांच तत्व के अन्दर जिसकी यह सृष्टि है ॥१०॥११॥

निबल सबल जो जानिके, नाम धरा जगदीस।
कहैं कबिर जनमैं मरै, ताहि धरुँ नहिं सीस ॥ १२ ॥

मनुष्यों ने जिसे दुर्बल से सबल अर्थात् विशेष सामर्थ्य देखा, बस! उसीको संसारका मालिक मान लिया। कबीर गुरु कहते हैं कि जो स्वयं जन्मादिके आधीन है वह सबका शिरमोर नहीं हो सकता ॥१२॥

जनम मरन से रहित है, मेरा साहिब सोय।
बलिहारी वहि पीव की, जिन सिरजा सब कोय ॥ १३ ॥

जो जन्मादि बन्धनसे रहित है वह मेरा मालिक है। धन्य हैं वे स्वामी जो सत्ता मात्र से सृष्टि करके सबसे पृथक रहते हैं ॥१३॥

समुँद्र पाटि लंका गयो, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त अचै गयो, इनमें को करतार ॥ १४ ॥

जिस समुद्रको पाटके सीतापति रामजी लंकाको गये। तिसे अगस्त ऋषि आचमन कर गये, कहो! इनमें कौन श्रेष्ठ है ॥१४॥

गिरिवर धार्यो कृस्नजी, द्रोना गिरि हनुमन्त।
सेसनाग धरना धरी, इनमें को भगवन्त ॥ १५ ॥

गोवर्धन पर्वतको श्रीकृष्णजी और द्रोणाचल को हनुमान जी तथा सारे पर्वत सहित पृथ्वी को शेषनाग जी धारण किये हुए हैं तो कहो इनमें बड़े भगवान् कौन हैं ? ॥१५॥

अविगति पीसै पीसना, गौसा बिनै खुदाय।
निरंजन तो रोटी करे, गैवा बैठा खाय ॥ १६ ॥

अविगति माया पीसना पीस रही है और खुदा कण्डे बिन रहे हैं तथा निरंजन ब्रह्म रोटी पका रहा है और गैवी पुरुष साक्षीरूप से खा रहा है ॥१६॥

तीन देवको सबकोइ ध्यावै, चौथे देवको मर्म न पावै।
चौथा छोड़ पंचमचितलावै, कहैं कबिर हमरेढिग आवै ॥१७॥

ब्रह्मादि त्रिदेवका सब कोई ध्यान धरते हैं। अतः चौथे मनोमय देव के मर्म नहीं पाते हैं। कबीर गुरु कहते हैं चौथे मनका विस्तार छोड़कर जो पंचम आतमस्वरूप में वृत्ति लगावे वह अवश्य हमारे समीप आ जावे ॥१७॥

जो ओंकार निश्चय किया, यह करता मति जान।
साचा सब्द कबीर का, परदे में पहिचान ॥ १८ ॥

जो ॐकार को सृष्टिकर्ता करके निश्चय किया है उसे कर्त्ता मत समझो। कबीर के सच्चे शब्दोंको विचारो और पंचकोशादिके पड़दे में कर्त्ताको पहिचानो ॥१८॥

अलखअलख सब कोऊ कहै, अलख लखै नहिं कोय।
अलख लखा जिन सब लखा, लखा अलख नहिं होय॥१९॥

सब अलख अलख कहते हैं परन्तु लखते कोई भी नहीं । सद्गुरु द्वारा जिसने अलखको लख लिया बस ! उसका काम हो गया लखा अलख नहीं होता ॥१९॥

कथत कथत जुग थाकिया, थाकी सबै खलक ।

देखत नजरि न आइया, हरिको कहा अलख ॥ २० ॥

कहते कहते युगों बीत गये और सब लोग भी थक गये ! जब दृष्टि में नहीं आये तब हरिको अलख कह दिये ॥२०॥

तीन लोक सब राम जपत, जानि मुक्ति को धाम ।

रामचन्द्र के वसिष्ठ गुरु, काह सुनायो नाम ॥ २१ ॥

तीनों भुवन के लोग सब मुक्तिका स्वरूप समझकर दाशरथी राम के नामको जपते हैं । हम पूछते हैं कहो उनके गुरु वशिष्ठजी उन्हें कौनसा नाम सुनाये थे ? ॥२१॥

जग में चारों राम हैं, तीन राम व्यौहार ।

चौथा राम निज सार है, ताका करो विचार ॥ २२ ॥

संसार में राम चार हैं, तिनमें तीनका व्यवहार है । और चौथा राम सबका तत्त्व स्वरूप है उसीका विचार करो ॥२२॥

एक राम दशरथ घर डोलै, कौन राम घट घटमें बोलै ।

एक राम का सकल पसारा, एक राम तिरगुनते न्यारा ॥

एक राम दशरथके घरमें विचरते हैं । दूसरे घट २ में बोलते हैं तीसरेका सम्पूर्ण पसारा है और चौथा त्रिगुण से न्यारा है ॥२३॥

कौन राम दशरथ घर डोलै, कौन राम घट घट में बोलै ।

कौन राम का सकल पसारा, कौन राम तिरगुनते न्यारा ॥

आकार राम दशरथ घर डोलै, निराकार घटघटमें बोलै ।

बिंदु राम का सकल पसारा, निरालंब सबही ते न्यारा ॥

कहिये कौन राम दशरथके घर में डोलते, व कौन घट २ में बोलते तथा कौनके सकल पसारे और कौन त्रिगुणसे न्यारे हैं ? सुनिये ! शरीर-

धारी दाशरथी राम दशरथके घरमें फिरते हैं। निराकार पवन रूपसे घट २ में बोलते हैं। बिन्दु रामका सम्पूर्ण विस्तार है और निराधार चैतन्यमात्र सबसे न्यारे हैं ॥२४॥२५॥

जाकी थापी माड़ है, ताकी करहू सेव।
जो थापा है मांड का, सो नहिं हमारा देव ॥ २६ ॥

इस शरीर संसारकी रचना जिसकी सत्तासे स्थिर है उसीकी शरण लो। और जो रचना के अन्दर अस्ति, वृद्धि, अपक्षय आदिको प्राप्त हो रहा है वह हमारा ध्येय नहीं है ॥२६॥

रहै निराला मांड ते, सकल मांड हिति माँहि।
कबीर सेवै तासु को, दूजा सेवै नाँहि ॥ २७ ॥

जल कमलकी नाइं जो सम्पूर्णमें रहते हुए भी उनसे पृथक है। उसी साक्षी स्वरूपकी सेवामें हमारी वृत्ति लगी है दूसरेकी नहीं ॥२७॥

चार भुजा के भजन में, भूलि पड़े सब सन्त।
कबीर सुमिरै तासु को, जाके भुजा अनंत ॥ २८ ॥

सद्गुरु सत्संग बिना चार भुजाके भजनमें वेषधारी सब भूले पड़े हैं। सद्गुरु सत्संगी उनको स्मरण करते हैं जिनको अनन्त भुजायें हैं ॥२८॥

काटे बन्धन विपति में, कठिन किया संग्राम।
चीन्हो रे नर प्रानिया, गरुड़ बड़े की राम ॥ २९ ॥

नाग फांस बन्धन रूप विपत्तिकाल में गरुड़ने कठिन संग्राम कर रामचन्द्रको बन्धनसे मुक्त किया। ऐ प्राणियों! विचार करो, राम या गरुड़ कौन बड़े हैं? ॥२९॥

कहैं कबीर चित चेतहु, शब्द करो निरुवार।
रामहि करता कहत हैं, भूलि पर्यो संसार ॥ ३० ॥

कबीर गुरु कहते हैं, सावधान हो शब्दका निर्णय करो। बिना सत्संग संसारी लोग रामको मालिक मानके भूले पड़े हैं ॥३०॥

जाहि रोग उत्पन्न भया, औषधि देय जु ताहि।
वैद्य ब्रह्म बाहिरा रहा, भीतर धसा जु नाहि ॥ ३१ ॥

ठीक जिसे जो रोग उत्पन्न हुआ हो. उसे वही औषधि देनी चाहिये। ब्रह्मज्ञानी वैद्य बाहर रह गये ब्रह्मज्ञान औषधि अन्दर प्रवेश हुई नहीं। फिर रोगी जन्मादि रोगसे निवृत्त होये तो कैसे ? ॥३१॥

असुर रोग उतपति भया, औतार औषधि दीन्ह।
कहैं कबीर या साखिको, अरथ जु लीजो चीन्ह ॥ ३२ ॥
कबीर कारज भक्ति के, मुक्तहि दीन्ह पठाय।
कहैं कबीर विचारि के, ब्रह्म न आवैं जाय ॥ ३३ ॥

रावणादि को राक्षसी रोग उत्पन्न हुआ रामादि अवतार रूप औषधि दे दी। कबीर गुरु कहते हैं इस साखी का अर्थ यों समझ लो। संसारियों के भोग निमित्त भक्ति भेजी है। ब्रह्म को तो आना जाना होता नहीं ॥३२॥३३॥

हम कर्ता सब सृष्टि के, हम पर दूसर नाँहि।
कहैं कबीर हमही चीन्हे, नहि चौरासी माँहि ॥ ३४ ॥

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते" इस वचनके अनुसार कबीर गुरु कहते हैं कि जीवात्मा कर्म रूप सृष्टि का कर्त्ता है उस पर दूसरा कोई नहीं जो उसे जान ले फिर वह कभी चौरासी में न पड़े ॥ ३४ ॥

अनँत कोटि ब्रहमंड का; एक रती नहिं भार।
साहब पुरुष कबीर है, कुलका सिरजनहार ॥ ३५ ॥

कर्त्तापन का अभिमान रहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भार धारण करने पर भी रत्ती भर भार नहीं। ऐसा कुल का सिर्जनहार वह समर्थवान् पुरुष है ॥३५॥

साहब सबका बाप है, बेटा किसीका नाहि।
बेटा होकर ऊतरा, सो तो साहिब नाहि ॥ ३६ ॥

मालिक सबका पालक है, बालक किसीका नहीं। जो किसी का स्तन पायी बालक बनके आया है वह मालिक नहीं हो सकता है ॥३६॥

पिंड प्रान नहिं तासु के, दम देही नहिं सीन ।
नाद बिन्द आवै नहीं, पाँच पचीस न तीन ॥ ३७ ॥

उस मालिकको न पिण्ड है न प्राण, न स्वाँस है न देह, न सीना है। और न वह नाद बिन्दसे आता है इसीप्रकार न उसे पाँच तत्त्व व पच्चीस प्रकृति है न तीन गुण है ॥३७॥

राम राम तुम कहत हो, नहिं सो अकथ सरूप ।
वह तो आये जगत में, भये दशरथ घर भूप ॥ ३८ ॥

जिस रामका नाम तुम कहते हो वह मालिक स्वरूप नहीं है। मालिक का स्वरूप तो अकथनीय है। वह राम तो राजा दशरथके घरमें अवतार लेकर संसारमें आये हैं ॥३८॥

रेख रूप बिनु वेद में, औ कुरान बेचून ।
आपस में दोऊ लड़ै, जाना नहिं दोहून ॥ ३९ ॥

बिना रेख रूपके वेदमें और बेचून बेनमूनके कुरानमें वर्णन करके परस्पर दोनों युद्ध करते हैं उसका भेद कोई नहीं जाने ॥३९॥

सहज सुन्न में साँइया, ताका वार न पार ।
धरा सकल जग धरिरहा, आप रहा निराधार ॥ ४० ॥

वार पार रहित स्वाभाविक निरालंब स्वामी हैं। संपूर्ण जगतको अपनी सत्ता मात्रसे धारण करके भी स्वयं निराधार स्थिर हैं ॥४०॥

देखन सरिखी बात है, कहने सरिखी नाँहि ।
अद्भुत खेला पेखिके, समुझि रहो मनमाँहि ॥ ४१ ॥

यह बात ज्ञानके चक्षुसे देखने योग्य है, कहने योग्य नहीं। और वह आश्चर्य दृश्य देख समझ कर भी मन ही मन चुपचाप रहो ॥४१॥

इति श्री निजकर्त्ताको अङ्ग ॥ ५४ ॥

अथ कसौटीको अंग ॥ ५५ ॥
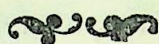
संत सरबस दे मिलो, गुरू कसौटी खाय।
राम दोहाई सत कहूँ, फेरि न उदर समाय ॥ १ ॥

शमदमादि युक्त ज्ञाननिष्ट सन्त गुरुके चरणों में सर्वस्व समर्पण करके शिष्यत्व भाव स्वीकार करे और उनके समीप रहके उनकी शिक्षा रूपी कसनी भी सहन करे। तो राम की सौगन्ध मैं सत्य कहता हूँ ऐसा जिज्ञासु पुनः गर्भ में नहीं आ सकता ॥१॥

खरी कसौटी राम की, काचा टिकै न कोय।
राम कसौटी जे सहै, जीवत मिरतक होय ॥ २ ॥

रामकी सच्ची कसौटी है उस पर कच्चा कोई नहीं टिक सकता राम की सच्ची कसनी तो वही सहन करता है जो जीते जी मर गया हो ॥२॥

खरी कसौटी तौलताँ, निकिसी गई सब खोट।
सतगुरु सेना सब हनी, सब्द बान की चोट ॥ ३ ॥

सच्ची कसनी पर कसने से झुठाई सब निकल गई। सद्गुरु ने शब्द बाणकी चोटसे अविद्या जन्य कामादि सर्व सेनाओं को परास्त कर दिया ॥३॥

हीरा पाया पारखी, घन महँ दीन्हा आन।
चोट सही फूटा नहीं, तब पाई पहिचान ॥ ४ ॥

किसी ने हीरा पाया जौहरी के पास ले गया, उसने धन पर चढ़ा दिया। चोट खा करके भी नहीं फूटा बस! हीरा की सच्ची पारख हो गई ॥ ४ ॥

सोने रूप धाह दइ, उत्तम हमारी जात।
बन ही में की घूँघची, तोली हमरे साथ॥ ५॥
तोल बराबर घूँघची, मोल बराबर नाँहि।
मेरा तेरा पटतरा, दीजै आगी माँहि॥ ६॥

सोना, चाँदीको लेकर सोनार ने अग्नि में डाल के तपाया, उनकी उत्तम जाति (प्रकार) निकली। सोना कहता है यह सब कुछ ठीक हुआ परन्तु यह यही हमारा भारी अपमान हुआ कि जंगली घूंघची के साथ हमें तौला॥ क्योंकि घूंघची तौल बराबर जरूर है परन्तु मोल बराबर नहीं है। हमारी, तुम्हारी समानता तो तब ही होगी जब अग्नि में छोड़ा जाय॥५॥६॥

विपति भलि हरिनाम लेत, काय कसौटी दूख।
नाम बिना किस काम की, माया संपति सूख॥ ७॥

जो विपति काल में भी प्रभुका नाम लेता है वही काया की कसनी सहने वाला सच्चा हरिभक्त है। और यों मालिक के नाम बिना माया, सम्पत्ति और सुख किस काम का? सब बेकाम है॥७॥

काँच कबीर अधीर नर, ताहि न उपजै प्रेम।
कहैं कबिर कसनी सहै, कै हीरा कै हेम॥ ८॥

काँच, कबीर के समान जो अधीर मनुष्य हैं। तिन्हें सच्चा प्रेम नहीं होता, विपत्तिमें वे घबड़ा उठते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि सच्ची कसौटी पर तो सच्चे हीरा और सोना ही ठहरते हैं और नहीं। ऐसे हमारे शब्द कसौटी पर जो ठहरते हैं। वे ही हमारे हंस हैं और सब बगुले॥८॥

इति श्री कसौटीको अङ्ग॥ ५५॥
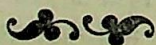
अथ सूक्ष्म मार्गको अंग ॥ ५६ ॥

कबीर मारग कठिन है, रिषि मुनि बैठे थाक ।
तहाँ कबीरा चढ़ि गया, गा सतगुरु की साक ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! यह मार्ग बहुत बारीक है इस पर चलने में इतनी कठिनाइयाँ हैं कि ऋषि मुनि भी हार बैठे। वहाँ तो सद्‌गुरु का यश गान, स्मरण करने वाले जिज्ञासुही चढ़ गये व चढ़ते हैं ॥१॥

सुर नर थाके मुनिजना, तहाँ न कोई जाय ।
मोटा भाग कबीर का, तहां रहा लौ लाय ॥ २ ॥

वहाँ कोई कैसे जा सके ? जहाँ सुर नर मुनि सब थाके बैठे हैं। और सद्‌गुरु सत्संगियों का भाग्य तो बड़ा जबरदस्त है कि तहाँही उनकी लगन लग रही है ॥२॥

सुर नर थाके मुनिजना, थाके विस्नु महेस ।
तहाँ कबीरा चढ़ि गया, सतगुरु के उपदेश ॥ ३ ॥

जहाँ सुर नर मुनि और ब्रह्मा विष्णु महेश ये सब जिस मार्ग में थके हैं। उसमें सद्‌गुरु उपदेश के सहारे केवल सत्संगी ही पहुंचे व पहुंचते हैं ॥३॥

अगमहुँ ते जो अगम है, अपरम पार अपार ।
तहँ मन धीरज क्यौं धरै, पंथ खरा निरधार ॥ ४ ॥

जहाँ का अथाह और अगम्य वार पार रहित ऐसे निरालम्ब मार्ग है वहाँ बिना सद्‌गुरु के सहारे कोई मनमें धीरज कैसे धरे ॥४॥

अगम पंथ मन थिर करै, बुद्धि करै परवेस।
तन मन धन सब छाड़ि कै, तब पहुँचै वा देस ॥ ५ ॥

जब उस अगम्य ज्ञान मार्गमें मनको स्थिर करके चढ़ावे और शुद्ध बुद्धिसे प्रवेश करके तन मन धनकी सब आशाओंको छोड़े तब उस देशको पहुँचे ॥५॥

अगम हता सो गम किया, सतगुरु दिया बताय।
कोटि कल्प का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥ ६ ॥

जब सद्गुरुने आगम्यको गम्य करनेकी युक्ति बतला दी तब करोड़ों कल्पके रास्तेको तय करके पल भरमें जा पहुँचा ॥६॥

अब हम चले अमरापुरी, टारै टूरै टाट।
आवन होय सो आइयो, सूली ऊपर बाट ॥ ७ ॥

अब हम सर्व प्रपंचरूप टाटको टार टूर (त्याग) के अमर धामको चले। जिसे आना होय वह इसी प्रकार इस सूक्ष्म (कठिन) मार्ग पर आ जावे ॥७॥

सूली ऊपर घर करै, विष का करै अहार।
ताको काल कहा करै, आठ पहर हुसियार ॥ ८ ॥

इस बारीक मार्ग पर वृत्ति स्थिति करके जो शमदमादि कठिन साधनरूप विषयको अहार करे। तो इस प्रकार हरवक्त सावधान जिज्ञासु को काल क्या कर सकता ? कुछ नहीं ॥८॥

गागर ऊपर गागरी, चोली ऊपर हार।
सूली ऊपर साथरा, जहाँ बुलावै यार ॥ ९ ॥

जहाँ वृत्तिरूपी माशूक को आतमारूप आशिक यार बुलावै हैं, वहाँ वृत्तिरूप माशूकको स्थिति के लिये आत्मरूप आशिकका आसन, शमादि साधन युत कठिन ज्ञान मार्गरूपी शूली ऊपर है। माशूकको इस प्रकार शृङ्गार करके वहाँ जाना चाहिये कि प्रथम तो पिण्डरूप गागरके ऊपर ब्रह्माण्ड में वृत्ति रूपी गागरी को सजावट (स्थिर) करे फिर विशुद्ध

हृदयरूपी चोली को पहिर ले बाद में उसके ऊपर (हृदय में) सात्विक विचाररूप हार को धारण करे तदनन्तर प्रीतम के पास चले ॥९॥

यार बुलावै भाव सों, मो पै गया न जाय।
धनि मैलि पिव ऊजला, लागि न सकि है पाय ॥ १० ॥

प्रभु बड़े भावसे बुलाते हैं, वृत्ति कहती है मेरे से नहीं जाय जाती है कारण कि मैं (धनि वृत्ति) मैली हूँ और स्वामी शुद्ध हैं अतः मैं उनके चरणों को स्पर्श नहीं कर सकती ॥१०॥

जिस कारन मैं जाय था, सो तो मिलिया आय।
साँई तो सनमुख खड़ा, लागा कबीरा पाय ॥ ११ ॥

जिस वास्ते मैं जाती थी, वह स्वामी स्वयं कृपा करके आ मिले। ऐ कबीर ! स्वामी सन्मुख खड़े हैं, जा शीघ्र, चरणोंमें लिपट जा ॥११॥

जो आवै तो जाय नहिं, जाय तो कहँ समाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कैसे बूझी जाय ॥ १२ ॥

आने पर तो जाती नहीं, जाने बाद फिर कहाँ स्थिति करें। इस अलौकिक प्रेम की अकथ कहानीको कोई कैसे समझे ॥१२॥

जो आवै तो जाय नहिं, जाय तो आवै नाँहिं।
अकथ कहानी प्रेम की, समुझि लेहु मनमाँहि ॥ १३ ॥

जिसको लगन लगी है उसकी वृत्ति एक बार भी स्थिति हो आत्म-स्वरूप स्वामीका आनन्द अनुभव की है। फिर वह बाहर कभी नहीं जाती। और जो बाह्य वृत्ति हो गई है उसे वह आनन्द कभी आता ही नहीं, यही प्रेमकी अकथ कहानी है मनेमन समझ लो ॥ ३॥

कौन देस कहाँ आइया, जानै कोई नाँहि।
वह मारग पावै नहीं, भूलि परै जग माँहि ॥ १४ ॥

कौन देशसे कहाँ आ गये हैं ? यही कोई नहीं जानता। सांसारिक सुख में भूल गये, वह प्रेम का मार्ग अब नहीं पाते ॥१४॥

नाँव न जानै गांव का, बिन जानै कहँ जाँव।
चलता चलता जुग भया, पाव कोस पर गाँव ॥ १५ ॥

आत्मतत्त्व गामका नाम जाने बिना कोई कहाँ जावे ? यद्यपि पाव-कोश (माया) के परेही अति सन्निकट आत्मरूप अमरधाम है तथापि सद्गुरु भेदी बिना चलते चलते युगों बीत गये, नहीं पहुँचे ॥१५॥

सतगुरु दीन दयाल है, दया करि मोहि आय।
कोटि जन्म का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥ १६ ॥

जब दयालु सद्गुरुने दया करी और आ मिले तब करोड़ों जन्मका मार्ग तय कर पल भरमें मुकाम पर पहुँचा दिये ॥१६॥

उतते कोई न आइया, जासों बूझूँ धाय।
इतते सब कोय जात है, भार लदाय लदाय ॥ १७ ॥

संसारमें कर्मादि भार लिये हुये सब कोई जाते हैं। परन्तु उधरसे तो कोई आते दीखते नहीं जिनसे कुछ हाल समाचार पूछा जाय ॥१७॥

उतते सतगुरु आइया। जाकी बुधि है धीर।
भौसागर के जीव को। खेइ लगावै तीर ॥ १८ ॥

उधरसे गम्भीर बुद्धिवाले सद्गुरु आये और आते हैं। क्या करने ? संसार सिन्धुसे संसारी लोगोंको तारने के लिये ॥१८॥

सबको पूछत मैं फिरा, रहनि कहै नहिं कोय।
प्रीत न जोड़ै नाम सों, रहनि कहाँ से होय ॥ १९ ॥

सबसे मैं पूछता फिरता हूँ परन्तु रहनी गहनी कोई नहीं बतलाता ? जो आत्म स्वरूप ज्ञान से प्रेम ही नहीं करता वह रहस्य कहाँ से पावै और कहै ॥१९॥

चलन चलन सब कोय कहै, मोहि अंदेसा और।
साहिब सों परिचै नहीं, पहुँचेंगे किस ठौर ॥ २० ॥

चलो चलो सब कोई कहते है पर इसमें मुझे अन्देशा है। मालिकसे परिचय बिना ये लोग रहने की स्थिति कहाँ करेंगे ॥२०॥

जाने की तो गम नहीं, रहन को नहिं ठौर।
कहैं कबीर सुन साधवा, अविगति की गति और ॥ २१ ॥

सद्गुरु विना लोगों को न तो जाने की सुधि है न रहने की कहीं स्थिति है। कबीर गुरु कहते हैं हे सन्तो ! सुनो, मायाकी गति और ही विचित्र है ॥२१॥

जहाँ न चिऊँटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
मनुवा तहाँ ले राखिया, सोई पहुँचा जाय ॥ २२ ॥

जहाँ वृत्तिरूपी चिउँटी की गति और बुद्धिरूपी राई कि स्थिति नहीं है। वहाँ (आत्मामें) मनको लेकर जो स्थिर (वश) करते हैं वे ही अमर धामको पहुँचते हैं ॥२२॥

वह मारग कित को गया, मारग पहुँचे साद।
मैं तो दोऊ गहि रहा, लोभ बड़ाई वाद ॥ २३ ॥

उस परम तत्व मार्ग पर कब, कहाँ कौन गया ? उस मार्ग से तो केवल सन्त ही निज देश को पहुँचते हैं और जो मेरी तेरी लोभ बड़ाई वाद विवाद में पड़े हैं वे कदापि नहीं ॥२३॥

बिन पावन की राह है, बिन बस्ती का देस।
बिना पिंड का पुरुष है, कहैं कबीर सन्देस ॥ २४ ॥

कबीर गुरु उस देशके सन्देश कह रहे हैं। जहाँका मार्ग बिना पाँव (साधन) का और देश बिना बस्तीका तथा पुरुष बिना पिण्डका है ॥

घाटहि पानी सब भरैं, औघट भरै न कोय।
औघट घाट कबीर का, भरै सो निरमल होय ॥ २५ ॥

घाट नाम वर्ण और और आश्रमकी मर्यादा उसीमें सब अपना अपना पानी व्यवहार भरै यानी कर रहे हैं। औघटमें कोई नहीं। औघट घाट यानी वर्णाश्रम पक्ष से रहित स्थिति परमार्थ विचार जिज्ञासुओं का है जिसके अवगाहन से वे निर्मल हो जाते हैं ॥२५॥

चलते चलते पगु थके, निपट करारी कोस।
बिन दयाल झलका पर, काको दीजै दोस ॥ २६ ॥

बिलकुल कठिन अन्नमयादि पंचकोश मार्ग पर चलते चलते संसारी लोगोंके आयुरूप पाँव थक गये शुद्ध मार्ग दर्शक दयालु सद्गुरु के बिना

अब इनके पाँव में झलके पड़ते हैं। और मुकाम पर भी नहीं पहुँचते तो इसमें दोष किसको दें ? ॥२६॥

जहाँ चतुर की गम नहीं, तहां मुरख किमि जाय।
वाह विधाता नाथ है, काग कपूरहि खाय॥ २७ ॥

जहाँ बड़े बूढ़े सयानों की गति नहीं तो कहो, तहाँ मूर्ख कैसे जा सकता ? धन्य हैं विधाता मालिक! चाहे तू काग ही को कपूर खिला दें ? सामर्थ को क्या कमी अर्थ की ॥२७॥

पहुँचेंगे तब कहेंगे, वाहि देस की सीच।
अबहीं कहां तिगाड़िये, बेड़ी पायन बीच॥ २८ ॥

जब वहाँ पहुँचेंगे तब उस देशकी सुख शान्ति कहेंगे। अभी तो प्रपंच बेढ़ी पहिने मध्य मार्गमें हैं, विशेष कहना व्यर्थ है। अर्थात् "बिन देखे उस देशकी बात कहे सो क्रूर" इत्यादि वचनके अनुसार बिना प्रत्यक्ष किये लम्बी चौड़ी बातें बढ़ा चढ़ाकर कहना फिजूल है ॥२८॥

करता की गति अगम है, चल गुरु के उनमान।
धीरे धीरे पांव दे, पहुँचेगी परमान॥ २९ ॥

मालिककी गति अथाह है अतः सद्गुरुकी छत्रछायामें चलते चलो थको मत, शनैः शनैः पाँव उठाते रहने से अवश्य पहुँचोगे ॥२९॥

पहुँचेंगे तब कहेंगे, अब कछु कहा न जाय।
सिंधु समाना बुँद में, दरिया लहर समाय॥ ३० ॥

उस तत्त्व देशमें प्रवेश किये बिना अभी कुछ कहा नहीं जा सकता अभी तो सिन्धु बुन्दमें और सागर लहर में समाया है ॥३०॥

प्रान पिंडको तजि चला, मुआ कहै सब कोय।
जीव छता जामै मरै, सूच्छम लखै न कोय॥ ३१ ॥

प्राण, पिण्डको छोड़कर चल दिया बस! इस मरणको सब ही जानते और कहते भी हैं। परन्तु जीव छता यानी प्राण पिण्डके संयोगही में अहोरात्र जो वासना सन्तान की उत्पत्ति होती है और उसके अध्यास में बारम्बार प्राण वियोग रूप जो मरण हुआ करता है उस सूक्ष्म तत्त्वको

गुरु सत्संग विमुख कोई नहीं जानता । अतः जन्म मरण चक्कर खाया करता है ॥३१॥

प्रान पिंडको तजि चला, छूटि गया जंजार ।
ऐसा मरना का मरै, दिन में सौ सौ बार ॥ ३२ ॥

स्थूल प्राण, पिण्ड का वियोगरूप मरण देखके लोग कहते हैं कि फलाने सब दुःख झंझट से छूट गये । परन्तु ऐसे नाना प्रकारके दुःख रूप मृत्युसे बारम्बार कौन मरा करे । अर्थात् अनिग्रह मन के वशीभूत होके इष्ट अनिष्ट के वियोग संयोग से प्रतिदिन कौन दुःख सहा करे ॥३२॥

सूक्ष्म सुरति का मरम है, जीवन जानत जाल ।
कहै कबीरा दूरि कर, आतम आदिहि काल ॥ ३३ ॥

विषयादिमें वृत्तिको वासना रूपसे सूक्ष्म अध्यास होना ही दुःखका कारण है, यह रहस्य अज्ञानी लोग नहीं जानते । कबीर गुरु कहते हैं कि आत्माका काल रूप इस वासना जालको एकदम दूर कर दो ॥३३॥

अंतः करन ही मन मही, मनहि मनोरथ माँहि ।
उपजत उपजत जानिये, बिनसत जानै नाँहि ॥ ३४ ॥

अन्तःकरणकी कल्पना, वासना मनमें और मन अन्तर्मनोरथमें उत्पन्न होता है इसे सब जानते हैं परन्तु उसे नाश होते नहीं जानते ॥३४॥

साखी सैन सही करो, श्रवण सुनी ना जाय ।
जैसी तेजी वाय को, नादहि कब लै जाय ॥ ३५ ॥

सदगुरुका इशारा किया हुआ जो साक्षी पद है उसे अन्तःकरण को स्थिर वृत्ति से दृढ़ पकड़कर सही करो क्योंकि चंचल कर्ण की वृत्ति से वह शब्द ऐसे ग्रहण नहीं होता जैसे वायु की तेजी से उड़े हुए नाद-शब्द ॥३५॥

हती सोई सब सुन लई, सैन सुनी नहिं जाय ।
नैन बैन दोई थकै, सैनहि माँहि लखाय ॥ ३६ ॥

जो बाहरी बात थी, सब सुन ली गई परन्तु इशारा ग्रहण नहीं होता । सैनको लखने से तो नैन बैन दोनों उसी में लय हो गये ॥३६॥

सुरज किरन रोकी रहै, कुंभै नीर ठहराय।
सुरति जु रोकी ना रहै, जहाँ पुरुष तहँ जाय ॥ ३७ ॥

जैसे सूर्य की ज्योति सूर्य बिना अन्यत्र नहीं रुकती और कुंभ पात्र बिना जल कहीं नहीं ठहरता ऐसे सत्संगियों की वृत्ति भी कही रोके नहीं रुकती जहाँ पुरुष हैं वहँ जा पहुँचती है ॥३७॥

कबीर दीपक जोइये, देखा अपरं देव।
चार वेदकी गम नहीं, तहां कबीरा सेव ॥ ३८ ॥

सत्संगी लोग सदगुरु सत्संग दीपक के प्रताप से जिससे परे कोई देव नहीं ऐसे परम देव का दर्शन कर लिये। अब वे उसी देशको सेवन करते हैं जहाँ वेदोंकी गति नहीं ॥३८॥

अगम पंथकूँ पग धरै, सो कोई बिरला संत।
मतवाड़ा में पड़ि गये, ऐसे जीव अनंत ॥ ३९ ॥

उस निराला मार्ग में पग रखने वाले विरले सन्त हैं। और यों तो एक देशी सर्व देशी सिद्धान्त कुण्डलमें पड़े हुए असंख्यों जीव हैं ॥३९॥

मतवाड़ा में पड़ि गये, मूरख बारै बाट।
ऐसा कबहूँ ना मिले, उलटै घाटै घाट ॥ ४० ॥

पशुवत् मत पंथ रूप घेरा में पड़के मूर्ख लोग बारा बाट हो गये। ऐसे कोई कभी वर्गाश्रम घाट से उलट कर आत्मघाट में नहीं मिले ॥४०॥

इति श्री सूक्ष्म मार्गको अङ्ग ॥ ५६ ॥

अथ भाषाको अंग ॥ ५७ ॥

संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सतमत गहिर गँभीर ॥ १ ॥

संस्कृत भाषा कूयें के जलके सदृश है वहाँ बिना लोटा, डोरी (व्याकरणादि) के मुसाफिर प्यासे रह जाते हैं, और प्राकृत भाषा प्रवाही जलके समान है बिना परिश्रम साधन बिना ही पी ले। देखो जैसे सदगुरुके सहित भाषा होनेसे गूढ़ और गम्भीरतर सत्यमतका भाव सरलतासे समझ में आ जाता है। ऐसे व्याकरणादि पढ़े बिना संस्कृतका नहीं आता ॥१॥

संस्कृतहि पण्डित कहैं, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अजान ॥ २ ॥

बड़े अभिमानपूर्वक पण्डित लोग संस्कृत भाषा की जो बड़ाई करते और प्राकृतिक भाषाको तुच्छ जानके तर्क करते हैं वे नर मुग्ध अज्ञानी हैं ॥२॥

संस्कृत हि संसार में, पण्डित करै बखान।
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निरबान ॥ ३ ॥

संसार में संस्कृत भाषा को केवल पंडित ही व्याख्यान करते हैं। और हिन्दी भाषा द्वारा तो बड़े बड़े सन्त महात्मा असंगमुक्त आत्मपद की भक्ति सर्व साधारण जन समाज में दृढ़ किये व करते हैं ॥३॥

पूरन बानी बेद की, सोहत परम अनूप।
आधी भाषा नेत्र बिन, को लखि पावै रूप ॥ ४ ॥

यद्यपि वेद वाणी पूर्ण रूपेण सर्वाङ्ग परम सुन्दर है तथापि मातृ भाषान्तर बिना वह कानी है, तरजुमा (उल्था) बिना उसका भाव अर्थ कोई नहीं समझ पाता ॥४॥

वेद कहै मैं कछू न जानूं, स्वाँसा के संग आय।
दरस हेत करूँ बन्दगी, गुन अनेक मैं गाय ॥ ५ ॥

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृगवेदो यजुर्वेदः सामवेदः" इत्यादि श्रुतिके अनुसार वेद कहते हैं हम पुरुषके श्वाससे उत्पन्न हुए हैं। हम उसका स्वरूप क्या ? कैसे बतलावें, हमें कुछ नहीं मालूम। हम तो केवल अनेक प्रकारसे उसके गुणको दर्शनके वास्ते गाते हैं ॥५॥

वेद हमारा भेद है, हम वेदों के माँहि।
जौन भेद में मैं बसूँ, वेदों जानत नाँहि ॥ ६ ॥

इसलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वेद हमारा भेद है हम उनमें रहस्य रूप से प्रविष्ट हैं। और जिस भेद में हम रहते हैं अर्थात् जो हमारी यथातथ्य स्थिति है उसे वेद भी नहीं जानता। यथाः—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि श्रुतिः ॥६॥

इति श्री भाषाको अङ्ग ॥ ५७ ॥
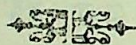
अथ पंडितको अंग ॥ ५८ ॥

पंडित और मसालची, दोनौं सूझत नाँहि।
औरन को करै चांदना, आप अँधेरे माँहि ॥ १ ॥

पण्डित और मसालची ये दोनों अपने आपको नहीं देखते। यद्यपि औरोंको प्रकाश करते हैं तथापि आप अन्धेरे में रहते हैं। सत्संग दीपक बिना ॥१॥

पंडित केरी पोथियाँ, ज्यौं तीतर का ज्ञान।
औरे सगुन बतावहीं, आपन फंद न जान ॥ २ ॥

पोथियोंका ज्ञान पण्डितोंका ऐसा है जैसा तीतरका, दूसरोंको शकुन बतलाते हैं पर अपना फन्दा नहीं जानते ॥२॥

पंडित पोथी बांधि के, दे सिरहाने सोय।
वह अक्षर इनमें नहीं, हँसि दे भावै रोय ॥ ३ ॥

ऐ पण्डितो ! अपनी पोथीको बाँधके शिरहानी बना लो और सो जाओ। तुम्हारी पोथीमें वह अक्षर नहीं है जिसको देखते ही हंस दे, चाहे वह रोता क्यों न हो ? ॥३॥

पंडित बोड़ौ पातरा, काजी छाँड़ कुरान।
वह तारीख बताय दे, थे न जिमीं असमान ॥ ४ ॥

ऐ पण्डित और काजी ! मुझे वह तारीख बतला दे, किस दिन भूमि और आकाश नहीं थे ! और नहीं तो वेद, कितेव दोनों पानीमें डाल दे ॥

पढ़ि पढ़ि तो पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु चोर।
जिस पढ़ने साहिब मिले, सो पढ़ना कछु और ॥ ५ ॥

पुस्तक पढ़ पढ़के पत्थर (जड़ संगदिल) और लिख लिखके चोर बन

पाये जिस अक्षर के पढ़नेसे मालिक मिलते हैं वह अक्षर और प्रकार का है ॥५॥

पढ़ै गुनै सीखै सुनै, मिटी न संसै सूल।
कहैं कबीर कासों कहूँ, येही दुख का मूल ॥ ६ ॥

पढ़, गुन और सीख, सुनके भी दुखदाई संशयसे निवृत्त नहीं हुआ। कबीर गुरु कहते हैं यह दुखका कारण जिज्ञासा बिना किससे कहा जाय।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एकै अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय ॥ ७॥

सब पोथी पढ़के मर गये कोई पंडित नहीं हुआ जो प्रेम का एक अक्षर पढ़ लिया बस! वही पण्डित हुआ और है ॥७॥

कबीर पढ़ना दूर करु, पोथी देहु बहाय।
बावन अक्षर सोधि के, राम नाम लौ लाय ॥ ८ ॥

ऐ कबीर! तू पढ़ना छोड़ दे, और किताबें डाल दे। बावन अक्षरों का शुद्ध सारभूत जो राम नाम है उसी में लौ लगा ॥८॥

कबीर पढ़ना दूर कर, अति पढ़ना संसार।
पीर न उपजै जीव का, क्यों पावै करतार ॥ ९ ॥

ऐ कबीर! तू पढ़ना छोड़ दे, संसारियों को बहुत पढ़ने दे केवल पढ़ने से जीवको दया, प्रेम नहीं होता, तो वह प्रभुको कैसे पावेगा ॥९॥

मैं जानौं पढ़ना भला, पढ़ने ते भल जोग।
रामनाम सों प्रीति कर, भावे निन्दो लोग ॥ १० ॥

मैं प्रथम जानता था कि पढ़ना अच्छा है परन्तु उससे चित्त वृत्तिका निरोधरूप योग ही श्रेष्ठ है। चाहे लोग निन्दाही क्यों न करें तुम राम-नाम से प्रेम करो ॥१०॥

नहिं कागद नहिं लेखनी, निःअच्छर है सोय।
बाँचहिं पुस्तक छोड़िके, पंडित कहिये सोय ॥ ११ ॥

वह अक्षर बिना कागज कलम का है अर्थात् वह कलम से कागज पर

नहीं लिखा जाता है। पुस्तक छोड़के जो उस अक्षर को बाँचता है वही पण्डित है ॥११॥

धरती अम्बर ना हता, को पंडित था पास।
कौन मुहूरत थापिया, चाँद सूरज आकाश ॥ १२ ॥

जब जमीं आसमान नहीं थे तो वहाँ कौन पण्डित थे ? और कौन मुहूर्त में चन्द्र सूर्य और आकाशको स्थापना किये ? ॥१२॥

कबीर ब्राह्मण की कथा, सो चोरन की नाव।
सब अन्धे मिलि बैठिया, भावै तहँ लै जाव ॥ १३ ॥

ऐ कबीर ! ब्राह्मणों की कथा चोरों की नौका है और बैठने वाले सब अन्धे हैं चाहे जहाँ ले जाओ ॥१३॥

कबीर ब्राह्मण बूड़िया, जनेऊ केरे जोर।
लख चौरासी माँगि लइ, सतगुरु सेती तोर ॥ १४ ॥

ऐ कबीर ! जनेऊ के अहंकार में पड़के ब्राह्मण डूब गये। सदगुरुसे नाता तोड़के चौरासी लक्ष योनियोंका सम्बन्ध जोड़ लिया ॥१४॥

ब्राह्मन गुरु है जगत का, संतन के गुरु नाँहि।
अरुझि परुझिके मरि गये, चारौ बेदौं माँहि ॥ १५ ॥

ब्राह्मण जगत्के गुरु हैं सन्तोंके नहीं। वे स्वयं चारों वेदोंके अर्थवाद फन्देमें उलझ पुलझके मर गये। अपने आप नहीं सुधरे ॥१५॥

ब्राह्मण ते गदहा भला, आन देव ते कुत्ता।
मुलना ते मुरगा भला, सहर जगावै सुत्ता ॥ १६ ॥

उन ब्राह्मण, देव और मौलाना से तो ये गदहा, कुत्ता और मुर्गे अच्छे हैं जो मेहनत करके खाते और शहर जगाते हैं ॥१६॥

कलि का ब्राह्मन मसखरा, ताहि न दीजै दान।
कुटुम्ब सहित नरकै चला, साथ लिया यजमान ॥ १७ ॥

दिल्लगीबाज कलियुगी ब्राह्मण को दान मत दो। क्योंकि वे कुटुम्ब सहित नरक चलते वक्त यजमान को भी साथ में ले लेते हैं ॥१७॥

पढ़ै पढ़ावै कछु नहीं, ब्राह्मन भक्ति न जान।
ब्याहै श्राद्धै कारनै, बैठा सूँड़ा तान ॥ १८ ॥

प्रायः कलियुगी ब्राह्मण पढ़ना, पढ़ाना और भक्ति भाव कुछ नहीं जानते बस ! ये तो विवाह श्राद्धके प्रसंगमें सूँडा तान के बैठते हैं अर्थात् अपने ब्राह्मणत्व का वे अभिमान करते हैं ॥१८॥

पारोसी सूँ रूठना, तिल तिल सुख की हान।
पंडित भया सरावगी, पानी पीवै छान ॥ १९ ॥

पड़ोसियों के विरोध से सुखमें क्षण २ बाधा होती है। कलियुगी पण्डित लोग श्रावक बन गये और पानी छान छान पीने लगे ॥१९॥

चारि अठारह नव पढ़ी, छौ पढ़ि खोया मूल।
कबीर मूल जानै बिना, ज्यौं पंछी चण्डूल ॥ २० ॥

सत्संग विमुख नरजीव चार वेद, अठारह पुराण, नव व्याकरण और छः शास्त्र पढ़के भी मूल आत्म स्वरूप का विचार खो दिये। ऐ कबीर ! मूल भेद जाने बिना ये केवल मधुर भाषी मानों चण्डूल पक्षी बन गये ॥२०॥

लिखना पढ़ना चातुरी, यह संसारी जेव।
जिस पढ़ने सों पाइये, पढ़ना किसी न सेव ॥ २१ ॥

लिखना पढ़ना और चातुर्य ये सब संसार की सजावट है। जिससे प्रभु मिलते हैं उस पढ़ना को किसी ने नहीं सेवन किया ॥२१॥

चारि वेद पढ़वो करै, हरि से नाहीं हेत।
माल कबीरा ले गया, पंडित ढूँढ़े खेत ॥ २२ ॥

भाग्यकी बात है प्रभुके प्रेमी भक्तों ने माल मार लिया और हरिसे हेत बिना चार वेद पढ़ के भी पंडित लोग खेत टटोल रहे हैं ॥२२॥

पढ़ी गुनी पाठक भये, समुझाया संसार।
आपन तो समुझै नहीं, वृथा गया अवतार ॥ २३ ॥

पढ़गुन के पाठक बन गये संसार को समझाने लगे। और अपने आपको समझे बिना नर जन्म व्यर्थ में खो दिये ॥२३॥

पढ़ी गुनी ब्राह्मण भये, कीर्ति भई संसार ।

वस्तू की तो समुझ नहिं, ज्यूँ खर चन्दन भार ॥ २४ ॥

पढ़ गुन के ब्राह्मण पंडित बन गये संसार में कीर्ति फैल गई । आत्मतत्त्व वस्तु को तो पहिचाने नहीं तो "जस खर चन्दन लादेउ भारा । परिमल बास न जाने गमारा" इत्यादि भार वाही गदहे के समान हुए ॥२४॥

पढ़त गुनत रोगी भया, बढ़ा बहुत अभिमान ।

भीतर ताप जु जगतका, घड़ी न पड़ती सान ॥ २५ ॥

पढते गुनते इतना अभिमान रोग बढ़ा कि भारी रोगी बन गये । और अन्दर जगतकी मान, मर्यादाका सन्ताप होने लगा घड़ी भर भी शान्ति नहीं मिलती क्योंकि विद्वानों को सदा विवादका भय रहता है, सिवा वैराग्यके अभय कहीं कोई नहीं ॥२५॥

पण्डित पढ़ते वेद को, पुस्तक हस्ती लाद ।

भक्ति न जाने राम की, सबै परीक्षा बाद ॥ २६ ॥

पण्डित लोग हस्तीके बोझ भर वेद ग्रन्थ पढ़ते हैं । परन्तु रमैया रामकी भक्ति नहीं जानते अतः उनकी परीक्षा (परिश्रम) सब व्यर्थ है ॥२६॥

पढ़ते गुनते जनम गया, आसा लागी हेत ।

बोया बीजहि कुमति ने, गया जु निर्मल खेत ॥ २७ ॥

मायिक पदार्थों की आश में पढ़ते गुनते जन्म चला गया । अन्तः-करण खेतमें कुमतिने ऐसा गन्दा बीज बोया कि उसकी निर्मलता भी न रही ॥२७॥

पढ़ि पढ़ि और समुझावइ, खोजि न आप सरीर ।

आपही संशय में पड़े, यूँ कहि दास कबीर ॥ २८ ॥

जो लोग पढ़के औरोंको समझाते है, अपनी वस्तुको अपने हृदयमें नहीं खोजते । कबीर गुरु कहते हैं कि वे सदा स्वयं संशयमें पड़े रहते हैं ॥२८॥

चतुराई पोपट पढ़ी, पड़ि सो पिंजर माँहि।
फिर परमोधे और को, आपन समुझै नाँहि ॥ २६ ॥

पढ़के दूसरोंको समझाना यह चतराई तो पिंजरामें तोता भी सीख लेता है और दूसरों को बोध करने लगता है परन्तु क्या कहता है वह स्वयं नहीं समझता है ॥२९॥

हरि गुन गावे हरषि के, हिरदय कपट न जाय।
आपन तो समुझै नहीं, औरहि ज्ञान सुनाय ॥ ३० ॥

गुरु सत्संग विमुख लोग भी हरिगुनको आनन्द में मग्न होके गाते हैं परन्तु हृदयका कपाट नहीं जाता। समझनेकी वस्तु तो स्वयं समझते नहीं और दूसरेको ज्ञान दृढ़ाते हैं ॥३०॥

ज्ञानी ज्ञाता बहु मिले, पण्डित कबी अनेक।
राम रता इन्द्री जिता, कोटी मध्ये एक ॥ ३१ ॥

ज्ञानी, ज्ञाता, पण्डित और कवि ये तो अनेकों मिलते हैं। परन्तु राम स्नेही और इन्द्रिय जीत करोड़ों में कोई एक हैं ॥३१॥

कुल मारग छोड़ा नहीं, रह माया में मोह।
पारस तो परसा नहीं, रहा लोह का लोह ॥ ३२ ॥

कुल रीति मर्यादा छूटी नहीं, जन्म भर मायामें मुग्ध रहे आत्म-स्वरूप पारसमणि से स्पर्श तो कभी किया नहीं तो ज्योंका त्यों लोहाही बने रह गये ॥३२॥

आत्म तत्व जानै नहीं, कोटिक कथे जु ज्ञान।
तारे तिमिर न भागहीं, जब लग उगै न भान ॥ ३३ ॥

यथार्थ रूपसे आत्मतत्वके दृढ़ बोध बिना करोड़ों ज्ञान कथन से अविद्या अन्धकार ऐसे दूर नहीं होता जैसे सूर्य बिना ताराओंसे तिमिर नहीं भागता ॥३३॥

अजहूं तेरा सब मिटे, गुरु मुख पावे भेद।
पंडित पास न बैठिये, बैठि न सुनिये वेद ॥ ३४ ॥

गुरुमुख द्वारा यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेसे अभी भी तेरा सम्पूर्ण भ्रम मिट जायेंगे परन्तु वेदुआ पण्डितोंके पास बैठके उनके गपाष्टक अर्थवाद वेद न सुनो तो ॥३४॥

इति श्री पण्डितको अङ्ग ॥ ५८ ॥
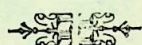
अथ निन्दाको अंग ॥५६॥

निन्दक एकहु मति मिलै, पापी मिलै हजार।
इक निंदक के सीस पर, लाख पाप का भार ॥ १ ॥

चाहे पापी हजारो मिलें कोई हर्ज नहीं परन्तु छिद्रान्वेषी एको मत मिले क्योंकि एक निन्दकके शिरपर लाख पापका बोझ रहता है ॥१॥

निंदक ते कुत्ता भला, हट कर मांडै रार।
कुत्ते से क्रोधी बुरा, गुरू दिलावै गार ॥ २ ॥

निन्दक से तो कुत्ता अच्छा है दूरही दूर से भूकता है। और क्रोधी तो कुत्ते से भी बुरा है क्योंकि गुरु को भी गाली दिलवाता है ॥२॥

निंदक तो है नाक बिन, सोहै नकटों माँहि।
साधूजन गुरुभक्त जो, तिनमें सोहै नाँहि ॥ ३ ॥

निन्दक बिना नाक (मर्यादा) का है उसकी शोभा नकटों में होती है। सन्तों और गुरु भक्तों में नहीं ॥३॥

निंदक तो है नाक बिन, निसदिन विष्ठा खाय।
गुन छाँड़ै औगुन गहै, तिसका यही सुभाय ॥ ४ ॥

बिना आवरूके निंदक प्रतिदिन निंदा रूप गलीज खाया करता है।

उसका स्वभावही ऐसा बन गया है कि सद्गुण को छोड़कर दुर्गुणको ग्रहण करे ।।४।।

निंदक नेरै राखिये, आँगन कुटी छवाय ।

बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय ।। ५ ।।

छिद्रान्वेषी को अति समीप कुटी बनाके रखिये क्योंकि वह बिना साबुन पानीके दुर्गुण रूप मैलको निकाल कर साफ कर देगा ।।५।।

निंदक दूर न कीजिये, कीजै आदर मान ।

निरमल तन मन सब करै, बकै आनही आन ।। ६ ।।

मान प्रतिष्ठा देकर निन्दकको समीप रखो दूर मत करो । क्योंकि वह और की और कहके तन मन सबको स्वच्छ कर देगा ।।६।।

निंदक हमरा जनि मरो, जीवो आदि जुगादि ।

कबीर सतगुरु पाइया, निंदक के परसादि ।। ७ ।।

ऐ हमारे निन्दक ! तुम मत मरो, शतंजीव ! तेरे बदौलत हमने सद्गुरु को तलाश किया और पाया ।।७।।

कबीर निंदक मरि गया, अब क्या कहिये जाय ।

ऐसा कोई ना मिले, बीड़ा लेय उठाय ।। ८ ।।

ऐ कबीर ! सद्गुरु शरण आनेसे निंदक मर गया । अब क्या किससे कहाँ जाके कहें । और ऐसा कोई नहीं मिलता कि निंदक का बीड़ा उठाले ।।८।।

सातो सागर मैं फिरा, जम्बुदीप दै पीठ ।

परनिंदा नाहीं करै, सो कोय बिरला दीठ ।।९।।

जम्बुद्वीपके और आगे सप्त सागर पर्यन्त मैंने फेरा लगा दिया परन्तु ऐसा कोई नहीं मिला जो परनिंदा को न करता हो यानी पर-निंदासे रहित कोई बिरला ही देखने में आता है ।।९।।

दोष पराया देखि करि, चले हसन्त हसन्त ।

अपना याद न आवई, जाका आदि न अन्त ।। १० ।।

दूसरेका यत्किञ्चित भी दूषण को देखके हँस हँसके चलते हैं। और अपने दुर्गुणों को याद नहीं करते जिनके आदि अन्त भी नहीं हैं ।।१०।।

तिनका कबहुँ न निंदिये, पाँव तले जो होय।
कबहुँ उड़ि आँखों पड़ै, पीर घनेरी होय ।। ११ ।।

अरे ! पाँवके तले क्यों न हो उस तृणकी भी कभी निन्दा मत करो। वह भी कभी उड़कर आँखमें पड़ जायगा और बहुत दुःख देगा ।।११।।

माखी गहै कुबास को, फूल बास नहिं लेय।
मधुमाखी है साधुजन, गुनहि बास चित देय ।। १२ ।।

मक्खी बदबू को ग्रहण करती है सुन्दर पुष्पकी खुशबूको नहीं लेती। और मधुमक्खीके सदृश सुन्दर सन्तजन हैं जो सदा सदगुरु सुबास की ओर चित्त देते हैं ।।१२।।

कबीर मेरे साध को, निंदा करो न कोय।
जो पै चंद्र कलंक है, तउ उँजियारी होय ।। १३ ।।

ऐ कबीर ! मेरे सन्तकी निन्दा कोई मत करो। यद्यपि चन्द्रमा कलङ्कयुत है तो भी अहलाद और प्रकाश ही करता है ।।१३।।

जो कोय निन्दै साधुको, संकट आवै सोय।
नरक जाय जनमै मरै, मुक्ति कबहुँ नहिं होय ।। १४ ।।

जो कोई साधु की निन्दा करता है, उसके ऊपर आपत्ति अवश्य आती है। कृमी, कीट योनिमें जाके जन्म लेता व मरता है, मुक्ति कदापि नहीं होती ।।१४।।

जो तूँ सेवक गुरुन का, निंदा की तज बान।
निंदक नेरै आय जब, कर आदर सनमान ।। १५ ।।

जो तू सद्गुरु का शिष्य है तो निन्दा की आदत छोड़ दे। जब कोई निन्दक तेरे नजदीक आवे तो उसे आदर, सत्कार कर ।।१५।।

काहू को नहि निन्दिये, चाहै जैसा होय।
फिर फिर ताको बन्दिये, साधु लच्छ है सोय ।। १६ ।।

किसीकी निंदा मत करो चाहे जैसा जोहो। बल्कि बारम्बार उसकी स्तुति प्रशंसा करो उससे उदासीन रहो यही सन्त का लक्षण है ॥१६॥

ऐसा कोई जन एक है, दूजे भेष अनेक।
निन्दा बन्दा क्या करै, जो नहिं हिरदा एक ॥ १७ ॥

ऐसा कोई एक पुरुष है, और दूसरे अनेकों वेषधारी हैं। हृदयमें एक स्वरूपात्म की ज्ञान स्थिति नहीं है तो स्तुति, निंदा सब व्यर्थ है ॥१७॥

निंदा कीजै आपनी, बंदन सतगुरु रूप।
औरन सों क्या काम है, देखो रंक न भूप ॥ १८ ॥

निंदा योग्य अपने दोषको देखो और सद्गुरु स्वरूपकी स्तुति करो वेही स्तुत्व हैं। और इतर भूप, भिखारी से क्या प्रयोजन ? ॥१८॥

आपन को न सराहिये, पर निन्दिये नहिं कोय।
चढ़ना लम्बा धौहरा, ना जानै क्या होय ॥ १९ ॥

अपनी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दा कदापि न करो। अभी आचरण के बहुत लम्बे मीनार पर चढ़ना है। न जाने क्या हो जाय ॥१९॥

आपन पौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
क्या जानौं किहि रुखतर, कूरा होय करंक ॥ २० ॥

अपनेको भाग्यशाली मानके दूसरे को दरिद्र मत गिनो। क्या जानै किस वृक्षतर कूड़ा करंक हो जाय अर्थात् हीन दशा वाले उच्च स्थिति को प्राप्त हो जायँ यह किसको मालूम है ? ॥२०॥

लोग विचारा निन्दही, जिनहु न पाया ज्ञान।
रामनाम जानै नहीं, बके आनही आन ॥ २१ ॥

स्वरूप ज्ञान शून्य लोक पर की निन्दा करते हैं। राम का यथार्थ स्वरूप को न जानकर और की और बकते हैं ॥२१॥

निन्दक न्हाय गहन कुरुखेत, अरपै नारि सिंगार समेत।
चौसठ कूवा बाय दिवावै, तौ भी निंदक नरकहि जावै ॥ २२॥

ऐसे निन्दक चाहे कुरुक्षेत्रमें जाके सूर्य ग्रहण स्नान क्यों न करै और

शृङ्गार आभूषण सहित स्त्री दान क्यों न देवै, चाहे परमार्थ हेत चौंसठ कूप बावली खुदवाके दान क्यों न देवे दिवावै तौ भी निन्दक नरकही में जावै है ॥२२॥

अड़सठ तीरथ निंदक न्हाई, देह पलोसे मैल न जाई।
छप्पन कोटि धरती फिरि आवै, तौ भी निंदकनरकहि जावै।

चाहे निन्दक अँड़सठ तीर्थ में ही जाके प्रत्यंग क्यों न पखारें, परन्तु उसके मनका मैल नहीं जा सकता और छप्पन कोटि धरती की परिक्रमा भी क्यों न कर आवै तौ भी निंदक का उद्धार नरक से नहीं होसकता ॥२३॥

काहू को नहिं निन्दिये, सबको कहिये सन्त।
करनी अपनी से तरे, मिलि भजिये भगवन्त ॥ २४ ॥

सबकी प्रशंसा करो, निन्दा किसीकी भी मत करो। "अपनी करनी पार उतरनी" बस ! सब हिल मिलकर प्रभुका नाम लो ॥२४॥

कंचन को तजबो सहल, सहल त्रिया को नेह।
निन्दा केरो त्यागबो, बड़ा कठिन है येह ॥ २५ ॥

कंचन और कामिनीका प्रेम तोड़ना सरल है परन्तु पर निन्दाका एकदम त्याग करना बड़ाही कठिन है ॥२५॥

कबीर यह तो राम है, निंदबे को कछु नाँहि।
कोइ विधि गोविंद सेविये, राम बसा सब माँहि ॥ २६ ॥

ऐ कबीर ! सब राम स्वरूप है निन्दा की कोई चीज नहीं। किसी प्रकार प्रभुकी सेवा करो रमैया राम सबमें रमा है ॥२६॥

इति श्री निन्दाको अङ्ग ॥५९॥
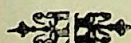
अथ आनदेवको अंग ॥६०॥

आन देव को आन करि, मुख मेले मद मांस।
जाके जन भोजन करै, निश्चय नरक निवास ॥ १ ॥

दूसरे देवों की आशा करके या अर्पण करके जो मुख में मांस, मद्य रखता यानी खाता है। तिसके यहाँ जो कोई भोजन करता है वह भी निश्चय नरक में जाता है ॥१॥

होम कनागत कारनै, साकुट राधाँ खाय।
जीवत विष्ठा स्वान की, मूआ नरकै जाय ॥ २ ॥

होम और श्राद्ध प्रसंग में भी जो निगुरा का पकाया हुआ भोजन खाता है। वह जीतेजी स्वान विष्ठा तुल्य और मूये नरकमें जाता है ॥२

साकुट हित कूँ जाय के, सरमा सरमी खाय।
कोटि जनम नरके पड़े, तऊ न पेट अघाय ॥ ३ ॥

किसी शाक्त (निगुरा) कुटुम्बी के यहाँ जाके जो भक्त शर्माशर्मी भोजन करता है। यह करोड़ों जन्म नरक रूप कृमी कीट योनिमें पड़ेगा तो भी पेट नहीं भरेगा ॥३॥

कन्या बर अरु कारनै, आन देव को खाय।
सो नर ढोले बाजते, निश्चय नरकै जाय ॥ ४ ॥

बर कन्या या और किसी कारणसे जो दूसरे देवकी बलि (अर्पण) खाता है। वह मनुष्य डंका वजाते हुए नरक में चला जाता है ॥४॥

कामी तिरै क्रोधी तिरै, लोभी की गति होय।
सलिल भक्त संसार में, तरत न देखा कोय ॥ ५ ॥

कामी, क्रोधी और लोभी इन्हें भी उद्धार होता है। परन्तु सलिल भक्त यानी मद्यपी भक्तको पार होते नहीं देखा गया ॥५॥

सौं वर्षहिं गुरु भक्ति करि, एक दिन पूजे आन।
सो अपराधी आत्मा, परे चौरासी खान ॥ ६ ॥

सौ वर्ष जो गुरु भक्ति करके एक दिन भी दूसरे की सेवा में चित्त को लगाता है वह इस अपराध से चौरासी योनि में भ्रमण किया करता है ॥६॥

इति श्री आनदेवको अङ्ग ॥ ६० ॥

अथ प्रकृति गुणको अंग ॥ ६१ ॥

पहिले सेर पचीस का, सन्तो करो अहार।
गुरु सब्दै लागे रहो, दुःख न होय लगार ॥ १ ॥

हे सन्तो ! प्रथम सेर पचीस अर्थात् पाँच तत्व पचीस प्रकृतिको अहार (वश) करो फिर सद्गुरु के सार शब्दका विचार में लग जाओ, जरा भी दुःख न व्यापेगा ॥१॥

सुषमन डिब्बी पोत करि, दीन्ही आगि चढ़ाय।
सेर पाँच को राँधि करि, सन्त होय सो खाय ॥ २ ॥

सुषुम्णा डिब्बी को शुद्ध कर योगाग्नि पर चढ़ा दिया है। अब जो सन्त होय सो सेर पाँच-पंच ज्ञानेन्द्रियको राँध (वशकर) के आतम चिन्तनरूप भोजन करे ॥२॥

सेर पाँच को खाय करि, सेर तीन को खाय।
सेर तिन खाइ ना सकै, सेर दुई को खाय ॥ ३ ॥

ज्ञानेन्द्रिय पंचकको वश करके त्रिगुणा वृत्ति को भी वश करे। यदि त्रिगुणा वृत्ति वश न कर सके तो राग, द्वेषरूप या दुविधावृत्ति को ही वश करे ॥३॥

सेर दुई को खाय करि, पाया अगम अलेख।
सत गुरु सब्दै यौं कहा, जाके रूप न रेख ॥ ४ ॥

कबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं कि जिसके रूप रेखा नहीं है ऐसा अगम और अलेख पुरुष, अविद्याजन्य रागद्वेष के मिट जाने से अवश्य मिले व मिल जाते हैं ॥४॥

दुक्ख महल को ढाहने, सुक्ख महल रहु जाय।
अभि अन्तर है उनमुनो, तामें रहो समाय ॥ ५ ॥

दुःखरूप संसार हवेली को तोड़ के सुखरूप सत्संग महल में जा बसो। फिर संसार से उदासीन होके अभ्यन्तर आत्मस्वरूप में प्रवेश करो ॥५॥

काजल तजै न श्यामता, मुक्ता तजे न स्वेत।
दुर्जन तजै न कुटिलता, सज्जन तजै न हेत ॥ ६ ॥

जैसे काजल श्यामता को और मोती सुफेदी को तथा सज्जन प्रेमको नहीं त्यागते तैसेही कुटिल लोग कुटिलताको नहीं त्यागते ॥६॥

दुर्जन की करुणा बुरी, भलो सज्जन की त्रास।
सूरज जब गरमी करै, तब बरसन की आस ॥ ७ ॥

दुर्जन की दया से साधु का भय भला है। क्योंकि सूर्य जब तपता है तब अवश्य वर्षा होती है ॥७॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
पत्थर डारे कीच में, उछलि बिगाड़े अंग ॥ ८ ॥

कुछ कहके कुटिलको मत छेड़ो, उसका संग भला नहीं है। क्योंकि कीचड़ में पत्थर फेंकने से उसका छींटा उलट कर अपने अङ्गको बिगाड़ता है ॥८॥

चंदा सूरज चलत न दीसे, बढ़त न दीसे बेल ।
हरिजन हरि भजता ना दिसे, ये कुदरत का खेल ॥ ९ ॥

यह मायाका विचित्र चरित्र है कि सूर्य, चन्द्रको चलते और लताको बढ़ते कोई नहीं देखता । इसी प्रकार भगवानको भजते प्रेमी भक्तको भी कोइं नहीं देखता है ॥९॥

जो जाको गुन जानता, सो ताको गुन लेत ।
कोयल आमहि खात है, काग लिंबोरी लेत ॥ १० ॥

जो जिसके गुणका ग्राहक है वह उसे लेता है । देखो, कोकिला आम खाती है और काग लिम्बोरी को ॥१०॥

इश्क खुन्नस खाँसि जो, औ पीबै मद पान ।
ये छूपाया ना छुपे, परगट होय निदान ॥ ११ ॥

यह प्रकृति का स्वभाव है कि प्रेम, क्रोध, खाँसी और मद्यपान ये छिपाने से नहीं छिपते अन्त में अवश्य प्रगट हो जाते हैं ॥११॥

इति श्री प्रकृति गुणको अङ्ग ॥ ६१ ॥

अथ कामको अंग ॥ ६२ ॥

कामी का गुरु कामिनी, लोभी का गुरु दाम ।
कबीर का गुरु सन्त है, संतन का गुरु राम ॥ १ ॥

विषयी का इष्टदेव सुन्दरी और लालचीका द्रव्य है । एवं जिज्ञासुओं का सन्त और सन्तोंका ध्येय गुरु राम हैं ॥१॥

कामी कबहुँ न गुरु भजै, मिटै न संसै सूल ।
और गुनह सब बख्शिहैं, कामी डाल न मूल ॥ २ ॥

कामातुर सद्गुरुको कभी नहीं भजता इसीलिए अदृश्य कांटाके समान दुखदाई भ्रान्ति उसकी नहीं निकलती। और अपराध सब मुआफ होता है परन्तु कामीके लिए कोई जगह नहीं ॥२॥

कामी कुत्ता तीस दिन, अन्तर होय उदास ।
कामी नर कुत्ता सदा, छह रितु बारह मास ॥ ३ ॥

कुत्ता भी कामातुर एक ही महीना रहता है बाद में उदासीन हो जाता है। परन्तु नर कुत्ता ऐसा कामातुर है कि बारह महीने छः ही ऋतु में कूकर लेंढ़ लगाया करता है ॥३॥

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय ।
भक्ति करै कोय सूरमा, जाति बरन कुल खोय ॥ ४ ॥

कामी, क्रोधी और लोभी इनसे गुरु-भक्ति नहीं हो सकती। गुरुभक्ति तो कोई शूरमा करता है जो वर्णाश्रम परम्पराकी मर्यादासे रहित होता है ॥४॥

कामी लज्जा ना करै, मन मांहीं अहलाद ।
नींद न माँगै साथरा, भूख न माँगे स्वाद ॥ ५ ॥

कामातुरको भय, लज्जा नहीं होती मने मन विनोद किया करता है। तथाहि निद्रा बिछौना और भूख स्वाद नहीं चाहती ॥५॥

कामी तो निरभय भया, करै न काहू संक ।
इन्द्री केरे बसि पड़ा, भुगतै नरक निसंक ॥ ६ ॥

कामातुर किसी की शंका नहीं करता, भय लज्जा रहित ऐसा निःशंक हो इन्द्रियोंके वशमें पड़ा है कि नरक भुगतने में भी शका नहीं ॥६॥

कामी अमी न भावई, विष को लेवै सोध ।
कुबुधि न भांजै जीवकी, भावै ज्यौं परमोध ॥ ७ ॥

कामातुर को ज्ञानामृत नहीं सुहाता विषयरूप विषको ही ढूँढ़ता फिरता

है चाहे किसी प्रकार प्रबोध करो प्राणधारियों का स्वभाव नहीं बदलता ॥७॥

कामी करम की कैंचुली, पहिरि हुआ नरनाग।
सिर फोड़ै सूझै नहीं, कोइ पूरबला भाग ॥ ८ ॥

किसी पूर्व मन्द संस्कार से कामातुर जीव कर्म रूप केंचुली पहिर कर नर से अन्धा नाग बन गया उसे हित अहित कुछ नहीं सूझता व्यर्थ में शिर पटक कर फोड़ा करता है ॥८॥

सह कामी दीपक दसा, सीखै तेल निवास।
कबीर हीरा संत जन, सहजै सदा प्रकाश ॥ ९ ॥

कामातुर नरजीव की दशा दीपकके सदृश है। जो अपने आधार भूत तेल ही को चूसा करता है। और साधु पुरुष हीराके समान स्वाभाविक स्वतः प्रकाश रूप सदा प्रकाशते हैं ॥९॥

दीपक सुन्दर देखि करि, जरि जरि मरे पतंग।
बढ़ी लहर जो विषय की, जरत न मोरै अंग ॥ १० ॥

जैसे दीपक को देखि पतंग कोई सुन्दर फल समझ के उस पर जल मरता है। तैसे ही विषयी पामर जीवों को भी जब विषय की लहर उठती है फिर वे जीवन मरण को नहीं देखते, विषय अग्नि में जल ही मरते हैं ॥१०॥

भक्ति बिगाड़ी कामिया, इन्द्रिन केरे स्वाद।
हीरा खोया हाथ सों, जनम गँवाया बाद ॥ ११ ॥

इन्द्रियोंके स्वादमें पड़के विषय पामरोंने स्वरूपातम अनुसन्धानरूप भक्ति को सत्यानाश कर दिया। और आत्मरूप हीरा हाथका गमाके नर-जिन्दगी भी बरबाद कर डाली ॥११॥

काम काम सब कोय कहै, काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कल्पना, काम कहावै सोय ॥ १२ ॥

सब कोई केवल कहा करते हैं कि काम बुरा है उसे जीतना चाहिये

परन्तु उसे भली-भाँति परीक्षा कोई भी नहीं करते, वह है क्या चीज ? ऐ भाइयो ! सुनो, आत्मविमुख मन की जितनी कल्पनायें हैं वे सब काम रूप हैं उसे अवश्य जीतो ॥१२॥

जहाँ काम तहाँ नाम नहिं, जहाँ नाम नहिं काम।
दोनों कबहू ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम ॥ १३ ॥

जहाँ कल्पना है वहाँ गुरु-नाम व स्वरूपका ज्ञान नहीं और जहाँ गुरु-नाम व स्वरूप ज्ञान है वहाँ दूसरी कल्पना नहीं। क्योंकि सूर्य और अन्धकार ये एक जगह कभी हो ही नहीं सकते ॥१३॥

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
कबीर मूरख पंडिता, दोनों एक समान ॥ १४ ॥

अन्तःकरण में काम, क्रोधादिका आवेश जब तक बना है। तब तक मूर्ख और पण्डित दोनों एक समान हैं ॥१४॥

कहता हूं कहि जात हूँ, मानै नहीं गँवार।
वैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥ १५ ॥

बहुत कुछ कह दिया, औरभी कहते जाता हूँ, सही बात गंवार लोग नहीं मानते। ध्यान रखो चाहे विरागी हो या अनुरागी कामातुरों को कहीं भी ठिकाना नहीं है ॥१५॥

काम कहर असवार है, सब को मारै धाय।
कोइ एक हरिजन ऊबरा, जाके नाम सहाय ॥ १६ ॥

कामनारूप बवाल सबके शिरपर सवार होके मार रहा है जिसे राम सहायक है ऐसा कोई एक हरिजनही काम कहरसे बचा व बचता है ॥१६

कबीर कामी पुरुष का, संसै कबहु न जाय।
साहिब सों अलगा रहै, वाके हिरदै लाय ॥ १७ ॥

ऐ कबीर ! कामी पुरुषका हृदय कामाग्नि से जलता रहता है। शान्ति कभी नहीं मिलती। और आत्मविमुख होनेसे संशय भी कभी निवृत्त नहीं होता ॥१७॥

कामी से कुत्ता भला, रितु पर खोलै काछ।

राम नाम जाना नहीं, बावी जाय न बाच ॥ १८ ॥

कामी मनुष्यों से तो कुत्ता ही अच्छा है क्योंकि "ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा" इस मनु वचन के अनुसार ऋतु आने पर ही वह कामातुर होता है। अन्यथा नहीं तथापि रमैया राम के ज्ञान बिना वह भी कालबली से नहीं बँधता। तो विषयी, पामरों की क्या कथा ? ॥१८॥

बुंद खिरी नर नारि की, जैसी आतम घात।

अज्ञानी मानै नहीं, येहि बात उतपात ॥ १९ ॥

वीर्य पातान्तर स्त्री, पुरुष ऐसे दीखते हैं जैसे आत्मघाती। तो भी अज्ञानी लोग इसे बुरा नहीं मानते, यही भारी उपद्रव है ॥१९॥

भग भोगै भग ऊपजै, भगते बचै न कोय।

कहैं कबीर भगते बचै, भक्त कहावै सोय ॥ २० ॥

भग भोग के फिर भग से उत्पन्न होता है उससे कोई नहीं बचता। कबीर गुरु कहते हैं कि जो इस भोगसे बचता है वही भक्त कहलाता है ॥२०॥

तन मन लज्जा ना रहे, काम बान उर साल।

एक काम सब वश किए, सुर नर मुनि बेहाल ॥ २१ ॥

उसके तन मन में लज्जा नहीं रहती जिसके हृदय में दुःखदाई मदन बाण प्रवेश करता है। अकेले ही कामने सुर, नर, मुनि सबको वश करके तंग कर दिया ॥२१॥

इति श्री कामको अङ्ग ॥ ६२॥

अथ क्रोधको अङ्ग ॥ ६३ ॥

क्रोध अगनि घर घर बढ़ी, जलै सकल संसार।
दीन लीन निज भक्त जो, तिनके निकट उबार ॥ १ ॥

गुरु सत्संग विमुख नरजीवोंके हृदय में क्रोध अग्नि सुलग रही है। उसीसे सारे संसार जल रहे हैं। इससे बचनेके लिये वही एक स्थान है जहाँ निज स्वरूपमें लीन, और दीन भक्त रहते हैं ॥१॥

कोटि करम लागे रहै, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार ॥ २ ॥

एकही क्रोधके संगमें करोड़ों दुष्कर्म लगे रहते हैं। क्योंकि अहंकार चण्डालके आनेसे किया, कराया सबही धर्म भग जाते हैं ॥२॥

जगत माँहि धोखा घना, अहं क्रोध अरु काल।
पौरि पहुँचा मारिये, ऐसा जम का जाल ॥ ३ ॥

संसारमें अहंकार, क्रोध और कल्पना से अनेकों धोखा खा जाते हैं। ऐसे चण्डालको तो द्वार पर पहुंचतेही मार डालना चाहिए ॥३॥

दसौं दिसा से क्रोध की, उठी अपरबल आग।
सीतल संगत साध की, तहाँ उबरिये भाग ॥ ४ ॥

जब दशों दिशासे क्रोधरूप प्रबल अग्नि उठती है तब सिवा सद्गुरु सन्तकी सत्संग शरण के और कहीं शीतलता नहीं मिलती। सन्तप्त संसारियोंको वहैं उद्धार होता है। और कहीं नहीं ॥४॥

यह जग कोठी काठ की, चहुँदिस लागी आग।
भीतर रहै सो जलि मुये, साधू उबरे भाग ॥ ५ ॥

यह संसार काष्ठकी कोठी है और चारों ओरसे क्रोधाग्नि लगी है। जो इसके अन्दर रहे वे जल मरे, सन्त इससे भागके बच गये ॥५॥

गार अंगार क्रोध झल, निन्दा धूँवा होय।
इन तीनौं को परिहरै, साधु कहावै सोय ॥ ६ ॥

गालीरूपी अग्निके क्रोधरूपी आँचमें निन्दारूपी धूवाँ होता है। इन तीनोंको जो त्याग करता है वही साधु कहलाता है ॥६॥

इति श्री क्रोधको अङ्ग ॥ ६३ ॥

अथ लोभको अङ्ग ॥ ६४ ॥

जब मन लागा लोभ सों, गया विषय में भोय।
कहैं कबीर विचारि के, केहि प्रकार धन होय ॥ १ ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि जब मन लोभमें लीन होता है। तब वह लोभ विषय में अपने आपको ऐसा भूल जाता है कि अहोरात्र यही सोचा करता है कि धन (द्रव्य) किस प्रकार मिले। और कर्म अधर्म कुछ नहीं सोचता ॥१॥

जोगी जंगम सेवड़ा, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दरसन से क्या बनै, एक लोभ की लार ॥ २ ॥

"लोभश्चेदगुणेन किम्" अर्थात् जिसे लोभ है उसे और दुर्गुणोकी क्या जरूरत। इसके अनुसार एक लोभाकर्षित चित्तवाले चाहे जोगी, जंगम, जैन, परम ज्ञानी, गुणी तथा षड्दर्शनही कथनेवाले क्यों न होवें परमार्थ पुरुषार्थ नहीं सिद्ध कर सकते ॥२॥

कबीर औंधी खोपड़ी, कबहूँ धापै नाँहि।
तीन लोक की संपदा, कब आवै घर माँहि ॥ ३ ॥

ऐ कबीर ! औंधी खोपड़ीरूप लोभको कभी भी हृदयमें जगह न दे। इसके आनेसे, ऐसी तृष्णा बढ़ती है कि तीनों लोककी सम्पत्ति कब घर में आ जाय यही हाय लग जाती है यह कभी भी नहीं भरती क्योंकि औंधी है ॥३॥

सूम थैली अरु स्वान भग, दोनों एक समान।
घालत में सुख ऊपजै, काढ़त निकसै प्रान ॥ ४ ॥

मुझीकी थैली और कुत्ती की योनि ये दोनों एक समान हैं। उसमें डालतेही समय सुख और निकालते वक्त तो प्राण जाता है ॥४॥

बहुत जतन करि कीजिये, सब फल जाय नसाय।
कबीर संचै सूम धन, अन्त चोर ले जाय ॥ ५ ॥

लोभी का प्रयत्न सब निष्फल जाता है। सूमको देख लो, न स्वयं खाता है न किसीको खिलाता है केवल धनको संग्रह करता है और अन्त में सब चोर ले जाता है ॥५॥

इति श्री लोभको अङ्ग ॥ ६४ ॥

अथ मोहको अङ्ग ॥ ६५ ॥

मोह फंद सब फंदिया, कोय न सकै निवार।
कोइ साधू जन पारखी, बिरला तत्त्व विचार ॥ १ ॥

सद्गुरु सत्संग विमुख लोग सब मोह फन्दे में फँसे हैं उसे कोई दूर नहीं कर सकता। आत्मतत्वके विचार से कोई विरलेही पारखी संत बचते हैं ॥१॥

मोह मगन संसार है, कन्या रही कुमारि।
काहु सुरति जो ना करी, ताते फिरि औतारि ॥ २ ॥

संसारी लोग ऐसे मोहमें मग्न हैं कि उनकी वृत्ति रूपी कन्या कुमारी ही रह गई। निजात्म पतिदेव से मिलाने का किसीने खयाल नहीं किया इसी कारण बार बार जन्म लेते हैं ॥२॥

मोह सलिल की धार में, बहि गये गहिर गंभीर।
सूक्ष्म मछली सुरति है, चढ़तो उलटी नीर ॥ ३ ॥

बड़े बड़े सयाने लोग मोह रूप जल प्रवाह में बह गये। जल धारामें तो सूक्ष्म वृत्ति रूपी मछली ही उलटी चढ़ती है, अन्य नहीं। अर्थात् जिसकी वृत्ति शुद्ध और निरोधित है वही निज पतिको पाता है ॥३॥

जब घट मोह समाइया, सबै भया अंधियार।
निर्मोह ज्ञान विचारिके, साधू उतरे पार ॥ ४ ॥

जब स्त्री पुत्रादि विषयक मोह हृदय में प्रवेश होता है, एक दम अन्धकार छा जाता है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इस मोह प्रवाह का पार कोई सन्तही निर्मोहज्ञान विचार से पा जाता है ॥४॥

जहँ लगि सब संसार है, मिरग सबन को मोह।
सुर नर नाग पताल अरु, ऋषि मुनिवर सब जोह ॥ ५ ॥

जहाँ तक शरीरादि संसारमें अध्यास है तहाँ तक मोह मृग सबके पीछे लगा है। तीनों लोक निवासी श्रेष्ठ सुर नर ऋषि मुनि आदि सब मोह का मुँह जोह (देख) रहे हैं ॥५॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि लौं, तुम सों रहै निनार।
मिरगहि बाँधि बिडारहू, कहैं कबीर विचार ॥ ६ ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि जब तक मोह मृगको विचार डोरी से बाँध कर दूर नहीं करोगे। तब तक अष्ट सिद्धि और नव निधि तुमसे कोशों दूर रही व रहेगी ॥६॥

प्रथम फंदे सब देवता, बिलसै स्वर्ग निवास।
मोह मगन सुख पाइया, मृत्युलोक की आस ॥ ७ ॥

मोह फन्दामें प्रथम सात्विक देव लोग फँसके स्वर्ग विलास में निवास करने लगे। और मोह सुख में ऐसे निमग्न हुए कि कल्याणार्थ मृत्युलोक की आशा करने लगे ॥७॥

दूजे ऋषि मुनिवर फँसे, तासों रुचि उपजाय।
स्वर्गलोक सुख मानही, धरनि परत हैं आय ॥ ८ ॥

उनको देखकर दूसरे ऋषि मुनि को भी रूचि उत्पन्न हुई बस ! ये भी फंस गये स्वर्ग सुखको ध्येय बनाते हैं। और भोगानन्तर भूमि पर आ गिरते हैं ॥८॥

सुर नर ऋषि मुनि सब फँसे, मृगत्रिस्ना[1] जगमोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह ॥ ९ ॥

मोह वश सुर, नर, मुनि सबही मृगतृष्णा में फँस गये। संसार मोह रूप है जो मोह निधि में गिरा सो गिरा उसे कहीं भी स्थिति नहीं होती ॥९॥

कुरुक्षेत्र सब मेदिनी, खेती करै किसान।
मोहमिरग सब चरिगया, आसन रहि खलिहान ॥ १० ॥

पृथ्वी सब कुरुक्षेत्र है, यात्रालु किसान हैं, यात्रा रूप खेती कर रहे हैं। परन्तु विचार द्वारा मोह मृग को नहीं मारते अतः उनके ज्ञान रूप खेत सब चर गया। मोक्ष फल रूप खलिहान की उन्हें आशाही न रही ॥ १० ॥

काहु जुगति ना जानिया, किहि बिधि बचै सुखेत।
नहिं बंदगी नहिं दीनता, नहिं साधू संग हेत ॥ ११ ॥

किसीने रक्षाकी युक्ति नहीं जानी फिर कहो ! किस प्रकार खेत बचे ? न विनय है न दीनता और न सन्तोंके सत्संगमें प्रेम है ॥११॥

१—मरुदेश मे रेतीली जगह पर सूरजकी किरणों में मृग को जल प्रतीत होता है ऐसा मालूम होने पर मृग वहां जाते हैं और पानी न मिलने पर निराश होके लौट आते हैं इसी दौड़ धूप में कितने मर भी जाते हैं।

अष्ट सिद्धि नव निद्धि लौं, सबही मोह की खान ।
त्याग मोह की वासना, कहैं कबीर सुजान ॥ १२ ॥

अष्ट सिद्धि और नव निधि ये सबही मोहका आकार है। कबीर गुरु कहते हैं कि श्रेष्ठ ज्ञानी वही है जो सबकी मोह वासना को त्याग करता है ॥१२॥

अपना तो कोई नहीं, हम काहू के नाँहि ।
पार पहूँची नाव जब, मिलि सब बिछुड़े जाँहि ॥ १३ ॥

प्रासंगिक सम्बन्धको ज्ञानी पुरुष नदी नाव संयोग समझते हैं। न अपना करके किसीको मानते हैं न अपने किसोके बनते हैं। जैसे नौका पार होने पर सब अलग २ हो जाते हैं तद्वत् ॥१३॥

अपना तो कोई नहीं, देखा ठोकि बजाय ।
अपना अपना क्या करै, मोह भरम लपटाय ॥ १४ ॥

मैंने खूब जाँच बूझकर देख लिया अपना कोई नहीं है। ऐ नरजीव ! भ्रमसे मोह में फँसकर क्या अपना २ करता है ? ॥१४॥

मोह नदी विकराल है, कोई न उतरै पार ।
सतगुरु केवट साथ ले, हंस होय जम न्यार ॥ १५ ॥

मोह नदी बड़ी भयकर है, इससे विवेक विना कोई भी पार नहीं होता। सद्गुरु कँड़िहारके साथमें लेके कोई हंसही इसे पार होता है ॥

एक मोह के कारनै, भरत धरी दो देह ।
ते नर कैसे छूटिहैं, जिनके बहुत सनेह ॥ १६ ॥

देख लो एक हरिनके ऊपर मोह होनेसे भरतने दो शरीर धारण किया। तो कहो भला वे नर कैसे छूटेंगे ? जिन्हें अनेकों स्नेह रूप मोह हैं। हर्गिज नही। १६॥

इति श्री मोहको अङ्ग ॥ ६५ ॥

अथ मदको अंग ॥ ६६ ॥

अहं अगनि हिरदै जरै, गुरु सों चाहै मान ।
तिनको जम न्यौता दिया, हो हमरे मिहमान ॥ १ ॥

जिसका हृदय अभिमान अग्निसे जल रहा है और जो गुरुसे भी प्रतिष्ठा चाहता हैं उसे मृत्यु ने मानो निमन्त्रण दे दिया कि हमारे मिहमान शीघ्र हो जाओ ॥१॥

जहाँ आपा तहाँ आपदा, जहाँ संसै तहाँ सोग ।
कहैं कबीर कैसे मिटै, चारौं दीरघ रोग ॥ २ ॥

जहाँ अहंकार है वहाँ अवश्य आपत्ति है जहाँ संशय है वहाँ शोकभी है। कबीर गुरु कहते हैं कि ये चारों असाध्य रोग बिना सत्संग कैसे मिटे ॥२॥

अहं भई जो इस्तरी, माया हूआ मान ।
यौं बसि पड़े खटीक के, पकड़ी आनी कान ॥ ३ ॥

अहन्ता स्त्री हुई है और प्रतिष्ठा माया बनी है। आतमविमुख नर-जीवों को अहन्ता ममताने ऐसे वश में किया है जैसे चिक कान पकड़के बकरीको ॥३॥

हरिजन हरि तो एक है, जो आपा मिट जाय ।
जा घट में आपा बसै, साहिब कहाँ समाय ॥ ४ ॥

यदि मध्य में अभिमान व्यवधान न हो तो हरि और हरिजन एकही हैं। परन्तु जिस हृदय में अभिमान मिहमान है तो वहाँ मालिक कहाँ प्रवेश करै ? ॥४॥

अहंता नहि आनिये, हरि सिंहासन देय ।
जो दिल राखै दीनता, साँइ आप करि लेय ॥ ५ ॥

प्रभु हमें मान दें ऐसा अभिमान मन में मत लाओ। दिल में यदि दीनता गरीबी रक्खोगे तो स्वामी स्वयं ही अपना कर लेगा ॥५॥

कबीर गर्व न कीजिये, रंक न हँसिये कोय ।
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जानौं क्या होय ॥ ६ ॥

ऐ कबीर! धनादिकका अहंकार मत करो एवं किसीको दरिद्र कहके मजाक मत उड़ावो। अभी जीवन का जहाज संसार सिंधुमें न जाने कब क्या हो जाय ॥६॥

आपा सबही जात है, किया कराया सोय ।
आपा तजि हरि को भजै, लाखन मध्ये कोय ॥ ७ ॥

अहंकार चण्डाल के आनेसे शुभ कर्म, धर्मादि सबही किये कराये चले जाते हैं। ऐसे लाखों में कोई एक है जो निराभिमान हो प्रभु को भजता हो ॥ ७ ॥

पदी कूँ झोला पवन है, नर कूँ झोला नारि ।
ज्ञानी झोला गर्व है, कहैं कबीर पुकारि ॥ ८ ॥

कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि दीपकका नाशक वायु और नर को नारी व ज्ञानी को गर्व है। इनसे सदा ही बचना चाहिये ॥८॥

अभिमानी कुंजर भये, निजसिर लीन्हा भार ।
जम द्वारै जम कूटहीं, लोहा घड़ै लुहार ॥ ९ ॥

जिसने अभिमान का बोझा सिर पर लिया वह अभिमानी मरके बड़ा हाथी हुआ। वह यम द्वारे ऐसा कूटा जायगा जैसा लोहार के यहाँ लोहा कूटा जाता है ॥९॥

मद अभिमान न कीजिये, कहैं कबीर समुझाय ।
जा सिर अहं जु संचरै, पड़ै चौरासी जाय ॥ १० ॥

कबीर गुरु समझा कर कहते हैं कि अभिमान रूप मदका पान कभी मत करो। जिसके शिर अभिमानरूप नशा चढ़ेगा वह अवश्य चौरासी में पड़ेगा ॥१०॥

इति श्री मदको अङ्ग ॥ ६६ ॥

अथ मानको अङ्ग ॥ ६७ ॥

मान बड़ाई कूकरी, धर्मराय दरबार ।
दीन लकुटिया बाहिरै, सब जग खाया फार ॥ १ ॥

मान, बड़ाई ये दोनों कुत्ती यमराजके दरबारमें रहनेवाली दरबारी हैं। जिनके हाथमें गरीबी लकड़ी नहीं है तिन सबोंको फाड़ खाई ॥१॥

मान बड़ाई कूकरी, सन्तन खेदी जान ।
पांडव जग पावन भया, सुपच बिराजै आन ॥ २ ॥

सन्तोंने मान, बड़ाईको कुत्ती जानकर हँकाल दिया है। पाण्डवों का यज्ञ तबही पवित्र हुआ जब इन दोनों कुत्तीसे रहित सुपच भक्त आ पधारे ॥२॥

मान बड़ाई जगत में, कूकर की पहिचान ।
प्यार किये मुख चाटई, बैर किये तन हान ॥ ३ ॥

संसारमें कूकर की यही पहिचान है, कि मान करने से मुख चाटता और बैर से काट खाता है। यही मानी, अभिमानी मनुष्यों का भी स्वभाव है ॥३॥

मान बड़ाई ऊरमी, ये जग का व्यवहार ।
दीन गरीबी बन्दगी, सतगुरु का उपकार ॥ ४ ॥

संसारमें मान बड़ाईका व्यवहार ये बड़ेही दुःखदाई हैं। इनसे बचने के लिये सद्गुरुका उपकार मानना और गरीबी धारण कर दीनतापूर्वक उनके चरणों में शिर झुकाना है ॥ ४ ॥

मान बड़ाई देखि कर, भक्ति करै संसार ।
जब देखै कछु हीनता, अवगुन धरै गँवार ॥ ५ ॥

भक्तोंकी मान बड़ाई देखके आडम्बरी लोग भी भक्ति करने लगते

हैं। परन्तु जहाँ कहीं कुछ घटी न्यूनता दीख पड़ी कि गंवार लोग प्रभु मेंही अवगुण स्थापन करने लगते हैं। अपनी ओर नहीं देखते ॥५॥

मान दिया मन हरषिया, अपमाने तन छीन।
कहैं कबीर तब जानिये, माया में लौ लीन ॥ ६ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जो प्रतिष्ठा से खुश और अप्रतिष्ठासे दुःखी जबतक होते हैं तब तक उन्हें मायामेंही लीन समझो उन्हें प्रभुमें लगन नहीं है ॥६॥

मान तजा तो क्या भया, मनका मता न जाय।
संत बचन मानै नहीं, ताको हरि न सुहाय ॥ ७ ॥

यदि मन मत नहीं गया तो मान त्यागनेही से क्या हुआ। जो सन्तों के सदुपदेश नहीं मानते तिन्हें प्रभुभी नहीं सुहाते हैं ॥७॥

कंचन तजना सहज है, सहज तिरियाका नेह।
मान बड़ाई ईरषा, दुरलभ तजनी येह ॥ ८ ॥

कनक और कामिनीका स्नेह त्यागना सहज है। परन्तु मान, बड़ाई और ईर्षा (डाह) इन्हें त्यागना सर्व साधारण के लिये कठिनहीं नहीं किन्तु असम्भव सा है ॥८॥

माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय।
मान बड़े मुनिवर गले, मान सबन को खाय ॥ ९ ॥

जो प्रतिष्ठाकी चाह नहीं छूटी तो मायाका त्याग व्यर्थ है। क्योंकि बड़े बड़े ऋषि, मुनि भी मान में गलित हुए हैं। मान चाण्डाल सबको खा डालता है ॥९॥

काल मुख कर मान का, आदर लावो आग।
मान बड़ाई छाँड़ि के, रहौ नाम लौ लाग ॥ १० ॥

ऐ सत्संगियो ! मान के मुख में श्याही पोतके सत्कार को अग्नि लगा दो। बस, इन दोनों से रहित हो सद्गुरु नाम से लगन लगाये रहो ॥ १० ॥

कबीर अपने जीवते, ये दो बाँता धोय।
मान बड़ाई कारनै, अछता मूल न खोय॥ ११॥

ऐ कबीर ! अपने मनसे इन दोनों कालिमाओं को धो डालो। क्योंकि क्षणिक मान बड़ाईके वास्ते अक्षय मोक्ष मूलको मत खो डालो॥११॥

खम्भा एक गयंद दो, क्यौं करि बाँधू बारि।
मान करूँ तो पिव नहीं, पिव तो मान निवारि॥ १२॥

मनरूप खम्भा एक है और प्रतिष्ठा व प्रभु ये दो बड़े हस्ती हैं। कौन ओसरीसे कैसे बाँधू ? जो प्रतिष्ठा चाहता हूँ प्रभु नहीं और प्रभु को चाहूँ तो मान कहाँ॥ १२॥

बड़ी बड़ाई ऊँट की, लादे जहँ लग साँस।
मुहकम सलिता लादिके, ऊपर चढ़ै फरास॥ १३॥

भारी बड़ाई ऊँटकी है इसलिये श्वाँस पर्यन्त लादा जाता है। और खूब मुहकम यानी मजबूत सलिता नाम काठी लाद के ऊपर से फरास (ऊंट लादने वाला) चढ़ लेता है॥ १३॥

बड़ा बड़ाई ना करै, बड़ा न बोलै बोल।
हीरा मुख से ना कहै, लाख हमारा मोल॥ १४॥

बड़े लोग अपनी बड़ाई कभी नहीं करते न अभिमान सूचक बोली बोलते हैं। देख लो, हीरा कभी नहीं कहता कि हमारा लक्ष कीमत है॥ १४॥

बड़ी बिपति बड़ाई है, नन्हा करम से दूर।
तारे सब न्यारे रहें, गहै चंद औ सूर॥ १५॥

विचार दृष्टि से देखो तो बड़ाई में बड़ी आपत्ति है और दीनतासे विपत्ति कोशों दूर रहती है। दृष्टि फैलाकर देख लो, राहु, केतु तारे सबको न्यारे करके सूर्य, चन्द्रको ही ग्रस्ते हैं॥ १५॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर॥ १६॥

लम्बे खजूर वृक्षके सदृश बड़े हो भी गये तो क्या ? न तो उससे मुसाफिरको छाया मिलती है न फल । क्योंकि फल और बहुत दूर लगे हैं। भावार्थः—अभिमानीसे किसी को कुछ प्राप्त नहीं होता ॥ १६ ॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जोरे बड़मति नाँहि ।
जैसे फूल उजाड़ का, मिथ्या हो झड़जाँहि ॥ १७ ॥

यदि बड़ा विचार नहीं है तो केवल ऊँच खानदान आदि में होने से कुछ नहीं । जैसे जंगल का पुष्प, खिला और उपयोग बिना व्यर्थ में झड़ गया ॥ १७ ॥

हरिजन को ऊँचा नवै, ऊँट जनम का होय ।
तीन जगह टेढ़ा भया, ऊँचा ताकै सोय ॥ १८ ॥

जो हरि भक्तों को अकड़ के साथ नमस्कार करता है वह पुनः जन्म लेके ऊँट होगा । और तीन जगह कुबड़ा होके ऊँचा देखा करेगा ॥१८॥

ऊँचे कुल में जनमिया, देह धरी अस्थूल ।
पार ब्रह्मको ना चढ़ै, वास विहूना फूल ॥ १६ ॥

सेमर वृक्षके सदृश यदि ऊँच कुल में सुन्दर शरीर भी धारण किया तो क्या ? जैसे खुशबू रहित सेमरादिका पुष्प प्रभु को नहीं चढ़ता तैसे ये मनुष्य भी विनय, शील गुण बिना व्यर्थ हैं ॥ १६ ॥

ऊँचे कुल नीचा मता, नाहीं हरि सों हेत ।
हीन गिनैं हरि भक्त को, खासी खता अनेक ॥ २० ॥

ऊँच कुलमें जन्म लेकर भी जिसकी बुद्धि नीच है और प्रभुसे प्रेम नहीं। हरिभक्तों को नीच समझता है । ऐसे अनेकों साफ अपराध करने वाला है ॥ २० ॥

ऊँचै कुल के कारनै, भूलि रहा संसार ।
तब कुल की क्या लाज है, जब तन होगा छार ॥ २१ ॥

उच्च खानदान होने के सबब मारे अभिमान के संसार में भूल रहा है। उस वक्त कौन कुल की लज्जा रहेगी जब शरीर खाक में मिल जायगा ॥ २१ ॥

ऊँचै कुल की कामिनी, भजै न सारंग पान।
कुलहि लजावन औतरी, सूधी सापनि जान ॥ २२ ॥

जो पर्देनशीन होनेसे उच्च कुलकी स्त्रियाँ लज्जाके मारे भगवान्‌को नहीं भजतीं। वह मानों कुलको कलंकित करनेके वास्ते ही अवतार ली हैं उसे सूधि सर्पिणी ही जानो ॥ २२ ॥

कबीर ऊँची नाक को, ऐंठत है संसार।
जाते हरि हाथी किया, नाक दिया गज चार ॥ २३ ॥

ऐ कबीर ! संसार में ब्राह्मण आदि ऊंची नाक को ऐंठते यानी बड़ेपन का अभिमान करते हैं। इसी से भगवान ने उन्हें दूसरे जन्म में हाथी बनाके चार गजकी नाक दी है ॥ २३ ॥

हाथी चढ़ि के जो फिरै, ऊपर चँवर ढुराय।
लोग कहैं सुख भोगवै, सीधे दोजख जाय ॥ २४ ॥

मोह वश जो अभिमान रूप हस्ती पर सवार हो के ऊपर से चँवर ढुरवाते अर्थात् सब पर हुकूमत चलाते हैं। यद्यपि लोग उन्हें सुख भोगी कहते हैं तथापि विचार दृष्टि से वे सीधे अहंकार वश नरक जा रहे हैं ॥ २४ ॥

कबीर हरि जाना नहीं, जाना कुल परिवार।
गदहा ह्वै करि औतरै, भाँड़ा लादि कुम्हार ॥ २५ ॥

ऐ कबीर !जो प्रभु को न जानकर कुल परिवार में ही आसक्त रहा। वह गदहा योनिको प्राप्त हो कुम्हारका वर्त्तन ढोते जन्म गमाया ॥२५॥

ऊँचा देखि न राचिये, ऊँचा पेड़ खजूर।
पंखि न बैठे छाँयड़े, फल लागा पै दूर ॥ २६ ॥

ऊंचा देख अनुरक्त मत हो, ऊंचा तो खजूर का वृक्ष है। न उसकी छायामें पक्षी बैठता न ऊंचाईके कारण किसीको फलही प्राप्त होता है।

ऊँचै पानी ना टिकै, नीचै ही ठहराय।
नीचा ह्वै सो भरि पिये, ऊँच पियासा जाय ॥ २७ ॥

ऊंचे भीटा पर पानी नहीं टिकता, नीची जमीन में ठहरता है। जो नीचा होता है वह भर कर पीता है, ऊँच निवासी प्यासे जाता है ॥२७

नर मूरख ते खर भला, जिहि मुख नाही राम।
सुकुन बतावै और को, पंथ चलंता गाम ॥ २८ ॥

उस मनुष्य से गदहा अच्छा है। जिसके मुख से राम का नाम नहीं उच्चारण होता है। क्योंकि गदहा तो दूसरे मुसाफिरों को शकुन भी बतलाता है ॥२८॥

प्रभुता को सब कोइ भजै, प्रभुको भजै न कोय।
कहैं कबीर प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ॥ २९ ॥

शक्ति की पूजा सब कोई करते हैं प्रभु की कोई नहीं। कबीर गुरु कहते हैं यदि प्रभु को भजे तो प्रभुता स्वयं दासी बन जाय ॥ २९ ॥

लघुता में प्रभुता बसै, प्रभुता से प्रभु दूर।
कीड़ी सो मिसरी चुगै, हाथी के सिर धूर ॥ ३० ॥

लघुतामें बड़ी शक्ति रहती है। प्रभुतासे प्रभु बहुत दूर रहते हैं, देखो, चींटी तो मिश्री चुंगती और हाथी शिर पर धूल डालता है ॥ ३० ॥

जौन मिला सो गुरु मिला, चेला मिला न कोय।
चेला को चेला मिलै, तब कछु ह्वै तो होय ॥ ३१ ॥

अभिमानी बहुतेरे मिलते हैं, विनयावनत शिष्य कोई नहीं। जब गुण ग्राहीको गुण ग्राही मिलता है तबही कार्य सिद्धिकी सम्भावना होती है ॥

बड़ा बड़ाई ना करै, छोटा बहु इतराय।
ज्यों प्यादा [1]फरजी भया, टेढ़ा टेढ़ा जाय ॥ ३२ ॥

बड़े पुरुष अपनी प्रशंसा कभी नहीं करते। छोटे, बड़े घमण्डी होते

१—शतरज के खेल में वजीरकी चाल टेढ़ी और सिपाहीकी सीधी होती है। जब वजीर के घर में जानेसे सिपाही वजीर को मारकर वजीर बन जाता है तब वह सीधी चाल बदलकर टेढ़ी चाल चलने लगता है। यही नीचों का स्वभाव है।

हैं। जैसे सिपाही जब वजीर हो जाता है तब मारे अभिमान के टेढ़े २ चलता है ॥ ३२ ॥

बक ध्यानी ज्ञानी घने, अरथी मिले अनेक।
मान रहित कबीर कहैं, सो लाखन में एक ॥ ३३ ॥

बगुले की तरह ध्यान लगाने वाले ध्यानी और द्रव्य के लिए ज्ञान कथने वाले ज्ञानी बहुनेरे मिलते हैं। परन्तु कबीर गुरु कहते हैं कि जो अभिमान रहित हैं वह कोई लाखों में एक है ॥ ३३ ॥

भक्त रु भगवत एक है, बूझत नहीं अजान।
सीस नवाँवत संत को, बड़ा करै अभिमान ॥ ३४ ॥

भगवान् और भक्त एक ही हैं इस भेद को गँवार नहीं समझता। अतः सन्तोंको नमस्कार करने में भी बड़ा अभिमान करता है ॥ ३४ ॥

लेने को हरिनाम है, देने को अँनदान।
तरने को है दीनता, बूड़न को अभिमान ॥ ३५ ॥

लेनेके लिये प्रभु का नाम और देने के लिये अन्नका दान है। ऐसे संसार से उद्धार के लिये दीनता और डूबने के लिए अभिमान है ॥३५॥

इति श्री मान को अङ्ग ॥ ६७ ॥

अथ आशातृष्णाको अंग ॥६८॥

आसा तो गुरुदेव की, दूजी आस निरास।
पानी में घर मीन का, सो क्यौं मरै पियास ॥ १ ॥

दूसरी आशाओं से निराश होना पड़ता है और गुरूदेव की आशा

अवश्य पूर्ण होती है। क्योंकि जल में रहने वाली मछली कभी प्यासे नहीं मर सकती ॥ १ ॥

आस एक गुरुनाम की, दूजी आस निवार।
दूजी आसा मारसी, ज्यों चौपर की सार ॥ २ ॥

दूसरी आशाओंको छोड़कर एक गुरु नाम ही की आशा रक्खो। दूसरी आशा ऐसे दाँव पाकर मारेगी जैसे चौपड़ की गोटी ॥ २ ॥

आसा एक हि नामकी, जुग जुग पुरवै आस।
ज्यों पंडल कोरो रहै, बसै जु चन्दन पास ॥ ३ ॥

केवल एक गुरुनामका ही सहारा सर्वदा सर्व मनोरथों को पूर्ण कर सकता है। अन्य नहीं, जैसे पण्डल वृक्ष चन्दन के पास रहने पर भी ज्यों का त्यों कोराही रह जाता है ॥ ३ ॥

आसा जीवै जग मरै, लोग मरै मरि जाँहि।
धन संचै ते भी मरै, उबरै सो धन खाहि ॥ ४ ॥

संसारमें मनुष्य मर जाते हैं किन्तु सांसारिक आशा, तृष्णा नहीं मरती। और जो धन संग्रह करते हैं, वे भी मरते हैं, जीने वाले उसे भोगते हैं ॥ ४ ॥

आस बास जग फंदिया, रहै उरध लपटाय।
नाम आस पूरन करै, सकल आस मिटि जाय ॥ ५ ॥

आशा, वासना फाँसमें जगज्जीव सब फँसके उँधे लटक रहे हैं यदि उन्हें सांसारिक आशायें सब छूट जायँ तो गुरु का नाम सर्व आशाओं को पूर्ण कर देवें ॥ ५ ॥

आसा बेलि करम बन, गरजै मन के साथ।
तृस्ना फूल चौगान में, फल करता के हाथ ॥ ६ ॥

कर्म रूपी बनमें आशा रूपी लता मन रूपी हस्ती के साथ में खूब गरज (फैल) रही है। और तृष्णा रूपी पुष्प भी मैदान में खूब खिले है परन्तु फल उसका मालिक के हाथ में है कि बिना मालिक ये प्रेम किये वह फल पा नहीं सकता ॥ ६ ॥

आसा तृस्ना सिंधु गति, तहाँ न मन ठहराय ।
जो कोइ आसा में फँसा, लहर तमाचा खाय ॥ ७ ॥

आशा, तृष्णा समुद्र की धारा है, तहाँ मन स्थिर नहीं होता। जो कोई आशा समुद्रमें फँसता है वह लहर रूपी तमाचा खूब खाता है ॥७

आसा तृस्ना दो नदी, तहाँ न मन ठहराय ।
इन दोनों को लंघ करि, चौड़े बैठे जाय ॥ ८ ॥

आशा और तृष्णा ये दोनों प्रवाही नदी हैं तहाँ मन स्थिर नहीं रहता। इस वास्ते इन दोनों को पार कर निरालम्ब स्वरूप में जाके स्थिति करे ॥८॥

चौड़े बैठे जाय के, नाँव धरा रनजीत ।
साहेब न्यारा देखिया, अन्तर गति की प्रीत ॥ ९ ॥

जो चौड़े निरालम्ब स्वरूप में जाके स्थिति करेगा वही रण विजयी नाम धरायगा। और आभ्यन्तर के प्रेम से मालिक को निराला देखा व देखेगा ॥९॥

आसा तरकस बाँधिया, नै नै गये सुजान ।
घने पखेरू मारिया, झाँझरि जोरि कमान ॥ १० ॥

आशारूपी भाथाको बाँधके बहुतेरे सुजान झुक २ के चले गये। और इस आशारूपी पुराने कामानसे घने नरजीव रूप पखेरू मारे गये ॥१०॥

आसा को ईंधन करूँ, मनसा करूँ भभूत ।
जोगी फिरि फेरी करूँ, यौं बनि आवै सूत ॥ ११ ॥

अतः आशाको ईंधन करके मनोरथको भभूत बना लूं। और अंगमें भस्म रमाके योगी बन जाऊं फिर फेरी लगाया करूं यदि इस प्रकार भी कार्य सिद्ध हो जाय ॥११॥

कबीर जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस ।
जो जगकी आसा करै, जगत गुरू वह दास ॥ १२ ॥

ऐ कबीर ! योगी तब ही संसारका गुरु हो सकता है जब यह जगत

की आशा छोड़ दे। यदि जगत् की आशा करेगा तब तो वह दास बन जायगा और जगत लोग गुरु हो जायंगे ॥१२॥

जोगी ह्वै जग जीतता, बहिरत है संसार।
एक अँदेशा रहि गया, पछै पीड़ा अहार ॥ १३ ॥

योगी बन जगतको जीतके संसारमें निर्द्वन्द्व विचरा करता। लेकिन एक ही अन्देशा लगा रहता है कि पेट आहार पीछे पड़ा है अथवा योगी होकर जगत जीतनेके लिये संसारसे निकलते हैं किन्तु पेट पापी का आहार जो पीछे लगा है, जीतने नहीं देता ॥१३॥

बहुत पसारा जनि करै, कर थोड़ै की आस।
बहुत पसारा जिन किया, तेई गये निरास ॥ १४ ॥

अधिक उपाधि मत करो थोड़ेहीमें सन्तोष करलो 'यथालाभसन्तुष्टः' जिसने अधिक उपाधि बढ़ाई वे सबसे निराश होके चल पड़े ॥१४॥

आसन मारे कह भयो, मरी न मनकी आस।
तेली केरे बैल ज्यौं, घरही कोस पचास ॥ १५ ॥

यदि मनकी आशा तृष्णा न मरी तो आसन मारने हीसे क्या हुआ जैसे तेलीके बैल दरही पचासों कोसके चक्कर खाया करता है ॥१५॥

सब आसन आसा तनै, निबरत कोई नाँहि।
निवृत्ति को जानै नहीं, प्रवृत्ति प्रपंचहि माँहि ॥ १६ ॥

यदि सांसारिक तृष्णाओंसे मनकी निवृत्ति नहीं है तो, स्वस्तिक, मयूरादि चौरासी आसन सब पैसाके वास्ते है। निवृत्ति मार्गको वे कुछ नहीं जानते सम्पूर्ण समय उनका प्रवृत्ति प्रपंचमें ही जाता है ॥१६॥

बाढ़ चढ़न्ती बेलरी, उरझी आसा फन्द।
टूटै पर जूटै नहीं, भई जो वाचा बंध ॥ १७ ॥

शम दमादि बाढ़ पर चढ़ती हुई वृत्ति रूपी लता जब मायिक आशा फाँस में फंस जाती है तब टूट जाती है पर पुनः शमादि में नहीं जूटती, क्योंकि चित्स्वरूप की ओर से उसकी वाचाबन्ध अर्थात् वह मुर्दा हो गई है ॥१७॥

कबीर जग को कह कहूं, भौजल बूड़े दास ।
सतगुरु सम पति छाँड़िके, करै मनुष की आस ॥ १८ ॥

ऐ कबीर जगज्जीवोंको क्या कहूँ जब कि आशा रूप भवसिन्धुमें भगवान भक्त भी गोता खा रहे हैं। सद्गुरु सदृश स्वामीको छोड़के प्राकृत मनुष्यकी आशा कर रहे हैं ॥१८॥

आस आस घर घर फिरै, सहै दुखारी चोट ।
कहैं कबिर भरमत फिरै, ज्यौं चौसर की गोट ॥ १९ ॥

"आशके वश भटकत डोलें निशि वासर झख मारी। छल प्रपंच कपट फैलावत उमर गमाई सारी" इत्यादि के अनुसार आशा लगा के घर २ फेरी देते हैं और दुखदाई दुर्वचन ठोकर खाया करते हैं। और ऐसे भ्रमण किया करते हैं जैसे चौसर की गोटी ॥१९॥

आसा तो गुरुदेव की, और गले की फाँस।
चंदन ढिग चंदन भये, देखौ आक पलास ॥ २० ॥

सद्गुरु देवकी आशाके सिवा और सब गलेकी फाँसी है। देख लो, चन्दनके समीप आक, पलास भी चन्दन हो गये ॥२०॥

कबीर सो धन संचिये, जो आगे को होय ।
सीस चढ़ाये गाठरी, जात न देखा कोय ॥ २१ ॥

ऐ कबीर ! उस धनको संग्रह करो जो आगे मुक्ति राहका संमल हो। मायिक धनकी गठरी तो शिरपर लेके जाते किसीको भी नहीं देखा है ॥

रामहि छोटा जानि के, दुनिया आगे दीन ।
जीवन को राजा कहै, तृस्ना के आधीन ॥ २२ ॥

ए नरजीव ! रामका भरोसा भारी है उसे छोटा समझके दुनियाके आगे क्यों दीन होता है ? तृष्णा के अधीन होके प्राकृत नरजीवों को भी राजा मानता है ॥२२॥

कबीर तृस्ना पापिनी, तासों प्रीति न जोर ।
पैंड़ पैंड़ पाछै पड़ै, लागै मोटी खोर ॥ २३ ॥

ऐ कबीर ! तृष्णा बड़ी डाँकिनी है, उससे प्रेम कभी मत जोड़। वह पग २ में पीछे पड़ेगी और उसके चलते फिर बड़ीसे बड़ी बुराइयाँ होने लगेंगी ॥२३॥

तृस्ना सींची ना बुझै, दिन दिन बढ़ती जाय।
जावासा का रूख ज्यौं, घन मेहा कुम्हिलाय ॥ २४ ॥

जैसे जवासाका पेड़ वर्षा जलसे सुख जाता है। तैसे तृष्णा लता द्रव्यादि रूप जल सेचनसे शान्त नहीं होती बल्कि और दिन दूनी बढ़ती जाती है यथा:—"नित प्रति लाभ लोभ अधिकाई" इत्यादि ॥२४॥

आस आस जग फंदिया, गले भरम की फाँस।
जन्म जन्म भरमत फिरै, तबहुँ न छूटी आस ॥ २५ ॥

संसारी लोगोंके गले में ऐसी भ्रम फाँसी लगी है कि हजारों आशा उलझनमें उलझे हैं। चौरासी लक्ष योनियोंका चक्कर खाया करते हैं फिरभी बिना स्वरूप ज्ञान आशा नहीं छूटती ॥२५॥

इति श्री आशा तृष्णाको अङ्ग ॥ ६८ ॥
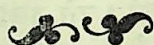
अथ कपटको अंग ॥ ६९ ॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत ॥ १ ॥

ऐ कबीर ! वहाँ मत जाओ जहाँ कपटी प्रीति है। जिसके तनमें तथा मनमें और है उसे मुख पर सफेदी लिये हुए अनारकी कली समझो ॥१॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ न चोखा चीत।
परपूटा औगुन घना, मुहड़े ऊपर मीत ॥ २ ॥

ऐ कबीर ! वहाँ हर्गिज न जाओ धोखा खा जावोगे जहाँ निर्मल चित्त नहीं है। और सिर्फ मुंहपरही मित्रता है पीठ पीछे घने अवगुण हैं॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ जु नाना भाव।
लागे ही फल ढहि पड़े, बाजै कोइ कुबाव॥ ३॥

ऐ कबीर ! वहाँ कभी मत जाओ जहाँ एक इष्ट देव का भाव नहीं है। अर्थात् एक से प्रेम नहीं है। जरा सा किसी कुभाव पवनके लगनेसे प्रेम फल बिखर पड़ेगा ॥३॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट को हेत।
नौ मन बीज जु बोय के, खालि रहिगा खेत॥ ४॥

ऐ कबीर ! जहाँ कपटका व्यवहार है वहाँ कभी मत जाओ। जैसे ऊसर खेत में बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है ऐसेही कपटी चित्तकी नौ मन बीज यानी नवधा-भक्ति भी विफल होती है ॥४॥

हेत प्रीति सों जो मिले, तासों मिलिये धाय।
अन्तर राखी जो मिलै, तासों मिलै बलाय॥ ५॥

जो आन्तरिक प्रेम से मिले उससे दौड़कर मिलो। और अन्तरमें कपट रक्खे उससे कदापि न मिलो। उसे बला जानके टाल दो ॥५॥

चितकपटी सबसों मिलै, माँहीं कुटिल कठोर।
इक दुरजन इक आरसी, आगै पीछै और॥ ६॥

कपटी लोग भीतर मनमें कठिन कुटिलता रखके केवल बाहरी प्रेम जाहिर करके सबसे मिलते हैं। दर्पण व दुर्जनका एकही स्वभाव होता है। इनके सामनेमें सफाई और पीठ पीछे मैला पना बुराई रहती है इसी कारण सफाई के वास्ते मुँह पर राख मला जाता है ॥६॥

दिलही पर जो दिल मिलै, तो दिल दगा न होय।
सो दिल कबहुँ न बीसरै, कोटि करै जो कोय॥ ७॥

जब शुद्ध हृदय वालोंसे शुद्ध हृदय मिलते हैं तब किसी प्रकारकी दगा नहीं होती। चाहे कोई करोड़ों उपाय करे परन्तु उनके परस्परके आन्तरिक प्रेम को नहीं भुला सकता ॥७॥

ढिकली का नमना कहा, यह ना बहुरै बीर।
पहिले चरनौं लागि के, पीछै सोखै नीर ॥ ८ ॥

ऐ बीर! ढिकुलीका झुकना क्या है? इसे भला न मानो यह खाली पीछे न फिरेगी। यह प्रथम नमस्कार करके पीछे जल शोषण करेगी यह नमन दुर्जनका है ॥८॥

नमन नँवा तो क्या हुआ, सूधा चित्त न ताहि।
पारधिया दूना नँवै, मिरगहि टूकै जाहि ॥ ९ ॥

यदि सीधा झुकही कर नमस्कार किया तो क्या? जबकि सरल चित्त नहीं है। यों तो मतलब साधने के लिये शिकारी दूना नमता है परन्तु उसके नमनेसे क्या? उलटे बेचारे मृगे मारे जाते हैं भला नहीं होता ॥

नमन नमन बहु अन्तरा, नमन नमन बहु बान।
ये तीनौं बहुतै नँवै, चीता चोर कमान ॥ १० ॥

झुकने झुकानेमें भी बहुत भेद और विचित्र आदत है। देखो, चीता, चोर और कमान ये तीनों बहुत ही नमते हैं परन्तु इनसे भलाई किसीकी नहीं होती ॥१०॥

केसूँ भँवर न बैठही, जो अति फूले फूल।
खार कपट हिरदै बसै, मधुकर तजै समूल ॥ ११ ॥

चाहे कितनेहू पलास फूल फूले परन्तु उसपर सद्गुण ग्राही भँवरा नहीं बैठ सकता। क्योंकि जिसके हृदय में क्षार-कपट रहता है उसे गुण-ग्राही समूल त्याग देते हैं ॥११॥

कहा बनावै बाहिरै, भीतरिया सों काम।
छानै छिप कै तूँ करै, सारा जानै राम ॥ १२ ॥

बाहिरी देखाओं से कुछ नहीं भीतर से मतलब है। तू बुराई कोने में छिपकर करता है परन्तु राम सब जान लेता है। यथा:-"दुनियाँ की दोनों आँखमें तो धूल डालते। आँखें हजार उसकी बचावोगे किस तरे" इति ॥१२॥

आगे दरपन ऊजला, पीछै विषम विकार।
आगै पीछे आरसी, क्यौं न पड़ै मुख छार ॥ १३ ॥

दर्पणके सामने साफ और पीछे बड़ा विकार रहता है। इसी कारण उसके मुखमें सफाईके लिये क्षार लगाया जाता है। आगे पीछे औरकी और करने वाले ऐसे कपटियोंके मुखमें धूल डालना उचितही है ॥१३॥

कपटी कधी न ऊधरे, सौ साधुन के संग।
मुंज पखालै गंग में, ज्यौं भीजै त्यौं तंग ॥ १४ ॥

चाहे सैकड़ों साधुओंका संग क्यों न किया करें, कपटी का उद्धार कदापि नहीं होता। क्योंकि मुञ्ज-शणकी डोरी चाहे गंगाही जल में क्यों न धुवो ज्यों २ धुवोगे त्यों २ और तंग ही होती जायगी ॥१४॥

कपटी मित्र न कीजिये, पेट पैठि बुधि लेत।
आगे राह दिखाय के, पोछै धक्का देत ॥ १५ ॥

कपटी दोस्त हर्गिज न करो पेट-भीतर पैठके बुद्धि हर लेगा। और आगे रास्ता धराके पीछेसे धक्का देगा यानी दगा करेगा ॥१५॥

कपटी के मन कपट है, साधू के मन राम।
कायर तो सब भगि चले, सूरा के मैदान ॥ १६ ॥

जैसे कपटी का मन कपट में लीन है तैसे ही सन्तोंका मन राम में। शूरों के मैदान से कायरों को भग जाना उचित ही है क्योंकि वहाँ वह क्या करेगा ॥१६॥

अंत कतरनी जीभ रस, नैनौं उपला नेह।
ताकी संगति रामजी, सपनेहू मत देह ॥ १७ ॥

कपटी नरकी जिह्वाही में अमृत है। भीतर तो विष भरा है नयनमें भी ऊपर २ का प्रेम है। ऐ प्रभु! ऐसोंकी संगति झूठ मूठ स्वप्न में भी मत दिखला ॥१७॥

हिये कतरनी जीभ रस, मुख बोलन का रंग।
आगे भल पीछे बुरा, ताको तजिये संग ॥ १८ ॥

जिसके हृदय में कपट कतरनी और जिह्वा में सुधा रस तथा केवल वचनों ही में आनन्दका रंग है। ऐसों का संग त्यागना ही अच्छा है जो सामनेमें भलाई और पीछे बुराई करने वाले हैं ॥१८॥

ऊजल बस्तर सिर जटा, एक चित्त सूँ ध्यान।
फूँकि फूँकि पाँव उठि धरै, तामें कपट निदान ॥ १९ ॥

जो बगुलेकी तरह सुफेद वस्त्र और सिर पर जटा तथा एकाग्र चित्त से ध्यान लगाये हों और फूंक २ कर चलते हों, ध्यान रक्खो, उनमें से कपट अन्तमें अवश्य निकलेगा ॥१९॥

सरस सखा ऊजल बरन, एक पगा सूँ ध्यान।
मैं जाना कुल हंस है, कपटी मिला निदान ॥ २० ॥

सारस के मित्र बगुलाको श्वेत वरण और एक पग पर ध्यान मग्न देखके मुझे हंस कुलका ज्ञान हुआ परन्तु संग करने से अन्त में कपटी बगुला निकला ॥२०॥

ज्ञानी नमि गुरु मुख नमै, नमै चतूर सुजान।
दगाबाज दूना नमै, चित्ता चोर कमान ॥ २१ ॥

ज्ञानी पुरुष, गुरु मुख भक्त तथा व्यवहार दक्ष मनुष्य भी नमस्कार करते हैं परन्तु इन सबसे दगावाज और चीता, चोर, कमान ये दूना नमते हैं। इनके द्विगुण नमनाही दूसरा भाव प्रकट करता है। ऐसे नमस्कारसे मनुष्यको होशियार रहना चाहिये ॥२१॥

इति श्री कपटको अङ्ग ॥ ६९ ॥

अथ दुखको अङ्ग ॥ ७० ॥

जा दिन ते जिव जनमिया, कबहुँ न पाया सूख।
डालै डालै मैं फिरा, पातै पातै दूख ॥ १ ॥

जिस दिनसे जीव जन्म लिया, सुख कभी न पाया। त्रिविधि दुःखों के मारे मैं जिस शाखा की शरण लेता हूँ दुःख वहाँ पत्ते पत्ते में हाजिर रहता है ॥१॥

कबीर सुख कूँ जाय था, बिचमें मिलि गया दुख।
सुख जाहू घर आपने, मैं अरु मेरा दुःख ॥ २ ॥

ऐ कबीर! सुख भोग के वास्ते जा रहा था कि बीचहीमें दुःख मिल गया। बस! ऐ सुख तू अपने घर चला जा, अब तो मैं और मेरा दुःख दोनों संगी हो गये ॥२॥

सुखिया ढूँढ़त मैं फिरूँ, सुखिया मिलै न कोय।
जाके आगे दुख कहूं, पहिले ऊठै रोय ॥ ३ ॥

मैं सुखियाको ढूंढ़ते फिरता हूँ पर कोई सुखिया नहीं मिलता। जिसके आगे दुःख कहता हूँ वह मारे दुखके प्रथमही चिल्ला उठता है ॥

जाके आगे इक कहूं, सो कहवै इक्कीस।
एक एक ते दाझिया, कहाँ ते काढूँ बीस ॥ ४ ॥

जिसके आगे मैं एक दुःख कहता हूँ वह एकैस (२१) कहता है। भला बताइये, एक एक से तो सब जल रहे हैं अब मैं उसके बीस कैसे निकालूं ॥४॥

विष का खेत जु खेड़िया, विष का बोरा झाड़।
फल लागे अंगार से, दुखिया के गलहार ॥ ५ ॥

जोत हेंगाकर संसाररूप विषका खेत तैयार किया और विष-वृक्षका

बीज बोया और उसमें त्रिविध तापरूप फल लगे जो दुखियों के गलेका हार हुआ ॥५॥

झल बायें झल दाहिने, झलही में व्यवहार ।
आगे पीछे झलहि है, राखै सिरजन हार ॥ ६ ॥

दहिने, बायें ज्वालाही ज्वाला है और उसीमें व्यवहार हो रहा है । आगे पीछे जहाँ देखो तहाँ त्रिविध तापाग्नि लहक रही है प्रभु समर्थ रखनेवाले हैं दूसरे का क्या वश ? ॥६॥

मैं रोऊँ संसार कूँ, मुझै न रोवै कोय ।
मुझको रोवै सो जना, राम सनेही होय ॥ ७ ॥

मैं संसारकी स्थिति देखकर रोता हूँ पर मेरी ओर किसीका ध्यान नहीं । मेरे लिये वही रोता है जो राम स्नेही है ॥७॥

संख समूँदा बीछुरा, लोग कहैं बाजन्त ।
प्रीतम आपन कारनै, घर घर धाह दयन्त ॥ ८ ॥

शंख बेचारेका तो जीवन स्थान समुद्र छूट गया इसलिए चीख मारता है और लोग कहते हैं कि खूब बजता है । क्या करे, अपने स्वामीके वास्ते घर घर गोहार कर रहा है ॥८॥

करनि विचारी क्या करै, हरि नहिं होय सहाय ।
जिहि जिहि डाली पग धरूँ, सो सो नमि नमि जाय ॥ ९ ॥

मालिक की सहायता बिना करनी बेचारी क्या करे ? जिस जिस डाली पर पग धरता हूँ, झुक झुक जाती है अर्थात् भाग्य बिना उद्योग सब निष्फल होते हैं ॥९॥

सात दीप नौ खण्ड में, तीन लोक ब्रह्मण्ड ।
कहैं कबीर सबको लगै, देह धरै का दंड ॥ १० ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि ब्रह्माण्ड के सात द्वीप, नौ खण्ड और तीनों लोकमें शरीर धरेका दण्ड सबको लगे व लगते हैं ॥१०॥

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, अज्ञानी भुगतै रोय ॥ ११ ॥

क्योंकि देह धरेका दण्ड सबही को होता है। उसे ज्ञानी पुरुष ज्ञान से और अज्ञानी लोग रोके भुगतते हैं।.११॥

भूप दुखी अवधूत दुखी, दुखी रंक विपरीत।
कहैं कबीर ये सब दुखी, सुखी संत मन जीत ॥ १२ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि संसारमें मनके वशीभूत भूप और अवधूत तथा दरिद्र व धनी सबही दुखी हैं। केवल जिसने मन को जीता बस! वे ही सन्त सुखी हैं ॥१२॥

बासर सुखनहिं रैन सुख, ना सुख धूप न छाँह।
कै सुख सरनै राम कै, कै सुख सन्तों माँह ॥ १३ ॥

न तो सुख दिनमें है न रातमें और न तपरूप धूप में न योगरूप छाया में। सुख तो रामकी शरण या सन्तों के सत्संग में है अन्यत्र कहीं नहीं ॥

स्वर्ग मृत्यु पाताल में, पूर तीन सुख नाँहि।
सुख साहिब के भजन में, अरु संतन के माँहि ॥ १४ ॥

स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीनों पुरी में सुख नहीं। सुख केवल सद्गुरु के भजन और सन्तों के सत्संग में है ॥१४॥

संपति देखि न हरषिये, विपति देखि मत रोय।
संपति है तहाँ विपति है, करता करै सो होय ॥ १५ ॥

चंचला सम्पत्तिको देखके हर्ष मत बढ़ाओ और आपत्ति देखके कभी रोवो मत। क्योंकि जहाँ सम्पत्ति वहाँ विपत्तिका होना स्वभाव है यह सब मालिकका खेल है जहाँ जल तहाँ कीचड़ होता है ॥१५॥

संपति तो हरि मिलन है, विपति जुराम वियोग।
संपति विपति राम कहू, आन कहै सब लोग ॥ १६ ॥

हरि दर्शन सम्पत्ति और रामका वियोग यही विपत्ति है। अज्ञानी लोग औरकी कल्पना करते हैं तो करने दो, तुम दोनों अवसर पर राम का नाम लो ॥१६॥

लछमी कहैं मैं नित नवी, किसकी न पूरी आस।
किते सिंहासन चढ़ि चले, कितने गये निरास ॥ १७ ॥

लक्ष्मी कहती है मैं नित नई हूं, मैं किसकी आशा पूरी नहीं की ? अर्थात् सबकी पूरी की। देखो कितने तो सिंहासन पर चढ़के चले और कितने निराश होके। आखीर चले सबही ॥१७॥

दुख नहिं था संसार में, नहिं था सोग वियोग।
सुख ही में दुख लादिया, बोली बोले लोग ॥ १८ ॥

अनादि संसार में दुःख न था न है। न यह किसीके शोकका हेतु है न वियोगका। स्त्री, पुत्रादिरूप मनोमय सृष्टि रचके उसीमें सुख बुद्धिसे दुःख भी भोग रहे हैं अज्ञानी लोग बिना समझे और की और कल्पना कर रहे हैं उन्हें क्या कहा जाये ॥१८॥

इति श्री दुखको अङ्ग ॥ ७० ॥
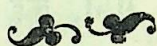
अथ कर्मको अङ्ग ॥ ७१ ॥

करम कचोई आतमा, निज कनखाया सोधि।
अंकुर बिना न ऊगसी, भावै ज्यौं परमोधि ॥ १ ॥

जैसे घुन खाया हुआ कन (दाना) बोने से अंकुर बिना नहीं जमता तैसेही कर्मरूपी कचोई जब आत्माको एकदम छा जाती है तब चाहे जिस तरह उसे प्रबोध करो पर वह ज्ञानकी ओर ध्यानही नहीं देता तो समझे कैसे ॥१॥

मोह कुटी में जलि मुआ, करम किवाड़ी बारि।
कोइ एक हरिजन ऊबरा, भागा राम पुकारि ॥ २ ॥

गुरु सत्संग विमुख लोग मोह रूपी कुटिया में कर्म किवाँड़ी लगाके अन्दर ही जल मरे। कोई एक हरिजन उससे भागके बचा जो राम को पुकारा ॥२॥

काया खेत किसान मन, पाप पुन्न दो बीव।
बोया लूनै आपना, काया कसकै जीव ॥ ३ ॥

काया रूप खेत है और मन किसान है, तथा शुभाशुभ कर्म दो बीज हैं। जो जीव जैसा बीज काया खेत में बोता है वैसा फल काटता है ॥३

काला मुँह करूँ करम का, आदर लावूँ आग।
लोभ बड़ाई छाँड़ि के, राचो गुरु के राग ॥ ४ ॥

यदि कर पाऊँ तो कर्मका मुँह काला करके सत्कारमें आग लगा दूँ। और लालच प्रतिष्ठाको विष्ठावत त्यागके सद्गुरु केही राग अलापूँ ॥४॥

जीव करम में जलि गया, कहै कहाँ ते राम।
कंचन जला कथीर में, जाको ठौर न ठाम ॥ ५ ॥

सकाम कर्मके वशमें पड़के जीव ऐसे जल मरा, जैसे कथीर के संग कंचन। जिसका कहीं स्थिति नहीं वह राम कहाँसे कहै ।५॥

भरम करम का जेवरी, बल बंधा संसार।
वे क्यौं छूटे बापुरे, जो बाँधे करतार ॥ ६ ॥

भ्रम, कर्मकी रस्सीसे संसारी लोग खूब मजबूत बँधा गये है। वो वेचारे कैसे छूटें जिन्हें खास कर्म-करीमाने ही बाँध रक्खा है ॥६॥

कबीर सजड़ै ही जड़ा, झूठा मोह अपार।
अनेक लुहारे पचि मुये, उघड़त नहीं लगार ॥ ७ ॥

ऐ कबीर ! कुसंगी लोग ऐसे अथाह मिथ्या मोहमें दृढ़ बन्धाये हैं कि अनेकों लुहार रूप उपदेशक थक गये पर जरा सा भी नहीं खुले न खुलते हैं ॥७॥

कबीर चंदन पर जला, तीतर बैठा माँहि।
हमतो दाझत पंख बिन, तुम दाझत हो काहि ॥ ८ ॥

कबीर कमाई आपनी, कबहु न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़े, मिले अगाड़ी आय ॥ ९ ॥

ऐ कबीर ! चन्दन वृक्षमें अग्नि लग गई और जलने लगा, उसपर भाग्य हत कोई तोतर पक्षी भी बैठे २ जल रहा था। चन्दनने कहा भाई तुम क्यों जलते हो ? मैं तो पक्ष बिना जल रहा हूँ। तोतरने उत्तर दिया कि अपना कर्तव्य भोगे बिना नष्ट नहीं होता चाहे सात समुद्रकी आड़ क्यों न हो वह जहाँ का भोग तहाँ आगे ही उपस्थित रहता है ॥८॥९॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते होय ॥ १० ॥

जो दुखदाई बुरा कर्म करता है वह सुख भोग कैसे पायगा ? कदापि नहीं। जो बबूरका वृक्ष लगायगा वह आम्र फल हर्गिज न पायगा ॥१०॥

पूरब का रवि पश्चिमै, गर जो उगै प्रभात।
लिखा मिटै नहिं करमका, लिखा जु हरिके हाथ ॥ ११ ॥

चाहे पूर्वका सूर्य सबेरे पश्चिम में क्यों न उदय हो जाय। किन्तु मालिकके हाथों लिखा हुआ कर्म रेखा भोगे बिना नहीं मिट सकती ।११

बूँद पड़ी जा पलक में, उस दिन लिखिया लेख।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूट अनेक ॥ १२ ॥

जिस समय पिताका वीर्य माताके गर्भाशय में पड़ा उसी दिन कर्म भोग लिख गया। अब कोई कितना ही शिर क्यों न पटके उसमें से न मासा भर घट सकता न तिल भर बढ़ सकता है ॥१२॥

जहँ यह जियरा पगु धरै, बखत बराबर साथ।
जो है लिखा नसीब में, चलै न अविचल बात ॥ १३ ॥

यह जीव जहाँ कहीं जाय, इसका नसीब बराबर साथ में रहता है। नसीबका लेख अचल है वह टल नहीं सकता ॥१३॥

जाको जित (ना) निर्मान किय, ताको तितना होय।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटो कोय ॥ १४ ॥

गुरु सत्संग विमुख लोग मोह रूपी कुटिया में कर्म किवाँड़ी लगाके अन्दर ही जल मरे। कोई एक हरिजन उससे भागके बचा जो राम को पुकारा ॥२॥

काया खेत किसान मन, पाप पुन्न दो बीव।
बोया लूनै आपना, काया कसकै जीव ॥ ३ ॥

काया रूप खेत है और मन किसान है, तथा शुभाशुभ कर्म दो बीज हैं। जो जीव जैसा बीज काया खेत में बोता है वैसा फल काटता है ॥३

काला मुँह करूँ करम का, आदर लावूँ आग।
लोभ बड़ाई छाँडि के, राचो गुरु के राग ॥ ४ ॥

यदि कर पाऊँ तो कर्मका मुँह काला करके सत्कारमें आग लगा दूं। और लालच प्रतिष्ठाको विष्ठावत त्यागके सद्गुरु केही राग अलापूँ ॥४॥

जीव करम में जलि गया, कहै कहाँ ते राम।
कंचन जला कथीर में, जाको ठौर न ठाम ॥ ५ ॥

सकाम कर्मके वशमें पड़के जीव ऐसे जल मरा, जैसे कथीर के संग कंचन। जिसका कहीं स्थिति नहीं वह राम कहाँसे कहै ॥५॥

भरम करम का जेवरी, बल बंधा संसार।
ते क्यों छूटे बापुरे, जो बाँधे करतार ॥ ६ ॥

भ्रम, कर्मकी रस्सीसे संसारी लोग खूब मजबूत बँधा गये है। वो वेचारे कैसे छूटें जिन्हें खास कर्म-करीमाने ही बाँध रक्खा है ॥६॥

कबीर सजड़े ही जड़ा, झूठा मोह अपार।
अनेक लुहारे पचि मुये, उझड़त नहीं लगार ॥ ७ ॥

ऐ कबीर ! कुसंगी लोग ऐसे अथाह मिथ्या मोहमें दृढ़ बन्धाये हैं कि अनेकों लुहार रूप उपदेशक थक गये पर जरा सा भी नहीं खुले न खुलते हैं ॥७॥

कबीर चंदन पर जला, तीतर बैठा माँहि।
हमतो दाझत पंख बिन, तुम दाझत हो काहि ॥ ८ ॥

कबीर कमाई आपनी, कबहु न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़े, मिले अगाड़ी आय ॥ ९ ॥

ऐ कबीर ! चन्दन वृक्षमें अग्नि लग गई और जलने लगा, उसपर भाग्य हत कोई तीतर पक्षी भी बैठे २ जल रहा था। चन्दनने कहा भाई तुम क्यों जलते हो ? मैं तो पक्ष बिना जल रहा हूं। तीतरने उत्तर दिया कि अपना कर्तव्य भोगे बिना नष्ट नहीं होता चाहे सात समुद्रकी आड़ क्यों न हो वह जहाँ का भोग तहाँ आगे ही उपस्थित रहता है ॥८॥९॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते होय ॥ १० ॥

जो दुखदाई बुरा कर्म करता है वह सुख भोग कैसे पायगा ? कदापि नहीं। जो बबूरका वृक्ष लगायगा वह आम्र फल हर्गिज न पायगा ॥१०॥

पूरब का रवि पश्चिमै, गर जो उगै प्रभात।
लिखा मिटै नहिं करमका, लिखा जु हरिके हाथ ॥ ११ ॥

चाहे पूर्वका सूर्य सबेरे पश्चिम में क्यों न उदय हो जाय। किन्तु मालिकके हाथों लिखा हुआ कर्म रेखा भोगे बिना नहीं मिट सकती ।११

बूँद पड़ी जा पलक में, उस दिन लिखिया लेख।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूट अनेक ॥ १२ ॥

जिस समय पिताका वीर्य माताके गर्भाशय में पड़ा उसी दिन कर्म भोग लिख गया। अब कोई कितना ही शिर क्यों न पटके उसमें से न मासा भर घट सकता न तिल भर बढ़ सकता है ॥१२॥

जहँ यह जियरा पगु धरै, बखत बराबर साथ।
जो है लिखा नसीब में, चलै न अविचल बात ॥ १३ ॥

यह जीव जहाँ कहीं जाय, इसका नसीब बराबर साथ में रहता है। नसीबका लेख अचल है वह टल नहीं सकता ॥१३॥

जाको जित (ना) निर्मान किय, ताको तितना होय।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटै कोय ॥ १४ ॥

जिसको जितना कर्म भोग निर्माण हो चुका है उतनेही उसे मिलता है। चाहे कोई शिर क्यों न फोड़े, उसमें मासा व तिल भरभी कमी बेसी नहीं हो सकती ॥१४॥

परारब्ध पहिले बना, पीछै बना सरीर।
कबीर अचंभा है यही, मन नहिं बाँधे धीर॥ १५ ॥

यद्यपि प्रारब्ध भोग शरीर निर्माणके प्रथम ही तैयार हो जाता है। तथापि ऐ कबीर ! मन धैर्य नहीं धरता यही भारी आश्चर्य है ॥१५॥

कबीर रेखा करम की, कबहु न मिटिहै राम।
मेटनहार समर्थ है, समझि किया है काम ॥ १६ ॥

ऐ कबीर ! कर्म रेखा राम भी कभी नहीं मेट सकते। क्योंकि मेटने वाले समर्थ हैं बड़ी समझके साथ काम (रेखा) किये हैं॥१६॥

कबीर घट में राम है, रजक मौत जिव साथ।
कहा जु चारा मनुष का, कलम धनी के हाथ॥ १७॥

ऐ कबीर! राम घट २ में रमा है, जीविका और मौत जीवके साथ है इसमें मनुष्यका क्या वश है ! जबकि लेखनी मालिक के हाथमें है ॥१७॥

बखत कहो या करम कहु, नसिब कहो निरधार।
सहस नाम है करम के, मनही सिरजनहार॥ १८ ॥

समय कर्म या नसीब चाहे जिस नामसे निश्चय कर पुकार लो। हजारों कर्म के नाम हैं, कर्त्ता मन ही है ॥१८॥

बाहिर सुख दुख देन को, हुकुम करै मन माँय।
जब ऊठे मन बखतको, बाहिर रूप धरि आय॥ १९ ॥

बाहर सुख दुख देनेको भीतर हीसे मन हुक्म किया करता है। जब नसीबके अनुसार भोग उपस्थित होता है तब मन या नसीब अपना स्वरूप धारण करके आता है ॥१९॥

बखत बलै भौजल तिरै, निर्बल भया विकार।
यह सब किया नसीबका, रह निश्चय निरधार॥ २० ॥

समयके परिवर्तन से विकार (दुष्कर्मं) सब दुर्बल हो जाता है। और मनुष्य भवसिन्धुको तर जाता है। ये सब भाग्यका चक्र है निश्चय कर मान लो ॥२०॥

करम आपना परखि ले, मन नहिं कीजै रीस।
हरि लिखिया सोइ पाइये, पाथर फोड़ै सीस ॥ २१ ॥

यदि कोई आपत्ति का सामना हो तो अपने भाग्यकी परीक्षा करो, मनमें क्रोध मत करो। जो प्रभुने निर्माण किया है वही होगा चाहे कोई पत्थरसे शिर क्यों न फोड़े ॥२१॥

कीन्हे बिना उपाय कछु, देव कबहु नहिं देत।
खेत बीज बोवै नहीं, तो क्यों जामै खेत ॥ २२ ॥

स्वयं कोई उद्योग किये बिना देव कभी कुछ नहीं देता। यदि कोई खेतमें बीज नहीं बोवे तो खेत क्यों जमने लगा ? ॥२२॥

दुख लैने जावै नहीं, आवै आचा बूच।
सुख का पहरा होयगा, दूख करेगा कूच ॥ २३ ॥

कोई दुखको लेने नहीं जाता वह स्वयं एकाएक टूट पड़ता है। परन्तु जब सुख का पहरा होता है व होगा तब दुःख आप ही रफूचक्कर हो जाता व हो जायगा ॥२३॥

होनहार सोइ होत है, बिसर जात सब शुद्ध।
जैसी लिखी नसीब में, तैसी उकलत बुद्ध ॥ २४ ॥

जो होनेवाला है सोई होता है, उस वक्त सब सुधि भूल जाती है। जैसा नसीब में निर्माण हुआ है उसी के अनुसार बुद्धि भी फूरती है ॥२४॥

रे मत भाग्यही भूल मत, जो आया मन भाग।
सो तेरा टलता नहीं, निश्चय संसै त्याग ॥ २५ ॥

ऐ मन! भाग्यको मत भूल जो तेरे भाग्य में आया है। वह कदापि नहीं टल सकता; यह निश्चय कर संशयको त्याग दे ॥२५॥

मन की संका मेटि कर, निसंक रहु निरधार।
निश्चय होय सो होयगा, जो करसी करतार ॥ २६ ॥

मनकी शंका मिटाके सदा निःशंक रहो। जो मालिक चाहेगा वह अवश्य करेगा, इसमें किसी का वश नहीं ॥२६॥

दुनी कहै मैं दो रंगी, पल में पलटि जु जाऊँ।
सुख में जो सूता रहै, वाको दुखी बनाऊँ ॥ २७ ॥

दुरंगी दुनियाँ कहती है कि मैं पल भरमें पलट जाऊँ। और सुख नींदसे सोयेको दुखी कर दूँ। परन्तु यह सब मनोराज्य हैं ॥२७॥

तेरा बैरी कोइ नहीं, तेरा बैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली गली कर सैल ॥ २८ ॥

अपने कर्त्तव्यके सिवा तेरा कोई शत्रु नहीं है। कर्त्तव्यको सँभाल कर गली २ में विहार कर, कोई नहीं रोक सकता ॥२८॥

चहै अकास पताल जा, फोड़ि जाहु ब्रह्मण्ड।
कहैं कबिर मिटिहै नहीं, देह धरे का दण्ड ॥ २९ ॥

आकाश जाओ या पाताल, चाहे ब्रह्माण्ड फोड़के क्यों न निकल जाओ। देह धरेका दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा ॥१९॥

लिखा मिटै नहि करम का, गुरु कर भज हरिनाम।
सीधे मारग नित चलै, दया धर्म बिसराम ॥ ३० ॥

कर्म रेखा नहीं मिट सकती, अतः सुद्गुरु की शरण ले और प्रभुका नाम भज। तथा प्रति दिन सीधे मार्ग चल दया धर्मके प्रभाव से विश्राम मिल जायगा ॥३०॥

इति श्री कर्मको अङ्ग ॥ ७१ ॥

अथ स्वादको अङ्ग ॥ ७२ ॥

खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय ।
चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय ॥ १ ॥

खट्टा, मीठा और कडुवा सबही रसको रसना चखती है जब इन्द्रियाँ रूपी कुत्तियाँ विषय रूप चोरसे जा मिलीं तब कहो किसका पहरा कौन देवे ॥१॥

खट्टा मीठा देखिके, रसना मेलै नीर ।
जबलग मन पाको नहीं, काचो निपट कथीर ॥ २ ॥

खट्टा, मीठाको देखतेही रसना रस टपकाने लगती है । जब तक मन वशमें नहीं हुआ है तबतक मानो सब काम कच्चा कथीर के समान है ॥२

जीभ स्वाद के कूप में, जहाँ हलाहल काम ।
अंग अविद्या ऊपजै, जाय हिये ते नाम ॥ ३ ॥

जब तक जिह्वा स्वाद रूप कूँयेंमें गिरी है और विष रूप विषय रस को पान कर रही है । तबतक अविद्या के अंग स्मिता, राग, द्वेषादि सब ही उत्पन्न होंगे और हृदयसे ज्ञान चला जायगा ॥३॥

अहार करै मन भावता, जिभ्या केरे स्वाद ।
नाक तलक पूरन भरै, क्यों कहिये वे साध ॥ ४ ॥

जो स्वादिष्ट आहार मनमाना नाक तलक ठूँस २ कर किया करते हैं तो कहो भला उन्हें साधु कैसे कहिये ? ॥४॥

माखी गुड़ में गड़ि रही, पंख रहा लपटाय ।
तारी पीटै सिर धुनै, लालच बुरी बलाय ॥ ५ ॥

स्वादके मारे मक्खी गुड़ (चासनी) में जाकर गड़ गई और पाँख भी लपट गया । अब हाथ मीजती और शिर धुनती है, ध्यान रक्खो, लालच बुरी बला है ॥५॥

मुँड़ मुँड़ाया मुक्ति को, सालन कूँ पछिताय।
गोड़ा फूटै जोग बिन, लोगन सों सिथलाय ॥ ६ ॥

करवा कोपीन लेकर कल्याण के लिए साधु हुआ और स्वादिष्ट भोजन के लिए पछता रहा है। मनोवृत्तिके योग बिना लोगों को देखाने के लिये चौरासी आसनों से व्यर्थ में गोड़ तोड़ रहा है ॥६॥

रूखा सूखा खाय के, ठंढा पानी पीव।
देखि पराई चूपड़ी, मत ललचावै जीव ॥ ७ ॥

प्रारब्ध भोग रूप रूखा सूखा टूका खाके उपरसे सन्तोष रूप शीतल जल पीलो। और दूसरे की चिकनी चूपड़ी चपाती देख के जीको मत ललचाओ ॥७॥

आधी औ रूखी भली, सारी सोग संताप।
जो चाहैगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप ॥ ८ ॥

अपनी आधी और रूखी अच्छी है दूसरेकी सारी शोक और सन्ताप कारक है। ध्यान रहे, जो कहीं तू चूपड़ी पर जी ललचाया तो बहुत पाप करेगा ॥८॥

कबीर साँई मुझ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, मत रूखी छिन लेय ॥ ६ ॥

ऐ स्वामिन्! तू मुझे सूखी ही रोटी देय। मैं इससे चूपड़ी माँगने से डरता हूँ कि कहीं रूखी भी न छिन ले ॥६॥

अँन पानी का हार है, स्वाद संग नहिं जाय।
जो चाहै दीदार को, चुपड़ी चरै बलाय ॥ १० ॥

अन्न, जलका अहार है, स्वादसे कोई मतलब नहीं। जो प्रभुका दर्शन चाहे तो चूपड़ी चपातीको बलाकी तरह टाल दे ॥१०॥

जिभ्या कर्म कछोटरी, तीनों गृह में त्याग।
कबीर पहिले त्यागि के, पीछे ले बैराग ॥ ११ ॥

जिज्ञासुओंको उचित है कि जिह्वाका स्वाद और दुष्कर्म तथा विषय इन तीनोंको प्रथम घर हीमें त्यागके पीछे वैराग ले ॥११॥

जिभ्या कर्म कछोटरी, जो तीनों बस होय।
राजा परजा जमपुरी, गंजि सकै नहिं कोय ॥ १२ ॥

स्वाद, दुष्कर्म और विषय ये तीनों वशमें होय तो राजा, प्रजा की क्या कथा ? यमपुरीमें भी कोई कुछ नहीं कर सकता ॥१२॥

खाटा मीठा खाय कर, करे इन्द्रियाँ भोग।
सो कैसे जा पहुँचही, साहिबजी के लोग ॥ १३ ॥

जो खट्टा, मीठा खूब खाके सर्वेन्द्रियोंके भोग भोगते हैं। वे मालिक के देशमें कैसे पहुँचेंगे, हर्गिज नहीं ॥१३॥

इति श्री स्वादको अङ्ग ॥ ७२ ॥

अथ मांसाहारको अङ्ग ॥ ७३ ॥

मांसाहारी मानवा, परतछ राछस अंग।
ताकी संगति मति करो, पड़त भजन में भंग ॥ १ ॥
मांसाहारी मानवा, परतछ राछस जान।
ताकी संगति मति करै, होय भक्ति में हान ॥ २ ॥

हे प्रिय ! मांसाहारी मनुष्यको प्रत्यक्ष राक्षस ही जानो। उसकी संगति कदापि न करो। भजन भक्ति और विचार में विघ्न और हानि होगी ॥१॥२॥

मांस खाय ते ढेड़ सब, मद पीवै सो नीच।
कुल को दुरमति परिहरै, राम कहै सो ऊँच ॥ ३ ॥

मांस खानेवाले सब ढेढ़ (चमार) और मद्यपीनेवाले सब अधक हैं। मांस भक्षणादि कुलकी कुरीति और मद्यपानादि कुबुद्धि को त्याग के जो रामका विचार करता है वही उत्तम है ॥३॥

मांस मछलिया खात हैं, सुरा पान सों हेत।
ते नर नरके जाहिंगे, माता पिता समेत ॥ ४ ॥
मांस मछलियाँ खात हैं, सुरा पान सों हेत।
ते नर जड़ से जाहिंगे, ज्यों मूरी का खेत ॥ ५ ॥

जो मांस, मछलीको खाते और मद्यपानसे प्रेम करते हैं। वे माता पिता के सहित नरकमें जाते हैं। अथवा मूलीके खेत की तरह पिता पुत्र सहित समूल चले जायेंगे ॥४॥५॥

मांस भखै मदिरा पीवै, धन बेस्वा सों खाय।
जुआ खेलि चोरी करै, अन्त समूला जाय ॥ ६ ॥

जो मांस भक्षण, पद्म पान और वेश्यासे धन लेकर या वेश्या व भांड़ कर्मसे धन कमाके खाते हैं। तथा जुवा खेलके और चोरी करके जीविका चलाते हैं वे अन्तमें समूल नष्ट हो जाते हैं ॥६॥

मांस मांस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।
आँख देखि नर खात हैं, ते नर नरकहि जाय ॥ ७ ॥

मुर्गी, मृगी और गौ ये सबों के मांस एकही समान हैं। ऐसे आँखों से देखते हुए भी जो मनुष्य उसे खाता है वह अवश्य नरक जाता है ॥७

यह कूकर को भक्ष है, मनुष देह क्यों खाय।
मुख में आमिष मेलिहैं, नरक पड़े सो जाय ॥ ८ ॥

यह भक्ष्य नख, पंजाधारी कुत्ता, स्यार शेरादिका है नर तन धारी उसे क्यों खाता है? जो ऐसा जान के मुख में मांप डालेगा वह अवश्य नरक में पड़ेगा ॥८॥

ब्राह्मन राजा बरन का, औरों कौम छतीस।
रोटी ऊपर माछली, सबही बरन खबीस ॥ ९ ॥

वर्णोंका राजा ब्राह्मण तथा और भी जितने छत्तीस कौमें हैं। जो रोटी ऊपर मछली धरके खाते हैं वे सब जातियाँ खवीस-मुर्देखोर हैं। ९

कलियुग केरे ब्राह्मना, मांस मछलियाँ खाय।
पाँय लगै सुख मानही, राम कहै जरि जाय ॥ १० ॥

कलियुगी ब्राह्मण जो मांस मछली खानेवाले हैं। वे पाँय लगीसे खुशी और राम-राम कहनेसे बड़े दुःखी होते हैं ॥१०॥

पाँव पुजावै बैठि के, भखै मांस मद दोय।
तिनकी दीच्छा मुक्ति नहिं, कोटि नरक फल होय ॥ ११ ॥

कलियुगी ब्राह्मण जो माँस, मद्य दोनों खाते पीते हुए भी सिंहासन पर बैठके दूसरोंसे पाँय पुजवाते हैं। सो यजमानको उनकी दीक्षासे मुक्ति तो नहीं हो सकती बल्कि करोड़ों नरकका फल होगा ॥११॥

सकल बरन एकत्र ह्वै, सक्ति पूजि मिलि खाँहि।
हरिदासनकी भ्रांतिकरि, केवल जमपुर जाँहि ॥ १२ ॥

सब जातियाँ इकट्ठी होके शक्तिको पूजती तथा मिलके खाती हैं। और हरिजनों से घृणा करती हैं। यह मानो यमपुर जाने का प्रयत्न कर रही हैं ॥१२॥

विष्ठा का चौका दिया, हाँड़ी सीझै हाड़।
छूत बरावै चाम की, ताका गुरु है राँड़ ॥ १३ ॥

जो विष्ठा से चौका पोतके हाँड़ी में हाड़ राँधते है। और चाम (जाति) की छूत बराते हैं, तिनके गुरु राँड़ हैं। सद्गुरु नहीं ॥१३॥

जीव हनै हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
पाप सबन जो देखिया, पुन्न न देखा कोय ॥ १४ ॥

जो जीवके प्राण वियोग रूप हिंसा करते हैं उन्हें प्रत्यक्ष शिर पर पाप सवार होता है। हिंसा रूप पाप सब देखते हैं पुण्य कोई भी नहीं ॥१४॥

जीव हनै हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
निगम सुनी असपातते, भिस्त गया नहिं कोय ॥ १५ ॥

जीव हिंसा रूप प्रत्यक्ष पाप करके उसकी निवृत्तिके लिये आगम पुराण की कथा सुनते हैं पर ऐसे पापसे निवृत्त हो उन्हें स्वर्ग जाते कोई भी नहीं देखा ॥१५॥

तिल भर मछली खायके, कोटि गऊ दे दान।
कासी करवट ले मरै, तौ भी नरक निदान ॥ १६ ॥

तिल भर भी मछली खाके जो प्रायश्चित्त के लिये गौका दान दे और काशी करवट ही लेके क्यों न मरे परन्तु आखीर में उसे नरक अवश्य होगा ॥१६॥

काटा कुटी जो करै, ते पाखंड को भेष।
निश्चय राम न जानहीं, कहैं कबीर संदेस ॥ १७ ॥

जो मांसको टुकड़ा २ करता है वह भी पाखण्डी, हिंसक हैं। कबीर. गुरु कहते हैं कि वह रामको नहीं जानता ॥१७॥

बकरी पाती खात है, ताको काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात है, तिनका कौन हवाल ॥ १८ ॥

ऐ नरजीव ! जो बकरी पत्ती खाती है तिसकी तो खाल छिल डाली। और जो खाश बकरीको खाते हैं उनकी क्या दशा होगी ? ॥१८॥

आठ बाट बकरी गई, मांस मुलाँ गये खाय।
अजहूँ खाल खटीक के, भिस्त कहाँ ते जाय ॥ १९ ॥

आठ रस्तेसे बकरी गई अर्थात् मनु भगवान ने एक बकरीके हिंसक आठ जनेको बताये हैं। और मुल्लाने मांस खा लिया। और उसकी खाल अभी खटीक के घर में पड़ी है, कहो ? स्वर्ग कहाँ से कैसे होगा ॥१९॥

अंडा किन बिसमिल किया, घुन किन किया हलाल।
मछली किन जबहै करो, सब खानेका ख्याल ॥ २० ॥

—"अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रय विक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका:" ॥

इति मनु० अ० ५ श्लो० १५

अंडे किन बिसमिल किये, मछली किया हलाल ।
जिभ्या के रस स्वादमें, यह नर भया बेहाल ॥ २१ ॥

मुसलमान लोग कहते हैं कि हम कुर्बानी करके खाते हैं अतः इसमें कोई दोष नहीं तहाँ ग्रन्थ कर्त्ता कहते हैं कि कहो अण्डाको किसने बिसिमल किया ? और घुनको किसने हलाल किया ? तथा मछलीको जब्बह किसने करी ? सबोंने खानेके मतलबसे एक एक ढंग निकाल लिया है। ये नरजीव रसनाके रस स्वाद में पड़के बेहाल हो रहा है, धर्माधर्म का विचार नहीं करता । केवल धर्मका नाम लेता है ॥२०॥२१॥

मुलना तुझै करीम का, कब आया फरमान ।
दया भाव हिरदै नहीं, जबह करै हैवान ॥ २२ ॥
काजी तुझै करीम का, कब आया फरमान ।
घट फोड़ा घर घर किया, साहिब का नीसान ॥ २३ ॥

स्वयं जबरदस्ती ज़ब्बह करता है और झूठ मूठ मालिकका फर्मान बतलाता है । और मालिकके बनाये हुए शरीर रूप घड़ा को घर घरमें हिंसा रूप घट फोड़ा कर रहा है ॥२२॥२३॥

काज़ी का बेटा मुआ, उरमें सालै पीर ।
वह साहेब सबका पिता, भला न माने बीर ॥ २४ ॥

ऐ भाइयो ! जब काजीका बेटा मर गया तब तो उसे मर्म भेदी दुःख हुआ और वह मालिक जो सबके पिता हैं तो उसके फर्जिन्दको तुम मारोगे तो वह कैसे खुश होगा ? कदापि नहीं ॥२४॥

पीर सबन को एकसी, मूरख जानै नाँहि ।
अपना गला कटायके, भिस्त बसै क्यों नाँहि ॥ २५ ॥

दुःख सुख सब जीवोंकेसमान हैं, मूर्खलोग नहीं जानते । यदि ऐसा है तो मुल्ला और पांडे अपना गला कटाके स्वर्गमें क्यों नहीं जाते ? ॥२५॥

सम्मति देनेवाला, टुकड़ा २ करने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, लाने ले जाने वाला और खाने वाले ये आठ पशु घातक कहलाते हैं ।

मुरगी मुलना सों कहै, जबह करत है मोहि।
साहिब लेखा माँगसी, संकट पड़ि है तोहि ॥ २६ ॥

मुर्गी मुल्लासे कहती है, तू जबरदस्ती मुझे जब्बह करता है तो कर ले। उस वक्त तुझे नौबत आयेगी जब मालिक हिसाब माँगेगा ॥२६॥

कबीर काज़ी स्वाद बस, जीव हनत है सोय।
चढ़ि मसीत एकै कहै, दरगह साँचा होय ॥ २७ ॥

ऐ कबीर ! काजी को तो देखो जिह्वा स्वाद के वास्ते जीवकी हिंसा करता है और दरबारको सच्चा मानके वहाँ जाता है तथा एकही खुदा का नूर भी सबको बतलाता है ॥२७॥

काजी मुलना भरमिया, चले दुनी के साथ।
दिल सों दीन निवारिया, करद लई अब हाथ ॥ २८ ॥

काजी और मौलाना दोनों भ्रममें पड़के दुनियाँके संग चल रहे हैं। दिलसे दीन यानी दया धर्मको निकाल दिया और हाथमें छूरी ले ली॥

काला मुँह करि करदका, दिल सों दुई निवार।
सबही रूह सुभान की, अहमक मुला न मार ॥ २९ ॥

ऐ अहमक मुल्ला ! छूरी का मुँह काला करके दिलसे दुविधा (द्वैत) भावको निकाल दे। सबही जीव खुदाके हैं ऐसा जानके उन्हें मत मार ॥

जोर करी जबहै करै, मुख सों कहै हलाल।
साहिब लेखा माँगसी, होसी कौन हवाल ॥ ३० ॥

जबरदस्ती जब्बह करके मुखसे हलाल (पाक) कहता है। ऐ हरामीका बच्चा ! जिस वक्त मालिक हिसाब पूछेगा उस वक्त कौन सी दशा होगी ? होश कर ॥३०॥

जोर किये ते जुलुम है, माँगै ज्वाब खुदाय।
खालिक दर खूनी पड़ा, मार मुँहीं मुँह खाय ॥ ३१ ॥

इस जबरदस्ती जुलमका ज्वाब खुदा जरूर माँगेगा। मालिक के दरबार में खूनी पड़े हैं और मुँहे मुँह तमाचा खा रहे हैं ॥३१॥

गला काटि कलमा भरै, कीया कहै हलाल।
साहिब लेखा माँगसी, तबही कौन हवाल ॥ ३२ ॥

मूक पशुओं का गला काटके कलमा पढ़ता है। और स्वयं किये को पाक खुदा का बतलाता है। अरे उस वक्त तेरी कौन सी दशा होगी ? जिस वक्त मालिक हिसाब माँगेगा ॥३२॥

गला काटि बिसमिल करै, ते काफिर बे बूझ।
औरन को काफिर कहै, अपना कुफर न सूझ ॥ ३३ ॥

जो प्राणीका गला काटके बिसमिल करता है वही बेवकूफ व काफिर है उलटे दूसरे को काफिर कहता है अपनी शैतानी नहीं दीखती ॥३३॥

गला गुसा को काटिये, मियाँ कहर को मार।
जो पाँचौं बिसमिल करै, तब पावै दीदार ॥ ३४ ॥

ऐ मियाँ ! महाशय ! गुस्सेका गला काटके जुलमको मार डाल। और जो कहीं पंच ज्ञानेन्द्रियोंको बिसमिल कर डाले तो अवश्य मालिक का दर्शन पा जाये ॥३४॥

यह सब झूठी बंदगी, बिरिया पाँच निमाज।
साँचहि मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥ ३५ ॥

पाँच वक्त निमाज पढ़ना ये सब झूठी बन्दगी है। साँच जीवको झूठे नमाज पढ़के मारता है तो काजी जीवका भारी अकाज करता है ॥

सेख सबूरी बाहिरा, हाँका जम के जाय।
जिनका दिल साबुत नहीं, तिनको कहाँ खुदाय ॥ ३६ ॥

जिन शेखोंको धीरज नहीं है वे जहन्नुम में ढकेले जायँगे। और जिनके दिल में सच्चाई (सफाई) नहीं तिनके लिये खुदा कहीं नहीं ॥३६

कबीर तेई पीर हैं, जे जानै पर पीर।
जे पर पीर न जानहीं, ते काफिर बे पीर ॥ ३७ ॥

ऐ कबीर ! वेही श्रेष्ठ पीर (गुरु) हैं जो पीरकी पीड़ा जानते हैं और जो पराया दुःख नहीं जानते वेही बेदर्दी काफिर हैं ॥३७॥

खुश खाना है खीचड़ी, माँहि पड़ा टुक लौन।
मांस पराया खाय के, गला कटावै कौन ॥ ३८ ॥

अरे ! उस खीचड़ी खानेमें बड़ा मजा है, जरा उसमें कहीं नमक पड़ गया तो और अच्छा। और कहो भला ! दूसरे के मांस खाके अपना गला कौन कटावे ? ॥३८॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, कहा जु मान हमार।
जाका गला तुम काटिहो, सो फिर काटि तुम्हार ॥ ३९ ॥

बहुत कुछ कह दिया, यदि मेरी कही मानों तो और भी कुछ जाते२ कहे देता हूँ। ध्यान रक्खो ! जिसका गला तुम काटते हो वह भी अवसर पाके पीछे तुम्हारा काटेगा ॥३९॥

हिन्दू के दाया नहीं, मिहर तुरक के नाँहिं।
कहैं कबिर दोनौं गये, लख चौरासी माँहि ॥ ४० ॥

न तो हिन्दूमें दया है और न तुरकोंमें मेहरबानी। अतः कबीर गुरु कहते हैं कि दोऊ चौरासी चक्र में चले गये ॥४०॥

मुसलिम मारै करद सों, हिन्दू मारै तरवार।
कहैं कबिर दोनौं मिली, जैहैं जम के द्वार ॥ ४१ ॥

मुसलमान छूरी से मारते और हिन्दू तलवारसे। कबीर गुरु कहते हैं कि इसी पापसे दोनों जने साथै जहन्नुममें जायँगे ॥४१॥

अजामेध गोमेध जग, अश्वमेध नरमेध।
कहैं कबीर अधर्म को, धर्म बतावै वेद ॥ ४२ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि संसार में अजामेध, गोमेध, अश्वमेध और नरमेध जो महा पाप हिंसा रूप अधर्म्म हैं उसीको वेद और वेदवादी धर्म बतलाता है ॥४२॥

इति श्री मांसाहारको अङ्ग ॥ ७३ ॥
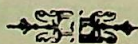
अथ नशाको अङ्ग ॥ ७४ ॥

कलियुग काल पठाहया, भाँग तमाखू फीम ।
ज्ञान ध्यान की सुधि नहीं, बसै इन्हीं की सीम ॥ १ ॥

कालने कलियुग में भाँग, तमाखू और अफीम को भेज दी है। अमलियों को ज्ञान, ध्यान, की खबर तो है नहीं सदा इन्हीं के नजदीक रहते हैं ॥१॥

भाँग तमाखू छूतरा, आफू और सराब ।
कौन करेगा बंदगी, ये तो भये खराब ॥ २ ॥

भंग, तमाखू, छूतरा, अफीम और शराब पीके सब खराब हो गये, इन्हें बन्दगी अब कौन करे ? या ये मालिक को बन्दगी कैसे करेंगे ॥२॥

अमल माँहि औगुन कहा, कहो मोहि समुझाय ।
उत्तर प्रश्नहि में सुनो, मनकी संसै जाय ॥ ३ ॥

मुझे समझाकर बतलाइये अमल में कौन से अवगुण हैं ? तुम्हारे प्रश्नही में उत्तर देता हूँ, सुनो, मनका संशय दूर हो जायगा ॥३॥

भाँग भखै बल बुद्धि को, आफू अहमक होय ।
दोय अमल औगुन कहा, ज्ञानवंत नर जोय ॥ ४ ॥

भंग खाने वाले का बल और विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा अफींमची अहमक (नादान) बन जाता है। दो अमल के अवगुण कह दिया ज्ञानी नर इन्हें समझ लें ॥४॥

औगुन कहूँ सराब का, ज्ञानवंत सुनि लेय ।
मानुष सों पसुवा करै, द्रव्य गाँठि का देय ॥ ५ ॥

हे समझदारो ! अब शरावकी खराबी सुनो। शराब जो पीता है वह मनुष्य से साक्षात् पशु बन जाता है। और गाँठका द्रव्य भी गमा बैठता है ॥५॥

काम हरक्कत बल घटै, तृस्ना नाहीं ठौर।
ढिग ह्वै बैठे दीन के, एक चिलम भर और ॥ ६ ॥

तमाखू पीनेसे व्यवहार, परमार्थ दोनों कार्य में हर्ज होता है शरीर से दुर्बल और तृष्णा अधिक बढ़ जाती है। दूसरे के नजदीक दीन होके बैठता है, दुःखी होके कहता है, एक चिलम और भरो ॥६॥

पानी पिरथी के हते, धूँवां सुनि के जीव।
हूकें में हिंसा घनी, क्यौं करि पीवै पीव ॥ ७ ॥

हुक्का का जल पृथ्वी (शरीर) को नाश करता है, और धूँवा जीवों (ज्ञान) को। हुक्के में हिंसा बहुत है वह कैसे प्रभुको पायगा ? कदापि नहीं ॥७॥

छाजन भोजन हक्क है, और अनाहक लेय।
आपन दोजख जात है, औरों दोजख देय ॥ ८ ॥

मनुष्योंको अन्न वस्त्र वाजिब और ग्रहण नावाजिब है। मादकपदार्थों को ग्रहणकर अपने साथ २ दूसरों को भी दोजख ले जाते हैं ॥८॥

गउ जो बिष्ठा भच्छई, विप्र तमाखू भंग।
सस्तर बाँधे दरसनी, यह कलियुग का रंग ॥ ६ ॥

गाय माता विष्ठा खाती है और ब्राह्मण देव तमाखू, भंग पीते हैं। तथा दर्शनी जोगी, जंगम, सन्यासी आदि हथियार बांधते हैं, यही कलि-युग का रंग (शोभा) है ॥६॥

अमल अहारी आतमा, कबहुँ न पावै पार।
कहैं कबीर पुकारि के, त्यागो ताहि विचार ॥ १० ॥

कबीर गुरु पुकार के कहते हैं कि अमल अहारी जीव कभी नशा से तृप्त नहीं होता। अतः ऐसा विचार कर इस महापाप को अवश्य त्यागना चाहिये ॥१०॥

मद तो बहुतक भाँतिका, ताहि न जानै कोय।
तनमद मनमद जातिमद, माया मद सब लोय ॥ ११ ॥

विद्यामद औ गुनहिं मद, राज मद उन मद ।
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद ॥ १२ ॥

मद बहुत प्रकार के हैं अज्ञानी कोई नहीं जानता । सुनिये, शरीर सौन्दर्यका मद, मनका, जातिका, मायाका, विद्याका, गुणका, राज्यका, और उनमादका, इतने मद हैं, इन सबों को जब रद्द करै तब अनहद आत्म स्वरूप का ज्ञान सुनै ॥११॥१२॥

भाँग तमाखू छूतरा, जन कबीर जे खाँहि ।
योग यज्ञ जप तप किये, सबै रसातल जाँहि ॥ १३ ॥

भाँग, तमाखू और छूतरा जो जीव खाता पीता है, उसके किये हुये योग, यज्ञ, जप, तप सबही जहन्नुम में चले जाते हैं ॥१३॥

भाँग तमाखू छूतरा, सुरापान लै घूँट ।
कहैं कबीर ता जीवका, धर्मराय सिर कूट ॥ १४ ॥

जो भंग, तमाखू, छूतरा तथा शराब का पान करता है । कबीर गुरु कहते हैं कि उस जीवका यमराज खूब शिर कूटता है ॥१४॥

भाँग तमाखू छूतरा, इनसे करै पियार ।
कहैं कबीर सो जीयरा, बहुत सहै सिर मार ॥ १५ ॥
भाँग तमाखू छूतरा, पर निंदा पर नार ।
कहैं कबीर इनको तजे, तब पावै दीदार ॥ १६ ॥

योंही भंगादिसे प्रेम करने वाले भी खूब मारे जाते हैं । अतः कबीर गुरु कहते हैं कि भंगादि नशा तथा परनिन्दा और पर स्त्री इन सबको त्यागे तब दर्शन पावे ॥१५॥

भाँग तमाखू फीम को, दौड़ दौड़ करि लेहि ।
कहैं कबीर हरि नामको, पीछै ही पग देहि ॥ १७ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि भंग, तमाखू और अफीम को तो लोग आगे दौड़कर लेते है और प्रभु नाम लेनेको पग पीछे मोड़ते हैं ॥१७॥

भाँग तमाखू गाहका, रामनाम के नाँहि ।
कहैं कबीर जनमै मरै, लख चौरासी माँहि ॥ १८ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि जो भंग, तमाखू के ग्राहक हैं और रामनाम के नहीं है वे चौरासी लक्ष योनि में भ्रमेंगे ॥१८॥

सुरापान अचवन करै, पिवे तमाखू भंग ।
कहैं कबीरा राम जन, तामे ढंग कुढंग ॥ १९ ॥

जो शराब को अँचवन करता और तमाखू भंगको पीता है वह कुढंगा है उसमें कोई ढंग (कायदा) नहीं ॥१९॥

सुरापान अचवन करै, पिवै तमाखू भंग ।
कहैं कबीरा राम जन, ताको करो न संग ॥ २० ॥

ऐ राम भक्तो ! शराब तमाखू और भंग पीने वालों का संग कभी मत करो ॥२०॥

राखें बरत एकादसी, करै अन्न को त्याग ।
भाँग तमाखू ना तजै, कहैं कबीर अभाग ॥ २१ ॥

कबीर गुरु कहते हैं वे बड़े अभागे हैं जो एकादशी व्रत रखके अन्न को त्याग करते और भंग, तमाखू का त्याग नहीं करते ॥२१॥

हरिजन को सोहै नहीं, हूका हाथ के माँहि ।
कहैं कबीरा राम जन, हुक्का पीवै नाँहि ॥ २२ ॥

हरिजन को हुक्का हाथ में नहीं शोभता, क्योंकि हरिजन कभी हुक्का नहीं पीते हैं ॥२२॥

हुक्का तो सोहै नहीं, हरिदासन के हाथ ।
कहैं कबीर हुक्का गहै, ताको छोड़ो साथ ॥ २३ ॥

हरिभक्तों को हाथ में हुक्का नहीं शोभता । अतः हुक्केबाज का साथ छोड़ दो ॥२३॥

अमली के बैठो मती, एक पलकहू पास ।
संग दोष तोहि लागिहै, कहैं कबीरा दास ॥ २४ ॥

"संसर्ग तो दोष गुणा भवन्ति" इस वचन प्रमाण से एक क्षण भी अमलीके संगमें मत बैठो, बैठनेसे संग दोष अवश्य होगा ॥२४॥

अमली हो बहु पाप से, समुझत नाहीं अंध ।
कहैं कबीरा अमलि को, काल चढ़ावै कंध ॥ २५ ॥

पूर्विले महापापसे अमली होता है, अन्धा इसे नहीं समझता । कबीर गुरु कहते हैं कि अमली को मृत्यु अपने कन्धेपर चढ़ाती है ॥२५॥

जहँ लग अमल हराम सब, दोउ दीन के माँहि ।
कहैं कबीरा राम जन, अमली हूजै नाँहि ॥ २६ ॥

हिन्दू, मुसलिम दोनों दीनके लिये "जहाँ लों अमल सो सबै हरामा" इत्यादि कबीर गुरु कहते हैं, ऐ रामभक्तो ! अमली मत बनो। ये सब हराम हैं ॥२६॥

भौंरी आवै बास मुख, हिरदा होय मलीन ।
कहैं कबीरा राम जन, माँगि चिलम नहिं लीन ॥ २७ ॥

नशेबाजों को चित्त में घूमरी और मुखसे दुर्गन्ध तथा हृदय मलीन हो जाता है । अतएव ऐ रामभक्तो ! किसी से चिलम माँग कर भी मत लो ॥२७॥

मुख में थूकन दे नहीं, मूहर कोई जन देहि ।
कहैं कबीर या चिलमको, जूठ जगत मुख लेहि ॥ २८ ॥

हुक्के बाजों को देखो, यदि उन्हें कोई मुहर-गिन्नी देवे और कहेकि मुंह में थूकने दो तो वे कदापि नहीं थूकने देंगे और सारे संसार की जूठी चिलम मुखमें लेते हैं ॥२८॥

आन अमल सब त्यागिके, राम अमल जब खाय ।
जन कबीर भाजै भरम, और न कछू सुहाय ॥ २९ ॥

और सब अमलोंको त्यागके जब राम अमल खावें तब रामभक्तों के भ्रम सब भग जावें फिर दूसरी कुछ अच्छी न लगै ॥२९॥

नाम अलख को छोड़िके, और अमल जो खाय ।
कहैं कबीर तेहि परिहरो, गुरु के शब्द समान ॥ ३० ॥

गुरु नाम अमल को छोड़के जो और अमल खाते हैं, कबीर गुरु कहते हैं उन्हें त्याग दो और सद्गुरुके सार शब्दमें स्थिर रहो ॥३०॥

कबीर प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय॥ ३१ ॥

ऐ कबीर ! जिसने प्रेमका प्याला हृदय में लगा लिया। बस ! उसे वही प्रत्यंग को मस्त कर दिया अब वह और अमल खाय तो क्या खाय ? ॥ ३१ ॥

इति श्री नशाको अङ्ग ॥ ७४ ॥
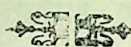
अथ विवेकको अंग ॥ ७५ ॥

फूटी आँख विवेक की, लखै न संत असंत।
जाके संग दस बीस हैं, ताको नाम महंत ॥१॥

गुरु सत्संग विमुखोंकी विवेक की आखें फूट गईं सन्त और असन्त की पहिचान नहीं करते। जिसके संग दस बीस हैं बस ! उन्हीं को महन्त कहते हैं ॥१॥

जब लग नहीं विवेक मन, तब लग लगै न तीर।
भौसागर नामी तिरैं, सतगुरु कहैं कबीर॥ २ ॥

जब तक अन्दर मनमें विवेक नहीं है, तब तक पार नहीं जा सकते। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि भव सिन्धु नामी अर्थात् गिने गुथे कोई २ तरते हैं ॥२॥

प्रगटे प्रेम विवेक दल, अभय निसान बजाय।
उग्र ज्ञान उर आवतै, जगका मोह नसाय॥ ३ ॥

विवेक फौजके सहित जब प्रेम उत्पन्न होता और अभय निशान बजाता है तब हृदयमें ज्ञान आतेही जगतकी मोह माया नष्ट हो जाती है ॥३॥

गुरु पसु नर पसु नारि पसु, वेद पसू संसार ।
मानुष ताको जानिये, जाको विमल विचार ॥ ४ ॥

संसार में बिना विचारके सब पशु हैं कोई गुरु के कोई नरके कोई नारीके और कोई वेदके । मनुष्यवेही हैं जिनके निष्पक्ष,निर्मल विचार हैं

कहैं कबीर पुकारि के, सन्त विवेकी होय ।
जामें शब्द विवेक है, छत्र धनी है सोय ॥ ५ ॥

इस बातको कबीर गुरु पुकार २ कर कह रहे हैंकि वेही संत विवेकी और छत्रपति हैं जिनके हृदयमें सारशब्द का विचार है ॥५॥

जीव जन्तु जल हर बसै, गये विवेक जु भूल ।
जल के जलचर यौं कहैं, हम उडगन सम तूल ॥ ६ ॥
प्रात काल के जाल में, आय गये तिहि माँहि ।
जल के जलचर यौं कहैं, उडगन पति जु नाँहि ॥ ७ ॥

जीव जन्तु सब काया कसार या संसार सागरमें रहते २ आतमा अनात्मका बिचार भूल गये । जैसे जलके जलचर सब कहने लगे कि हम ताराओं के सदृश हैं । और जब सवेरे के वक्त धीमरके जाल में सब फंस गये । तब कहने लगे कि ताराओं के स्वामी चन्द्र तो नहीं आये ? यही हाल अज्ञानियों का है ॥६॥७॥

हरिजन ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक ।
बाहर मिलता सों मिलै, अन्तर सब सों एक ॥ ८ ॥

विवेक युत ज्ञानी हरिजनोंको इस प्रकार रहना चाहिये कि बाहर तो मिलने वालेही से मिलें परन्तु भीतर सबसे एकता रखें ॥८॥

राम राम सब कोई कहै, कहने माँहि विवेक ।
एक अनेकै फिर मिलै, एक समाना एक ॥ ९ ॥

यद्यपि राम राम सब कोई कहते हैं । तथापि कहने २ में विवेक है ।

एक तो रामको कहके फिर अनेकोंमें मिल जाते और एक जैसा एक रामको कहते हैं उसी प्रकार एक में निष्ठ होते हैं, यही भेद है ॥९॥

साधू मेरे सब बड़े, अपनी अपनी ठौर।
सब्द विवेकी पारखी, सो माथे की मौर ॥ १० ॥

सन्त अपनी २ रहनीमें सबही बड़े हैं परन्तु जो सार सब्द विवेकी पारखी हैं वे सबके शिर मुकुट हैं ॥१०॥
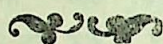
इति श्री विवेकको अङ्ग ॥ ७५ ॥

अथ विचारको अंग ॥ ७६ ॥

कबीर सोच बिचारिया, दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जब चीन्हिया, उलटि समाना माँहि ॥ १ ॥

ऐ कबीर! सोचो और विचार कर देखो तो दूसरा कोई नहीं है। जब दूसरा आकार को पहिचान लिया तब उलट कर अपने आपमें समा गये, बखेड़ा मिट गया ॥१॥

राम राम सब कोइ कहै, कहने माँहि विचार।
सोइ राम जो सति कहै, सोई कौतिक हार ॥ २ ॥

राम राम सब कोई कहता है परन्तु कहने २ में भेद है। देखो, उसी रामको कहके सती सत्पर चढ़ जाती और उसी रामको तमाशाई भी कहता है ॥२॥

आग कहै दाझै नहीं, पाँव न दीजै माँहि ।
जो पै भेद न जानहीं, राम कहा तो काहि ।। ३ ।।

जैसे अग्निमें पग डाले बिना कहने मात्रसे नहीं जलता तैसेही रामका असलीयत रहस्य जाने बिना राम राम चिल्लानेसे कुछ नहीं होता ॥३॥

पानी केरा पूतला, राखा पवन संचार ।
नाना बानी बोलता, जोति धरी करतार ।। ४ ।।

शरीर रूप पानीके पुतला में कर्त्ताने एक अजब ज्योति जगा दी है । प्राण पखेरू ने इसे संभाल रक्खा है और नाना तरह की बाणी बोल रहा है ।।४।।

आधी साखि कबीर की, जो निरुवारी जाय ।
चंचल चित निहचल करै, ज्ञान भक्ति फल पाय ।। ५ ।।

जिज्ञासु यदि चाहें तो उन्हें आतम अनातम विचारके लिये कबीर की आधी साखी काफी है । चंचल वृत्ति को निश्चल करें और भक्ति ज्ञानका फल कल्याण प्राप्त कर लें ।।५।।

कबीर आधी साखि यह, कोटि ग्रन्थ करि जान ।
राम नाम जग झूठ है, सुरति सब्द पहिचान ।। ६ ।।

यह आधी साखी करोड़ों ग्रन्थका सार तत्व जानो कि रमैया-राम का नाम सत्य और जगत झूठ है । इसे गुरु के सार शब्द से वृत्ति द्वारा पहिचान लो ।।६।।

राम नाम जाना नहीं; माना नहीं विचार ।
कहैं कबीर वह क्या लहै, मोक्ष मुक्ति का द्वार ।। ७ ।।

जो स्वयं रामका यथार्थ नाम नहीं जाना और गुरुका विचार बचन भी नहीं माना तो उसे मोक्षका द्वार मनुष्य का अवतार क्या करै ? और वह क्या प्राप्त करै ? ।।७।।

एक सब्द में सब कहा, सब ही अर्थ विचार ।
भजिये निसदिन राम को, तजिये विषय विकार ।। ८ ।।

सबही अर्थोंका विचार एकही शब्दमें कह दिया कि रात, दिन राम को भजो और विषय विकार को तजो ।।८।।

कबीर भूला दगा में, लोग कहैं यह भूल ।
करमहि बाट बतावहीं, भूतल भूला भूल ।। ९ ।।

नर जीव माया की दगा में अपने आपको भूल गया अब लोग कहते है कि भूल हुई । और कर्म मार्ग की राह दिखलाते हैं जिसमें भूला हुआ और भी भूलता ही जाता है ।।९।।

ज्यौं आवै त्यौं ही कहै, बोलै नहीं बिचार ।
हते पराई आतमा, जीभ लेय तरवार ।। १० ।।

गुरु सत्संग विमुखोंको जैसा मन में आता है वैसे बकते हैं । विचार कर नहीं बोलते जिह्वामें कुबोल रूप तलवार बाँध के दूसरेकी आत्माको हनन करते हैं ।।१०।।

सब काहू का लीजिये, साँचा सब्द निहार ।
पक्षपात ना कीजिये, कहैं कबीर विचार ।। ११ ।।

अतः कबीर गुरु कहते हैं कि परीक्षा करके सबकी सच्ची बात लो, पक्षपात कभी मत करो ।।११।।

बोली हमरी पलटिया, या तन याही देस ।
खारी सों मीठी करी, सतगुरु के उपदेस ।। १२ ।।

सद्गुरुके उपदेश प्रभावसे इसी शरीर और इसी देशमें हमारी बोली पलट गई और जो खारी थी वह मीठी हो गई ।।१२।।

कबीर हम सबकी कहै, हमरी कही न जाय ।
पूरब की बाताँ कहै, पच्छिम जाय समाय ।। १३ ।।

ऐ कबीर ! हमतो गुरु रूपमें सबकी कसर कहते हैं लेकिन कुसंगियों के हृदयमें यह बात नहीं घुसती । हम सबको संमुख प्रत्यक्ष बतलाते हैं तो सब घोखा अन्धेरेमें जाके घुसते हैं ।।१३।।

अपनी अपनी सब कहै, हमरी कहै न कोय।
हम अपनी आपहि कहै, करता करै सो होय॥ १४ ॥

अपनी-अपनी सब कोई कहते हैं हमारी कोई नहीं। अतः हम अपने आपही को समझाते हैं। जो मालिक करेगा वही होगा ॥१४॥

आजाको घर अमर है, बेटा के सिर भार।
तीन लोक नाती ठगा, पंडित करो विचार ॥ १५ ॥

आजा-पिताओं का पिता पुराण पुरुष उसका घर अमर है। बेटा-निरंजन (मन) के शिर पर संसारका भार है। नाती-त्रिदेव तीनों लोकको ठगके दुख देते हैं। ऐ पण्डित लोग! विचार कीजिये ॥१५॥

जो कछु करै विचार के, पाप पुन्य ते न्यार।
कहैं कबीर इक जानिके, जाय पुरुष दरबार ॥ १६ ॥

जो विचारपूर्वक कार्य करता और पाप, पुण्यसे पृथक् रहता है। कबीर गुरु कहते हैं कि वही एक आतमतत्व ज्ञानी सत्पुरुषके दरबार में जाता है ॥१६॥

आचारी सब जग मिला, विचारी मिला न कोय।
कोटि अचारी वारिये, एक विचारी होय ॥ १७ ॥

संसारमें जहाँ तक मिले सब आचारी, विचारी कोई नहीं। यदि एक विचारी होय तो कोटियों आचारीका आचार उसके विचार पर निछावर है ॥१७॥

सोइ अच्छर सोई भनै, सोई जन जीवंत।
अकिलमंद कोइ कोइ मिलै, महा रस अमि पिवंत ॥ १८ ॥

वही अच्छर है और वही पढ़ने वाला तथा जीवित मनुष्य है जो आत्मज्ञान रूप महा अमृत रसको पान करता है। परन्तु ऐसा अकिल-मन्द कोई २ मिलता है ॥१८॥

मेरा तो कोइ है नहीं, अरु मैं किसीका नाँहि।
अन्तर दृष्टि विचारताँ, राम बसै सब माँहि ॥ १९ ॥

विचार दृष्टिसे देखनेपर न मेरा कोई दीखता है न मैं किसी का हूँ सबमें रमैया राम रम रहा है वैर व प्रेम करना भी तो किससे? ॥१९॥

मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार ।
जाहि विवेक विचार नहिं, सो नर ढोर गँवार ॥ २० ॥

उसीको मनुष्य समझो जिसके ज्ञान, विचार निर्मल हैं। इससे रहित नर जीव गमार पशु हैं ॥२०॥

आधी साखि कबीर की, सीखी सुनी न जाय।
रति इक घट में संचरै, अमर लोक ले जाय ॥ २१ ॥

"भजिये निशि दिन रामको, तजिके विषय बिकार" बस! यह कबीरकी आधी साखी कुसंगियोंसे नहीं सुनी जाती। यदि यह कहीं रत्ती मात्र भी हृदय में स्थिर होने पावै तो सीधे अमर लोक को पहुँचा देवै ॥

इति श्री विचारको अङ्ग ॥ ७६ ॥
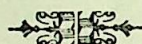
अथ धीरजको अंग ॥ ७७ ॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, रितु आये फल जोय ॥ १ ॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, रितु आये फल जोय ॥ २ ॥

ऐ मन! धैर्य रक्ख, धैर्यसे सब कुछ मिल जायँगे। समय बिना कुछ नहीं होता, चाहे माली सैकड़ों घड़ासे केवड़ाको क्योंन सींचे परन्तु फल, फूल ऋतुके आनेही पर आते हैं ॥१॥२॥

कबीर धीरज के धरे, हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारनै, स्वान घरै घर जाय ॥ ३ ॥

ऐ कबीर! देखो, धैर्य रखनेसे हाथी मन भर खाता है और अधैर्यके कारण एक टुकड़ाके वास्ते कुत्ता घरों घर डंडा खाया करता है ॥३॥

कबीर तूँ काहे डरै, सिर पर सिरजन हार।
हाथी चढ़ि करि डोलिये, कूकर भुसै हजार ॥ ४ ॥

ऐ कबीर! मालिक रक्षक है, तू क्यों डरता है। ज्ञान हस्ती आरूढ़ होके आनन्दसे विचर, कुत्ता हजार भूँके तो भूँकने दे ॥४॥

कबीर भँवर में बैठि के, भौचक मना न जोय।
डूबन का भय छाँड़ि दे; करता करै सो होय ॥ ५ ॥

ऐ कबीर! भौंर चक्कर में बैठके भयभीत मन मत हो। डूबने का भय छोड़ दे जो मालिक करेगा सोई होगा ॥५॥

मैं मेरी सब जायगी, तब आवेगी और।
जब यह निहचल होयगा, तब पावेगा ठौर ॥ ६ ॥

जब हृदय से मैं, मेरी सब निकल जायेगी तब और कुछ ज्ञान, विचार, धैर्य का स्थान मिलेगा। जब मन स्थिर होगा तबही स्थिति होगी अन्यथा नहीं ॥६॥

बहुत गई थोरी रही, व्याकुल मन मत होय।
धीरज सबको मित्र है, करी कमाई न खोय ॥ ७ ॥

बहुत उम्र चली गई अब थोड़ी सी और है। ऐ मन! घबड़ाओ मत। धैर्य सबही का मित्र है उसे ही धरो, अपनी कमाई हुई वस्तु मत गमाओ ॥७॥

धीरज बुधि तब जानिये, समुझै सबकी रीत।
उनका अवगुन आप में, कबहु न लावै मीत ॥ ८ ॥

धैर्य बुद्धि तब समझो जब सबकी रीति भाँति समयानुसार समझ में आवे। ऐ मित्र! किसीका दुर्गुण अपने में कभी न लावे ॥८॥

साहिब की गति अगम है, चल अपने अनुमान।
धीरे धीरे पाँव धर, पहुँचेगा परमान ॥ ९ ॥

मालिककी गति अगम्यहै, अपनी शक्तिके अनुसार चल। धीरे-धीरे पाँव उठाते रह। किसी न किसी दिन अवश्य पहुँचेगा ॥९॥

फिकिर (तो) सबको खागई, फिकिर ही सबका पीर।
फिकिर का फाका करै, ताको नाम फकीर ॥ १० ॥

चिन्ता सबको खा गई, सब दुःखोंका दुःख चिन्ताही है। दरअसल में वही फकीर है जो फिकिर (चिन्ता) को फाका मारता है अर्थात् चिन्ता विषको पान करने वालाही सन्त है ॥१०॥

इति श्री धीरजको अङ्ग ॥ ७७ ॥

अथ क्षमाको अङ्ग ॥ ७८ ॥

क्षमा बड़न को चाहिये, छोटन को उतपात।
कहा विस्नु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥ १ ॥

क्षुद्रोंके उपद्रव को क्षमा करना बड़ों का कर्त्तव्य है क्योंकि क्षमाही बड़ों में बड़प्पन गुण है। देखिये, भृगु ऋषि ने विष्णु भगवान को लात मारी तो उन्हें क्या बिगड़ा ? कुछ नहीं ॥१॥

क्षमा क्रोध की छै करै, जो काहू पै होय।
कहैं कबीर ता दास को, गंजि सकै नहिं कोय ॥ २ ॥

यदि किसीके पास क्षमा होय तो वह क्रोध को भी नाश करती है। कबीर गुरु कहते हैं कि क्षमाधारीको कोईभी कुछ नहीं कर सकता ॥२॥

भली भली सब कोइ कहै, रही क्षमा ठहराय।
कहैं कबीर शीतल भया, गई जु अगन बुझाय ॥ ३ ॥

जिसके हृदयमें क्षमा सद्‌गुण स्थिर रहेगा उसे सबही भला कहेंगे। क्रोध अग्निको शान्त होनेपर स्वाभाविक शीतलता आती है ॥३॥

भली भली सब कोइ कहै, भली क्षमा का रूप।
जाके मनहि क्षमा नहीं, सो बूड़ै भव कूप ॥ ४ ॥

भली भली सब क्यों न कहें ? क्योंकि क्षमाका स्वरूपही भला है। जिसके हृदयमें क्षमा नहीं है, वह संसार अन्ध कुयें में डूबता है ॥४॥

करगस सम दुर्जन बचन, रहै सन्तजन टार।
बिजुली पड़े समुद्र में, कहा सकेगी जार ॥ ५ ॥

दुष्टोंका वचन आराके सदृश होता है, उसे तो धैर्ययुत सन्तजन ही टाले रहते हैं। यदि बिजली समुद्रमें गिरेगी भी तो क्या जलायगी ? कुछ नहीं ॥५॥

काच कथीर अधीर नर, जतनकरत ह्वै भंग।
साधू कंचन ताइये, चढ़ै सवाया रंग ॥ ६ ॥

धैर्य रहित मनुष्य काँच, कथीरके समान तुच्छ है जो कि यत्नसे रखने पर भी स्थिर नहीं रहता। और धैर्यवान सन्त स्वर्ण के समान हैं जिनकी जाँच से सवाई शोभा बढ़ती है ॥६॥

काँचै को क्या ताइये, होत जतन में भंग।
साधू कंचन ताइये, चढ़ै सवाया रंग ॥ ७ ॥

जो यत्नसे रखनेहीमें टूट जाता है उस काँचको क्या तपाना ? तपाये जाते हैं स्वर्ण और सन्त, जिनपर सवा गुना अधिक रंग चढ़ता है ॥७॥

वाद विवादै विष घना, बोलै बहुत उपाध।
मौन गहै, सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध॥ ८ ॥

व्यर्थके वाद विवादमें अनेकों विषम भाव पैदा होते हैं। एवं अधि-

कारी बिना, बोलनेमें भी उपाधि है। अतः मौन धारण कर सबकी सहे और रामका नाम अखण्ड स्मरण किया करें ॥८॥

सबल क्षमी निर्गर्व धनी, कोमल विद्या वंत।
भव में भूषन तीन हैं, औरों सबै अनंत ॥ ९ ॥

बलवानको क्षमा, धनीको निरहंकारता और विद्वानको कोमलता ये ही संसार में तीन मुख्य भूषण हैं और सब गौण हैं ॥९॥

इति श्री क्षमाको अङ्ग ॥ ७८ ॥

अथ शीलको अङ्ग ॥ ७९ ॥

सील क्षमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुँचै नहीं, लाख कथे जो कोय ॥ १ ॥

"जाकी आँख शील नहीं होई। काल स्वरूप जानिये सोई" इति जिसके हृदयमें शील और क्षमा जब उत्पन्न होती है तब उसे अलख स्वरूप लखनेकी दृष्टि हो जाती है। उस पुनरावृत्ति देशको बिना शीलके नहीं पहुंच सकता, चाहे कोई लाख कथनी क्यों न कथे ॥१॥

सील गहै कोइ सावधान, तन पहरै जाग।
बासन बासन के खिसै, चोर न सकई लाग ॥ २ ॥

कोई सज्जन पुरुष शीलको धारण करता और सदा सचेत रहता है। जैसे बर्तनके परस्पर खरभर होनेसे चोर नहीं लग सकता ॥२॥

सील मिलावै नाम को, जो कोइ जानै राख।
कहैं कबीर मैं क्या कहूँ, शुकदेव बोलै साख ॥ ३ ॥

शील स्वभाव रामको मिला देता यदि इसे कोई धारण करना जाने। कबीर गुरु कहते हैं कि मैं ही अकेला नहीं कहता शुकदेवजी भी साक्षी दे रहे हैं ॥३॥

सीलहि राखि बिरक्त भै, हरि के मारग जाँहि।
साखो गोरखनाथ जो, अमर भये कलि माँहि॥ ४ ॥

शील स्वभावको धारण कर कलियुगमें बड़े-बड़े विरक्त योगी, भक्त प्रभुके मार्गे जाके अमर हो गये इसमें गोरखनाथ भी साक्षी हैं ।४॥

सीलवंत सब सों बड़ा, सब रतनों की खान।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन॥ ५ ॥

शीलवान पुरुष सबसे बड़े हैं क्योंकि शील सब रत्नोंका आकार है। और तीनों लोककी सम्पत्ति शीलके अन्तर्भूत है ॥५॥

सीलवंत निरमल दसा, पांव पड़े चहुँ खूँट।
कहैं कबीर ता दास की, आस करै वैकूँठ॥ ६ ॥

शीलवान पुरुष का चरित्र ऐसा निर्मल होता है कि चारों दिशा में उसकी पाँव पूजा होती है। कबीर गुरु कहते हैं कि उसके आनेकी आशा विष्णुलोक भी करता है ॥६॥

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोइ एक॥ ७ ॥

संसारमें ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, दाता, शूरमा, और जपिया, तपिया तो अनेकों हैं परन्तु शीलवान कोई एक ही है ॥७॥

घायल ऊपर घाव लै, टोटै त्यागी सोय।
भर जीवन में सीलवंत, बिरला होय तो होय॥ ८ ॥

जैसे घावके ऊपर घाव लेनेवाला तथा घाटा में दान देने वाला कोई कोई होता है तैसे ही जीवनपर्यन्त शीलवान कोई बिरलाही होता है ८॥

सुख का सागर सील है, कोई न पावै थाह।
सब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहिं साह॥ ९ ॥

शील सुखका सिन्धु है इसे कोई भी थाह नहीं पाता। और इसके बिना कोई सुखी ऐसे नहीं होता जैसे सार शब्द ज्ञान बिना, साधु और द्रव्य बिना साहुकार कोई नहीं हो सकता ॥९॥

विषय पियारे प्रीति सों, सतगुरु अंतर नाँहि।
जब अंतर सतगुरु बसै, बिषया सों रुचि नाँहि ॥ १० ॥

विषयको प्रिय समझकर वही प्रीति करता है जिसके हृदयमें सद्गुरु नहीं है। और जब सद्गुरु अन्दर में आते हैं तब विषय रुचि नहीं होती ॥१०॥

आव कहै सो औलिया, बैठ कहै सो पीर।
जा घर आव न बैठु है, सो काफिर बेपीर ॥ ११ ॥

जो प्रेमसे बुलाते हैं वे परमहंस हैं। जो दया करके बैठाते हैं वे गुरू हैं। और जिसके हृदयमें आदर भाव भक्ति कुछ नहीं है वह निर्दयी काफिर विधर्मी हैं ॥११॥

इति श्री शीलको अङ्ग ॥ ७९ ॥
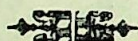
अथ सन्तोषको अङ्ग ॥ ८० ॥

संतोषहि सहिदान है, सब्दहि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सील मत सार ॥ १ ॥

सद्गुरुकी कृपा से सहज समाधि, शील, सार शब्द का रहस्य और सार सिद्धान्त की जो प्राप्ति है उसकी निशानी सन्तोष ही है ॥१॥

गोधन गजधन बाजिधन, और रतनधन खान
जब आवै सन्तोषधन, सब धन धूलि समान ॥ २ ॥

गो, गज, बाज ये पशु धन हैं और हीरा, पन्ना, पुखराज, नीलमादि की खान रत्न धन हैं परन्तु इन सब प्रकारों के धनों से तृष्णारूपी क्षुधा की तृप्ति नहीं होती। और अधिक वढ़ती ही जाती है और जब असल सन्तोषरूप धन आके प्राप्त होता है तव ऊपर वताये हुए सव धन धूरि के समान तुच्छ हो जाते हैं ॥१॥

इस साखी का अर्थ मैंने दृष्टान्त सहित व्याखयान रूपसे सविस्तार "सद्गुरु कबीरबचनामृत" ग्रन्थ में लिखा है जिज्ञासुओंको अवश्य देखने योग्य है ॥२॥

साधु संतोषी सर्वदा, जिनके निरमल बैन।
जिनके दरसन परस ते, जिय उपजै सुख चैन ॥ ३ ॥

वे ही सर्वदा सन्तोषी सन्त हैं जिनके दर्शन, स्पर्शन और निर्मल वचनों से हृदय में सुख, शांति मिलती है ॥३॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहन पति साह ॥ ४ ॥

मायिक पदार्थोंकी इच्छा दूर होनेसे चिन्ता नहीं रहती। और मन निस्प्रेही हो जाता है। जो सर्वेच्छा रहित हैं वे बादशाहों के भी बादशाह हैं ॥४॥

निज आसन सन्तोष में, सहज रहनि की ठौर।
गुरु भजने आसा भई, ताते कछू न और ॥ ५ ॥

जिनकी वृत्ति सन्तोषामृत पानसे तृप्त और सहजावस्थामें स्थिर है। वे केवल सद्गुरु भजनके अधिकारी हैं और किसी के नहीं ॥५॥

जग सारा दरिद्र भया, धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोइ जानिये, राम पदारथ होय ॥ ६ ॥

सन्तोष विना सारा जगत दरिद्र हो रहा है, कोईभी धनवान नहीं। जिसके पास 'राम' रत्न है उसीको धनवान समझो ॥६॥

देनेहारा राम है, जाय जंगल में बैठ।
हरि को लेई ऊबरे, सात पताले पैठ ॥ ७ ॥

प्रभु सबको देनेवाले हैं चाहे जंगलमें जाके बैठि देखो। देखो, सात लोकके नीचे पातालमें पैठके भी बलीने हरिको संग लेकर कृत कृत्य हो गया ॥७॥

कबहुँक मंदिर मालियाँ, कबहुंक जंगल वास।
सबही ठौर सुहावना, जो हरि होवै पास ॥ ८ ॥

चाहे कभी सुशोभित मन्दिर में निवास हो या शुन्नसान जंगल में। यदि प्रभु संग में हैं तो सब जगह सुन्दर व आनन्द है ॥८॥

साहेब मेरे मुझको, सूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, सुखी छीन नहिं लेय ॥ ९ ॥

ऐ मेरे प्रभु ! मुझे सूखीही रोटी में सन्तोष दे। चुपड़ी चपाती माँगने से यों डरता हूं कि कहीं सूखी भी न छीन ले ॥९॥

सात गाँठ कौपीन की, मन नहिं मानै संक।
नाम अमल माता रहै, गने इंद्र को रंक ॥ १० ॥

सन्तोषी पुरुषके कौपीनमें चाहे सात गाँठी क्यों न लगी हो तो भी मनमें शंका नहीं मानते। और राम अमलमें ऐसे मस्त रहते हैं कि, इन्द्र को भी दरिद्र गिनते हैं ॥१०॥

चिंता मत कर निर्चित रह, पूरनहार समर्थ।
जल थल में जो जीव हैं, उनकी गाँठि न अर्थ ॥ ११ ॥

चिन्ता रहित अचिन्त रहो, पूर्ण करनेवाला समर्थ प्रभु है। देखो, जल, थल निवासी प्राणियों के पास में कोई भी द्रव्य नहीं हैं। तो भी भूखे नहीं मरते ॥११॥

चिंता ऐसी डाकिनी, काटि करेजा खाय।
वैद बिचारा क्या करै, कहाँ तक दवा लगाय ॥ १२ ॥

चिन्ता ऐसी डाकिनी है कि मर्मस्थानके मांसको काट खाती है। जिसे सन्तोष नहीं है तो बैद्य बेचारे क्या करें? कहाँतक दवा लगावें ॥१२॥

इति श्री सन्तोषको अङ्ग ॥८०॥
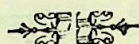
अथ साँचको अंग ॥८१॥

साँच शब्द हिरदै गहा, अलख पुरुष भरपूर।
प्रेम प्रीति का चोलना, पहिरै दास हजूर ॥ १ ॥

जिसने सच्चा शब्द को हृदय में धारण कर लिया, उसके लिये कोई जगह अलख पुरुषसे खाली नहीं। ऐसेही हजूरी दास प्रेम प्रीतिका चोला पहिरते हैं ॥१॥

साँच बिना सुमिरन नहीं, भय बिन भक्ति न होय।
पारस में पड़दा रहै, कंचन किहि बिधि होय ॥ २ ॥

सच्चाई बिना ध्यान और भयके बिना भक्ति कदापि नहीं होती। पारस में पड़दा रहनेसे लोहा सोना कैसे बन सकता? हर्गिज नहीं ॥२॥

साँचै कोइ न पतीयई, झूठै जग पतियाय।
पाँच टका की धोपटी, सात टकै बिक जाय॥ ३॥

सच्ची बातपर विश्वास कोई नहीं करता, जगत झूठेका विश्वासी है। देखो, पाँच रुपयेकी पिछौरी झूठेके प्रतापसे सात टके में बिक गई॥३॥

साँचै कोई न पतीयई, झूठै जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय॥ ४॥

झूठेके विश्वासी सच्चीको नहीं मानते। देखलो, दूध, दही तो गली-गली मारे२ फिरता है और मदिरा बैठे २ बिकती है॥४॥

साँच कहै तो मारि हैं, यह तुरकानी जोर।
बात कहूँ सतलोक की, कर गहि पकड़ै चोर॥ ५॥

सच्ची कहनेवाले मारे जाते हैं यह "तुरकानी जोर" कहावत सही है। देखो, मैं सत्यलोककी बात बतलाता हूँ तो चोर कहके पकड़ता है ५

साँच कहूँ तो मारिहैं, झूठै जग पतियाय।
यह जग काली कूतरी, जो छेड़ै तो खाय॥ ६॥

यह दुनियाँ ऐसी अन्धी है कि सच्चे को मार और झूठे को इतबार करती है। ठीक यह जगत काली कुत्ती है इसे जो छेड़ता है उसी को काटती है॥६॥

साँचै का सांचा मिलै, अधिका बढ़ै सनेह।
झूठै को साँचा मिलै, तड़ दे तूटै नेह॥ ७॥

अधिक प्रेम सच्चे से सच्चे ही को बढ़ता है। झूठेको सच्चा मिलने से तो फौरन टूट जाता है॥७॥

साँच हुआ तो क्या हुआ, नाम न साँचा जान।
साँचा ह्वै साँचै मिलै, साँचै माँहि समान॥ ८॥

सच्चा हुआ ही तो क्या? जब तक कि सच्चा सद्गुरु नाम को नहीं जाना। जो सच्चा होके सच्चेसे मिलता है, वही सत्य में समाता है॥८

साँई सों साँचा रहो, साँई साच सुहाय ।
भावै लंबे केस रख, भावै घोट मुड़ाय ॥ ९ ॥

सत्य भावसे स्वामीको मिलो, उन्हें सत्यही से प्रेम है, शृङ्गारकी जरूरत नहीं । चाहे केश लम्बे बढ़ाओ या घोट मुंड़ाओ ॥९॥

जाकी साँची सुरति है, ताका साँचा खेल ।
आठ पहर चौसठ घड़ी, है साँई सो मेल ॥ १० ॥

उसीका व्यवहार सच्चा है जिसका लक्ष्य सच्चा है । और उसीको सदैव स्वामी से सम्बन्ध भी है ॥१०॥

जिन नर साँच पिछानिया, करता केवल सार ।
सो प्रानी काहे चलै, झूठे कुल की लार ॥ ११ ॥

जिसने सत्यको पहिचानकर केवल सत्यही को अपने जीवनका सार लक्ष्य बना लिया है । वह नरजीव झूठे कुल के संग क्यों चलेगा ? कदापि नहीं ॥११॥

कबीर लज्जा लोक की, बोलै नाहीं साँच ।
जानि बूझि कञ्चन तजै, क्यौं तू पकड़ै काँच ॥ १२ ॥

ऐ कबीर ! जो मनुष्य लोकलज्जा में पड़के सत्य नहीं बोलता । वह मानो जान बूझके सोना को त्यागकर काँच को ग्रहण करता है, ऐसा तू मत कर ॥१२॥

तेरे अन्दर साँच जो, बाहर नाहिं जनाव ।
जाननहारा जानि है, अन्तरगति का भाव ॥ १३ ॥

यदि तेरे भीतर सत्यता है तो बाहर जनानेकी कोई आवश्यकता नहीं । जाननेवाले अन्दरूनी भाव सब जान लेते हैं ॥१३॥

अब तो हम कञ्चन भये, तब हम होते काँच ।
सतगुरु की किरपा भई, दिल अपने का साँच ॥ १४ ॥

प्रथम हम काँच थे परन्तु अब सद्गुरू की कृपा होने से सोने बन गये । क्योंकि हमने अपने हृदयको सच्चा बना लिया । हृदयकी सच्चाई से सब कुछ होता है ॥१४॥

कबीर पूँजी साहु की, तू मति खोवै ख्वार।
खरी बिगुरचन होयगी, लेखा देती बार ॥ १५ ॥

ऐ मन मुनीम ! तू जीवरूप साहूकी आयुरूप पूंजी व्यर्थ विषयादिक में मत खोवो। ध्यान रक्खो हिसाब देते वक्त बड़ी बुरी दशा होगी ॥१५

कंचन केवल हरि भजन, दूजा काँच कथीर।
झूठा आल जंजाल तजि, पकड़ा साँच कबीर ॥ १६ ॥

ऐ कबीर ! सद्गुरुका ज्ञान चिन्तन यही कंचन है और व्यवहार सब काँच, कथीरवत् व्यर्थ है। अतः व्यर्थ आडम्बरको छोड़कर सत्य को ही पकड़ ले ॥१६॥

झूठी बात नहिं बोलिये, जब लग पार बसाय।
अहो कबीरा साँच गहु, आवागवन नसाय ॥ १७ ॥

"मानुष भरषक चूके नाहीं। आखिर होय दोष कछु नाहीं ॥" इति। यथा शक्ति झूठी बात कभी मत बोल। ऐ कबीर ! सत्यको ग्रहण कर आवागमन सब मिट जायँगे ॥१७॥

साहेब के दरबार में, साँचे को सिर पाव।
झूठ तमाचा खायगा, क्या रंक क्या राव ॥ १८ ॥

मालिकके दरबारमें सच्चेके शिरपर मुकुट शोभता है। वहाँ पर तो झूठा चाहे राजा हो या दरिद्र तमाचा खायगा ॥१८॥

कबीर झूठ न बोलिये, जब लग पार बसाय।
ना जानो क्या होयगा, पलके चौथे भाय ॥ १९ ॥

"दम दमके कोई खबरि न जाने, करि न सके निरुवारा" इति बीजक। ऐ कबीर ! शक्ति भर झूठ मत बोलो। न मालूम पलकके चौथे भागमें क्या हो जायगा ? ॥१९॥

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप ॥ २० ॥

सच्चाईके बराबर तप, झूठाईके सदृश पाप और कोई नहीं। जिसके हृदयमें सच्चाई है, उसीके हृदयमें स्वयं मालिक रहता है ॥२०॥

इति श्री साँचको अङ्ग ॥ ८१ ॥

अथ दयाको अंग ॥ ८२ ॥

दया भाव हिरदै नहीं, ज्ञान कथै बेहद।
ते नर नरकहि जाहिंगे, सुनि सुनि साखी शब्द ॥ १ ॥

जिनके हृदय में प्राणियों के ऊपर दयादृष्टि नहीं है और बेहद्दका ज्ञान कथन करते हैं। तो वे साखी, शब्द सुन सुनकेभी नरक में चले जायँगे ॥१॥

दया कौन पर कीजिये, कापर निर्दय होय।
हम तो भये तमाशगी, नाटक बाजी जोय ॥ २ ॥

किसके पर दया और किसके ऊपर कुदया करनी। हम तो बाजीगर के नाच देखनेवाले तमाशाई हैं। अर्थात् संसार दृश्यके द्रष्टा हैं ॥२॥

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥ ३ ॥
दाया दिल में राखिये, तूँ क्यों निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥ ४ ॥

चींटीसे हस्ती पर्यन्त सब स्वामी के जीव हैं। किस पर दया और किस पर कुदया करनी ?। यदि ऐसा है तो भी तू अपने दिल में दया रख, तू क्यों निर्दयी होता है ।।३॥४॥

भावै जाओ बादरी, भावै जावहु गया।
कहैं कबीर सुनो भाइ साधू, सब ते बड़ी दया ॥ ५ ॥

कबीर गुरु कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनिये, चाहे बद्रिका आश्रम जाइये चाहे गयाधाम, ध्यान रहै दया धाम सबसे बड़ा है ॥५॥

बैरागी ह्वै घर तजा, पग पहिरै पैजार।
अन्तर दया न ऊपजै, घनी सहेगा मार ॥ ६ ॥

घर छोड़के विरागी बन गया और पांवमें पैजार (जूता) पहिन अकड़कर चलने लगा। यदि उसके हृदयमें दया नहीं हुई तो वह बहुत यमकी मार खायगा ॥६॥

वैरागी ह्वै घर तजा, अपना रांधा खाय।
जीव हते जौहर करै, बाँधा जमपुर जाय ॥ ७ ॥

घर परिवार को त्यागके वैराग्य धारण कर लिया और स्वयंपाकी बना है। तथा जीवोंकी हत्या करके शास्त्रोंकी ओप करता है तो वह यमपुर बांधे अवश्य जायगा ॥७॥

आग जलावै अँन दहै, मोटा आरंभ येह।
दीखै जम की जोट में, कीट पतंगा देह ॥ ८ ॥

आग जलाके अन्न को पकाना यह हिंसाका श्रीगणेश प्रथमारम्भ है। कीट पतंगादिका शरीर मृत्यु की बराबरीमें दीखता है। अर्थात् जीव हिंसा नीच योनिमें जानेका प्रयत्न है ॥८॥

पाकी ते डाकी भला, तिथि त्यौहारा लेय।
जीव सतावै राम का, नित उठि चौका देय ॥ ९ ॥

रोजके स्वयं पाकीसे डाकिनी अच्छी है जो केवल त्यौहार तिथि पर ही बलिदान लेती है। और स्वपाकी तो प्रतिदिन सुबह शाम आत्मा-रामको सताता है ॥९॥

पाका को मन पान्हेरे, क गोबर कै गार।
और जनम कहा पाइये, यह तो चाला हार ॥ १० ॥

स्वयंपाकीका मन सदा पन्हेड़ा या गोबर, गारामें लगा रहता है। इसलिये इस जन्ममें ये और क्या प्राप्तकर सकेंगे, यह तो व्यर्थमें चला गया ॥

चौके चिउँटी चूल्ह घुन, किरम बहुत जो नाज।
कहैं कबिर आचार यह, जिवको होय अकाज ॥ ११ ॥

चौका लगानेमें चींटी चूल्हे में लकड़ाका घुन और अनाजमें अनेकों जीव जन्तुकी हिंसा होती है, कबीर गुरु कहते हैंकि इस आचारसे जीवों की बड़ी हत्या होती है। अतः विचार से काम लेना चाहिये ॥११॥

आचारी सब जग मिला, बीचारी नहिं कोय।
जाके हिरदै गुरु नहीं, जिया अकारथ सोय ॥ १२ ॥

जगतमें आचारी बहुत मिलते परन्तु विचारी कोई नहीं। जिसके हृदयमें सद्गुरुका विचार नहीं है तो उसका जन्म व्यर्थ है ॥१२॥

जहाँ दया वहँ धर्म है, जहाँ लोभ तह पाप।
जहाँ क्रोध वह काल है, जहाँ क्षमा वहँ आप ॥ १३ ॥

जहाँ दया है वहीं धर्म है, जहाँ लोभ है तहीं पाप है। और जहाँ क्रोध है तहाँ काल तैयार है, इसीप्रकार जहाँ क्षमा है तहाँ स्वयं प्रभु है॥

कुंजर मुखसे कन गिरा, खुटे न वाकौ (आ) हार।
कोड़ी कन लेकर चली, पोषन दे परिवार ॥ १४ ॥

खाते हुये हस्तीके मुखसे दाना गिर गया उसके आहारमें तो कमी न हुई और लाखों चींटियाँ उस कणको लेकर परिवार पोषने चलीं ॥१४॥

दाता दाता चलि गये, रहि गये मक्खीचूस।
दान मान समुझे नहीं, लड़ने को मजबूत ॥ १५ ॥

कर्ण, बलि आदि दाता सब चले गये, और मक्खीचूस मूँजी सब रहि गये हैं ये दान सत्कार तो समझते नहीं लड़ने को सब मजबूत मूसरचन्द हैं ॥१५॥

दया का लच्छन भक्ति है, भक्ति से होवै ध्यान।
ध्यान से मिलता ज्ञान है, यह सिद्धान्त उरान ॥ १६ ॥

प्रभु भक्ति दया का स्वरूप है, भक्ति से ध्यान और ध्यानसे ज्ञान प्राप्त होता है इसी सिद्धान्तको हृदयमें लावो ॥१६॥

दया दया सब कोइ कहै, मर्म न जानै कोय।
जात जीव जानै नहीं, दया कहाँ से होय ॥ १७ ॥

दया २ सब कोई कहते हैं परन्तु सत्संग विमुख इसका भेद कोई नहीं जानते। क्योंकि जात जीव यानी प्राणी मात्र को अपना स्वरूप नहीं जानते तो दया धर्म कहाँ से होवे ? ॥१७॥

दया सबहि पर कीजिये, तू क्यौं निर्दय होय।
जाकी बुद्धि ब्रह्म में, सो क्यौं खूनी होय ॥ १८ ॥

प्राणी मात्र पर दया करो, तू निर्दयी क्यों होता है ? अरे ! जिसकी बुद्धि ब्रह्ममय हो गई वह खूनी कैसे होगा ? हर्गिज नहीं ॥१८॥

कबीर सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ॥ १९ ॥

ऐ कबीर ! वही श्रेष्ठ गुरु पीर है जो परकी पीड़ा जानता है। और जो दूसरे का दुःख नहीं जानता वह काफिर कसाई है ॥१९॥

दया धर्म का मूल है, पाप मूल संताप।
जहाँ क्षमा तहाँ धर्म है, जहाँ दया तहाँ आप ॥ २० ॥

धर्म की जड़ (नींव) दया है। दुःखकी बुनियाद पाप है। और जहाँ क्षमा है तहाँ धर्म भी है, प्रभु का स्वरूप दयामय है। अतः दया धर्मको धारण करो यही प्रभु की भक्ति है ॥२०॥

इति श्री दयाको अङ्ग ॥ ८२ ॥
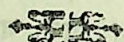
अथ दीनताको अंग ॥ ८३ ॥

दीन गरीबी बंदगी, साधुन सों आधीन।
ताके संग में यौं रहूं, ज्यौं पानी संग मीन ॥ १ ॥

जो सेवक विनयावनत दीन और सन्तों के अधीन है। उसके संगमें मैं ऐसे रले मिले रहता हूँ जैसे पानी में मछली ॥१॥

दीन गरीबी बंदगी, सबसों आदर भाव।
कहैं कबीर सोई बड़ा, जामें बड़ा सुभाव ॥ २ ॥

जो गरीबी धारण कर श्रद्धा सहित विनय पूर्वक सबकी सत्कार सेवा करता है। कबीर गुरु कहते हैं कि ऐसा बड़ा स्वभाव वाला ही सबसे बड़ा है ॥२॥

दीन गरीबी दीन को, दुंदर को अभिमान।
दुंदर तो विष सों भरा, दीन गरीबी जान ॥ ३ ॥

सद्गुरु सत्संगीको दीनता व गरीबी में ही शोभा है, और उपद्रवी को अभिमानमें क्योंकि उपद्रवी तो विष से भरा है और दीन-यानी धर्म पूर्ण गरीबी है ॥३॥

दीन लखै मुख सबनको, दीनहि लखै न कोय।
भली विचारी दीनता, नरहु देवता होय ॥ ४ ॥

गरीब सबके मुखको देखता है और गरीबका कोई नहीं। इसलिये बेचारी गरीबी अच्छी है कि गरीबीके कारण नरभी देव होता है जिससे भली भाँति भले बुरेकी परीक्षा हो जाती है ॥४॥

इक बानी सो दीनता, सब कछु गुरु दरबार।
यही भेंट गुरु देव की, संतन कियो विचार ॥ ५ ॥

एक ही गरीबी धारण कर लो गुरु दरबारमें सर्व पदार्थ भरे पड़े हैं। संतोंने विचार किया हैकि गुरुदेवकी भेंट दीनता सबसे भली चीज है ॥५॥

जल थल जीव जिते तिते, रहें सकल भरपूर।
जो दिल आवै दीनता, साँई मिले हजूर ॥ ६ ॥

जल, थल आदि सबही जगह जीव जन्तु भरे पड़े हैं। यदि दिलमें दीनता आजाये तो स्वामी भी समीप हीमें मिल जायँ ॥६॥

नहीं दान नहिं दीनता, संत नहीं मिहमान।
ता घर जम डेरा दिया, जीवत भया मसान ॥ ७ ॥

न कोई उत्तम धर्म है न गरीबी, न घर पर सन्त मिहमान हैं। ऐसों के घर जीतेजी यमने डेरा डाल श्मशान बना दिया है ॥७॥

कबीर नवै सो आपको, पर को नवै न कोय।
घालि तराजू तोलिये, नवै सो भारी होय ॥ ८ ॥

ऐ कबीर। जो कोई नम्र होता है वह अपने लिये, दूसरेके लिये नहीं। तराजूंमें डालके देखलो, जो नीचे झुकता है वही भारी कहलाता है ॥८॥

आपा मेटै पिव मिलै, पिव में रहा समाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कहै तो को पतियाय॥ ९ ॥

जो अभिमानको दूर करता है वही प्रभुसे मिलता है और उसमें समाय रहता है। अजब प्रेम की कहानी है, कोई कहे भी तो कौन विश्वास करता है ? ॥९॥

नीचे नीचै सब तिरै, संत चरन लौ लीन।
जातिहि के अभिमान ते, बूड़े सकल कुलीन ॥ १० ॥
नीचै नीचै सब तिरै, जिहि तिहि बहुत अधीन।
चढ़ि बोहित अभिमान की, बूड़े ऊँच कुलीन ॥ ११ ॥

नम्रता पूर्वक सन्तों के चरणों की अधीनता स्वीकार कर गणिका, गिद्ध, शेवरी आदि नीच सब तर गये। और जातिके अभिमानसे श्रेष्ठ पाण्डवादि सब गल गये। और भी अभिमान रूपी नौका पर चढ़के ऊँचे कुलीन सब बूड़ गये, कहाँ तक गिनावें ॥१०॥११॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोज्यो आपना, मुझसा बुरा न होय ॥ १२ ॥
कबीर सब ते हम बुरे, हमते भल सब कोय।
जिन ऐसा करि बूझिया, मीत हमारा सोय ॥ १३ ॥

बुरा देखनेको में चला परन्तु कोई भी न मिला। कब! जब बुराइयोंको अपने आपमें खोज किया, फिर तो अपने समान बुरा कोईदीखाही नहीं। ऐ कबीर हम सबसे बुरे और हमसे सब कोई अच्छे हैं। ऐसा जिसने समझ लिया, बस! वही हमारा मित्र है ॥१२॥१३॥

दरसन को तो साधु हैं, सुमिरन को गुरु नाम।
तरवे को आधीनता, डूबन को अभिमान ॥ १४ ॥

दर्शनके वास्ते सन्त और चिन्तनके लिये गुरु मंत्र है। इसी प्रकार उद्धार के लिये नम्रता और बूड़नेके लिये अभिमान है ॥१४॥

नमन खमन अरु दीनता, सबकूँ आदर भाव।
कहैं कबीर सोई बड़े, जामें बड़ो सुभाव ॥ १५ ॥

यद्यपि नम्रता, क्षमा, गरीबी तथा सबको आदर भाव करना श्रेष्ठ है तथापि कबीर गुरु कहते हैं कि सबसे बड़ा वही है जिसका बड़ा उदार स्वभाव है ॥१५॥

मिसरी बिखरी रेत में, हस्ती चुनी न जाय।
कीड़ी ह्वै करि सब चुनै, तब साहिब कूँ पाय ॥ १६ ॥

जैसे धूलमें बिखरी हुई चीनीको हस्ती नहीं चुन सकता। उसे चींटी ही चुन सकती है तैसेही प्रभुको कोई अभिमानसे नहींपा सकता, साहिब तो सिर्फ सबूरी, गरीबीसे मिलते हैं ॥१६॥

इति श्री दीनताको अङ्ग ॥ ८३ ॥

अथ विनतीको अंग ॥ ८४ ॥

विनवत हूँ कर जोरि के, सुन गुरु कृपानिधान।
संतन को सुख दीजिये, दया गरीबी ज्ञान ॥ १ ॥

हे दयानिधे ! सुनिये, हाथ जोड़कर मेरी यही विनय है कि सन्तों को दया, गरीबी, ज्ञान और शान्ति दीजिये ॥१॥

क्या मुख ले विनती करूँ, लाज आवत है मोहि।
तुम देखत औगुन किया, कैसे भाऊँ तोहि ॥ २ ॥

हे प्रभु ! मुझ अकिञ्चनके पास कोई ऐसा पुरस्कार उपहारार्थं नहीं है कि तुम्हारे आगे करके विनय करूं अतः विनय करने में भी मुझे लज्ज

आती है। क्योंकि तुम्हारे देखते हुए एक, दो नहीं किन्तु लाखों अपराध किया व करता हूँ फिर तुम्हें पसन्द आऊँ तो किस तरह ॥२॥

बनजारी विनती करै, नरियर लाई हाथ।
टाँडा था सो लदि गया, नायक नाहीं साथ ॥ ३ ॥

मन रूप नारियरको हाथमें लेकर सावधान चित्तकी वृत्ति विनयकर कहती है कि हे प्रभु ! शरीर रूप टाँडा (बैलोंका गिरोह) जो था वह लद गया और नायक साथ में नहीं था अर्थात् त्रिविध ईषणा रूप बोझ लादके वृत्ति शरीर, संसारमें फँसी रह गई और चित्स्वरूप स्वामी रूप नायक के संग नहीं गई। अतः दुखी हुई और होती है ॥३॥

औगुन किया तो बहु किया, करत न मानी हार।
भावै बंदा बख्शिये, भावै गरदन मार ॥ ४ ॥

ऐ प्रभु ! अपराध किया तो बहुतेही किया और करते २ थका भी नहीं। अब बन्दाका शिर संमुख झुका है मारिये या उद्धार कीजिये। यह तुम्हारे अधीन है ॥४॥

औगुन मेरे बापजी, बख्शो गरीब निवाज।
मैं तो पूत कपूत हूं, तोहि पिता को लाज ॥ ५ ॥

ऐ गरीब परवर ! मेरे मालिक ! मेरा अपराध क्षमा करो, मैं कुपुत्र हूँ या जो कुछ हूँ, तेरा हूँ, मेरी लाज तुझे ही है ॥५॥

मैं खोटा साँई खरा, मैं गाधा मैं गार।
मैं अपराधी आतमा, साँई सरन उबार ॥ ६ ॥

मैं खोटा, और स्वामी खरे हैं, मैं जो कुछ अधम गँवार हूँ। और अपराधी या महापापात्मा हूँ, मैं ही हूँ, अब तो मैं आपकी शरण हूँ उद्धार कीजिये ॥६॥

मैं अपराधी जनम का, नखसिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भंजना, मेरी करो सम्हार ॥ ७ ॥

मैं जन्मका अपराधी हूँ, नखसे शिखा पर्यन्त विकार भरे पड़े हैं। आप दीन रक्षक दाता हो मैं आपकी शरण हूँ मेरी सँभाल करो ॥७॥

सुरति करो मम साँइया, मैं हूं भौजल माँहि ।
आपै ही मरि जाउँगा, जो नहिं पकड़ो बाँहि ॥ ८ ॥
मेरे प्रभु ! मेरी सुधि लो मैं भवसिन्धु में पड़ा हूं । मैं खुदही मर जाऊँगा यदि उद्धार न करोगे तो ॥८॥

और पतित तो कूप हैं, मैं हूं समुँद्र समान ।
एक टेक गुरु नाम की, सुनियो कृपानिधान । ९ ॥
हे पति पावन ! और पतित सब कूप हैं और मैं तो सागर सदृश हूं, दयानिधे ! सुनिये, बस ! एकही आपके नामकी आशा है ॥९॥

औसर बीता अल्प तन, पीव रहा परदेस ।
कलंक उतारो साँइया, भानो भरम अँदेश ॥ १० ॥
नर तनके शुभ अवसर बीतेजा रहेहैं, आयु बहुत थोड़ी है प्रभुपरदेश में हैं । स्वामिन् कलंक मिटाईये और भ्रान्ति चिन्ता दूर कीजिये ॥१०॥

साँई मेरा सावधान, मैं हो भया अचेत ।
मन बच करम न गुरु भजा, ताते निष्फल खेत ॥ ११ ॥
स्वामिन् ! आप तो सचेत हैं मैं ही अचेत पड़ा हूं । हे गुरो ! मैं मन, कर्म, वचन से आपका नाम नहीं लिया इसलिये मेरा नर जन्म खेत निष्फल गया ॥११॥

अबकी जो साँई मिले, सब दुख आखूँ रोय ।
चरनौं ऊपर सिर धरूँ, कहूँ जो कहना होय ॥ १२ ॥
अबकी बार जो कहीं स्वामी मिले तो सब दुख रो रो कर कहूं । और उनके चरणों में शिर धरके जो कुछ वक्तव्य होय उन्हें सब सुना देऊँ ॥

कबीर साँई मिलहिंगे, पूछेंगे कुसलात ।
आदि अन्तकी सब कहूँ, उर अन्तर की बात ॥ १३ ॥
यदि स्वामी मिलें और कुशल मंगल पूछेंगे तो आदिसे अन्त तक हृदयकी सबही वार्ता उन्हें कह सुनाऊंगा ॥१३॥

कर जोरे विनती करूँ, भौसागर हि अपार।
बंदा ऊपर मिहर करि, आवा गवन निवार ॥ १४ ॥

ऐ प्रभु ! भवसिन्धु अपार है अतः हाथ जोड़कर विनय करता हूँ। दास पर दया करके अबकी बार तो जन्म मरणसे उद्धार करो ॥१४॥

मेरा मुझमें कछु नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर ॥ १५ ॥

मेरा पना मुझमें कुछ भी नहीं है सब कुछ तेरा है। तेरा तुझे समर्पण करने में मेरी क्या लागत है ? कुछ नहीं ॥१५॥

तेरा तुझमें कछु नहीं, जो कुछ है सो मोर।
मेरा मुझको सौंपते, दिल धड़केगा तोर ॥ १६ ॥

गुरु वचनः—तेरा तुझमें कुछ नहीं है, मैं समझ लिया, सब कुछ मेरा ही है तो भी मेरा ही मुझे हवाले करने में तेरा दिल काँप उठेगा ॥१६॥

दरस दान मोहि दीजिये, गुरु देवन के देव।
और नहीं कछु चाहिये, निसदिन तेरी सेव ॥ १७ ॥

हे देवोंके देव गुरो ! मुझे दर्शन भिक्षा दीजिये। बस ! अहोरात्र तेरे चरणोंकी सेवाके सिवा और कुछ नहीं चाहिये ॥१७॥

तुम गुरु दीन दयाल हो, दाता अपरम पार।
मैं बूड़ूँ मँझधार में, पकड़ि लगावो पार ॥ १८ ॥

हे दीनबन्धु गुरो ! आप ऐसे परमदानी दयालुके होते हुए क्यामैं बीच धार में डूब जाऊं ? नहीं नहीं, गुरुजी ! शरण हूँ, पकड़के उद्धार कीजिये।

अबरन को क्या बरनिये, मो पै बरनि न जाय।
अबरन बरनै बाहिरै, करि करि थका उपाय ॥ १९ ॥

वर्णाश्रमादिसे रहितको क्या वर्णन करना ? मेरे वशका नही है। मैं यत्न कर२ के थक गया तू अवरन वरन दोनोंसे बाहर है ॥१९॥

मुझमें इतनी शक्ति क्या, गावूँ गला पसार।
बन्दे को इतनी घनी, पड़ा रहूँ दरबार ॥ २० ॥

मुझमें इतना समर्थ कहां ? कि आपके गुणानुवाद मुक्त कण्ठ से गाऊं। बस ! बन्दाके लियेतो इतनाही काफी हैकि शरणमें पड़ा रहूँ ॥२०॥

जब का माई जनमिया, कितै न पाया सूख।
डारी डारी मैं फिरूँ, पात पात में दूख ॥ २१ ॥

जबसे माताने जन्म दिया, सुख कहीं न पाया। मैं जिस २ शाखा (मार्ग) पर पग देता हूं उसके पत्ते २ में दुख भरे हैं ॥२१॥

कबीर मैं तबही डरूँ, जो मुझही में होय।
मीच बुढ़ापा आपदा, सब काहू को जोय ॥ २२ ॥

ऐ कबीर ! मैं तो तबही डरता जबकि एक मेरे ही में दुःख होता ? किन्तु मृत्यु, जरा, आपत्ति. तो सबही शरीरधारीको होती है। फिर मुझे भय क्या ? ॥२२॥

कबीर करत है बीनती, सुनो सन्त चितलाय।
मारग सिरजनहार का, दीजै मोहि बताय॥ २३ ॥

जिज्ञासुकी विनय है कि हे सन्तो ! एकाग्र चित्तसे श्रवण कीजिये। और कृपया मालिकका मार्ग मुझे दिखला दीजिये ॥२३॥

कबीर यह विनती करै, चरनन चित्त बसाय।
मारग साँचा संत का, गुरु मोहि देउ बताय ॥ २४ ॥

जिज्ञासुकी यही प्रार्थना है कि सन्तका सद्गुरु चरणोंमें चित्त लगाके सच्चा मार्ग मुझे दिखला दीजिये ॥२४॥

जन कबीर बंदन करै, किस विधि कीजै सेव।
वार पार की गम नहीं, नमो नमो निज देव ॥ २५ ॥

जिज्ञासु जन बन्दना करता है कि हे सद्गुरो ! किस प्रकार आपकी सेवा की जाय। वार पारको गति नहीं है, अतः हे निज देव ! आपके चरणोंमें यह बार बार नमस्कार है ॥२५॥

जय गुरुवर जय सन्तवर, जय सत्संग अधार।
साखी अर्थ समुद्र से, कुशल कियो मुझ पार ॥ १ ॥

बन्दौं सत्य कबीर गुरु, जिहिं वाणी शिरताज ।
संग करी कृत कृत्य हुई, मम वाणी है आज ॥ २ ॥
ज्ञान ध्यान गुरु-भक्ति-पथ, सत्य बोध सुज१ हीन ।
चौरासी अँग सहित जू, साखि ग्रंथ रचिदीन ॥ ३ ॥
पढ़ि गुनि अर्थ विचार करि, प्राप्त कियो निजरूप ।
भाव अर्थ जिज्ञासु हित, लिख्यो सुमति अनुरूप ॥ ४ ॥
प्राप्त भये जिहिं रूपको, वृत्ति न होय दुखरूप ।
सबके सब दिन प्रेम सो, निज स्वरूप चिद्रूप ॥ ५ ॥
अस आतम अनुभव भये, वृत्ति होय चिति शान्त ।
पुनः क्षुभित घृत पूपवत् , मिले जिज्ञासू भ्रान्त ॥ ६ ॥
बनबन भनभन भृंग भी, ज्योंलों मधु नहिं पान ।
गुंजत किञ्चितक चितचिति, प्रगट करत मदज्ञान ॥ ७ ॥
जानि जिहि ज्ञातव्य नहिं, रहत शेष लवलेश ।
कृपा करि निज ओर दियो, सो 'राघव' आदेश ॥ ८ ॥
पूरण ज्ञान स्वरूप गुरु, सब विधि पूरण रूप ।
जानि पूरणता आपकी, भयो सुपूरण चूप ॥ ९ ॥

इति श्री अनन्त आचार्य रामविलास साहिब का शिष्य
पंडित महाराज राघवदासजी कृत सटीक

विनतीको अङ्ग सम्पूर्ण ॥८४॥

१—श्रेष्ठ प्रतिभाशाली । संशय विपर्यय ज्ञान रहित यथार्थ ज्ञान युत ।

* सद्गुरवे नमः *

अथ परिशिष्ट प्रश्नोत्तरको अङ्ग

गुरु तुम्हारा कहाँ बसै, चेला कहाँ बसाय।
क्यौं करिके मिलना भया, बिछुड़े आवै जाय ॥ १ ॥
गुरु हमारा गगन में, चेला है चित माँहि।
सुरति सब्द मेला भया, बिछुड़त कबहूं नाँहि ॥ २ ॥

प्रश्नः—गुरु और शिष्यका निवास स्थान कहाँ है मिलाप व वियोग किसका और कैसे हुआ ? ॥१॥

उत्तरः—विशुद्ध ज्ञान स्वरूप गुरु हमारे गगनमें यानी हृदयाकाश में रहते हैं और चेला चित्तमें अर्थात् पदार्थका प्रकाशक जो अन्तःकरण और अज्ञानका परिणाम है उस चित्त वृत्ति में शिष्य रहता है। जब ज्ञान शब्द स्वरूप गुरुमें वृत्ति लय हो जाती है तब कभी भी उसका वियोग नहीं होता ॥२॥

कहाँ बुंद सायर मिली, किहि बिधि कौन सनेह।
यह मन में संसै भया, समुझि अर्थ कहि देह ॥ ३ ॥
गगन बुँद सायर मिला, उत्तम परम सनेह।
मन का संसै दूर करु, समुझि अर्थ गहि येह ॥ ४ ॥

प्रश्नः—सागरकी बुन्द कहाँ, किसप्रकार और किस स्नेहसे मिली ? मनके इस संशयको समझ अर्थ कहके निवृत्त कीजिये ? ॥३॥

उत्तरः—सायरकी बुन्द सर्वोत्कृष्ट प्रेम से आकाश में मिल गया। इस निष्कर्ष अर्थको ग्रहण कर मनका सशय दूर करो ॥४॥

सब्द कहाँ ते उठत है, कहु कहँ जाय समाय।
हाथ पाँव वाके नहीं, कैसे पकड़ा जाय ॥ ५ ॥

नाभि कमल ते उठत है, सुन्न में जाय समाय।
हाथ पाँव वाके नहीं, सुरति से पकड़ा जाय ॥ ६ ॥

प्रश्नः— शब्द कहांसे उठता और कहाँ जाके प्रवेश करता है ? जब कि उसे हाथ, पग नहीं है फिर पकड़ा कैसे जायगा ? ॥५॥

उत्तरः—शब्द नाभि कलमसे उठकर आकाशमें जाके लय होता है। यद्यपि उसे हाथ पग नहीं है तथापि वह विशुद्ध वृत्ति द्वारा पकड़ में आ जाता है ॥६॥

सब्द कहाँ से आइया, कहाँ सब्द का भाव।
कहाँ सब्द का सीस है, कहाँ सब्द का पाँव ॥ ७ ॥
सब्द ब्रह्मण्ड ते आइया, मध्य सब्द का भाव।
ज्ञान सब्द का सीस है, अज्ञान सब्द का पाँव ॥ ८ ॥

प्रश्नः—शब्द कहांसे आया और उसका भाव कहाँ है ? इसी प्रकार कृपा करके उसके मस्तक, और पगका भी स्थान बतलाइये ? ॥७॥

उत्तरः—शब्द ब्रह्माण्डसे आया है और मध्य स्थान में उसका भाव है। ज्ञान उसका शिरो भाग और अज्ञान पाँव है ॥८॥

कौन सब्द की नावरी, कौन सब्द असवार।
कौन सब्द की डोर है, कौन उतारै पार ॥ ९ ॥
साँच सब्द की नावरी, अकह सब्द असवार।
सुरति सब्द की डोर है, तुझे उतारै पार ॥ १० ॥

प्रश्नः—कौन शब्द नौका रूप है और कौन सवार है ? तथा डोरी रूप कौन शब्द है और किसे पार उतारता है ? ॥९॥

उत्तरः—सार शब्द नौका रूप है और अकथ शब्द (चिति) सवार है। सुरति शब्द डोरीरूप है तुझे (जिज्ञासुओं को) पार उतारता है ॥१०॥

कौन सरोवर पानि बिन, कौन मीच बिन काल।
कौन सुपरिमल्ल बास बिन, कौन ब्रिच्छ बिन डाल ॥ ११ ॥

मान सरोवर पानि बिन, नींद मीच बिन काल।
सब्द सुपरिमल बासबिन, सुरति ब्रिच्छ बिन डाल ॥ १२ ॥

प्रश्नः—बिना जलके सरोवर तथा बिना मृत्युके काल कौन है ? और बिना सुगन्धके खुशबूदार पदार्थ तथा बिना शाखाके वृक्ष कौन है ?॥११

उत्तरः—मानस तालाब (सत्संग) बिना जलके तथा बिना मृत्युका काल नींद है। एवं बिना सुगन्धका परिमल शब्द (संतोंका समुदाय) तथा बिना डाल का वृक्ष सुरति है ॥१२॥

कौन कसै कसवाव को, कौन जु लेय छुड़ाय।
यह संसै जिय ह्वै रहा, साधु कहो समुझाय ॥ १३ ॥
काल कसै कसवाव करम, सतगुरु लिया छुड़ाय।
कहैं कबीर पुकारि के, सुनो संत चितलाय ॥ १४ ॥

प्रश्नः—कसवाव कर्मको कौन कसता है तथा उसे छोड़ाता कौन है? हे सन्तो ! मेरे इस संशयको निवृत्त कीजिये ॥१३॥

उत्तरः—जीवों पर काल,कसवाव कर्म को कसता है तथा सद्गुरु उसे छुड़ा लेते हैं। कबीर गुरु कहते हैं कि हे जिज्ञासुओं ! एकाग्र चित्त से सुनो ॥४१॥

कबीर मन मैला भया, यामें बहुत विकार।
यह मन कैसे धोइये, साधू करो विचार ॥ १५ ॥
गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसे रंग अपार ॥ १६ ॥
कबीर काया को झगो, साँई साबुन नाम।
रामहि राम पुकारता, धोया पाँचौं ठाम ॥ १७ ॥

प्रश्नः—यह मन मैला हो गया तथा इसमें बहुत विकार भी भर गया है। हे सन्तो ! इसे किस प्रकार धोया जाय ? विचार कीजिये ॥१५॥

उत्तरः—सद्गुरु धोबी हैं तथा शिष्य कपड़ा है इसे धोनेके लिए मालिकके नामको साबुन बनाकर लगाओ और समाहित चित्त वृत्ति रूपी शिला पर खूब धोवो, एक अजब रंग निकलेगा ॥१६॥

ऐ कबीर ! इस काया रूपी भूलकी शुद्धि अर्थ स्वामी के नाम स्मरण रूपी साबुन लगाके रामेराम कहते चलो पंचकोशादि रूप पाँच टूक कपड़ा धोआ जायगा । शुद्ध हो जायगा ॥१७॥

इस तनमें मन कहँ बसै, निकसि जाय किहि ठौर।
गुरुगम ह्वै तो परखि ले, नातर कर गुरु और ॥ १८ ॥
नैनों माहीं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
गुरुगम भेद बताइया, सब संतन सिर मौर ॥ १९ ॥

प्रश्नः—इस तनमें मन कहाँ रहता है और किधर से निकल जाता है ? गुरु ज्ञान है तो परखो नहीं तो दूसरे गुरु करो ॥१८॥

उत्तरः—जाग्रदवस्थामें व्यवहारिक मनका निवास विशेष रूपसे नेत्रमें रहता है। और नव द्वारसे निकल जाता है । नवद्वार ये हैं :— दो कान, दो नाक, दो आँख, एक मुख, एक लिंग और एक गुदा । यह सब सन्तोंका शिरमौर गुरु गम भेद है, बतला दिया ॥१९॥

दूध फाटि घृत कहँ गया, काँसा फूटी नाद ।
तन छूटै मन कहाँ रहै, जानै बिरला साध ॥ २० ॥
दूध फाटि घृत दूध मिला, नाद मिली आकास ।
तन छूटै मन तहँ गया, जहाँ धरी मन आस ॥ २१ ॥

प्रश्नः—दूधके फट जाने पर घी और काँसा के वासन फूटने पर शब्द कहाँ गया ? इसी प्रकार तन छूटने पर मन कहाँ रहता हैं ! इसे कोई विरले सन्त जानते हैं ॥२०॥

उत्तरः—दूध फटने पर घृत दूधहीमें मिल जाता है और काँसा का नाद आकाशमें "जहाँ आशा तहाँ वाशा होई । वाको रोकि सके नहिं कोई" इत्यादि वचनके अनुसार तन छूटने पर मन आशामें वास किया व करता है ॥२१॥

कौन पवन घर संचरै, कहां किया परकास ।
नाद बिंद जब ना हता, तब कहँ किया निवास ॥ २२ ॥

हुलस पवन घर सँचरै, पंचम किय परकास।
नाद बिंद जब ना हता, तत्त्वहि किया निवास ॥ २३ ॥

प्रश्नः—पवन कौन घरमें विहार और कहाँ प्रकाश किया व करता है ? और जब नाद, बिन्द नहीं थे तब निवास कहाँ किया था ? ॥२२॥

उत्तरः—प्राण पवन आनन्द घरमें विहार और पंचम घरको प्रकाश किया व करता है। और जब नाद बिन्दका शरीर नहीं था तब तत्त्व स्वरूपही में निवास किया था ॥२३॥

सकल पसारा पवन का, सात द्वीप नौ खण्ड।
कौन नाम उस पवन का, जो गरजै ब्रह्मण्ड ॥ २४ ॥
सकल पसारा पवन का, सात द्वीप नौ खण्ड।
सोहं नाम उस पवन का, जो गरजै ब्रह्मण्ड ॥ २५ ॥

प्रश्नः—सप्त द्वीप व नवखण्ड पर्यंन्त सम्पूर्ण विस्तार पवन का है। उस पवनका क्या नाम है जो ब्रह्माण्डमें गरजता है ? ॥२४॥

उत्तरः–उस पवन का नाम 'सोऽहँ' है जो ब्रह्माण्ड में ध्वनि करता है

कौन पवन धरती बसै, कौन पवन आकास।
कौन पवन मध्ये बसै, कौन पवन परकास ॥ २६ ॥
धीर पवन धरती बसै, अगह पवन आकास।
मधुर पवन मध्ये बसै, अगह पवन परकास ॥ २७ ॥

प्रश्नः—कौन पवन धरती (धर) में और कौन आकाश में तथा मध्य स्थान में कौन एवं प्रकाश में कौन पवन रहता है ? ॥२६॥

उत्तरः—धीर पवन धरती में ओर अग्राह्य आकाश में तथा मधुर पवन मध्य स्थानमें और प्रकाश में अगर पवन रहता है ॥२७॥

कौन पवन ले आवई, कौन पवन ले जाय।
कौन पवन भरमत फिरै, सो मोहि देहु बताय ॥ २८ ॥
सहज पवन ले आवई, सुरति पवन ले जाय ॥
जीव पवन भरमत फिरै, कहैं कबीर समुझाय ॥ २९ ॥

प्रश्नः—नरजीव कौन पवन लेके आता है तथा कौन पवन लेके जाता है । और कौन पवन भ्रमता फिरता है ! कृपया बतलाइये ।।२८।।

उत्तरः—कबीर गुरु समझाकर कहते हैं कि सहज पवन लेके आता है तथा सुरति पवन लेके जाता है । और जीव पवन भ्रमता फिरता है ।।

तन का मंजन नीर है, नीरहि मंजन पौन ।
कहैं कबीर सुन पण्डिता, पौन का मंजन कौन ।। ३० ।।
तन का इन्द्री मैल है, मन पवना ले धोय ।
ज्ञान जु गुरु सों पाइये, पौन का मंजन सोय ।। ३१ ।।

प्रश्नः—कबीर गुरु कहते हैं कि ऐ पण्डितो ! सुनो, शरीर शुद्ध्यर्थ जल और जलके लिये वायु है परन्तु वायुकी शुद्धिके लिये क्या है ? ३०

उत्तरः—शरीरका मैल अनिग्रह इन्द्रियाँ हैं उन्हें शुद्ध मन पवनसे पवित्र करै ओर सद्‌गुरु से जो स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है वही पवन की पवित्रता है ।।३१।।

कौन देस ते आइया, कौन तुम्हारा ठाम ।
कौन तुम्हारी जाति है, कौन पुरुष को नाम ।। ३२ ।।
अमर लोक ते आइया, सुखसागर है ठाम ।
जाति अजाति मेरी है, सत्त पुरुष का नाम ।। ३३ ।।

प्रश्नः—कौन देशसे आये हो, तुम्हारा स्थान कहाँ है ? तुम्हारी जाति क्या तथा नाम तुम्हारा कौन पुरुषका है ? ।।३२।।

उत्तरः—अमर धामसे आये हैं, सुखसागर यानी सन्तोंका सत्संग मेरा स्थान है । जातिरहित मेरी जाति तथा सत्पुरुषका नाम है ।।३३।।

कौन तुम्हारी जाति है, कौन तुम्हारा नाँव ।
कौन तुम्हारा इष्ट है, कौन तुम्हारा गाँव ।। ३४ ।।
जाति हमारी आतमा, प्रान हमारा नाँव ।
अलख हमारा इष्ट है, गगन हमारा गाँव ।। ३५ ।।

प्रश्नः—तुम्हारी जाति तथा नाम और इष्ट, एवं बस्ती कौन है !

उत्तरः—मेरी जाति आतमा तथा नाम प्राण और अलख पुरुष इष्ट तथा हृदयाकाश (ब्रह्माण्ड) मेरा गाम है ॥३५॥

कहाँ से आया जीव यह, किसमें जाय समाय।
कौन डोर सै चढ़ि चला, कहो मुझे समुझाय ॥ ३६ ॥
सिरगुन आया जीव यह, निरगुन जाय समाय।
सुरति डोरि ले चढ़ि चला, सतगुरु दिया बताय ॥ ३७ ॥

प्रश्नः—यह जीव कहाँ से आया और कौन डोरी से चढ़के किसमें समाया ? समझाकर कहो ॥३६॥

उत्तरः—यह जीव सगुणसे आया और सुरति डोरी लै चढ़के निर्गुण में समा गया, यह सद्गुरुने बतला दिया ॥३७॥

कौन सुरति ले आवई, कौन सुरति ले जाय।
कौन सुरति है अस्थिरी, सो गुरु देहु बताय ॥ ३८ ॥
बास सुरति ले आवई, सब्द सुरति ले जाय।
परिचय सुरति अस्थिरी, सो गुरु दिया बताय ॥ ३९ ॥

प्रश्नः—हे गुरो ! कृपया यह बतला दीजिये कि यह कौन सुरति लैके आता, जाता और स्थिर होता है ? ॥३८॥

उत्तरः—वासना सुरतिसे आता और सार शब्द सुरति लैके जाता है परिचय सुरति द्वारा तत्त्वज्ञान स्वरूपमें स्थिर रहता है। यही रहस्य सद्गुरुने बतलाया है ॥३९॥

कौन राम दशरथ घर डोलै, कौन राम घट घट में बोलै।
कौन रामका सकल पसारा, कौन राम तिरगुन से न्यारा ॥
आकार राम दशरथ घर डोलै, निराकार घट घट में बोलै।
बुंद राम का सकल पसारा, निरालंब सबही सों न्यारा ॥

प्रश्नः—कौन राम दशरथ घरमें डोलते और कौन घट घटमें बोलते तथा किसका संपूर्ण पसारा है और कौन सबसे न्यारा है ? ॥४०॥

उत्तरः—आकार राम दशरथके घरमें डोले हैं और निराकार घट

घटमें बोलै हैं तथा बिन्दु रामका सकल पसारा है एवं निरालम्ब राम सबसे न्यारा है ॥४१॥

धरती तो रोटी भई, कागा लीया जाय ।
पूछो अपने गुरू को, कहाँ बैठि के खाय ॥ ४२ ॥
धीरज तो रोटी भई, कुबुधि काग लिया जाय ।
कहैं कबीरा बैठि के, बाद वृक्ष पर खाय ॥ ४३ ॥

प्रश्नः—धरती तो रोटी हुई ओर कागा लिये जाता है अपने गुरुसे पूछो कि वह कौन वृक्ष पर बैठके खायगा ? ॥४२॥

उत्तरः—कबीर गुरु कहते हैं कि धैर्यरूपी रोटीको कुबुद्धिरूप काग लिये जाता है और वह विवाद रूप वृक्ष पर बैठके खायगा ॥४३॥

कौन साधू का खेल है, कौन सुरति का दाव ।
कौन अमी का कूप है, कौन वज्र का घाव ॥ ४४ ॥
छिमा साधू का खेल है, सुमति सुरति का दाव ।
सतगुरु अमृत कूप है, शब्द वज्र का घाव ॥ ४५ ॥

प्रश्नः—साधुका खेल क्या है ? तथा सुरतिका दाव कौन है ? कौन अमृतका कूप है ओर वज्रका घाव कौन है ? ॥४४॥

उत्तरः—सन्तोंका खेल (रहस्य) क्षमा है ओर सुमति सुरतिका दाव है । सद्गुरु अमृतका कुण्ड है और वज्रका घाव शब्द है ॥४५॥

धरती अम्बर जायँगे, बिनसैगा कैलास ।
एकमेक ह्वै जायँगे, तब कहँ रहेंगे दास ॥ ४६ ॥
एकामेकी होन दे, बिनसन दे कैलास ।
धरती अंबर जान दे, मोमें मेरे दास ॥ ४७ ॥

प्रश्नः—जब पृथ्वी आकाश चले जायंगे और कैलास भी नष्ट हो जायगा । इसी प्रकार सबके सब एक मेक रलमिल जायेंगे तब दास कहाँ रहेंगे ? ॥४६॥

उत्तर:—सबको एकहीमें मिलने दो कैलासको भी नष्ट होने दो ।

इसी तरह धरती और आकाशको भी छोड़ दो । चिन्ता मत करो, मेरे दास मेरेमें रहेंगे ।।४७।।

कै रत्ती भर सुरति है, कै रत्ती भर काम ।
कै रत्ती भर माया है, कै रत्ती निज नाम ।। ४८ ।।
सोरा रति भर सुरति है, छत्तिस रति भर काम ।
माया सहस रती भरे, एक रती निज नाम ।। ४९ ।।

प्रश्नः—सुरति, काम, माया और नाम ये कितनी-कितनी रत्ती भर हैं ? ।।४८।।

उत्तरः—सुरति, सोलह रत्ती, काम छत्तीस रत्तो तथा माया हजार रत्ती और एक रत्ती भर नाम है ।।४९।।

कौन जगावै ब्रह्म को, कौन जगावै जीव ।
कौन जगावै सुरति को, कौन मिलावै पीव ।। ५० ।।
विरह जगावै ब्रह्म को, ब्रह्म जगावै जीव ।
जीव जगावै सुरति को, सुरति मिलावै पीव ।। ५१ ।।

प्रश्नः—ब्रह्म, जीव और सुरति को कौन जगाता है । तथा प्रभुसे मिलाता कौन है ? ।।५०।।

उत्तरः—ज्ञान बिरह ब्रह्मको और ब्रह्म जीवको इसी प्रकार जीव सुरति को जगाता है सुरति प्रभुको मिलाती है ।।५१।।

कै मासे भर नाम है, कै मासे भर पान ।
कै मासे भर पुरुष है, जाको धरिये ध्यान ।। ५२ ।।
आठ मासे भर नाम है, नौ मासे भर पान ।
सोरा मासे पुरुष है, जाको धरिये ध्यान ।। ५३ ।।

प्रश्नः—जिसका ध्यान किया जाय वो नाम, पान और पुरुष कितने कितने मासे के हैं ।।५२।।

उत्तरः—अधूरा फलदायक आठ मासे के तो नाम जप हैं और नव मासे भर अमृत पान तथा पूर्ण कलायुत सोलह मासेके पुरुष है जिसका ध्यान करना जिज्ञासुओं का परम कर्तव्य है ।।५३।।

श्रोता वक्ता कौन घर, जब नर आवै नींद ।
सब्द विराजै कौन घर, बूझौ कपिल मुनींद्र ॥ ५४ ॥
सब्द जाय दरबार में, ब्रह्म रन्ध्र के तीर ।
श्रोता वक्ता सब्द संग, मुनि सों कहैं कबीर ॥ ५५ ॥

प्रश्नः—जब मनुष्योंको नींद आती है तब श्रोता, वक्ता कौन घरमें रहते हैं ? और शब्द कौन घरमें रहता है ? कपिल मुनीन्द्र इस बातको पूछते हैं ॥५४॥

उत्तरः—कबीर गुरु मुनिसे कहते हैं कि ब्रह्मरन्ध्रके रास्ते मालिकके दरबारमें शब्द चला जाता है और श्रोता, वक्ता शब्दके साथ रहते हैं ॥

सब रंग पानी ते भया, सब रंग पानी सोय ।
जा रंग ते पानी भया, सो रंग कैसो होय ॥ ५६ ॥
सब रंग पानी ते भया, सब रंग पानी होय ।
जा रंग ते पानी भया, सत्त शब्द है सोय ॥ ५७ ॥

प्रश्नः—पानी से सब रंग हुये हैं और सब पानी स्वरूप ही हैं। परन्तु जिस रंग से पानी हुआ है वह रंग कैसा है ? ॥५६॥

उत्तरः—सुनिये, जिस रंगसे पानी हुआ है वह सत्य शब्द है ॥५७॥

नाद नहीं था बिंदु नहीं था, करम नहीं था काया ।
अलख पुरुष के जीभ नहीं थी, सब्द कहाँ ते आया ॥५८॥
नाद नहीं था बिंदु नहीं था, करम नहीं था काया ।
अलख पुरुषको जीभ नहीं थी, सब्द सुन्नते आया ॥५९॥

प्रश्नः—जब नाद, बिन्द तथा कर्म, काया नहीं थी और अलख पुरुषको जीभ भी नहीं थी तब शब्द कहाँ से आया ? ॥५८॥

उत्तरः—तब शब्द श्वासके साथ शून्यसे आया ॥५९॥

बोलता कहु कहँ बसै, केतिक रूप सरूप ।
कै पंखुरी की सुरति है, केतिक वस्तु अनूप ॥ ६० ॥

बोलता मध्यहि में बसै, हरा वरन सरूप ।
सात पंखुरिकी सुरति है, किंचित् बस्तु अनूप ॥ ६१ ॥

प्रश्नः—कहो बोलता कहाँ रहता है ? उसका स्वरूप कैसा है ? के पखुरी की सुरति तथा उपमा रहित बस्तु कितनी है ? ॥६०॥

उत्तरः—बोलता मध्य स्थानमें रहता है उसका स्वरूप हरा वरण है। सात प्रकार को सुरति और अनुपम वस्तु किञ्चित् मात्र है ॥६१॥

साखी सब्दी कब कही, मौन रहै मन माँहि ।
बिछुरा था कब ब्रह्म सों, कहिबे को कछु नाँहि ॥ ६२ ॥

साखी सब्दी जब कहीं, तब कछु जाना नाँहि ।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाँहि ॥ ६३ ॥

प्रश्नः—साखी, शब्द कब कहा गया ? मनमें मौन कब रहे ? ब्रह्म से बिछुड़ा कब था ? और कुछ कहने को कब न रहा ? ॥६२॥

उत्तरः—साखी, शब्द उस वक्त कहा गया था। जिस वक्त अज्ञान था। ज्ञान होने पर मौन रहे। संसारी अवस्था में ब्रह्म से वियुक्त था परमार्थ विचार दशामें उससे मिल गया अत; अब कुछ कहने को नहीं रहा ॥ ६३ ॥

हाथ पाँव मुख सीस धरि, बेगर बेगर नाम ।
कहैं कबीर विचारि के, तोर नाम कहँ ठाम ॥ ६४ ॥

हाथ पाँव मुख सीस धरि, बेगर बेगर नाम ।
कहैं कबीर विचारि के, मोर नाम सब ठाम ॥ ६५ ॥

प्रश्नः—हाथ, पग, मुँह, मस्तकके नाम अलग २ रक्खे गये हैं ? कबीर गुरु विचार कर कहते हैंकि तेरा नाम किस जगह है ? ॥६४॥

उत्तरः—यद्यपि मैं परमार्थसे अनामी हूँ तथापि व्यवहार दृष्टिसे सर्वत्र मेरा ही नाम है। मेरी सत्ता बिना कुछ नहीं होता ॥६५॥

सांई सीप समुद्र में, सोइ सांप नदि नाल ।
मोती क्यौं नहिं नोपजै, पंडित करो विचार ॥ ६६ ॥

सीप सीप सब एक है, सब जग बरसै स्वाँति ।
मोती यौं नहिं नीपजै, कोह कुबुधि बहु भाँति ।। ६७ ।।

प्रश्नः—जो सीप सागर में है वही नदी, नालेमें भी परन्तु मोती उसमें क्यों नहीं पकता ? हे पण्डितो ! विचार कीजिये ।।६६।।

उत्तरः—यद्यपि सीप सब समान है और सर्वत्र स्वाति नक्षत्र भी बरसता है । तथापि सब सीपमें मोती इस वजहसे नहीं पकता कि क्रोध कुबुद्धि आदि विकारसे पात्र अशुद्ध हो गया है अतः वहाँ फलद रूप जल नहीं ठहरता ।।६७।।

यथाः—"जैसी गोली गुमज की, नीच परी ढहराय ।
तैसा हृदया मूर्ख का, शब्द नहीं ठहराय ।। इति बीजक

माटी में माटी मिली, मिला पवन सों पौन ।
मैं तोहि बूझूँ पंडिता, दो में मूआ कौन ।। ६८ ।।
कुमति हति सो मिटि गई, मिट्यो बाद हंकार ।
दोनों का भेला मुआ, कहैं कबीर विचार ।। ६९ ।।

प्रश्नः—ऐ पण्डितो ! मैं पूछता हूँ कि स्थूल शरीर रूपी मिट्टी, मिट्टी में और पवन, पवनमें मिल गया तो फिर दोनों में मरा कौन ? ।।६८।।

उत्तरः—कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि सद्गुरुकी शरण आनेसे नरजीवकी जो कुमति थी वह मिट गई और मनका व्यर्थ अहंकार मिट गया। एवं जड़ चेतन का परस्पर अध्यास सम्बन्ध का छूटना ही मरना है ।। ६९ ।।

कुमति किसकी मिटि गई, किसका मिटा हंकार ।
क्यों करके भेला हुआ, सो मोहिं कहो विचार ।। ७० ।।
कुमति चित्तकी मिटि गई, मिट गया मन हंकार ।
दोनों का झगड़ा मिटा; कहैं कबीर विचार ।। ७१ ।।

प्रश्नः—यह मुझे बतलाइये कि कुमति किसकी मिटी ? और अहंकार किसका ? और कैसे दोनोंका सम्बन्ध हुआ था ? ।।७०।।

उत्तरः—कबीर गुरु विचार कर कहते हैं कि चित्त वृत्ति की कुमति मिटी और मनका अहंकार। अविद्यासे जड़, चेतन का परस्पर संबंध हुआ था वह दोनों का झगड़ा सद्गुरु ज्ञान से मिट गया ॥७१॥

काम क्रोध सूतक सदा, सूतक लोभ समाय।
ये सूतक संग देह के, कहु कैसे करि जाय ॥ ७२ ॥
काम क्रोध सूतक सदा, सूतक लोभ समाय।
सील सरोवर न्हाइये, तब यह सूतक जाय ॥ ७३ ॥

प्रश्नः—कहिये काम, क्रोध तथा लोभादि ये जो शरीरके साथ सदा सूतक (अशौच) हैं, कैसे जायेंगे ? ॥७२॥

उत्तरः—श्रद्धा से सद्गुरुकी शरण आके शुद्ध शील सरोवरमें खूब स्नान कीजिये, सबही अशौच निवृत्त हो जायँगे ॥७३॥

यथा:—"श्रद्धासे सद्गुरु शरणागत हो तजि डामा डोलरी !।
सद्गुरु कृपा मिले चिन्तामणि घट भीतर अनमोलरी ॥"
इति कबीर भजन रत्नावली

इति परिशिष्ट प्रश्नोत्तरको अङ्ग समाप्त।
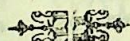
स्मरण महामंत्र

सद्गुरु कबीर बन्दी छोड़ ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर बन्दी छोड़ ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़
गुरु कबीर दीन बन्धु ❀ दीन दयाल बन्दी छोड़

शुभं भूयादध्येतुरध्यापकस्य च ।

सभी प्रकार की धार्मिक व कबीरपंथी पुस्तकों के मिलने का पता

बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर,

राजादरवाजा, वाराणसी—२२१००१

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी ।